समग्र ग्राम-सेवा की ओर

[भारतीय ग्राम-जीवन की पुनर्रचना की समस्याएँ और उनका समाधान]

लेखक

श्री धीरेन्द्र मजूमदार

ट्रस्टी भारतीय चर्खा संघ, संचालक रणीवाँ आश्रम

भूमिका—लेखक

आचार्य कृपलानी

संपादक

श्री रामनाथ 'सुमन'

प्रकाशक

साधना-सदन

इलाहाबाद

आठ रुपये

प्रकाशक

साधना-सदन

प्रयाग

प्रथम मुद्रण: सितम्बर, १९४७

::

हमारी कुछ पुस्तकें

१. गांधीवाद की रूप-रेखा (सुमन) १॥)
२. गांधीवाणी (गांधी जी) ३)
३. अमृतवाणी (गांधी जी) १॥)
४. स्त्रियों की समस्याएँ (गांधी जी) १॥)
५. जीवन-यज्ञ (सुमन) २)
६. सेवाधर्म (अप्पा पटवर्धन) २।)

साधना-सदन
प्रयाग

::

मुद्रक

जगत नारायणलाल, हिन्दी साहित्य प्रेस,

प्रयाग

भूमिका

श्री धीरेन मजूमदार १६२० से, जब उन्होंने स्वतंत्रता की लड़ाई में शामिल होने के लिए हिंदू यूनिवर्सिटी छोड़ी, मेरे साथ काम कर रहे हैं। वह, श्री गांधी आश्रम (युक्तप्रान्त) के मूल-सदस्यों में से एक हैं। उन्होंने आश्रम के खादी और गांवों के काम को संघटित किया। कुछ वर्षों के बाद उन्होंने अपना सारा ध्यान गांवों के काम पर लगा दिया। सालों तक उनके काम का कोई प्रकट परिणाम नहीं निकला। फिर भी वह असाधारण श्रद्धा और धुन के साथ अपने काम में लगे रहे।

आखिरकार इन गुणों का नतीजा निकला और उन्होंने ग्राम-सेवा के लिए फैजाबाद ज़िले में रणीवां केन्द्र की स्थापना की। यहां उन्होंने न केवल गांवों की सेवा और संघटन के लिए कार्यकर्ताओं की शिक्षा की व्यवस्था की बल्कि स्वयं ग्रामवासियों को दस्तकारी सिखाई और स्वतंत्र रूप से अपना काम करने तथा स्वतंत्र आजीविका प्राप्त करने में उनकी सहायता की। युक्तप्रान्त की कांग्रेस सरकार तक को अपने ग्राम-कार्यकर्ताओं के शिक्षण के लिए रणीवां आश्रम का उपयोग करना पड़ा। १६४२ में यह संस्था नष्ट कर दी गई, और उसके साज-सामान, औज़ार और मशीनों को ज़ब्त कर लिया गया और इमारत पर ताला लगा दिया गया। श्रीधीरेन मजूमदार भी १६४५ तक नज़रबंद रहे। छूटने पर उन्होंने इस संस्था का फिर निर्माण किया।

अब उनका विचार बनारस के निकट दूसरा और रणीवां से बड़ा, पर उसी प्रणाली का, आश्रम स्थापित करने का है। आजकल वह उसी में लगे हुए हैं। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा है अधिकांश अपने निजी अनुभवों के आधार पर लिखा है। उन्होंने किताबें नहीं

पढ़ी हैं ; जीवन की पुस्तक से सीखा है । इसलिए मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक में उन्होंने जो कुछ लिखा है वह न केवल उन लोगों के लिए उपयोगी होगा जो गांवों की पुनर्रचना के कार्य में लगना चाहते हैं वल्कि उन सरकारों के लिए भी काम का होगा जो भारत के समाज-शरीर के चेतन कोश या घटक-स्वरूप गांवों को नवजीवन देने के वारे में सचमुच गभीर हैं।

अगर लोकतंत्र को वास्तविक और फलदायक वनाना है; अगर उसे हमारी जनता को अपने मामलों की विवेकपूर्वक व्यवस्था करने की शिक्षा देनी है तव तो हमें आर्थिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में वहुत दूर तक विकेन्द्रीकरण को अपनाना होगा। केवल वालिग मताधिकार दे देने से सच्चा लोकतंत्र स्थापित नहीं होता ; न तो वह सार्वदेशिक प्रारंभिक शिक्षण से ही स्थापित होता है। हमारे अन्नदाताओं (जनता—किसानों) का शिक्षण यों न होगा। उनको तो जीवन के द्वारा और जीवन के लिए ही शिक्षित करना पड़ेगा। इसका सर्वोत्तम उपाय उनको ऐसा क्षेत्र प्रदान करना है जिसमें वे सहकारिता के आधार पर प्रयत्न कर सकें और अपने प्रयत्न के परिणाम को अपनी पैदा की सम्पत्ति के साकार रूप में देख सकें तथा खुद ही आपस में उसका वँटवारा कर सकें। उनको अपने ही प्रयत्नों से गाँव में शान्ति रखने की कला भी सीखनी होगी। अपने चारों ओर स्वास्थ्यकर, स्वच्छ वातावरण और पड़ोस वनाने का मौका उन्हें देना होगा। संक्षेप में, उन्हें अपने सारे मामलों का छोटे और व्यवस्था-योग्य पैमाने पर खुद ही इन्तजाम करना होगा। यही लोकतंत्र के लिए वास्तविक शिक्षण होगा। इतना हो जाने के वाद, आत्मानुभाव और आत्मावलम्वन के इस ढाँचे पर एक ऐसी शक्तिमान केन्द्रीय सरकार का निर्माण करना सरल होगा जिसका लोकतंत्र सत्ता अथवा केन्द्रीकरण से धुँधला न होगा। आज की जटिल दुनिया में लोकतंत्र के रक्षण का यही मार्ग है।

सरकारों को केवल शक्तिमान और महत्वाकांक्षी राष्ट्रों से अपनी रक्षा करने के लिए ही शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि स्वयं अपने राष्ट्र के अन्दर के शक्तिशाली व्यक्तियों और वर्गों वा समूहों की स्वार्थ-भावना के नियमन और नियंत्रण के लिए भी उसकी ज़रूरत होती है। आज की दुनिया में न केवल कानून और सत्ता से बल्कि शक्ति के सहारे भी मुक्ति—स्वतंत्रता—की रचना करनी पड़ेगी। ऐसा करना तभी संभव होगा जब स्थानीय इकाइयां प्रभावपूर्ण ढंग पर सक्रिय होंगी। आज के विषम विश्व में, जो विज्ञान और यंत्र-कौशल की प्रगति से और भी जटिल बन गया है, लोकतंत्र के रक्षण का एक ही रास्ता है—गाँव की इकाई को पुनर्जीवन देना और शक्ति प्रदान करना। मुझे कोई सन्देह नहीं है कि इस कार्य में श्रीधीरेन मजूमदार के विचार, ग्रामों की पुनर्रचना-सम्बन्धी वास्तविक अनुभवों पर आधारित होने के कारण, उन सब लोगों के लिए बहुत अधिक सहायक होंगे जिन्हें इस दिशा में प्रकाश की आवश्यकता है या जो प्रकाश पाने के इच्छुक हैं।

६ जंतर मंतर रोड,
नई दिल्ली
२ अगस्त, १९४७

—जे० बी० कृपलानी

लेखक और उनकी कृति

कहने को बंगाली, जन्म से बिहारी, दीर्घ निवास से युक्तप्रान्तीय और श्रद्धा से सर्वभारतीय, ऐसे इस पुस्तक के लेखक धीरेन भाई हैं। १६२० के असहयोग आन्दोलन में गांधी जी के आवाहन पर जो लोग सेवा-क्षेत्र में आये और समय की कसौटी पर खरे उतरे, ऐसे गांधी जी के अनुयायियों में वह, किसी पद की दृष्टि से नहीं पर अपनी लगन और सेवा से एक ऊँचा स्थान रखते हैं। हमारे देश में कार्यकर्ताओं की संख्या नगण्य नहीं है; पर सच्चे, आत्मनिष्ठ कार्यकर्ता इने-गिने हैं; गणना की जाय तो नेताओं की संख्या उनसे अधिक होगी। जैसे गाँवों की लक्ष्मी की गति नगर की ओर रही है; वैसे ही सेवकों, कार्यकर्ताओं की गति भी गाँव से नगर की ओर दिखाई देती है। अधिकांश जो नगरों में रहने का प्रबन्ध कर सकते हैं, गाँवों से उधर भागते हैं। ग्रामों के जो युवक हमारी युनिवर्सिटियों से डिग्रियाँ प्राप्त करते हैं वे भी सदा के लिए नगरों में खो जाते हैं। पर धीरेनभाई एक दूसरी कोटि के हैं। जन्मे नगर में; बसे गाँव में। और आज तो सूरत-शक्ल और भेष से गँवार ही लगते हैं। गाँवों के प्रति उनका आत्मार्पण कुछ ऐसा है कि नगरों में उनका दिल घबराता है। वह गाँवों के प्रति एक सम्पूर्णतः आत्मार्पित सेवक हैं।

पर इतना ही सब कुछ नहीं है। उनमें बंगाली की भावुकता, बिहारी की सहृदयता और युक्तप्रान्त की यथार्थता एक साथ पनपी है। बंगाली नीचे दब गया है; युक्तप्रान्त ऊपर छा गया है। इसीलिए पहली नज़र में वह रूखे लगते हैं पर कुरेद दीजिए तो मधुचक्र की तरह मधु उनसे टपकने लगता है। उनके गद्यात्मक जीवन के भीतर जन-सेवा की तन्मयता से प्राप्त गहरी संस्कारिता का आत्म-द्रवण है।

अपनी संस्कारजात भावुकता को उन्होंने खोया नहीं पर उसमें बह नहीं गये; अपनी गहरी निष्ठा, लगन, किसी काम के पीछे सब कुछ भूल कर पड़ने की वृत्ति और सतत जाग्रत जिज्ञासा से उन्होंने उसे संस्कृत और नियंत्रित किया है। इसीलिए उनमें एक कवि की आर्द्रता और एक विवेचक की सर्वग्राही दृष्टि है।

उनकी इस कृति में उनकी ये विशेषताएँ मूर्त्त हैं। पुस्तक का प्रथम भाग उनकी सेवा की तैयारी और उसकी विविध अवस्थाओं के संस्मरणों तथा अनुभवों से भरा हुआ है। इसमें हम उनके हृदय की गहरी संवेदनाएँ और उनके बाद के सेवक-जीवन की विकास-रेखाएँ पाते हैं। इसमें उनकी ग्राम-सेवा की दृष्टि का प्रकाश है। दूसरे भाग में अपनी कल्पना के अनुसार भावी ग्राम-व्यवस्था का पूरा नक़्शा ही उन्होंने रख दिया है। इसमें ग्रामीण जीवन के प्रत्येक विभाग की आवश्यकताएँ तथा उनकी पूर्ति के साधनों का उन्होंने अत्यन्त विशद, ब्यौरेवार विवरण दिया है; प्रत्येक विषय की प्रामाणिक तालिकाएँ दी हैं; आज का और भविष्य का एक-एक परिवार, एक-एक गाँव और सम्पूर्ण प्रान्त का बजट दिया है और किन-किन परिवर्तनों के द्वारा एक सुखी, समृद्ध और संस्कार-सम्पन्न ग्रामीण समाज का निर्माण किया जा सकता है, इसका विवेचन किया है। खेती, भूमि, जल, वस्त्र, शिक्षा और उद्योग की कोई मद उनसे छूटी नहीं है। उन्होंने न केवल यह बताया है कि क्या चाहिए बल्कि यह भी बताया है कि कैसे वर्तमान साधनों में सुधार करके, भारतीय ढंग पर, प्रत्येक गाँव को स्वावलम्बी स्थिति पर पहुँचाया जा सकता है। सब से बड़ी बात यह है कि उन्होंने इन सब सुधारों और परिवर्तनों में होने वाले विशाल व्यय की पूर्ति के साधन भी सुझाये हैं। इस प्रकार उन्होंने १९ वर्ष में गाँवों के पुनर्जीवन का एक अत्यन्त व्यावहारिक बजट-सा ही पेश कर दिया है।

आज जब देश राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करके आशा से उत्फुल्ल

है और जब हम पर राष्ट्र एवं समाज के निर्माण का ज़िम्मेदारी आ गई है और जब देश के सामने उद्योगीकरण की अनेक योजनाएँ आ रही हैं और बड़े-बड़े कल कारखानों की चिमनी का धुआँ शिक्षित युवकों के मस्तिष्क में भर रहा है; जब ग़लत धारणाएँ तेज़ी से फैल रही हैं तब धीरेन भाई की यह पुस्तक चौरस्ते पर खड़े दिग्मूढ़ यात्री के लिए दिशा-निर्देशक पट्ट का काम देगी; – हाँ, यदि हम कुछ सीखने और ग्रहण करने की दृष्टि से उसे पढ़ें।

इसीलिए जब मैंने पुस्तक देखी तो उसे प्रकाशित करने के मोह से मन भर गया और उसकी उपयोगिता देखकर ही साधना सदन ने अपनी साधन-हीनता की ओर दुर्लक्ष्य करके, इतनी बड़ी पुस्तक ऐसे समय छापने का उपक्रम किया जब काग़ज खाद्य-सामग्री से भी अधिक दुर्लभ है और काग़ज के लिए मिले सरकारी परमिट १६४२ के बर्मा के अंग्रेजी नोटों की भाँति तिरस्कृत हवा में मारे मारे फिर रहे हैं।

स्वतंत्र भारत की केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तों की सरकारों के मंत्रियों, अधिकारियों तथा ग्राम सेवा-कार्य से सम्बन्ध रखनेवाली संस्थाओं और कार्यकर्ताओं को पुस्तक का अध्यन-मनन करना चाहिए।

—श्री रामनाथ 'सुमन'

आत्म-निवेदन

दस साल पहले, श्रीमती आशादेवी ने, जब रणीवाँ-आश्रम के आसपास के गाँवों का काम देखा था तब उन्होंने मुझसे आग्रह किया था कि मैं अपने अनुभव लिख डालूँ। तब, समय के अभाव से, कुछ नहीं लिख सका लेकिन सन् ४१ में व्यक्तिगत सत्याग्रह में नज़रबंद होकर, आगरा सेंट्रल-जेल चला गया तो आशाबहन ने फिर आग्रह किया। तब मेरे पास समय की कमी का बहाना न था अतः मैं उनके आग्रह की पूर्ति में लग गया।

जब लिखने बैठा तो महसूस हुआ कि यह भी एक कला है और लिख वे ही सकते हैं जिनकी आदत लिखने-पढ़ने की है। छुटपन से, विद्यालय छोड़ कर जब से राष्ट्रसेवा के काम में आ गया तब से प्रायः गाँव में ही रहने को मिला। असहयोग-आन्दोलन के साथ-साथ लिखने-पढ़ने से भी असहयोग कर देना पड़ा था। अतः मेरी समझ में यह नहीं आया कि मैं किस तरह लिखूँ। बहुत सोच-विचार के बाद मैंने अपने अनुभवों की कहानी पत्रों-द्वारा ही आशा बहन को लिखनी शुरू की। ऐसा करने में खास सहूलियत यह थी कि लेख के सिलसिले, तर्ज और तरीके की रक्षा करने की आवश्यकता न थी। इस तरह दस माह आगरा जेल में रहने के समय मैंने अपने ग्राम्यसेवा के अनुभव काफ़ी लिख डाले। सन् ४२ में बाहर आकर, इन पत्रों को इकट्ठा तो कर लिया था लेकिन समयाभाव से उसे फिर से देखने का मौका नहीं मिला। और कुछ ही दिनों बाद, सन् ४२ के आन्दोलन के कारण फिर नज़रबंद होकर इलाहाबाद सेंट्रल-जेल चल दिया। उस वक्त हमारे दादा (आचार्य कृपलानी), अहमदनगर किले में नजरबंद थे। वहाँ से उन्होंने मुझे यह आदेश लिख भेजा कि मैं ग्राम-समस्या और उसके समाधान पर कुछ लिखूँ। उनके आदेश का पालन करना ही था।

लेकिन इस बार कठिनाई यह थी कि मुझे पत्र लिखने की इजाज़त न थी। फिर सोचा भेजने की इजाजत नहीं है लेकिन लिख तो सकता ही हूँ। और पिछले पत्रों के सिलसिले से, आशा बहन के नाम, पत्र लिखकर, अपने पास ही जमा करता गया। सन् ४४ के नवम्बर में, जब मैं छूटकर आया तो मित्रों का आग्रह रहा कि उन पत्रावलियों को छपवा दूँ। पर काम की अधिकता के कारण वे छप न सकीं। इधर मेरे मित्र, भाई रामनाथ सुमन इन्हें देखकर छपाने के, लिए अपने साथ ले गये और उन्हीं के परिश्रम से वे आज इस पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो रही हैं।

पुस्तक लिखना शुरू किये ६ साल हो गये। उसके बाद भारत के इतिहास में, युग परिवर्तन हुआ, अंग्रेज़ी-जेल के अंदर से लिखी पुस्तक छप रही है—उस वक्त जब अंग्रेज़ भारत छोड़कर चले जा रहे हैं। आज देश की परिस्थिति बदली हुई है और साथ-साथ समस्याएँ भी। पिछले ६ साल तक लड़ाई जारी रहने के कारण, किसानों के अनाज के दाम में अधिकाधिक वृद्धि हुई। इस कारण आज यह समझा जाता है कि किसानों की हालत पहले से सुधरी हुई है। राष्ट्रीय सरकार होने के कारण, ज़मींदारी अत्याचार भी उनपर कम हो गये हैं। ऐसी हालत में, पाँच-छः साल के पहले की लिखी हुई बातों को आज छपाने की क्या आवश्यकता है, इससे किसे लाभ हो सकता है, यह शंका स्वभावतः पाठक के मन में उठ सकती है। लेकिन, जो लोग, मुल्क का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं वे जब गाँव की मौलिक समस्याओं पर विचार करने लगेंगे तो उन्हें मालूम हो जायगा कि इन तमाम परिवर्तनों के बावजूद, हमारे देहातों की हालत वैसी ही है जैसी आज से दस वर्ष पहिले थी। फर्क इतना ही हुआ है कि आज के देहात के लोग किसी राष्ट्रीय जन को देखकर, उसके पास आकर पूछते हैं—"भइया! अब का होत बा?" पहले उनको इस बात का कुछ भी होश नहीं रहता था कि दुनिया में क्या हो रहा है। आज वे दुनिया की हर चीज़ को जानने के लिए

व्याकुल हैं। बाकी बातों में विशेष परिवर्तन नहीं है। गल्ले की मँहगाई के कारण उन्हीं किसानों की हालत में सुधार हुआ है जिनके सामने पहले भी कोई समस्या नहीं थी याने जो खाने और कपड़े के अलावा बढ़ती अनाज बाज़ार में बेचते थे। फायदा केवल उन्हीं को है। जिन किसानों के पास केवल इतनी ही जमीन है जिसकी पैदावार से उनको सिर्फ आधे पेट खाना और दो-एक कौपीन-वस्त्र के सिवाय और कुछ नहीं बच सकता है उनको मँहगाई और सस्ताई से क्या मतलब? और भारत के ९५ किसानों की हालत यही है। अगर ५ सैकड़ा किसानों के पास दो पैसे ज़्यादा आ गये तो उसमें से अधिकांश किसान उस पैसे को अनावश्यक चीजों की खरीद में फूँक देते हैं। अतः अनाज की मँहगाई के कारण, ग्राम्य-समस्या में कुछ परिवर्तन हुआ है, ऐसी बात नहीं दिखाई देती।

राष्ट्रीय सरकार होने पर किसानों के लिए कानून में जरूर कुछ परिवर्तन हुआ है। लेकिन बदकिस्मती से, आज अंग्रेज़ देश से चले गये हैं और छोड़ गये हैं अंग्रेज़ी। आज भी हम राज्य-व्यवस्था उसी तरह केन्द्रीय ढंग से चला रहे हैं जिस ढंग से अंग्रेज़ चला रहे थे। इस तरह केन्द्रतंत्र का स्वाभाविक नतीजा नौकरशाही आज भी उसी तरह चल रही है। परिणामस्वरूप किसान के लिए जो अच्छे कानून बनते हैं उसका फायदा, नौकरशाही की दीवार लाँघकर, किसानों तक नहीं पहुँच पाता और किसान आज भी उसी तरह पददलित है जिस तरह आज से दस साल पहले था।

जैसा कि मैंने पहले बतलाया है, सन् ४२ के जन-आन्दोलन के कारण और राष्ट्रीय सरकार होने के नतीजे से, आज ग्रामीण जनता पहले-जैसी बेहोश नहीं है और दुनिया में क्या हो रहा है, इसे जानने के लिए बेचैन है। अतः यही सब से अनुकूल मौक़ा है जब उनके बीच व्यापक काम करके, उनकी जिम्मेदारी और अधिकारों का ज्ञान उन्हें करा दिया जाय और उस ज़िम्मेदारी और उन अधिकारों को अपने हाथ

लेने की योग्यता उनमें पैदा की जाय।

इसलिए देरी होने पर भी, ग्राम-सेवा के मेरे अनुभव मुल्क के सामने आवें इसके लिए आज की परिस्थिति सबसे अनुकूल है।

इस पुस्तक में मैंने अपने अनुभवों की कहानी लिखी है। उनके आधार पर हमारे देश के स्वतंत्र ग्राम-सेवक, राष्ट्रीय संस्थाएँ और प्रांतीय सरकारें अपनी विशेषताओं और मर्यादाओं के अंतर्गत, किस प्रकार ग्राम-उत्थान का काम कर सकती हैं, उसकी अनुमानित योजना भी दी गई है। ये योजनाएँ गाँधी जी की बतलाये विकेन्द्रित आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के आधार पर ही बनी हैं और इन्हीं आधारों पर, समाज का आर्थिक तथा राजनैतिक संघटन करने पर ही देश में, सही लोकतंत्र की स्थापना हो सकती है, इसमें संदेह नहीं। केन्द्रीय आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को कायम रखते हुए, प्रजा को चाहे जितना मताधिकार दिया जाय, मुल्क में, सच्ची लोकशाही के बदले, केन्द्रसंचालकों की तानाशाही ही प्रतिष्ठित होगी क्योंकि बेहोश जनता की राय लोकमत न होकर भीड़मत ही हुआ करती है। अगर आज की प्रान्तीय सरकारें चाहती हैं कि प्रजा, अपनी जिम्मेदारी अपने आप उठा कर, जनता का राज्य स्थापित करे और उसकी रक्षा भी कर सके तो उन्हें इस पुस्तक में बताई योजना के अनुरूप ही योजना बनानी पड़ेगी।

जब से देश में राष्ट्रीय सरकार कायम होने की बातचीत चली तब से गाँधी जी मंत्रि-मंडलों और देश के नौजवानों को समग्र ग्राम-सेवा, विकेन्द्रित उत्पादन तथा विकेन्द्रित व्यवस्था की बात पुकार-पुकार कर कह रहे हैं। मालूम नहीं, आज के राष्ट्रीय जन सत्ता-प्राप्ति के नशे में, गाँधी जी की इन पुकारों को सुन सकेंगे या नहीं। लेकिन, जिस मुल्क को गाँधी जी के बताये मार्ग पर चलकर, इतने सस्ते में स्वतंत्रता मिली है वह अगर अपने को संघटित करने में, गाँधी जी का रास्ता छोड़ देगा तो अपने को भयंकर तानाशाही गुट के शिकंजे में डाल

देगा। मुझे आशा है, लोकतंत्र के पुजारी राष्ट्रीयजन इस पुस्तक के पन्नों से लाभ उठा सकेंगे।

पुस्तक का नाम "समग्र ग्राम-सेवा की ओर" रखा गया है। क्योंकि ग्राम-समस्या जैसी अथाह समस्या के अंत तक पहुँचना मेरे-जैसे सामान्य सेवक की अब तक की शक्ति के बाहर है। अतः अभी तक मैं अपने को ग्राम-सेवा के योग्य बनाने की चेष्टा में हूँ। और इस पुस्तक के पन्नों में इसी प्रयत्न परम्परा की कहानी है। इसलिए इसे "ग्राम-सेवा" न कह कर "ग्राम-सेवा की ओर" ही कहना ठीक समझा।

पुस्तक में जो कुछ लिखा गया है वह मेरा निजी अनुभव है। यह अनुभव कुछ जिलों में सीमित है। हो सकता है, शास्त्रीय, दृष्टि से मेरी बातों में कुछ फर्क हो। यह भी हो सकता है कि मैंने जिन ज़िलों मे काम किया है उन जिलों के अलावा दूसरे देहातों की स्थिति में कुछ फर्क हो। लेकिन इन पन्नों में मैंने किसी के लिए सम्पूर्ण योजना बनाने की कोशिश नहीं की है। मैंने सिर्फ योजना बनाने के लिए एक रास्ता बतलाया है। जो कोई भी मेरे बतलाये तरीके से प्रयोग करना चाहेंगे उन्हें अपने क्षेत्र की परिस्थिति के अनुसार स्वतंत्र योजना बनानी होगी।

मुझे अपने अनुभव बतलाने में कुछ लोगों की आलोचना भी करनी पड़ी। संभव है, कहीं-कहीं यह आलोचना सख्त हो गई हो। मुझे आशा है, विज्ञ लोग क्षमा करेंगे।

दादा (राष्ट्रपति कृपलानीजी) का मुझ पर सहज वात्सल्य है। इसलिए उन्होंने चल-चित्र की तरह तेज़ी से बदलते हुए देश की वर्तमान स्थिति में अत्यन्त कार्यव्यस्त होते हुए भी पुस्तक के लिए विचार पूर्ण भूमिका लिख दी है। उनके प्रति हृदय की कृतज्ञता प्रकट करना भी अकृतज्ञता होगी।

रणीवाँ
स्वाधीनता दिवस १९४७

—धीरेन्द्र मजूमदार

विषयानुक्रम

प्रथम भाग

[संस्मरण, संस्कार और अनुभूतियाँ]

१—३६०

आप एक कंगाल मालिक के सेवक हैं: कुसंस्कारों के मलबे के नीचे मानवता दबी पड़ी है: यहीं की आग से यहां के दीप जलाओ !]

द्वितीय भाग

[विवेचन; निष्कर्ष और योजनाएँ]

३६१—७२८

समग्र ग्राम-सेवा की ओर

श्री धीरेन्द्रनाथ मजूमदार

भाग १

संस्मरण, संस्कार और अनुभूतियाँ

[१]

सेवक की अड़चन

सेंट्रल जेल, आगरा
१—६—४१

प्रिय आशा दीदी,

पिछले दो साल से तुम पीछे पड़ी रहीं कि मैं देहात में काम करने की बाबत अपने अनुभव लिख डालूं। मैं यही कहता रहा कि लिखना-पढ़ना मुझसे नहीं होता है। क्योंकि मैं हूँ एक कारीगर, न कि लेखक और यह बात मैंने कभी नहीं छिपाई। इत्तफ़ाक़ से सरकारी प्रहार मेरे ऊपर भी हो गया और मैं जेल में आ बसा। बापू जी ने लिखा था कि "तुम्हारी क़ैद मेरी समझ में ही नहीं आई।" तो फिर मेरी समझ में कैसे आती? एक बात तो निर्विवाद है कि मुझे आराम चाहिये था और वह बाहर मिल नहीं सकता था। इसलिए शायद ईश्वर ने यही उपाय किया कि मुझे काम के क्षेत्र से हटा लिया। ख़ैर, अब तो जेल आये दो महीने हो गये। दफ़ा २६ भी लग गई। मैं सोचता हूँ कि अब अपनी बातें तुमको लिखता रहूँ जिससे तुम्हारे बहुत दिनों के अनुरोध का भी पालन हो जाय। यह तो तुम्हें मालूम ही है कि लिखने-पढ़ने से मेरा कितना सम्बन्ध रहता है। यह पत्र भी मैं अपने एक मित्र से लिखा रहा हूँ। इसलिए सम्भव है कि मैं तुम लोगों के सन्तोष के लिए पूरा मसाला न भेज सकूं। लेकिन यदि कोई बात छूट जाय या तुमको मेरी किसी बात पर शंका हो तो मुझसे पत्र-द्वारा पूछ लेना। जहाँ तक सम्भव होगा मैं सारी बातें साफ़-साफ़ लिखने की कोशिश करूँगा।

गिरफ़्तारी से पहले आख़िरी बार जब मैं वर्धा गया था तो रात को, खाना खाते समय हम लोग गाँव में काम करने वालों की बाबत बात-चीत कर रहे थे। तुमको याद होगा, मैंने कहा था कि हमारे शहरों के रहने वाले पढ़े-लिखे लोग, जिनमें कुछ बुद्धि और संस्कार है, गाँव में टिकते नहीं हैं। इसका कारण उनका शहरी संस्कार और शिक्षा है और साथ-साथ है उनकी ([illegible] camplex) बड़प्पन की उलझन की भावना।

ग्राम-सेवा की कठिनाई

शिक्षित समाज के लोग देश-सेवा के लिए बहुत-कुछ त्याग करते हैं। वे रुपया-पैसा छोड़ते हैं, जेल जाते हैं, तकलीफ़ भी उठाते हैं। और उनके इस त्याग से हमारे देश की राष्ट्रीय भावना में उन्नति भी हुई है। उनका इस प्रकार का सारा त्याग और कष्ट सहने की इच्छा राष्ट्रीय भावना पैदा कर सकती है, लेकिन इससे ग्राम-सेवा एवं संघटन नहीं हो सकता। उस समय तुमने पूछा था—"तो फिर उनमें क्या कमी है कि वे इतना त्याग करने पर भी गाँव में नहीं बैठ सकते हैं?" मैंने उस समय यही उत्तर दिया था कि वे सब कुछ त्याग कर सकते हैं लेकिन अपने बड़प्पन की भावना नहीं छोड़ सकते। वे समझते हैं कि अपनी शिक्षा के द्वारा उन्होंने जो गुण प्राप्त किये हैं, गाँव में रहने से उनकी हत्या हो जाती है। और उनके अभ्यास और विकास का गाँवों में कोई भी साधन नहीं है। "मैंने इतना पढ़ा है! दुनिया में घूम कर इतना अनुभव प्राप्त किया है; भला इन मूर्खों के बीच कैसे रहूँ? इससे तो मेरी हस्ती ही मिट जायगी!" गाँव वालों का उद्धार तो दर-किनार यही वजह है कि हमारे देहात में योग्य कार्य-कर्ता नहीं दिखाई पड़ते। तारीफ़ तो यह है कि किसी भी राष्ट्र-वादी मित्र से बात करो तो यही सुनने को मिलता है कि बिना ग्राम-सेवा तथा ग्राम-सुधार के हमारे देश में कुछ हो सकना सम्भव नहीं।

कभी कोई मित्र मुझसे गाँव में काम करने की बाबत पूछता है

तो मैं सबसे पहले उससे यही प्रश्न करता हूँ कि आप किसी गाँव में ग्रामीण बन कर बैठने को तैयार हैं या नहीं ? क्योंकि कुछ दिन देहात में काम करने से मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि जब तक हमारे शिक्षित लोग अपनी बड़प्पन की भावना का अहंकार छोड़ कर गाँव वालों के साथ जहाँ तक सम्भव हो सके मिल न जायँ और अपनी आदत, सभ्यता और बहुत सी गन्दगी आदि के खिलाफ़ अपने संस्कार के साथ समझौता न कर लें, तब तक वे ग्रामीण जनता के प्रति श्रद्धा की भावना नहीं रख सकते और उनको हमेशा छोटा ही समझते रहेंगे। आख़िर हम सेवा उन्हीं की कर सकते हैं जिन पर हम श्रद्धा भी रख सकें। नतीजा यह होता है कि जो गाँव में पहुँचते हैं, वे गाँव वालों के सामने ग्रामोद्धारक के रूप में ही प्रकट होते हैं, ग्राम-सेवक के रूप में नहीं। गाँव की जनता को हम चाहे जितना मूर्ख समझें, किन्तु अनादिकाल से एक ख़ास क़िस्म की ज़िन्दगी होने के कारण वे अपने तरीक़े, रीति-नीति आदि सभी चीज़ों को श्रेष्ठ समझते हैं और उस विषय पर किसी दूसरी सभ्यता वाले शिक्षक या उद्धारक को वे सहन नहीं कर सकते। ग्रामीण सभ्यता का अभिमान उनके अन्दर कूट-कूट कर भरा हुआ है। यहाँ तक कि वे तुम्हारी सहानुभूति के थोड़े से शब्द भी बरदाश्त नहीं कर सकते। वे ग़रीब हैं, दरिद्रता उनके जीवन को ग्रसती जा रही है। लेकिन जिस प्रकार थोड़े दिनों के, विशेष कारणों से बिगड़े हुए रईस कौटुम्बिकों के सहानुभूति के शब्दों को व्यंग समझ कर नाराज़ हो जाते हैं, उसी तरह वे भी हमारी सहानुभूति को पसन्द नहीं करते। इसलिए अगर हम गाँव के अन्दर कुछ करना चाहें तो हमें उनके सेवा-कार्य के योग्य बनना होगा और उसी प्रकार की मनोवृत्ति भी बनानी पड़ेगी। तभी वह हमको ग्रहण कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

ग्राम में काम करने की पहली शर्त

ग्रामवासी की मनोधारा

शहर का शिक्षित समाज पश्चिमी सभ्यता के चक्कर में पड़ कर और अपनी आर्थिक सुविधाओं के अभिमान के कारण गाँव की विशेषताएँ समझ ही नहीं सकता; अपने जीवन में उनका अभ्यास करना तो बहुत दूर की बात है। इसलिए ग्राम-सेवक को काफ़ी समय तक अनुकूल परिस्थिति में रह कर अपने आपको ऐसी सेवा के योग्य बनाना पड़ता है। कुछ लोगों को परिस्थिति भी घसीट कर अनुकूल बना देती है। मैं जो आज थोड़ी सेवा देहात में कर पा रहा हूँ इसके लिए मुझको भी बड़ी तैयारी करनी पड़ी थी। और यह सब कुछ तो अपनी चेष्टा और कुछ परिस्थिति के दबाव के कारण ही सम्भव हो सका। मैं गाँव को पसन्द करने लगा। यह सब एक लम्बी कहानी है जिसे मैं फिर कभी लिखूंगा। यहाँ मैं बहुत स्वस्थ हूं। आराम ख़ूब मिल रहा है। कभी-कभी अधिकारियों से झगड़ने में भी मज़ा आता है। तुम सब लोग तो आज कल ख़ूब व्यस्त हो। अब तो सरकारी सहारा भी नहीं रह गया। अब तालीमी संघ के पास केवल अपनी शक्ति ही शेष है। यह भी अच्छा ही हुआ। सिन्धबाद के कन्धे पर से 'समुद्र के वृद्ध पुरुष' के उतर जाने पर ही वह निश्चिन्त हो सका था। तुम लोग भी अब सरकारी महकमों को अपने कन्धे पर से उतार कर हल्के हो गये, यह अच्छा हुआ।

नमस्कार।

---

[२]

पहला अनुभव

सेंट्रल जेल, आगरा

७—६—४१

पिछले पत्र में मैंने यह बताने का वादा किया था कि मैं किस तरह ग्राम-सेवा की ओर बढ़ा और अपनी मनोवृत्ति आज जैसी किस तरह

बन सकी। आज उसी का थोड़ा इतिहास लिखने की कोशिश करूँगा।

सन् १६२१ में असहयोग आन्दोलन का तूफ़ान जब मुझको विश्वविद्यालय से घसीट कर जन-सेवा के कार्य-क्षेत्र में लाया तो मैं भी एक शहरी मनोवृत्ति वाला शिक्षित नौजवान था। पहले ही दिन आश्रम में और भाइयों के साथ जब नित्य-क्रिया के लिए खुले मैदान में जाना पड़ा तो मैं परीशान हो गया। खाना-पीना, रहन-सहन सब बातों से घबड़ाता ही रहा, परीशानी यहाँ तक बढ़ गई कि मैं अपना खाना अलग ले लेता था और दूसरों की आँख बचा कर फेंक देता था और पास के होटल में जाकर खाना खा आता था। दूसरे भाइयों का सहज-जीवन देख कर आश्चर्य होता था। और अपने प्रति धिक्कार की भावना पैदा होती थी, किन्तु आन्दोलन की गर्मी ने बहुत सी तकलीफ़ों को महसूस नहीं होने दिया और मैं भी सर्वदा के लिए गांधी आश्रम में सम्मिलित हो गया। काशी में आश्रम था, शहर का वातावरण था, गाँव से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। गाँव है क्या वस्तु, कुछ पता ही नहीं था। लेकिन गाँधी जी तथा दूसरे नेताओं के लेख पढ़ने लगा, लेक्चर भी सुनता ही था, मन में यह बात बैठ गई कि वास्तव में हिन्दुस्थान देहात में ही रहता है। देहात की आबादी ही मुल्क की आबादी है और देहात की बरबादी मुल्क की ही बरबादी है। ग्रामसेवा और ग्राम-जीवन की तरह-तरह की कवित्व-पूर्ण-धारणाएँ मस्तिष्क में बैठती गईं। साल भर बाद जब आन्दोलन की धूम-धाम कम हो गई, और बहुत से भाई अपने अपने घरेलू जीवन में जा फँसे, तो आश्रम के बचे हुए भाइयों ने आचार्य कृपलानी जी की प्रेरणा से यही निश्चित किया कि अब देहात में चल कर चर्खे-आदि द्वारा ग्राम-संगठन का काम किया जाय। भाई रामाश्चर्य को, बनारस से २० मील दूर चौरहरा गाँव भेजा गया। वह भाई वहाँ

आश्रम में

जा कर बस गये। आश्रम के बड़े भाई लोग भी उस गांव में आते जाते थे। मैं उन दिनों अपने भाई लोगों का देहात में आना-जाना देखा करता था और उनकी आपस की बातचीत भी ध्यान से सुना करता था। मन में देहात देखने की इच्छा प्रबल होती गई। इसी बीच आश्रम के एक भाई देवनन्दन-दीक्षित जेल से छूट कर आये और घर के किसी अनुष्ठान के बहाने आश्रम-वासी भाइयों को अपने घर चौबेपुर गांव में आमंत्रित किया। चौबेपुर बनारस से १६ मील की दूरी पर है। हम सब ने यही तय किया कि पैदल जायँगे और पैदल आयँगे। चौबेपुर जाते समय रास्ते में कई गांव पड़े। देहात में पहले-पहल जाना हुआ। हरे-भरे खेतों के बीच सुन्दर-सुन्दर झोपड़ियां देखने को मिलीं। सीधे-सादे किसानों को अनन्त आकाश के नीचे खुली हवा में काम करते हुए देखा। छोटे-छोटे बच्चों को देहात के बग़ीचे में खेलते-कूदते और हँसते हुए गौवें चराते देखा। रास्ते भर देहाती जीवन की झलक देखते हुए चौबेपुर पहुँचे। चौबेपुर का एक दिन का रहना बहुत दिलचस्प रहा। देहाती भाइयों का सीधा-सादा और हँसमुख व्यवहार एक दृश्य ही था। अतिथि-सत्कार भी एक खास तरह की दिली चीज़ थी। चौबेपुर से उसी दिन लौट आया। जिस देहात और देहातियों के विषय में पढ़ता और सुनता आया था, उन्हें अपनी आंखों देखा और प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच का उनका जीवन बहुत अच्छा मालूम हुआ। कभी-कभी यह भी भावना पैदा हुई कि ऐसे ही सुन्दर स्थान में जाकर रहना चाहिए। परन्तु तत्काल ऐसा अवसर न प्राप्त हो सका। कुछ समय पश्चात् इस प्रकार का अवसर प्राप्त हो ही गया।

प्रथम दर्शन

राजाराम भाई एक सप्ताह के लिए धौरहरा गांव को जा रहे थे। मैं भी उनके साथ हो लिया और रेलगाड़ी से राजवाड़ी स्टेशन उतर कर २ मील पैदल चलने के बाद धौरहरा पहुँचा। धौरहरा

में ५-६ दिन कोई काम नहीं था। वहाँ के मिट्टी के छोटे-छोटे और दूसरे घरों से घिरे हुए मकान, छोटे-छोटे आँगन, दरवाजों के निकट ही गलियों में नाबदान के दृश्य, रसोईघरों से निकलते हुए धुये के जमघट एवं आँगन और घरों की सदियों से जमी हुई नमी के कारण पृथ्वी से निकलते हुए भाप आदि ने मेरी देहात के सम्बन्ध में इतने दिनों की कविता-पूर्ण धारणा और उस दिन की मधुर स्मृति, सबको एक साथ मिट्टी में मिला दिया। रामआश्चर्य के तो देहाती लोग मित्र बन गये थे। उन्होंने गाँव के ख़ास-ख़ास लोगों से परिचित कराने के लिए मुझको उनके घरों में ले जाना शुरू किया। हमारे जाने पर लोग हमसे ख़ुशी से मिलते थे। लेकिन

एक झटका

बात-चीत में उनके सीधे-सादे लट्ठमार जवाब सुन कर तथा उनकी अपनी बात पर हर वक्त ज़िद करने की प्रवृत्ति देख कर मुझे परीशानी हुई। हम लोगों की ख़ातिर करने के लिए वे अपने घरों से तोशक और कथरी लाते थे। इन चीज़ों से इतनी अधिक बदबू निकलती थी कि उन पर बैठने को जी नहीं चाहता था। लेकिन न बैठने से उनके अपमान की आशंका थी। कहीं-कहीं लोग बैल और घोड़ा बाँधने के गन्दे और बदबूदार स्थान के पास ही चारपाई बिछा कर बहुत ख़ातिर के साथ हम लोगों को बैठाते थे। इस प्रकार गाँव में रहना बड़ी परीशानी की बात थी। इतनी अधिक झुण्ड के झुण्ड मक्खियों के बीच बैठ कर खाना खाना भी मेरे लिए एक अपूर्व अनुभव था। पाँच-छः रोज़ में ही मै परीशान हो गया और वहाँ से बनारस चल दिया। देहात में जाकर रहने का स्वप्न समाप्त हो गया। मैंने अपने मन में विचार किया कि जब ये लोग इतने सुस्त, इतने मूर्ख और इतने गन्दे हैं, तो इनकी यह हालत होना तो स्वाभाविक ही है। मुझे उनके प्रति एक घृणा-सी हो गई। सोचने लगा कि इन पर क्या रहम किया जाय। ये तो इसके पात्र ही हैं। मुझको तो इनके नमी से भरे हुए मकान ही विचित्र प्रतीत होते थे

तिस पर उनमें इतना अँधेरा था कि ५ मिनट में दम घुट जाय। ये लोग मकान बनाते हैं तो ठीक ढंग से क्यों नहीं बनाते ? इस प्रकार के विचार भी रह-रह कर दिमाग में घूमने लगे। कुछ दिन के बाद राम आश्चर्य भाई बनारस आये। मैंने उनसे कहा कि भाई इतने दिनों से उस गांव में हो किन्तु उन्हें थोड़ी सफ़ाई भी न सिखा सके। राम-आश्चर्य भाई ने हँसकर जवाब दिया कि वे इसी प्रकार रहते हैं; उनके रहने के तरीके में सुधार नहीं हो सकता और न तो वे सुधरने को तैयार ही हैं। फिर सुधार किस बात का किया जाय ? शहर के सुधरे हुए और साफ़ रहने वाले लोगों से वे अधिक स्वस्थ और मजबूत हैं। परिश्रम अधिक कर सकते हैं। फिर उनका क्या सुधार करोगे ? रामआश्चर्य भाई से इस प्रकार की बहुत सी बातें हुईं। हम लोग बात कर ही रहे थे कि एक दूसरे भाई वहां आ पहुँचे और हमारी बातें सुनकर हमारा मज़ाक़ उड़ाने लगे। "शहर के बाबू लोग देहात की बातों को क्या समझेंगे ?" इत्यादि-इत्यादि। मैंने इन लोगों से बातें तो कीं लेकिन दिमाग में परीशानी बनी रही। रह-रह कर यही ख्याल आता था कि क्या मैं इस योग्य हूँ कि हिन्दुस्थान के जन-सेवा-कार्य में सफ़ल हो सकूँ ? यह मैं तुम्हें पहले ही लिख चुका हूँ कि किताबें पढ़ने और नेताओं के व्याख्यान सुनने से यह बात हृदय में भली-भांति बैठ चुकी थी कि हिन्दुस्थान की जनसेवा का अर्थ 'ग्राम-सेवा है। और गांव की हालत यह है कि वहां जाकर एक दिन भी टिकना मुश्किल है। वहां की गन्दगी से बचना तो कुछ आसान है, गांव के बाहर कहीं कुटिया बनाई जा सकती है किन्तु वहां जाकर बातचीत किससे करूँ ? और कहाँ जाकर बैठूं ? रामआश्चर्य जिन ख़ास-ख़ास प्रतिष्ठित लोगों के घर मुझे परिचय के लिए ले गये थे, उनसे अधिक सभ्य तो शहर के दरबान और चपरासी भी मालूम पड़ते हैं। जब इन बड़े समझे जाने वाले लोगों की दशा यह थी तो फिर दूसरे छोटे लोगों का कहना ही क्या ? फिर उनके प्रति ऐसी अश्रद्धा रखते हुए

उनकी सेवा ही क्या करूँगा? इस प्रकार के ख्याल भी रह-रह कर दिमाग़ में आते रहे। दो-तीन माह तक मैं इसी प्रकार की चिन्ताओं में बहुत परीशान रहा। कई बार यह भी मन में आया कि बहुत से अन्य भाइयों की तरह पुनः कालेज में वापिस चला जाऊँ किन्तु एक बार जो निश्चय कर चुका था, उससे पीछे हटना भी कठिन ही प्रतीत होता था। इस द्विधा और परीशानी के बीच मैं कर्तव्याकर्त्तव्य का कुछ निश्चय न कर सका और लाचारी की अवस्था में जिस तरह पहले दिन व्यतीत करता था, उसी तरह व्यतीत करने लगा। मेरी तबीयत भली-भाँति किसी काम में नहीं लगती थी, जिससे लोग मुझे खब्ती समझने लगे। बाद को परिस्थिति और मेरी मनोवृत्ति में कुछ तबदीली हुई और मेरा दिमाग़ अधिक स्थिर होने लगा। यह तब्दीली किस प्रकार हुई इसे दूसरे दिन लिखूँगा। आज इतना ही कह कर पत्र समाप्त करता हूँ।

किंकर्त्तव्यविमूढ़

आज कल यहां का जीवन खूब अच्छा है। पढ़ने की भी धीरे-धीरे आदत पड़ रही है। नजरबन्दी के जेल-जीवन का क्या ठिकाना। एक तरह से अच्छा भी है, लामियाद होने से दिन तो नहीं गिनने पड़ते। तुम सब को मेरा नमस्कार।

---

[३]

ज़िन्दगी की तैयारी

सेंट्रल जेल, आगरा

१३—६—४१

उस दिन से मैं कोई पत्र नहीं लिख सका। इधर जेल में कुछ लड़ाई-झगड़ा था। उस झगड़े के सिलसिले में लिखने-पढ़ने की फ़ुरसत ही नहीं मिली।

उस दिन मैंने तुम्हें लिखा था कि गांव की बुराइयों को देख कर गांव वालों के प्रति मुझे कैसी घृणा हो गई। इतने दिन से गांव के प्रति इतनी मधुर धारणा रखने पर भी इतनी जल्दी सारा स्वप्न समाप्त हो गया, यह क्या बात है? क्या गाँव की हालत देख कर ही ऐसा ख्याल पैदा हुआ या कुछ भीतरी संस्कार, जो कविता-मय भावना से दबे हुए थे, एकाएक उभर पड़े? यह सोचने की बात थी। तुमको तो मालूम ही है कि बंगाली मध्यम श्रेणी के लोगों में छोटे लोग और भद्र लोग के नाम से दो श्रेणी का विकट संस्कार कूट-कूट कर भरा हुआ है। उनके लिए छोटे लोग मनुष्य श्रेणी में नहीं गिने जाते। वे हेय और नीच समझे जाते हैं। मैं भी तो बंगाली बाबू श्रेणी का एक युवक था। इसलिए जो लोग सफ़ेद कपड़ा नहीं पहनते उनको मेरा छोटे लोग अर्थात् नीच और हेय समझना स्वाभाविक ही था। उस वक्त यह बात कहाँ मालूम थी कि गाँव के सीधे-सादे लोग दीन हो सकते हैं लेकिन हीन नहीं। मेरी परिस्थिति के एक नौजवान के लिए यह समझना नामुमकिन था कि सदियों के अवसर और साधन के अभाव ने ही उनकी हालत ऐसी बना दी है। उस समय मुझमें श्रेणी-भेद का संस्कार इतना प्रबल था कि मेरे लिए यह भी समझना असम्भव-सा था कि इस गन्दगी और अक्खड़ प्रकृति की तह में भी हज़ारों वर्ष की सुसंस्कृति चिनगारी की तरह राख के नीचे दबी हुई पड़ी है। यह सब बातें मुझे सालों बाद मालूम हुईं। जिनकी बाबत मैं फिर कभी समय पाकर लिखूंगा। उस समय तो गांव की बात सोच कर मुझे परीशानी ही होती थी और उनके प्रति अश्रद्धा की भावना ही उत्पन्न होती थी। मैं समझता हूँ कि भारत के सैकड़ों नौजवानों की यही मनःस्थिति है। ग्राम-सेवा की उत्कट इच्छा रखते हुए भी वहाँ की ज़िन्दगी के प्रति वितृष्णा की भावना उत्पन्न हो जाती है।

श्रेणीगत अहंकार

बनारस लौट कर मैं अपने काम में लग गया। मेरे ज़िम्मे बढ़ई-

विभाग के संचालन का काम था। इञ्जीनियरिङ्ग कालेज में पढ़ने की वजह से यह काम मेरे अनुकूल भी था। स्वभावतः ही मैं अपने काम में मशगूल हो गया। लेकिन रह-रह कर धौरहरा का ख्याल मेरे दिमाग़ में आना ही रहता था। "तो क्या मैं राष्ट्रीय सेवा के योग्य नहीं हूं।" मैं देखता था कि मेरे कुछ दूसरे भाई काफ़ी आसानी से देहात का काम कर लेते थे लेकिन उनका घर देहात में ही था और उनके लिए देहाती वायु-मण्डल स्वाभाविक था। मैं इस चिन्ता में काफ़ी वक्त बिताता था और अपने मन में काफ़ी दुखी रहता था। कभी-कभी यह भी ख्याल आता था कि मैंने असहयोग आन्दोलन में नाहक भाग लिया। उस समय के वायुमण्डल में

हृदय-मंथन

नवयुवकों के बीच एक निराशा-सी छाई हुई थी। मेरे सैकड़ों साथी प्रति दिन एक-एक करके कालेज वापिस जा रहे थे, जिनकी ख़बर हमें मिलती रहती थी; यह चिन्ता भी मुझे काफ़ी परेशान करती थी, लेकिन जब-जब सोचता था तब-तब दिल से यही आवाज़ उठती थी कि अब आगे बढे हो तो वापिस क्यों जाओगे? अगर कुछ करना है तो आगे ही बढ़ना ठीक है, पीछे हटना तो नामर्दों का काम होगा। इस प्रकार आख़िरी निश्चय यही हुआ कि आगे बढ़ना ही उचित है। यह तो मैं पहले ही लिख चुका हूं कि मेरे दिल में यह बात पहले ही से बैठ चुकी थी कि हिन्दुस्थान गांव में बसता है और इस मुल्क की सेवा तभी हो सकती है जब कि हम गांव की सेवा करें। लेकिन क्या अपने भीतर उच्च वर्ग की मनोवृत्ति रखते हुए गांव की सेवा सम्भव है? इस प्रकार की भावना के साथ तो गांव में दो दिन टिकना भी मुश्किल हो जायगा। फिर जिनके प्रति श्रद्धा नहीं है, उनकी सेवा क्या कर सकेंगे? मैं पहले भी लिख चुका हूँ कि सेवा उसी की की जा सकती है जिसके प्रति हम श्रद्धा रख सकें। मैं सोचने लगा कि यह श्रद्धा आये कैसे? इसके लिए तो सर्वप्रथम अपने भद्र-पन की भावना को छोड़ना पड़ेगा। यों तो

मैंने जब से कालेज छोड़ा था तभी से अपनी रहन-सहन बहुत सादी कर लिया था। आश्रम का वायुमण्डल ही वैसा था। किन्तु उस समय से मैंने अपने कपड़ों को देहाती की तरह बनाने की कोशिश करना प्रारम्भ किया। आश्रम में यह रिवाज सा था कि रोज़-रोज़ साबुन से कपड़े धोकर साफ़ रखे जायँ। मैं कपड़े तो रोज़ धोता था, किन्तु उन्हें अधिक सफेद नहीं करता था। अपने आपको कुछ ऐसे रंग में रंगना चाहता था कि देहातियों के साथ उठना-बैठना सहज हो सके। आश्रम के दूसरे भाई इस पर काफ़ी टिप्पणी करते थे, मेरा मज़ाक़ भी उड़ाते थे, लेकिन मैं इन बातों को हँस कर उड़ा देता था। उनसे कहा करता था कि भाई यह भी एक स्टैंडर्ड है। आख़िर कहीं धब्बा तो है नहीं? शुरू से आख़िर तक एक ही रंग मिलेगा। इत्यादि, इत्यादि।

बनारस में यही सोचा करता था कि किस तरह अपने को गाँव के कार्य के योग्य बना सकूं। इसी बीच श्री दिनेशचन्द्र चक्रवर्ती नाम के एक नौजवान ने बनारस में अछूतोद्धार का काम प्रारम्भ किया था।

अछूतों से सम्पर्क

मैं कभी-कभी उन्हें चन्दा इकट्ठा करने के काम में सहायता दे दिया करता था और कभी-कभी उन्हीं के साथ अछूतों के मुहल्ले में भी जाया करता था। धीरे-धीरे उनके दरवाज़े पर उठना-बैठना भी शुरू कर दिया। इस प्रकार क्रमशः मेरा उनके साथ उठना-बैठना सहज होता गया। दिनेश बाबू के साथ अछूतों के मुहल्ले में आने-जाने से सब से बड़ा लाभ यह हुआ कि मेरे हृदय में उनके प्रति घृणा की जो भावना भरी हुई थी वह धीरे-धीरे दूर होती गई और मैं गन्दगी को सहन करने का अभ्यासी होता गया। लोगों के इस प्रकार के जीवन को बदलने के अभिप्राय से जब मैं उनसे बार-बार मिलने लगा तो मुझमें भी कुछ परिवर्तन होने लगा। इस बात की आशंका भी होने लगी कि कहीं मेरी अवनति न हो जाय। मेरे मस्तिष्क में इस धारणा ने घर बना लिया था कि देहात की जनता

को उठाने में ही देश का कल्याण है। मैं सर्वदा इस प्रकार का अवसर प्राप्त करने के लिए व्यग्र रहा करता था, किन्तु हृदय के पूर्व संस्कार इतने प्रबल थे कि धौरहरा जाते ही बाबू मनोवृत्ति उमड़ आई। तुम पूछोगी कि जो संस्कार प्रारम्भ में खेत गोड़ने, बर्तन माँजने और ठेला खींचने पर भी नहीं मिट सके थे वे बाद में किस तरह मिट सके। सचमुच यह सोचने और समझने की बात है। शुरू में जब हम मज़दूरी का काम करते थे, तो आश्रम-जीवन के रवैया के साथ यंत्रवत् चलते रहे। उस समय किसी ख़ास ढंग की ओर अपने को ले जाने की नीयत नहीं थी। वह जीवन सम्मिलित जीवन का एक अंग था। साथ मिल कर नियमित रूप से परिश्रम करने और तकलीफ़ उठाने के कारण आश्रम-वासियों में आपसी प्रेम और भ्रातृ-भाव गम्भीर होता जाता था, किन्तु उन कामों के द्वारा मध्यम श्रेणी की भद्रता की भावना दूर करने में कोई सहायता नहीं मिलती थी। क्योंकि उस समय हमारी दिमाग़ी प्रवृत्ति में इस प्रकार की कोई भावना नहीं थी। किन्तु बाद में जब मैं इस दिशा में प्रयत्न करने लगा तो एक विशेष प्रकार की नीयत और धारणा के साथ करने लगा जिससे यह पिछला प्रयास भीतरी संस्कार को कम करने में अधिक सहायक हुआ। फिर भी इस बात में कोई सन्देह नहीं कि यदि आश्रम में आरम्भ से ही शारीरिक परिश्रम का आदर्श और अभ्यास न रहता तो बाद का प्रयास भी सम्भव नहीं होता। अतः आश्रम के हर एक काम को अपने हाथ से करने के अभ्यास ने हम लोगों को ग्राम-सेवा के योग्य बनाने में विशेष सहायता दी।

इस तरह साल भर बनारस में ही बीत गया और मैं किसी तरह गाँव में जाकर काम करने का मौका ढूँढ़ता ही रहा। कई बार धौरहरा जाने का विचार हुआ किन्तु अवसर नहीं मिला। मैं आश्रम में अपने लिए किसी काम की माँग नहीं करता था। ज़ो ही काम मुझे दिया जाता था, उसे ही अपनी शक्ति भर करने की कोशिश

करता रहा। इसलिए मैंने किसी से गाँव भेजे जाने के सम्बन्ध में बात-चीत नहीं की। और ऐसे अवसर की प्रतीक्षा करने लगा जब आश्रम के लोग स्वयं ही मुझे गाँव में भेज दें। आज पत्र बहुत बड़ा होगया और अपने ही विषय की कहानी लिखते-लिखते समाप्त हो गया। इसका कुछ ख़्याल न करना। मैंने इसलिए लिखा कि तुम्हें यह बात स्पष्टतः ज्ञात हो जाय कि किस प्रकार मेरी मनोवृत्ति ग्राम-सेवा की ओर मुड़ी। उसके बाद ही मुझे गाँव में जाने का मौक़ा मिला था; इसकी कहानी अगले पत्र में लिखूंगा।

---

[४]

सेवा की ओर

सेंट्रल जेल, आगरा
१४—६—४१

तुम्हारा पत्र मिला। हाँ, मुझको तो अपना ही अनुभव लिखना था। एक शहरी युवक के लिए अपने आप को पहले पहल ग्राम-सेवा
वृत्ति का बनाने का अनुभव ही तो प्रधान अनुभव
ग्राम-सेवा की था। मेरी इस कहानी से यह भी मालूम हो जायगा
मनोवृत्ति का महत्व कि गाँव में रह कर काम करने की वृत्ति उत्पन्न
करना भी सेवक के लिए एक विशेष प्रोग्राम है।
वह इस प्रोग्राम को पूरा करने के बाद ही कुछ काम शुरु कर सकता है। अस्तु, पिछले पत्र में मैंने लिखा था कि मैं गाँव में जाकर काम करने का अवसर ढूंढ रहा था। इसी बीच मुझे उसकी सुविधा मिल गई। इधर कुछ दिनों से मैंने होमियोपैथिक-चिकित्सा-पद्धति का अध्ययन करना और उसी के अनुसार दवा देना शुरू कर दिया था कि अगर मैं गाँव में जाऊँगा तो वह विद्या मदद करेगी। इसकी

सूझ मुझे बनारस के रामकृष्ण मिशन से मिली थी। श्री रामकृष्ण की जीवनी और रामकृष्ण मिशन की सेवा-वृत्ति ने मुझे पहले से ही उस ओर प्रेरित किया था। मैं प्रायः रोज सेवाश्रम में जाता था और वहाँ के सेवकों से वार्तालाप किया करता था। श्री कालिका महाराज मुझको काफ़ी स्नेह की दृष्टि से देखा करते थे। उनसे मैं प्रायः कहा करता था कि मैं देहात में ही काम करना चाहता हूँ और देहात में किस तरह घुसा जा सकता है, इस पर विचार-विनिमय किया करता था। उन्होंने बताया था कि देहातियों को जीतने के लिए उनको दवा देने का काम पहिले हाथ में लेना चाहिये। वह ईसाइयों के काम की मिसाल भी दिया करते थे। आश्रम में आये तीन वर्ष हो चुके। सन् १९२३ के सितम्बर का महीना था। अब तक धौरहरा के अलावा फैज़ाबाद ज़िले के अकबरपुर में चर्खा और खादी का केन्द्र खुल चुका था। श्री अनिल भाई वहाँ के इन्चार्ज थे। अनिल भाई और राजाराम भाई बनारस आये हुए थे। बढ़ई विभाग भी बन्द हो चुका था। मैं खादी की फेरी करता था और मौज से घूमा करता था। आश्रम के बड़े लोग आश्रम-सम्बन्धी कार्य के विषय में आपस में वार्तालाप किया करते थे। मुझे इन बातों से बहुत ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी किन्तु अनिल भाई से पहले ही से घनिष्ठता थी। मैं एक प्रकार से उन्हें गुरु मानता था। तुमको यह मालूम ही है कि कुछ दिन पहले मैं अपने ही विचारों में अधिक परीशान रहता था। सर्वदा इस चिन्ता में रहा करता था कि क्या करूँ? उन दिनों अनिल भाई की संगति से मैंने हर बात में निश्चिन्त रहना सीख लिया था और उन्हीं के द्वारा यह पाठ भी पढ़ लिया था कि अपने विषय में आश्रम के किसी व्यक्ति से कुछ न कहूँ। इसलिए अनिल भाई से अलग ही बात-चीत हुआ करती थी। उन्होंने मेरे कमरे में होमियोपैथिक दवाओं के बक्स को देखकर पूछा कि यह क्या शुरू किया है? मैंने उन्हें बताया कि आज कल

श्री अनिल और राजाराम भाई

यही सीख रहा हूँ। अगर कभी गाँव में जाने का अवसर मिला तो यह काम देगा। इस पर उन्होंने फिर पूछा कि तुम देहात जाना चाहते हो क्या? देहाती जीवन पसन्द आयेगा? वहाँ की तकलीफ़ सह सकोगे? इत्यादि-इत्यादि। मैंने उन्हे उत्तर दिया कि मैं नहीं कह सकता कि सह सकूंगा या नहीं, लेकिन यह मैं ज़रूर चाहता हूँ कि मुझे देहात का काम दिया जाय। यहाँ मैं तुम्हें एक बात बता देना चाहता हूँ कि आश्रम के भाई लोग शुरू से ही यह समझते थे कि मैं देहात का काम नहीं कर सकता इसलिए सन् १९२१ ई० में जब लोगों को देहात में काम करने के लिए भेजा गया था, तब मैं बनारस में ही रक्खा गया था। बाद में भी जब जब देहात में काम करने का समय आया, तब तब लोगों को मेरे विषय में सन्देह ही रहा। अनिल भाई भी उस समय शायद ऐसा ही सन्देह रखते थे, इसलिए उन्होंने निश्चित रूप से कोई उत्तर नहीं दिया और दूसरे ही दिन वे और राजाराम भाई अकबरपुर चले गये। मेरे मन में आया कि मैं उनसे कहूँ कि मुझे भी साथ ले चलें। किन्तु अपने विषय में किसी से कुछ न कहने के निश्चय के कारण कुछ न कह सका।

मुमकिन है, अनिल भाई ने राजाराम भाई से कुछ सलाह ली हो। थोड़े ही दिन बाद अकबरपुर से मुझको वहाँ बुलाने के लिए राजाराम भाई का पत्र आया। मैं तो जाना ही चाहता था, जल्दी से सामान वगैरह बाँध कर रवाना हो गया। अकबरपुर स्टेशन पर अनिल भाई वगैरह आये हुए थे। मैं सबके साथ आश्रम पहुँच गया। अकबरपुर तहसील का केन्द्र-स्थान है।

अकबरपुर में

अच्छा सा कस्बा है। गाँव से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। मैंने बनारस से चलते समय अकबरपुर के विषय में चौरहरा जैसे किसी गाँव की ही कल्पना की थी। आश्रम का मकान भी अच्छा था; सड़क भी काफ़ी अच्छी थी, इसलिए यहाँ आने पर देहात का अनुभव नहीं हो सका। किन्तु मन में इतना ही

सोच कर सन्तोष किया कि बनारस के मुकाबिले में तो देहात ही है। और कभी न कभी देहात में आने जाने का मौक़ा तो मिलेगा ही। यहाँ के बाज़ारों मे जो लोग आते जाते थे, वे भी तो देहाती ही थे, इसलिए मैं वहाँ आने मे प्रसन्न ही हुआ। प्रारम्भ में दो-तीन दिन तक मुझे कोई काम न रहा, तत्पश्चात् मैंने अनिल भाई से काम के सम्बन्ध में बात-चीत की। उन्होंने कहा कि मैंने तुम्हें इसलिए बुलाया है कि तुम लोगों को होमियोपैथिक दवा दिया करो। मैं बनारस से बहुत सी किताबें और काफ़ी दवा लाया था। इस मनोनुकूल काम से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। और मैंने अपना सारा समय होमियो-पैथिक अध्ययन एवं बीमारों को दवा देने के काम में लगा दिया।

'डाक्टरसाहब'

आश्रम के लोगों ने चारों ओर प्रसिद्ध कर दिया कि आश्रम में एक डाक्टर साहब आये हैं और लोगों को दवा देते हैं। इस प्रकार मैं डाक्टर साहब के नाम से प्रसिद्ध हो गया। कभी कभी देहात के लोग भी आकर दवा ले जाते थे लेकिन अधिकतर क़स्बे के लोग ही दवा लिया करते थे। शुरू-शुरू में मैं होमियोपैथी के पढ़ने में और दवा देने के काम में इतना तल्लीन हो गया कि मुझे और किसी बात की चिन्ता ही न रही। किन्तु फिर एक या डेढ़ माह के बाद मुझे ख्याल आया कि इस तरह तो मुझे गाँव का कोई अनुभव नहीं हो रहा है, अतः गाँव में जाकर कुछ करने के लिए मैं चिन्तित रहने लगा। मैं श्री राजाराम भाई के पीछे पड़ा कि वे मुझे अपने साथ ले चलें और गाँव दिखा दें। वे तैयार हो गये और एक दिन मैं चर्खा-प्रचार करने के लिए गाँव को रवाना हुआ। यद्यपि राजाराम भाई को रोज़-रोज़ गाँव जाने की कोई रुचि नहीं थी, किन्तु फिर भी मेरे कहने से वे लगभग नित्य ही देहात चले जाते थे। और आम तौर से उसी गाँव को जाया करते थे, जहाँ कोई न कोई उनके परिचित होते थे। इस प्रकार मुझे देहात के लोगों से बात-चीत और गप-शप करने का काफ़ी अवसर मिल जाता था।

धीरे-धीरे मैं भी देहात के लोगों के साथ काफ़ी हिल-मिल गया। शुरू-शुरू में तो मुझे काफ़ी परीशानी रही। यहाँ तक कि रास्ता चलते-चलते मैं कई जगह रुक जाता था। गाँव में लोगों के दरवाज़ों के सामने अनाज सूखता हुआ देख कर मैं उसे आँगन समझ लौट आता था। सोचता था कि प्राइवेट घरों के भीतर से किस तरह चलूँ? इस प्रकार की बहुत सी बातों को लेकर राजाराम भाई दूसरे लोगों के सामने मेरी हँसी उड़ाते थे। किन्तु इस तरह मेरे दिल की बहुत दिनों की इच्छा धीरे-धीरे पूरी होने लगी। और मैंने गांव का काम करना शुरू कर दिया। रोज़-रोज़ आश्रम से गांव को जाने और फिर लौट आने के कारण देहात की गन्दगी वगैरह ने मुझे परीशान नहीं किया और मैं बिलकुल सहज भाव से काम करने लगा। और मेरे दिमाग से देहात के प्रति अश्रद्धा की भावना धीरे-धीरे हटती चली गई। भद्रता की भावना तो अब क़रीब क़रीब समाप्त हो रही थी। उसको तो मैंने बनारस से ही हटाने का प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया था। जो कुछ बाकी थी वह भी देहात में देहात के लोगों से रोज़-रोज़ के मिलने जुलने से समाप्त हो गई। इस बात से मुझे बहुत संतोष हुआ कि अब मैं ग्राम-सेवा के लिए योग्य बनता जा रहा हूँ। आज इतना ही लिख कर पत्र समाप्त करता हूँ। तुम्हारा काम किस प्रकार चल रहा है? जुलाई में ट्रेनिंग सेंटर खोलने वाली थी उसका क्या हुआ? सबको मेरा नमस्कार कहना।

---

[५]

ग्राम-वासियों से सम्पर्क

सेंट्रल जेल, आगरा
१७—६—४१

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि किस तरह मैंने देहात में काम करने का श्रीगणेश किया। देहात के लोगों के साथ उठने-

बैठने से उनके प्रति मेरी मानसिक अश्रद्धा दूर होती गई, यह भी मैं लिख ही चुका हूँ। रहन-सहन और पोशाक आदि के विषय में तो मैंने बनारस से ही काफ़ी लापरवाही शुरू कर दी थी। लेकिन दिमाग़ में अपने को आम जनता से ऊँचा ही समझता था और इसी भावना के कारण अभी तक देहाती लोगों के साथ मिलना-जुलना उतना स्वाभाविक नहीं हो पाया था। इस प्रकार कहने के लिए तो मैं क़रीब-क़रीब रोज़ ही देहातियों के बीच जाया करता था। लेकिन जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ उन्हीं देहातियों के घर जाता था जिनसे राजाराम भाई से जान-पहचान थी और जो देहातियों की दृष्टि में उच्च श्रेणी के लोग गिने जाते थे। इनसे मिलने में बराबरी का व्यवहार रखने की स्वाभाविकता की रक्षा करना मेरे लिए कठिन होता था। जेल आने के बाद शुरू-शुरू में मैंने तुमको लिखा था कि गांव के भीतर रचनात्मक कार्य करने के लिए पढ़े-लिखे लोग नहीं तैयार होते हैं। और यदि तैयार भी होते हैं तो गांव वालों के समक्ष इस प्रकार का ढंग और रवैया रखते हैं कि गांव वाले उनको तथा उनकी बातों को सहज रूप से ग्रहण नहीं करते। प्रतिफल यह होता है कि वे ग्राम-सेवा की इच्छा रखतें हुए गाँव वालों से अप्रसन्न हो कर या निराश हो कर लौट आते हैं। मेरी तरह का एक नौजवान, जिसने निश्चय कर लिया था कि अपने जीवन में देश और गाँव का ही काम करेंगे और दो-तीन वर्ष से अपने को इसी के अनुरूप बनाने की कोशिश भी कर रहा था और जिसके लिए आश्रम का वातावरण और उसकी शिक्षा भी इस कोशिश के अनुकूल ही थी, अब गाँव के उच्च श्रेणी के लोगों के साथ मिलने में भी कठिनता महसूस करता था, तो शहर के शिक्षित समाज के लिए, एकाएक गाँव में जाकर गाँव के लोगों को अपनाना कितना कठिन है, यह भली-भाँति समझ सकती हो। यही कारण है कि मैं गाँव के काम करने वालों के लिए अपनी श्रेणी-विशेषता का दूर करना सबसे अधिक

आवश्यक समझता हूँ।

उच्चता का अभिमान दूर रखने की आवश्यकता

क्योंकि, ऐसे लोग देहात में जाकर उन बातों को हटवाने की कोशिश करने लगते हैं, जो उन्हें अपनी श्रेणी और अपने समाज के अनुकूल न होने से बुरी लगती हैं या जिनके कारण उन्हें स्वयं कष्ट अनुभव होता है। बरसात में उन्हें गाँव के भीतर कीचड़ में घूमना कष्टप्रद होता है; अतएव वे देहात की गलियों में ईंट बिछवा देना ग्राम-सुधार कार्य का एक आवश्यक अंग समझते हैं। आर्थिक सुविधाओं में जन्म लेने और शिक्षा पाने के कारण उन्हें क्या पता कि देहात के जन-समूह के पास इतनी ईंटें जुटाने का धन और साधन है या नहीं? अगर वे कहीं बाहर से ईंट माँग कर लायेंगे तो उनके पास सोचने की इतनी शक्ति नही है कि उन ईंटों को साफ और दुरुस्त रखने के लिए उन्हें क्या करना चाहिये। देहात के घरों में बैठने से उनका दम घुटता है, इसलिए वे उनमें खिड़की की व्यवस्था कराने की कोशिश करते हैं। वे देहात में जाते ही वहाँ के प्रचलित शादी, विवाह तथा अन्य अनुष्ठानों के रिवाज के विरुद्ध प्रचार एवं विवाद करने लगते हैं जिसे गाँव वाले सहन नहीं कर पाते।

केन्द्रबिन्दु को स्पर्श करो

गाँव के भीतर जाकर हमें गाँवों के उसी बिन्दु पर उँगली रखनी है जिस बिन्दु पर गाँव वालों को सबसे अधिक कष्ट है। हमें सबसे पहले इसी का समाधान खोज निकालना है। मैंने कई वर्ष देहात में रह कर अनुभव किया है कि देहाती जनता के भीतर स्वाभिमान की भावना इतनी अधिक भरी हुई है कि वे बाहरी लोगों से हर प्रकार की बातें तो करेंगे, किन्तु जिन बातों का उन्हें कष्ट होगा, उन्हें हर प्रकार से गुप्त रखने का प्रयत्न करेंगे। वे यह सहन नहीं कर सकते कि कोई व्यक्ति उनके कष्टों को जान कर उन्हें किसी प्रकार से छोटा समझ ले। मुझे यह भी देखने में आया है कि गाँवों में नीच कही जाने वाली जातियों के

ग्रामवासियों का स्वाभिमान

लोग अगर गाँव में किसी भद्र पुरुष को देखते हैं तो उनसे अपनी ग़रीबी के साधारण दुखों का बयान करते हैं, इधर-उधर के छोटे-मोटे कष्टों को सुनाकर कुछ आर्थिक सुविधा भी प्राप्त कर लेते हैं किन्तु जिन बातों का उन्हें खास कष्ट है और जिनकी समस्या उनके सामने रात-दिन रहती है उनका जिक्र तक नहीं करते। गाँव की दशा पूर्ण रूप से न जानने वालों के लिए ग्रामसेवा का काम कठिन हो जाता है इसलिए ग्राम-सेवक को सबसे पहले ग्रामवासियों को तुच्छ समझने की भावना का मूलोच्छेदन कर उनके साथ ऐसे सहज और स्वाभाविक ढंग से मिलना होगा कि वे उन्हें अपने ही कुटुम्ब का एक व्यक्ति समझने लगें। यदि हम ऐसा नहीं करते तो उनकी समस्याओं को समझ ही नहीं सकते। सेवा और सुधार तो बहुत दूर की बात है।

अतएव मुझ-जैसे भद्र की भावना से पूर्ण और ग्रामीण-समाज की सम्पूर्ण समस्याओं से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए उनके साथ काफ़ी घनिष्ठता का व्यवहार हो जाने पर भी उनसे एक हो जाने की भावना लाना सम्भव न हो सका। मैं देहात में जाता था, उन्हें घर-द्वार साफ रखने की बात बताता था; और खास तौर से चर्खा चलाने के सम्बन्ध में उनसे बहस किया करता था। किन्तु वे अधिकतर यही उत्तर देते थे कि हमारे घर की औरतों को चर्खा चलाने के लिए अवकाश ही नहीं मिल सकता।

ब्राह्मण और क्षत्रिय घरों की परदा पद्धति के कारण हम सीधे स्त्रियों से किसी प्रकार की बात नहीं कर सकते थे; किन्तु कुर्मी आदि किसानों में स्त्रियों से भी बातचीत कर लेता था।

ग्रामीण नारी की सहज चेतना

इस प्रकार पुरुष और स्त्री दोनों वर्गों में काम करते-करते मैंने अनुभव किया कि ग्रामीण अर्थ-शास्त्र से सम्बन्धित बातों को गाँव की स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और शीघ्र समझ जाती हैं; पुरुषों से बात-

चीत कर के मैंने यह देखा कि ये बातें वे जल्दी नहीं समझ पाते, उस वक्त मेरे दिमाग में आया कि अगर हम देहात की स्त्रियों में काम करें तो गांधी जी के प्रोग्राम को बहुत शीघ्र पूरा कर सकते हैं। उन दिनों मैं इस बात का अनुमान न कर सका कि स्त्रियाँ हमारी बातें पुरुषों की अपेक्षा जल्दी समझ लेती हैं। इसका कारण क्या है, उस समय इतना सोचने की योग्यता भी नहीं थी। परन्तु कालान्तर में देहाती क्षेत्र में लम्बी अवधि तक काम करते-करते मुझे इसका कुछ आभास मिलने लगा। मैं धीरे-धीरे यह समझने लगा कि पुरुष जाति के लोग कभी न कभी किसी न किसी काम से शहर में आया जाया करते हैं। और इस प्रकार शहरी और पश्चिमी सभ्यता के लोगों से उनका संसर्ग हुआ करता है जिसके परिणाम-स्वरूप वे शहरी तथा पश्चिमी सभ्यता की निकृष्ट बातों को अधूरे और विकृत रूप में ग्रहण करते रहते हैं। नतीजा यह होता है कि उनके हृदय में भारतीयता के स्थान पर एक निम्न प्रकार की शहरी सभ्यता टूटा-फूटा स्वरूप धारण कर लेती है। इधर हमारा प्रचार गांधी जी के सिद्धान्त के अनुसार ही हुआ करता है जो ग्रामीण सभ्यता के बिल्कुल अनुकूल होता है। इसी से गाँव की

स्त्रियाँ उसे ठीक-ठीक समझ लेती हैं क्योंकि वे

ग्रामीण सभ्यता नगर-निवासियों के अधिक संसर्ग में नहीं आतीं।

का प्रकाश उनमें सदियों की गरीबी की मार पड़ने पर भी उनके

सुरक्षित है अन्दर जो कुछ सभ्यता बाकी रह गई है वह प्राचीन

भारत की ग्रामीण सभ्यता का अवशेष मात्र ही है

और गांधी जी उसी चीज़ का विकास करना चाहते हैं इसलिए गाँव की स्त्रियों की आत्मा का स्वर गांधी जी के सिद्धान्त के साथ ठीक-ठीक मेल खा जाता है। यही कारण है कि वे हमारी बातों को जल्दी ग्रहण कर लेती हैं।

इसी प्रकार सोचते-विचारते और काम करते हुए महीनों पर महीने बीतते गये और मैं देहात के विषय में अधिक अध्ययन करने लगा,

और साथ ही अपने को देहाती जीवन के योग्य बनाने का प्रयत्न भी करता रहा। कुछ दिनों के बाद अकबरपुर से १२ मील दूर टाण्डा ग्राम में आश्रम का सूत केन्द्र खोला गया। शुरू-शुरू में आश्रम के अन्य भाई लोग काम करने लगे लेकिन और कई केन्द्रों के खुल जाने से काम करने वालों की कमी पड़ने लगी। उस समय मेरे ऊपर कोई खास ज़िम्मेदारी का काम नहीं था। प्रचारार्थ देहातों में घूमा करता था और आश्रम में बैठ कर लोगों को दवा दिया करता था। इस प्रकार एक तरह से मुझे खाली देख कर लोगों ने

टाँडा में

मुझे टाण्डा भेज दिया और मैं वहाँ किराये का एक छोटा-सा मकान लेकर रहने लगा। टाण्डा में प्रति सप्ताह एक दिन सूत की अदल-बदल हुआ करती थी और बाकी समय देहात में प्रचार का काम होता था। टाण्डा में रहते समय मैं ग्रामीण जनता से अधिक घनिष्ठता प्राप्त करने और उनको अधिक निकट से अध्ययन करने की कोशिश करता रहा। इसकी कहानी फिर कभी लिखूंगा। आज पत्र लम्बा हो गया; यहीं समाप्त करता हूँ।

---

[६]

भेदभाव और मातृहृदय

सेंट्रल जेल, आगरा
२१—६—४१

सन् १९२३ के नवम्बर का महीना था; जाड़े का मौसम। इसी समय मैं टाण्डा पहुँचा। वहाँ जाकर शुरू-शुरू में मुझे अपने रहने और और अपने खाने-पीने का प्रबन्ध करने में कठिनाई प्रतीत हुई। यही सोचने लगा कि क्या प्रबन्ध करूँ? अकबरपुर से भी कभी-कभी टाण्डा का बाज़ार किया करता था और शुरू-शुरू में चर्खा चलाने के कारण पहिले जब सूत बहुत मोटा होता था तो यहाँ उसकी दरी भी बनवाता था। उस दिन जब मैं वहाँ पहुँचा तो एक दरी बुनने वाला

लड़का मेरे साथ रह कर दिन भर मेरे कमरे की सफ़ाई वगैरा कराता रहा। संध्या तक सफ़ाई पूरी हो जाने पर मैंने स्नान किया और अपने खाने-पीने की व्यवस्था सोचने लगा। लड़के से पूछा कि यहाँ कौन-कौन सी वस्तुएँ कहाँ-कहाँ मिलती हैं। कोई होटल है कि नहीं? उसने बताया कि पूरी-मिठाई के अतिरिक्त खाने-पीने की कोई और चीज़ यहाँ नहीं मिल सकती। मैंने उससे फिर पूछा कि क्या तुम अपने घर से रोटी बनवा कर दे सकते हो किन्तु ध्यान रखना कि मैं किसी का जूठा नहीं खाता इसलिए खाना अलग से सफ़ाई से बनवाकर दोगे तभी मैं खा सकूंगा। वह मेरी बातें सुन कर आश्चर्य्य में डूब-सा गया और कहने लगा कि आप हिन्दू होकर मेरे घर की रोटी कैसे खायँगे? मैंने उसे समझाना प्रारम्भ किया और कहा कि हिन्दू और मुसलमान कोई अलग-अलग प्राणी नहीं हैं; दोनों ही मनुष्य हैं। यदि दोनों का खाना-पीना एक में हो जाय तो मनुष्यता में कोई अन्तर नहीं आयेगा। आज दोनों के खान-पान एक दूसरे से इसलिए अलग-अलग हैं कि दोनों ने अपने-अपने रस्म-रिवाज अलग-अलग कर रक्खे हैं और एक दूसरे से घृणा करते हैं। हाँ, दोनों में थोड़ा अन्तर अवश्य है। वह यह कि तुम लोग जूठ से परहेज़ नहीं करते; लोटा गिलास साफ़ करके नहीं रखते किन्तु हम लोग इसका पर्याप्त ध्यान रखते हैं। यही दोनों में मौलिक विभेद है और इसीलिए हमारा तुम्हारा खाना-पीना एक में नहीं होता अन्यथा तुम्हारे छूने मात्र से कौन-सी हानि हो सकती है। मेरी ये बातें सुन कर वह बहुत प्रसन्न हुआ। तत्पश्चात् वह तो अपने घर चला गया और मैं टहलने निकल गया। मैं घूम कर लौटा ही था कि वह मुझे बुलाने का आमंत्रण ले कर आ पहुँचा। वहाँ पहुँच कर देखा कि उसका घर क्या था? टूटा-फूटा, छोटा-सा घास-फूस का झोंपड़ा जो मिट्टी की तीन-चार नीची दीवारों पर रक्खा हुआ था। देखने से प्रतीत होता था कि दो चार दिन में धराशायी हो जायगा।

मुसलमान माता का आतिथ्य

उसी मुहल्ले में और दरीवालों का भी घर था लेकिन उनके घर कुछ अच्छे थे। उसके परिवार में एक छोटी बहिन थी और दूसरी माँ थी। मैंने उससे कहा कि मैं खाना पकाने का स्थान देखना चाहता हूँ। वह मुझे भीतर ले गया। घर में चारों ओर गन्दगी फैली हुई थीं, कपड़े और बिस्तर सभी गन्दे थे लेकिन खाना पकाने का स्थान लिपा-पुता और स्वच्छ था। बरतन भी साफ़ दिखाई दिये। मुझे देखते ही उसकी माँ, जो रोटी बना रही थी, हँस कर कहने लगी—"का भइया तू सब समझत हौ कि हमरे सब बिल्कुल वाहियात गन्दगी कै खाना खाइत हैं। भइया हमरे सब भी मनई होई, हमहूँ नीक बेकार समझित हैं।" इत्यादि! उस स्थान पर एक मचिया पड़ी थी। मैं उसी पर बैठ कर उसकी माँ से बातें करने लगा। वह लड़का भी वहीं चौखट पर बैठ गया। मैंने यह देख लिया था कि खाना बनाने का स्थान लगभग अभी अभी थोड़े ही पहले लीपा गया था। और लोटा तथा थाली आदि भी तत्काल साफ़ किये हुए से प्रतीत होते थे। आँगन की सहन में भी तत्काल ही झाड़ू लगाया गया था। मुझे यह समझने में कोई असुविधा नहीं हुई कि यह सब स्वच्छता मेरी और उस लड़के के वार्तालाप तथा मेरे यहाँ आने के कारण ही सम्भव हो सकी है। साथ ही नज़ीर की माँ का सफ़ाई देना भी इसके लिए एक बहुत बड़े प्रमाण की बात थी। मैंने बैठे ही बैठे कहा क्यो माई मुझसे झूठ बोलने से क्या लाभ? मैंने अच्छी प्रकार समझ लिया कि यह सब तुमने अपने बेटे के कहने पर ही किया है। पहले तो वह इन्कार करती रही किन्तु बाद में उसने स्वीकार किया कि मेरे ही कारण उसने और उसकी लड़की ने लगभग एक घंटे तक परिश्रम करके सफ़ाई की है। उसने यह भी कहा कि मुझे तो अब तक विश्वास ही नहीं हुआ था कि आप सचमुच मेरे यहां खाना खायँगे। तत्पश्चात् उसने रोटियाँ बनाईं और मुझको प्रेम से खिलाना शुरू किया। इस खिलाने में मुझे एक अपूर्व मातृ भाव का आभास मिल रहा था। भारतीय स्त्रियों के हृदय में

मातृ भाव ने इस प्रकार घर कर लिया है कि उन्हें दूसरों के वच्चे भी अपने ही वच्चे जैसे प्रतीत होते हैं। संसार के अन्य किसी देश में शायद ही इस प्रकार की भावना मिल सकेगी।

कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों में मेल नहीं हो सकता। प्रत्येक की संस्कृति, भावना और प्रणाली भिन्न-भिन्न है और वे एक दूसरे से संस्कारतः घृणा करते हैं। वे उस समय एक वृद्धा मुसलमान स्त्री के द्वारा एक हिन्दू नौजवान को अपने वच्चे के समान प्रेम करते देख सकते थे। यही नहीं, यदि वे भारत के सैकड़ों गांवों में लाखों-करोड़ों हिन्दू और मुसलमान भारतीय रमणियों को जाकर देखें तो उन्हें उन दोनों ही की भावना में एक स्वर, एक ताल और एक ही लय देखने को मिलेगी। मैंने तुम्हारे पत्र में एक वार पहले भी लिखा था

भारतीय हृदय की एकता

कि भारतीय संस्कृति का अवशेष तो हमारी देहात की स्त्रियों में ही मिलेगा। हिन्दू हो या मुसलमान, ब्राह्मण हो अथवा हरिजन सबकी भाषा, संस्कार, रंग-रूप, भावना आदि सब एक ही प्रकार के हैं। मैं खाना भी खा रहा था और उस माता से तरह-तरह की वातें भी हो रही थीं। उसने स्वच्छता के विषय में कहा "भइया तुहरे अस मनई हमरे घर में खाय यह तो हम आज तक नाहीं देखेन। हमें तो भइया तुहरे सब जस कहिहौ वस करवै। हमरे ताईं पाहुन ही तो सब कुछ हैं। उनके ताईं त हम सब कुछ करे के तैयार हईं। हमारे घर रोज खाव त रोज हम साफ करीं।" मेरे पास वरतन आदि न था इससे दो एक रोज उसी के घर खाना खाने के लिए कह दिया और आश्रम को लौट आया। वह लड़का मेरे साथ-साथ आश्रम तक आया। मैंने उससे कहा कि जव तक हमारा इंतजाम नहीं होता है तव तक तुम्हारे यहां खाना खायँगे और तुमको कुछ पैसा दे दिया करेंगे। लेकिन दूसरे ही दिन आश्रम के एक मित्र और सहायक श्री जानकीप्रसाद जी, जो कि टाण्डा के खास काँग्रेस कार्यकर्ता थे, मुझको अपने घर पकड़ ले

गये। मैंने उस लड़के से कह दिया कि तुम्हारे यहाँ अब मैं खाना खाने नहीं जाऊँगा। उसके दूसरे दिन बरतन आदि का प्रबंध करने के लिए मैं अकबरपुर चला गया।

अकबरपुर पहुँच कर मैंने अपना टाण्डा का दो-तीन दिन का अनुभव भी बयान किया। दरीवाले के घर खाने की बात सुन कर आश्रम के भाई लोग बहुत नाराज़ हुए और कहने लगे कि हम ऐसी हरकतों से आश्रम की मर्यादा नष्ट कर रहे हैं। मुझसे उनसे बहुत वाद-विवाद हुआ किन्तु मैं उनसे सहमत न हो सका। उन लोगों के विवाद में दो बातों की झलक दिखाई देती थी, एक तो वही भद्रता की मनोवृत्ति जिसका जिक्र मैं पहले तुमसे कर चुका हूँ और दूसरी मुसलमानों के घर खाने के विरुद्ध उनका साधारण संस्कार। मैं इन दोनों ही मनोवृत्तियों के विरुद्ध था, छुआछूत का संस्कार तो मुझमें था ही नहीं क्योंकि आज से दो तीन पुश्त पहले ही यह मेरे पूर्व पुरुषों के परिवार से ही समाप्त हो चुका था तथा श्रेणी विभेद की मनोवृत्ति भी दो वर्ष के लगातार प्रयत्न से क़रीब-क़रीब समाप्त हो चुकी थी। मैं अपने हृदय में सोचने लगा कि अगर आश्रम-जैसी पवित्र संस्था में छोटे-बड़े की मनोवृत्ति कायम रही तो देश-सेवा तथा ग्रामसेवा कृत्रिम हो जायगी। इसलिए मुझे कुछ कष्ट भी होने लगा किन्तु बड़ों की बातों में पड़ने का मेरा अभ्यास नहीं था इसलिए मैंने अधिक विवाद नहीं किया। किन्तु यह बात दिल में चुभती ही रही और भद्र श्रेणी के मध्यमवर्गीय लोगों के विरुद्ध मुझ में भावनाओं का बनना शुरू हो गया। एक समय था जब मैं स्वयं छोटे लोगों को अश्रद्धा की दृष्टि से देखता था किन्तु आज उन्हीं छोटों के प्रति, जिनको चमक-दमक की सभ्यता प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला और जो सफेदपोश बने रहने के साधन से हीन हैं, अश्रद्धापूर्ण बातें सुन कर दिल को तकलीफ़ होने लगी। यह परिवर्तन मुझमें तभी सम्भव हुआ जब मैंने गरीब और निम्न श्रेणी के लोगों को जानने की कोशिश की। वस्तुतः आज श्रेणी श्रेणी में,

झगड़ों के मूल कारण

जाति जाति में, धर्म धर्म में जो झगड़ा चल रहा है उसका एक प्रधान कारण यही है कि आज एक दूसरे को जानने या समझने की कोशिश नहीं करता। अगर इतना ही हो सके तो संसार के बहुत से झगड़े समाप्त हो जायँ।

अकबरपुर से बर्तन आदि सामान लेकर और आगामी काम के सम्बन्ध में कुछ हिदायतें पाकर दो ही तीन रोज के बाद में टाण्डा लौट आया और वहीं पर स्थायी रूप से बस गया। गांव में रहने और उनमें काम करने का अवसर मुझे इसी समय से मिलने लगा। आज यहीं तक लिख कर पत्र समाप्त करता हूं। टाण्डा के देहातों में घूमने से मुझे क्या क्या मालूम हुआ, दूसरे पत्र में लिखूंगा।

---

[७]

देहातियों के बीच

२३—६—४१

टाण्डा में एक दिन सूत का बाज़ार करना पड़ता था, शेष छः दिवसों में देहात जाने का अवसर मिल जाता था। प्रारम्भ में मैं सवेरे ही देहात चला जाता था और शाम होते-होते वापस आ जाता था, मेरा काम केवल चर्खे का प्रचार करना और रुई धुनना सिखाना था किन्तु मैं उनसे देहात के लोगों के विषय में जानने के लिए तरह-तरह का वार्तालाप किया करता था। जैसा कि मैंने तुम्हें अपने पहले पत्र में लिखा है, जब अकबरपुर के देहातों में जाता था तो केवल उच्चवर्गीय लोगों को ही मिल पाता था परन्तु टाण्डा में विशेष कर किसान कुर्मी जातियों के साथ ही मिलता जुलता था क्योंकि मैंने

यह समझ लिया था कि उच्च श्रेणी के लोग मेरी बातों को समझने को कोशिश ही नहीं करते। किसानों के घर में एक प्रकार से स्त्रियाँ ही मालिकिन समझी जाती हैं। वही घर का और अनाज का सारा प्रबन्ध करती हैं। उनसे मिलने-जुलने से मुझे मालूम होता था कि किसान स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक योग्य हैं। गाँधी जी के आर्थिक और सामाजिक प्रोग्राम को वे अधिक समझ सकती हैं जिसका उल्लेख मैंने पहले भी किया है। इन्हीं सब कारणों से मैं अधिकतर स्त्रियों में ही अपना प्रचार किया करता था। भारत के उद्धार के लिए सबसे पहले स्त्रियों का उद्धार होना अत्यावश्यक है। क्योंकि घर, गृहस्थी, समाज और भावी सन्तान का प्रबन्ध उन्हीं के अधीन है। वे जिस ओर क़दम बढ़ावेंगी, उसी ओर मुल्क को जाना पड़ेगा। इस प्रकार की धारणा उसी समय से मेरे अन्दर बैठ गई थी। और वह आज भी वैसी की वैसी ही क़ायम है। प्रत्युत ग्राम-सुधार के कार्यों में जितना ही आगे बढ़ता जाता हूँ, उतना ही इस बात का महत्व, मेरी समझ से, बढ़ता जाता है।

पिछले दिनों मैंने स्त्रियों के लिए एक कैम्प खोला था और आज-कल भी स्त्रियों के काम पर ज़ोर देता रहता हूँ। यह सब मेरे लिए नई कल्पनाएँ नहीं हैं। जब से मैं देहाती किसानों के सम्पर्क में आया तभी से मेरे हृदय में इस बात ने स्थान बना लिया था। इस काम को मैं पहले भी कर सकता था किन्तु अब तक मुझे इसका अवसर ही न मिल सका था कि मैं इस दिशा में प्रयत्न करूँ। प्रतिदिन देहात में जाने और आने में अधिक समय खर्च हो जाता था, इसलिए कुछ समय पश्चात् मैं गाँवों में ही टिकने लगा और इस प्रकार अब ग्रामीण किसानों के घर ग्रामीण तरीके से रहने लग गया। धौरहरा में मुझे ग्रामीणों के गन्दे आँगन में या मवेशीखाने के पास के गन्दे चौपाल में मैली चारपाई के ऊपर गन्दी तोशक और गन्दी कथरी पर बैठने में घृणा होती थी, उनको देख कर ही नाक भौं सिकोड़ता था।

आज दो साल के पश्चात् उसी वायुमंडल में उन्हीं वस्तुओं को सहज और स्वाभाविक तौर से इस्तेमाल करने लगा। कभी-कभी 'ग्रामीण लोग कह उठते थे—"डाक्टर साहब तो बिल्कुल देहाती मनई होय गये"। इससे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि वे अब मेरे साथ निस्संकोच उठने-बैठने लगे और अपनी बातें बताने में किसी प्रकार की झिझक न रखते हुए मुझे भी अपने परिवार का एक सदस्य समझने लगे।

इन दिनों जाड़े का महीना था; देहाती लोग संध्या के समय एक स्थान पर आग जला कर उसके चारों ओर बैठते थे और बात बात में गप लड़ाते थे। इस प्रकार की आग को अवध के ग्रामीण "तता" कहते हैं। मैं रात की उस बैठक को 'तता-समाज' की बैठक कहा करता था। लोग इस शब्द को बहुत पसन्द करते थे। और थोड़े ही दिनों में यह शब्द खूब प्रचलित हो गया।

देहात का क्लब

देहात का 'तता-समाज' देहात की पार्लियामेंट, अखबार, मंत्रणा-सभा इत्यादि दुनिया भर की सभा-समितियों का एक समन्वित रूप है। संसार में ऐसा कोई विषय नहीं कि जिसपर इस सभा में विचार-विनिमय न होता हो; गम्भीर आध्यात्मिक विषय से लेकर बच्चों के छोटे मोटे पारस्परिक झगड़ों तथा उसके सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय आदि सभी प्रकार के विचार हुआ करते थे। मैं भी अपने सिर पर एक गमछा बाँध कर उस सभा में शामिल हो जाया करता था और उनकी सभी बातों में दिलचस्पी लिया करता था और साथ देता था। 'तता समाज' के द्वारा देहात को जानने का और अपनी बातों को ग्रामीण जनता के समक्ष रखने का जितना मौका मिला उतना आज तक किसी भी प्रकार से न मिल सका।

अवध के किसानों की अवस्था इस छोटे से पत्र में क्या वर्णन करूँ? इस विषय में बहुत लिख चुका और कह चुका हूँ। तो पुनः उसी को नये सिरे से क्या दुहराऊँ? 'हरी', बेगारी, भूसा, और बेदखली

की मार तो इन पर रोज लगी ही रहती है। इसके अतिरिक्त भूत-भवानी और महामारी आदि का बोझ निरन्तर सिर पर लदा रहता है। इस कारण इनकी ज़िन्दगी में किसी प्रकार का रस नहीं। हम पढ़े-लिखे शहर के रहने वाले प्रायः कहा करते हैं कि गाँव के लोग इतने गन्दे और मूर्ख हैं कि उनमें काम करने से ही क्या लाभ ?

लेकिन मैंने देहात में उनके साथ रह कर देखा कि जीवित रहने की समस्या इतनी कठिन है कि और बातों पर ध्यान देने की शक्ति ही नहीं रह जाती। जीवन में जब रस ही नहीं तो अकल्पनीय गरीबी स्वच्छता, सभ्यता और सुन्दरता आदि की गुंजाइश ही कहाँ ? फिर भी जो सभ्यता, धार्मिकता और अतिथि-सत्कार आदि बातें ग्रामीण जनता में पाई जाती हैं उन्हें अलौकिक समझना चाहिए।

उनकी गरीबी का वर्णन करना मेरे लिए एक प्रकार से असम्भव ही है। मैं समझता हूं कि बड़े बड़े लेखक भी उस गरीबी का यथा-तथ्य वर्णन करने में असमर्थ ही रहेंगे। क्योंकि उन्होंने कभी उस दयनीय परिस्थिति का भार नहीं उठाया और न तो स्वेच्छा से ही कभी उस प्रकार का जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न किया।

बेचारे किसानों के कितने ही परिवार महीनों तक आम की गुठली की रोटी खाकर गुज़र करते हैं। मैंने देखा है कि इतने पर भी उन्हें ऐसे दिन व्यतीत करने पड़ते हैं जब कि कुछ भी खाने को नहीं मिलता। कितने ही लोगों को खलिहान का गोबर धोकर अनाज निकालते मैंने स्वयं देखा है। देहात के कितने ही आदमियों के शरीर पर वस्त्र नहीं होता। जाड़े के दिनों में सैकड़ों परिवार चारों ओर दीवारों से घिरे हुए कमरों में आग ताप कर रात काट देते हैं। हम उनकी गरीबी का अन्दाज़ा क्या लगा सकते हैं ? जब अनुमान ही नहीं हो सकता तो बयान किस तरह हो सकता है। तुम कहोगी कि उनकी असुविधाओं और कष्टों का अनुमान तो उनको देख कर

ही किया जा सकता है। लेकिन वात ऐसी नहीं है। सम्भव है कि हम और तुम उनके लिए जिन वातों का कष्ट समझते हों उनसे उनको कतई कष्ट न पहुँचता हो। इस विषय में मैं पहले भी लिख चुका हूँ कि वहुत सम्भव है कि जिन वस्तुओं के अभाव से हमें कष्ट होता है उन्हीं वस्तुओं का अभाव गांव वालों में देख हम उन्हें दुखी समझते हों किन्तु उस समय हम यह भूल जाते हैं कि वहुत सी वस्तुओं के आदी वन जाने से उनका अभाव हमें कष्टकर होता है किन्तु गांव वालों को उनसे कोई भी तकलीफ़ नहीं होती क्योंकि वे उन वस्तुओं के आदी नहीं होते। हम देहात की गरीव जनता के कष्टों को ठीक-ठीक महसूस नहीं कर सकते हैं। यह वात मुझे गाँव के एक वूढ़े चमार ने ही सुझाई थी। उसकी भी एक छोटी सी कहानी है। उस कहानी का भी यहां जिक्र कर देना अच्छा होगा।

एक दिन टाण्डा के वाज़ार में मैं रुई से सूत वदल रहा था। सूत वदलने का मैंने यह नियम वना दिया था कि एक गांव की रहने वाली वहिनों का सूत लेना समाप्त करके ही दूसरे गांवों की वहिनों का सूत लिया करूँगा। टाण्डा से पांच मील दूर के रामपुर गांव की सव की सव वहिनें अपना सूत वदलने के वाद भी एक तरफ़ जा कर वैठी रहीं,

रामपुर की बहिनों का हठ

सदा की तरह सूत वदल कर घर नहीं गईं। उस समय संध्या का पूरा प्रसार हो चुका था। मैंने उनसे वैठे रहने का कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि "वावा सवके गांव में जाते हैं, हमरे गांव में कव्वो नहीं गये, आज हमरे सव यही सोचे हैं कि वावा को लिवाय चलें।" इस स्थान की कत्तिनें आश्रम के सभी लोगों को वावा कहा करती थीं जिसका अर्थ था—गांधी वावा का चेला। उनकी वातें सुन कर मैंने उत्तर दिया कि मैं किसी समय तुम लोगों के गांव में आ जाऊँगा। इस समय वहुत देर हो गई है। अभी रुई और सूत वगैरह वोरियों में वन्द करने हैं, खाना वनाना है इसलिए काफ़ी विलम्व हो

जायगा। तुम लोग कब तक प्रतीक्षा करोगी ? मेरी बातों को सुनकर वे सब की सब एक साथ हँस पड़ीं और कहने लगीं—"का हमरे सब इतना नीचर हई कि दुइ कौर खाये के नाहीं दे सकतीं ? हम तो बिना लिवाये नाहीं चलब।" अतएव मुझे उसी समय उनके साथ रामपुर गाँव के लिए रवाना हो जाना पड़ा। मैं रास्ते में उनके साथ बात-चीत करता जा रहा था और वे सब बड़ी घनिष्टता के साथ घर और गृहस्थी की बातें कर रही थीं। जब हम रामपुर पहुँचे तो काफी अँधेरा हो चुका था। वहाँ पहुँचने पर मुझे प्रतीत हुआ कि गाँव वालों ने मुझे बुलाने के लिए पहले ही से निश्चय कर लिया था, क्योंकि उनके रंग-ढंग से यह स्पष्ट प्रकट हो रहा था कि वे लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मुझे एक सम्पन्न किसान के बरामदे में बैठा कर मेरे साथ की बहिनें अपने-अपने घर चली गईं। थोड़ी ही देर में सम्पूर्ण गाँव में मेरे आने की चर्चा फैल गई और लोग एक एक करके मेरे पास इकट्ठा होने लगे। रात में बहुत देर तक बातचीत होती रही और बाद को मैं खाना खा कर सो रहा। मुझे रामपुर गांव में तीन-चार दिन तक रुक जाना पड़ा। नित्य दोपहर को गांव की बहिनें इकट्ठी होती थीं। मैं उन्हें गांधी बाबा, चर्खा तथा भारतवर्ष की प्राचीन सम्पन्नता के विषय में बहुत सी बातें बताता और समझाता था। एक बात से मुझे आश्चर्य होता था कि गांव की बहिनें बिना, कुछ पढ़े-लिखे भी इस बात से परिचित थीं कि प्राचीन काल में लोग

'मेहरारू शौकीन होइ गई हैं'

काफ़ी समृद्धिशाली थे। और अब ग़रीब हो गये हैं। वे यह भी जानती थीं कि इसका प्रधान कारण उनकी काहिली और आपस की फूट थी। वे कहा करती थीं "मेहरारू येह साइत शौकीन होइ गयी हैं तो गृहस्थी में बरक्कत कहाँ से होई। तब कै मेहरारू जवन जवन टहल करत रहीं तब्बै न दूध घी खात रहीं।"

मैं रामपुर में तीन दिन तक रहा और इस बीच गांव के हर घर,

आँगन और भीतरी भागों में भी घूम-घूम कर देखा करता था और शाम को अलाव ('तता') के पास बैठ कर किसानों से बात-चीत किया करता था। मैं उनसे प्रश्न करने को कहता था और उनके प्रश्न करने पर उत्तर देता था। एक दिन लोगों ने गांधी जी के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की और मैंने उन्हें बताना शुरू किया और कहा कि गांधी जी देहात के ग़रीब लोगों के कष्टों को भलीभाँति समझते हैं। इसीलिए वे केवल उतने ही कपड़े पहनते हैं जितने देहात के लोगों को मिल सकते हैं। ग़रीबों की तरह ६ पैसा रोज खाने में व्यय करते हैं। उन दिनों गांधी जी का केवल ६ पैसे में भोजन करने की बात काफ़ी प्रसिद्ध हो रही थी—इतने में एक बूढ़ा चमार बोल पड़ा "तो हमरे तकलीफ़ के बराबर उनके कइसन तकलीफ़ पड़ि गइल। वे जौन चार हाथ के अँगोछा पहिनत हैं और ६ पैसा रोज

खात हैं, उनके फ़िकिर त नाहीं करे के पड़त है,

उस बूढ़े के तीर हमरे सबके त ज़िन्दगी भर फ़िकिर लाग रहत है,

से शब्द येही फ़िकिर में हम सब मरे जात हई। अगर हमरे

सब के फ़िकिर न रहे तो हमके ओढ़ारी नाहीं चाही,

मकुनी धकुनी से हमरे सब ढेर ख़ुश रहित।"

उस समय तो मैंने उन्हें यह कह कर समझा दिया कि गांधी जी ग़रीबों के लिए हमेशा चिन्तित रहते हैं। वह तपस्वी और सिद्ध पुरुष हैं। इसलिए उन्हें ग़रीबों की चिन्ता बनी रहती है। किन्तु उस बुड्ढे की बात रह-रह कर मेरे दिमाग़ में उथल-पुथल मचाने लगी। रात में बड़ी देर तक नींद नहीं आई और अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि हम प्रदर्शन और शौक़ के रूप में कुछ दिनों तक भले ही ग्रामीण जीवन बिता लें किन्तु उनके वास्तविक कष्टों का सच्चा अनुभव हमें नहीं हो सकता। उस दिन मुझे यह भी अनुभव हुआ कि हम चाहे कितनी भी सहानुभूति और समवेदना से बात करें किन्तु देहात के लोग हमें एक दूसरे ही प्रकार का जीव समझते हैं। इस विषय में मैं

पहले भी लिख चुका हूँ। गाँधीजी को देहात के लोग भगवान की तरह पूजते हैं, और उनके सम्बन्ध में इतनी ऊँची धारणा रखते हैं कि उस धारणा और पूजा-भावना के सामने हम जैसे व्यक्तियों का कोई भी अस्तित्व नहीं है। जो लोग देहात के वातावरण को जानने का दावा करते हैं और इसका उद्धार करना चाहते हैं, वे अगर इन बातों को ध्यान में रक्खें तो कितना अच्छा हो ?

इसी तरह मैं चर्खा प्रचार-कार्य के साथ-साथ देहात में घूम-घूम कर ग्रामीण परिस्थितियों का अध्ययन करने लगा और मुझे इस काम में काफ़ी दिलचस्पी भी महसूस होने लगी। आज इतना ही लिख कर यह पत्र समाप्त करता हूँ। शेष फिर कभी।

---

[८]

कौन ऊँचा, कौन नीचा ?

१०—७—४१

पिछले पत्र में मैंने रामपुर गाँव में रहने का अपना अनुभव बताया था। उन दिनों उसी तरह कितने ही गाँवों में घूमा करता था। किसान और कुर्मी कौम के ही लोग मेरी बातों को अधिक सुनते थे और हमारे काम से सहानुभूति रखते थे। देहात के मध्यम श्रेणी के ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों के लोग कुछ तो मेरा मज़ाक उड़ाते थे; कुछ डर के कारण मुझसे घनिष्टता स्थापित नहीं करना चाहते थे। अवध के देहात के इस श्रेणी के लोग तो इस सम्बन्ध में एक विचित्र प्रकार की मनोवृत्ति रखते थे। एक समय था जब यही लोग समाज का नेतृत्व करते थे; सभ्यता, कला और शिक्षा का इनमें पूर्ण प्रचार था। इसलिए यही लोग भारतीय शिष्टाचार के अधिकारी

पतनशील उच्च वर्ग

भी थे किन्तु आज न तो ये देहाती रह गये हैं और न शहरी। गरीब हो जाने के कारण शिक्षा के अवसर हाथ से निकल चुके हैं। उदारता भी समाप्त हो चुकी है, किन्तु फिर भी अपने बड़प्पन का अभिमान कूट-कूट कर भरा है। यही कारण है कि ये लोग शहर के लोगों की नकल करने की कोशिश में लगे रहते हैं क्योंकि गाँव वाले लोग शहर वालों को ऊँचा समझते हैं। इस नकल करने में अपनी अयोग्यता के कारण उनकी अच्छी चीजों की तो नकल नहीं कर पाते हैं किन्तु उनके अभिमान, उनकी-हृदयहीनता, छोटों के प्रति घृणा तथा शृंगार आदि बातों को तोड़-मरोड़ कर भद्दे तरीके से नकल कर लेते हैं जिससे वे गाँव में रहते हुए भी गाँव के नहीं रह जाते। इसलिए जब मैं देहात के सम्बन्ध में कोई बात करता था तो वे उसको मज़ाक के ही रूप में ग्रहण करते थे। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि इन लोगों में चर्खे का प्रचार हो जाय और ये गांधी जी की बात समझ लें किन्तु ये लोग मेरी कोई भी बात सुनने के लिए तय्यार न हो सके। इनके यहाँ हर एक घर में अक्सर एकाध व्यक्ति बेकार रहते हैं किन्तु वे कोई भी काम करने को तैयार नहीं हो सकते। अपना छोटे से भी छोटा काम मज़दूरों से ही कराते हैं। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि जब ग्रामीण लोग एक साथ मिल कर कहीं बैठते हैं तो संसार के समस्त विषयों की आलोचना किया करते हैं—जिसमें धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी विषयों का सन्निवेश रहता है।

दोनों श्रेणियों का अन्तर

किन्तु यह मध्यम श्रेणी के अपने को श्रेष्ठ समझने वाले लोग जब कहीं इकट्ठा होते हैं तो या तो उनमें पट्टीदारी के झगड़ों की बात होती है अथवा दुनिया भर की दुर्नीति और अश्लीलता की चर्चाएँ छिड़ती हैं। उनकी बात सुनने से यह आभास मिलता है कि ये लोग अपनी गोष्ठी के लोगों के अतिरिक्त संसार के सभी लोगों को चरित्र-हीन समझते हैं। मेरा यह भी अनुभव है कि ये लोग बहुत सुस्त और काहिल हुआ करते हैं।

एक देहात की मध्यम श्रेणी की ऐसी ही एक कहानी है जिसको लिख देना मैं अच्छा समझता हूँ। उन्हीं दिनों की वात है। एक दिन देहात में घूमते हुए टाण्डा से १६ मील दूर हँसवर के पास एक गाँव में पहुँचा। अधिक समय वीत जाने के कारण उस गाँव का नाम मुझे भूल गया है। उस दिन काफ़ी शाम हो चुकी थी इसलिए मैंने सोचा कि इसी गाँव में रातभर के लिए टिक जाऊँ। उस दिन से पहले मैं टाण्डा से इतनी दूर के गाँव में कभी नहीं आया था। उसी गाँव के एक आदमी से पूछा कि इस गाँव में कौन लोग रहते हैं। जवाव मिला—"पचोस घर भलमनई और वाकी सव चमार-सियार।"

भलमनइयों द्वारा उपेक्षा

भलमनई का अर्थ था व्राह्मण-क्षत्रिय आदि उच्च श्रेणी के लोग। इसी एक वाक्य से तुम समझ सकते हो कि देहात के ये वड़े लोग छोटी जातियों को किस नज़र से देखते हैं। खैर! मैंने कोशिश की, इन भलमनइयों में से किसी के घर टिक जाऊँ किन्तु मुझे टिकाने के लिए कोई भी तैयार नहीं हुआ। मार्च का महीना था इसलिए मैं निश्चिन्त हो कर गाँव के वाहर ही एक पक्के कुएँ की जगत पर लेट गया। कहीं निकट में वाज़ार न होने के कारण उस रात खाना भी न खा सका! सन्ध्या रात्रि में परिणत हो चुकी थी, चाँदनी निकल आई थी, मुझे वह स्थान वहुत सुन्दर प्रतीत हुआ। मैं क़रीव क़रीव सो गया था, इतने ही में थोड़ी दूर पर आम के वाग़ से एक स्त्री ने पुकारा—"कुएँ पर के है हो ?" मैं उस गाँव से कुछ खीझ सा गया था, कुछ कर्कश स्वर में उत्तर दिया—"मनई होई, मनई।" इतने में वह स्त्री नज़दीक आगई और "कहाँ घर है ?" इत्यादि पूछने लगी। मैंने उसको सारा क़िस्सा कह सुनाया। सव हाल सुन कर वह वहुत दुखी हुई और उस गाँव के ठाकुरों को कोसने लगी और कहने लगी,—"हमरे घर चला, सीधा लकड़ी कै इन्तज़ाम कै देत हई, वनावा खा।" मैं सोलह सत्रह मील चल कर देहात में प्रचार करते हुए वहाँ पहुँचा था। भूख

बहुत ज़ोर से लगी थी। मैं उस बहिन के साथ उसके घर चला गया। वहाँ जाकर देखा कि उसका घर वास्तव में कोई घर नहीं था। केवल एक छोटी सी झोपड़ी थी जिसकी माप ६ × १२ फुट थी। तीन हाथ ऊँची और एक फुट चौड़ी मिट्टी की दीवार किसी तरह सरपत और खर से ढक दी गई थी, किन्तु उसके भीतर चाँद का प्रकाश छत से छन कर सम्पूर्ण घर में फैला हुआ था। छोटा सा दरवाज़ा पटुये के डंठल और पलाश के पत्तों के टट्टर से ढका हुआ था। उसके आस-पास में कोई घर नहीं था। दरवाज़े के सामने की ज़मीन काफ़ी दूर तक लिपी हुई थी। उस पर एक बूढ़ा बैठ कर तम्बाकू पी रहा था। थोड़ी दूर पर एक छोटी सी लड़की एक छोटे से बच्चे के शिर पर घास और मिट्टी डाल रही थी और हँस रही थी। शायद वही उनके खेल की सामग्री थी।

मेरे पहुँचते ही उस बहिन ने धान के पयाल का एक "बीड़ा" ला कर दिया और पूछने लगी "लोटा सोटा कुछ बाय"? मेरे पास एक झोला था किन्तु उसमें लोटा नहीं था। "लोटा नहीं है" यह सुन कर वह बहुत परीशान हुई और कुम्हार के घर से कुछ बरतन और हँड़िया लाने के लिए रवाना हो गई। मैं उसके इस व्यवहार से समझ गया कि वह किसी नीच जाति की है और इसीलिए इतना परीशान हो रही है। मैंने उसे पुकार कर कह दिया कि मुझे तुम्हारे बर्तन में खाना

खाने में कोई भी हिचक नहीं है। यह सुन कर

उन दोनों के हृदय उसे अपार प्रसन्नता हुई और वह दौड़-दौड़ कर

का अमृत मेरे खाने-पीने का प्रबन्ध करने लगी। मैंने उससे

यह भी कह दिया था कि मुझे तुम्हारे हाथ का पका हुआ भोजन करने से भी कोई एतराज नहीं है। उसकी तत्परता, प्रेम और सद्भावनाओं को देखकर मुझे प्रतीत होने लगा कि मैं सचमुच अपनी बहन के घर आ गया हूँ।

अब तक उस बुड्ढे ने कुछ नहीं कहा था और निश्चिन्त हो कर

इस तरह तम्बाकू पी रहा था; मानो उसके दरवाजे पर कोई नई वात हुई ही नहीं। इस प्रकार की निश्चिन्तता मैंने देहात की मजदूर श्रेणी के लोगों में प्रायः देखी। उनके सामने से चाहे—कोई आये या जाये उसके प्रति वे कोई विशेष ध्यान नहीं देते। शायद सहस्रों वर्षों से समाज में दलित अवस्था में रहने के कारण उन्हें दुनियाँ के बारे में कोई दिलचस्पी ही नहीं रह गई। जब उस बहिन ने आग जलाई तब उसने तम्बाकू पीते हुए पुकार कर पूछा—"का रे का बात है?" इस पर वह स्त्री हँस पड़ी और कहने लगी—"बृढ़ हुँ गया, कुछ सूझत नाहीं।" जब उस बुड्ढे पर यह प्रकट हो गया कि वह मेरे निमित्त खाना बनाने जा रही है तो वह सिर हिला कर कहने लगा कि मैं ऐसी बात नहीं होने दूँगा। "भला ठाकुर लोगन कै खबवा तुही सब बना दीहो तो कुल उच्छिन्न न होइ जाई?" मुझे भूखा जान कर और मुझसे बात करने के बाद उस स्त्री में जो प्रेम और उदारता की भावना जाग्रत हो उठी थी, उसने उसे यह सोचने का अवसर ही नहीं दिया कि मेरे एतराज़ न करने पर भी उसे एतराज़ करना चाहिए।

मैंने उस बुड्ढे को समझाने की बहुत कोशिश की किन्तु वह किसी भी तरह तैयार नहीं होता था। अन्त में मैंने कहा कि यदि नहीं खिलाओगे तो भी कोई चिन्ता नहीं है, मैं रात भर यहीं सोया रहूँगा और सवेरे चला जाऊँगा। वह बहिन अब तक खड़ी होकर हमारी और उस बुड्ढे की बातें सुन रही थी, मेरी अन्तिम बात सुन कर बोल उठी कि "रहे दो बाबा, हमारे मोहारे पर केहू भूखा नाहीं परा रहे; हम तो बनाय के जरूर खियाउब।" इस पर उस बुड्ढे ने अत्यन्त अप्रसन्न हो कर अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया और फिर तम्बाकू पीने लगा। जंगल की वह देवी खाना बनाने लगी और मैं घास का 'बीड़ा' उठा कर उसी तरफ़ जा कर बैठ गया और उससे उसकी अवस्था के सम्बन्ध में प्रश्न करने लगा।

उसकी जाति पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसे लोग वनमानुष

कहते हैं।

वनमानुष भी कोई जाति है, यह मुझे अब तक मालूम नहीं था। वे लोग गृहस्थों को ढाक का पत्तल वना कर दिया करते हैं और उसके वदले में जो कुछ अनाज मिल जाता है उसी पर जीवन-निर्वाह कर लेते हैं। उनके पास न घर था, न ज़मीन थी एक छोटी सी झोपड़ी थी जिस पर थोड़ा सा सरपत और खर रक्खा हुआ था। जिससे वारिश को रोक नहीं हो सकती थी। किन्तु वर्षा-काल में क्या होगा इसके लिए अभी से चिन्ता करना उनके लिए आवश्यक नहीं था। वे ईसा-मसीह के इस उपदेश का कि "कल की चिन्ता न करो" पूरा-पूरा अमल करने वाले प्रतीत होते थे। उस स्त्री की अवस्था देखने में लगभग २०—२२ वर्ष की मालूम होती थी। वह काफ़ी स्वस्थ थी। बुड्ढा उसका वाप था और एक लड़का और एक लड़की उसकी सन्तान थे। उसका पति एक वर्ष पूर्व मर चुका था। इस जाति में दूसरा पति कर लेने का विधान होते हुए भी वह दूसरे के घर नहीं जाना चाहती थी। मेरे पूछने पर उसने उत्तर दिया "भगवान ने तक़दीर बिगाड़ दी तो भला हमारे जोड़ने से किस तरह जुड़ सकती है!" फिर मैंने इस विषय पर उससे कोई भी वात नहीं की। अगर तुम वहिन को देखो तो आश्चर्य में डूव जाओगी। अकथनीय अपार

दरिद्रता से पिसते हुए और समाज के अत्याचार

दरिद्रता की चक्की से दलित रहते हुए भी उसमें इतनी उदारता,

उनकी मानवता सर्वदा हँसमुख रहने की इतनी क्षमता, इतनी बुद्धि

को पीसने में और इतना शिष्टाचार कहाँ से आता? खाना खाने

असमर्थ है के पश्चात् मैं एक कमली बिछा कर लेट गया और

सोचने लगा कि गाँव के "भलमनई" अधिक ऊँचे हैं या "वनमानुष"? साथ ही भारतीय स्त्री के हृदय की थाह लगाने की कोशिश करने लगा तो मालूम हुआ कि वह अगम और अथाह है।

इनका स्नेह और इनका प्रेम किसी जात-पांत का विचार नहीं रखता। संसार की कोई भी वस्तु नारी-धर्म के रास्ते का रोड़ा नहीं हो सकती और यह है गन्दे, फटे चीथड़े मे लिपटी हुई हमारे भारत की ग्राम वासिनी।

स्त्रियों के सम्बन्ध मे मेरी धारणा दिन-प्रति-दिन दृढ़ होती गई। दूसरे दिन सवेरे उठ कर उस बहिन के प्रति महान कृतज्ञता प्रकट करके और उसके बच्चों को प्यार करके मैं टाण्डा वापस चला आया। चलते समय मैं उन्हें कुछ पैसा देना चाहता था, किन्तु उसने ऐसा ज़ोरदार विरोध किया कि फिर कुछ कहने का मेरा साहस नहीं हुआ। आते समय केवल इतना ही कह सका कि "बहिनी, आज का दिन हम नाहीं भूलब।" उसने सिर नीचा करके जवाब दिया "अइसन भाग हमार कब होइ सकत है।" पन्द्रह साल बाद १९३८ में जब मैं हँसवर गया था तो मैंने उस बहिन का पता लगाने का पूर्ण प्रयत्न किया किन्तु शोक है कि उस बहिन का कुछ भी पता न लग सका। उस दिन की घटना मुझे जीवन-पर्यन्त नहीं भूलेगी।

---

[६]

कौन सभ्य ? कौन असभ्य ?

२२—७—४१

एक माह के करीब हो गया। मै इधर कुछ लिख नहीं सका। जेल में कई प्रकार के आन्दोलन चल रहे थे। वे जेल अधिकारियों की ज्यादती के विरोध में भूख हड़ताल आदि के थे। ऐसे वायुमण्डल में १६—१७ वर्ष पहले की बातों को निश्चिन्त होकर लिखने में कठिनाई होती थी। आगरे की अधिक गर्मी भी कुछ सुस्ती का कारण हो रही थी। जेल की बैरकों में चैन लेने के लिए तो किसी भी प्रकार का आड़ है ही नहीं। भला ऐसी परिस्थिति में निश्चिन्त होकर कोई काम कैसे किया जा सकता है ?

अब कुछ फ़ुरसत मालूम होती है; इसलिए फिर पुरानी बातों को लिखने का विचार कर रहा हूं। जिनसे तुम लोगो का मनोरंजन हो सके और मेरा भी जेल का समय कट जाय। हाँ, उस रोज़ मैंने वनमानुष के घर में रात बिताने की कहानी बनाई थी। बात तो छोटी है, केवल एक रात बिताने का प्रश्न था लेकिन वह घटना मेरे लिए बड़े महत्व की थी। मैं बचपन से ही घर में तथा समाज में सभ्यता और शिष्टाचार की बातें सुनता आया था कि कौन लोग सभ्य और कौन असभ्य हैं। कौन श्रेष्ठ हैं और कौन नीच हैं, इसकी चर्चा उस समाज के लोगों में दिन रात हुआ करती है जो अपने को शिक्षित और सभ्य समझते हैं। किन्तु हम जब गहराई से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि हमारी सारी सभ्यता, सारा शिष्टाचार उन लोगों के साथ है, जो पैसा ख़र्च करके अपने को चमकीला और रंगीला बनाये रहते हैं तथा विविध प्रकार के सामानों से अपने घरो को एक प्रकार का शोरूम बनाये रखते हैं। किन्तु अगर सीधा-सादा देहाती उनके अन्दर पहुँच जाय तो उसकी चटक-मटक-हीन सूरत देख कर और (अनुकूल परिस्थिति तथा अवसर न मिलने से) उसमें कुर्सी, मेज़ और बैठकख़ाने के आचारों की अज्ञानता को देख कर वे एक प्रकार की बेहूदगी और बदतमीज़ी से हँस पड़ते हैं। और उसके प्रति घृणा-पूर्वक इस तरह से नाक भौं सिकोड़ लेते हैं कि उस समय उन्हें देख कर महाशय डारविन की कही हुई प्राचीन मनुष्य जाति के किसी पूर्व पुरुष का रूप स्मरण हो आता है। और इसी को हम पढ़े-लिखे लोग मार्जित शिष्टाचार कहा करते हैं।

इन शहरियों से वे अधिक संस्कृत हैं

अगर संस्कृति को ही कसौटी मान लिया जाय तो हमारे देहात के नीच से नीच वन-मानुष भी शहर के लाखों-करोड़ों सुशिक्षित जनों से अधिक सुसंस्कृत हैं, ऐसी धारणा मुझ में दिन-प्रति-दिन दृढ़ होती गई, और साथ ही शहर की छुरी-काँटा, चम्मच वाली, ऊपर से पालिश की हुई सभ्यता के प्रति घृणा पैदा होती गई। मुझको

ऐसा प्रतीत होता था कि वेवकूफ़, गन्दे असभ्य और दीन ग्राम-वासी शहर के तथा-कथित उच्च श्रेणी के लोगों से कहीं अधिक ऊँचे हैं। यह धारणा मुझे आज-कल के गिरे हुए देहात को देख कर हुई। जिस दिन गाँव सभ्यता के उच्च शिखर पर थे उस दिन न मालूम वे लोग किस प्रकार के थे।

वन-मानुष की कहानी कहते-कहते मैं दूसरी ओर वहक गया लेकिन मन का उद्गार कह देना ही था। इसलिए पत्र लम्बा हो जाने पर कुछ ध्यान न देना।

सवेरे के समय उसके घर से निकल कर टाँडा की ओर चला तो मन में तरह-तरह के विचार आने लगे। मैं सोचने लगा कि ये वनमानुष कौन जाति हैं, ये कहाँ से आये, कैसे वस गये ? गाँव से वाहर जंगल में एक ही घर का होना भी आश्चर्य की वात थी। आखिर इनके पूर्व-पुरुष भी तो कोई होंगे ही ? उस बुड्ढे के घर भाई-विरादरी सव कहाँ गये ? उस के घर को देखने से भी तो यही मालूम होता था कि थोड़े दिन प्रवास में रहने के लिए उसने अस्थायी झोंपड़ी वना ली है। लेकिन उनकी वात-चीत से तो यह मालूम होता है कि वे कई साल से यहीं पर वसे हुए हैं। यदि स्थायी रूप से ही रहना था तो अपना घर उचित रूप में क्यों नहीं वना लिया।

इसी प्रकार के सैकड़ों प्रश्न दिमाग़ में उठने लगे। किन्तु मैं इन प्रश्नों को पूछता किससे ? रास्ते में था ही कौन ? रात के समय जव उस वनमानुष की लड़की से वात-चीत कर रहा था, उस समय उसके शिष्टाचार से तवीयत इतनी भर गई थी और उसकी हालत पूछने में इतना तल्लीन हो गया था कि ये सव वातें दिमाग में आ ही नहीं सकीं। काफी दूर चले आने पर रामपुर गाँव के पास एक चमार मिला जिसने मुझे पहचान कर "जयराम जी" कह कर नमस्कार किया। मैंने तो उसे पहचाना ही नहीं, किन्तु उसकी वातों से ज्ञात हुआ कि वह रामपुर का रहने वाला है। रामपुर गाँव में मैं कई वार जा चुका

था। घर-घर घूम चुका था इसलिए वह मुझसे काफ़ी घनिष्ठतापूर्वक बातें करने लगा। उसी से मैंने वन-मानुषों के विषय में पूछा। उससे मालूम हुआ कि वन-मानुष चमारों से नीचे की जाति है। उनका छुआ हुआ पानी चमार लोग भी नहीं पीते। अर्थात वे अछूतों के भी अछूत हैं। ये लोग जंगलों में ही बसते हैं। उस चमार से वनमानुषों के विषय में इससे अधिक जानकारी न प्राप्त हो सकी। फिर उससे बात-चीत करते-करते रामपुर गाँव पहुँचा और दोपहर हो जाने के कारण उसी गाँव के एक कुर्मी जाति के किसान के यहाँ टिक गया। खाना खाने के पश्चात् जब बाहर के बरामदे में आकर बैठा तो गाँव के और कई व्यक्ति भी बात-चीत करने के लिए आ बैठे। उन लोगों से वन-मानुष के विषय में बात-चीत करने लगा। रात को उसके घर में टिकने की बात सुनकर लोग बहुत घबड़ाये तथा उस किसान को, जिसने मुझे खाना खिलाया था, नाराज़ हो कर भला-बुरा कहने तथा गाली देने लगे।

वनमानुषों के विषय में

मैंने उनको 'आदमी आदमी सब एक हैं' इसका सिद्धान्त समझाने की कोशिश की किन्तु छुआछूत का संस्कार इतना प्रबल था कि मेरा सारा समझना व्यर्थ हो गया, और वे लोग उन वनमानुष को बुरा-भला कहते ही रहे। आखिर मैंने यह बातचीत बन्द कर दी और वनमानुषों की बाबत बूझने लगा। ज्ञात हुआ कि वनमानुष जाति के लोग कहीं गाँव में न रह कर जंगल में ही रहा करते हैं। जिसका जहाँ जीवन-निर्वाह हो जाय वह वहीं बस जाता है। यदि कभी उन्हें उस स्थान पर तकलीफ़ मालूम होती है तो दूसरे स्थानों पर चले जाते हैं। कहीं-कहीं दस-बारह घर इकट्ठे भी रहते हैं, किन्तु ऐसी बस्ती किसी बाज़ार या कस्बे के निकट ही होती है; नहीं तो गाँव के सहारे इनका जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता। ये लोग विवाह शादी इत्यादि ख़ुशी और ग़मी के अवसरों पर पत्तल बना कर देते हैं और उसके बदले केवल

एक सीधा पाते हैं और पत्तल में जो कुछ जूठन बच जाता है उसे इकट्ठा कर ले जाते हैं। इनके पास कोई खेती-बारी नहीं होती है। इसी उच्छिष्ठ भोजन से इनका गुज़र-बसर होता है अर्थात् ये लोग सामाजिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से गाँव की मज़दूर श्रेणी के लोगों से भी गिरे हुए होते हैं।

शाम को जब लौट कर टांडा आया तो वहाँ के लोगों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि ये लोग प्राचीन अनार्य जाति के एक अंग हैं जो यहाँ पड़े रह गये हैं। यह भारतवर्ष भी विचित्र देश है। यहाँ कोई भी आता है तो सुख से बस जाता है और पुराने लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। अति प्राचीन जाति से लेकर अति आधुनिक सभ्य जाति के लोग पड़ोसी के रूप में रहते हैं और कभी एक दूसरे को ख़तम करने का विचार नहीं करते हैं। क्या यूरोप या अमेरिका में, आस्ट्रेलिया या कनाडा में हज़ारों साल की सभ्यता के बाद ऐसी प्राचीन जाति समाज के अंग विशेष के रूप में कहीं टिक सकती है ? वहाँ के सभ्य लोग अस्तित्व कभी सहन नहीं कर सकते। युरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया के इतिहास के पन्ने ऐसे काले आदमियों को लुप्त कर देने की चेष्टा से भरे पड़े हैं। पता नहीं, पश्चिमी आदर्श से प्रेरित होकर देशवासी इस देश के गले के नीचे श्रेणी-युद्ध का पाठ कैसे उतार सकेंगे। अवध जैसे प्राचीन सभ्यता के केन्द्र पर भी वनमानुष आज "वनमानुष्य" के ही रूप में टिके हुए हैं। संसार में यह भी एक बड़े आश्चर्य की बात है। अवध की नीच जातियों के सम्बन्ध में मैं किसी दिन फिर लिखूँगा। आज इतना ही लिख कर समाप्त कर रहा हूँ।

भारत की श्रेष्ठ संस्कृति

---

[१०]

वनमानुष और चमार

२४—७—४१

मार्च का महीना मेरे लिए विशेष रूप से काम करने का महीना था। तुम्हें यह मालूम ही है कि मुझे सर्दी बहुत लग जाती है इसलिए मैं सर्दी के दिनों में बाहरी काम बहुत कम कर पाता हूँ। फिर जाड़े में ओढ़ने बिछाने का सामान लिये-लिये कहाँ-कहाँ फिर सकता था इसलिए मैं अब बाज़ार के दो दिनों को छोड़ कर शेष दिन देहात में ही घूमा करता था। रात को भी टांडा नहीं लौटता था। गाँव गाँव घूम कर चर्खे का प्रचार और देहात के विषय में जानकारी प्राप्त करता था। मेरे दिमाग़ में इन दिनों वन-मानुष ही घूमता था, जंगली मुल्कों के कोल-भील आदि जातियों के विषय में तो मैं सुन चुका था किन्तु इतने प्राचीन सभ्य देश में भी इस किस्म की जाति का होना विचित्र सा प्रतीत हुआ। फिर तो मैं देहात में वनमानुषों को ढूँढ़ ढूँढ़ कर देखने लगा कि वे किस तरह रहते हैं और उनकी आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक स्थिति कैसी है। मैं जहाँ भी गया वहां उनके उसी प्रकार के गिरे-पड़े घरों को देखा। वे सब के सब काले रंग के होते हैं। यह किसी ने भी नहीं बताया कि वे कहीं एक गट्ठा भी ज़मीन जोतते हैं। ये लोग जंगल में ही रहते हैं, बस्ती में कभी आबाद नहीं होते और स्थायी घर कभी नहीं बनाते। गाँवों से अरहर का डंठल और ईख की पत्ती माँग कर बरसात से रक्षा के लिए ऊपर से आड़ कर लेते हैं। इन्हें कपड़े की आवश्यकता भी बहुत कम होती है। ये लोग बहुत हट्टे-कट्टे और स्वस्थ होते हैं; इसलिए मौसमी परिवर्तन का उन पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। इनसे पूछने पर मालूम हुआ

वनमानुषों के विषय में और बातें

कि इनके धर्म में एक स्थान पर स्थायी घर बना कर रहने, अथवा बस्ती में निवास करने का निषेध है।

गाँवों में जब पत्तल पहुँचाने की आवश्यकता होती है तो पुरुष ही उसे गाँव में ले जाते हैं। स्त्रियाँ गाँव-वालों के घर कभी नहीं जातीं। वे या तो पत्तल बनाती हैं अथवा जंगल से सूखी लकड़ियाँ चुन कर लाती हैं जिसे, अपनी आवश्यकता के लिए बचा कर, बाज़ारों में बेंच आती हैं। इन्हें बहुत सी जड़ी-बूटियों की जानकारी होती है, जिन से अनेक प्रकार की बीमारियाँ अच्छी हो सकती हैं। गाँव के लोग इनसे अनाज के बदले में बहुत सी औषधियाँ ले जाते हैं।

मैं बहुत प्रयत्न करने के बाद भी उन औषधियों के विषय में कोई जानकारी नहीं प्राप्त कर सका। वे अपनी औषधियाँ किसी दूसरे को नहीं बताते। उन औषधियों से वे कभी-कभी बड़े-बड़े भयानक रोग तक अच्छा कर देते हैं। एक बार एक मनुष्य को फ़ीलपाँव हो रहा था, जिसको दवा के लिए एक वनमानुष ने एक श्वेत रंग की जड़ ला कर दी। उसके लेप से वह रोग अच्छा हो गया। इसी प्रकार एक मनुष्य को 'कारबंकल' रोग भी एक वनमानुष ने अच्छा कर दिया था। वह एक प्रकार की लता पीस कर उसकी पुलटिस बाँधता था। ये दोनो घटनाएँ मेरे सामने की हैं। इन लोगों को भूत-प्रेत का कोई भी भय नहीं है। ये अपने बच्चों का विवाह बहुत छोटी अवस्था में ही कर देते हैं। विवाह में किसी प्रकार की धूम-धाम नहीं होती। इन लोगों में भी एक पुरोहित होता है। ये ही पुरोहित लोग दो-चार कुटुम्बियों की उपस्थिति में विवाह करा देते हैं। लड़की पक्ष के लोग लड़की को ही लड़के के घर ले जा कर विवाह कराते हैं।

मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि इनकी स्त्रियाँ गाँव की उच्च जाति के घरों में काम करने नहीं जातीं इसलिए इनका नैतिक चरित्र ऊँचा होता है। देहात में यह प्रायः देखा जाता है कि निम्न श्रेणियों की स्त्रियों का नैतिक चरित्र प्रायः ऊँचा होता है। जो कुछ व्यभिचार

होता है वह केवल उच्च श्रेणी के लोगों द्वारा ही होता है। जब वनमानुषों का उच्च श्रेणी के लोगों से सम्पर्क ही नहीं होता तो फिर उनमें इस प्रकार की बातें हो ही कैसे सकती हैं? देहात में जितने जंगल होते हैं वे किसी न किसी के इलाक़े में ही होते हैं। कोई किसी दूसरे इलाक़े से पत्ता व लकड़ी नहीं ले सकता। लकड़ी वाले ऐसे जंगल का भाग दहेज में दे देते हैं। इनमें भी एक जातीय पंचायत होती है जो इनके हर प्रकार के झगड़ों का निबटारा करती है। ये अपना झगड़ा तय करने के लिए किसी दूसरे के पास नहीं जाते। इन्हें दूसरी जातियों पर विश्वास ही नहीं होता। इनकी संख्या बहुत कम है। कहीं-कहीं पाँच-छः गाँवों के बीच दो-एक घर दिखाई देते हैं। लेकिन जब कभी इनकी जातीय पंचायत होती है तो बहुत दूर दूर के लोग पहुँच जाते हैं। मेरा जहाँ तक अनुभव है ये लोग बहुत सुस्त और काहिल होते हैं। मैंने इन लोगों को बेकार देख कर इनमें चर्खा-प्रचार की कोशिश की किन्तु इसके लिए वे तैयार नहीं हुए। उनका कहना था कि वे काफ़ी सुख से हैं। उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। अधिक पैसा कमाने से क्या लाभ? मैंने इन्हें विचित्र सन्तोषी जाति पाया। वनमानुष बापू के अपरिग्रही का नमूना मालूम होता है। हाँ, यह अपरिग्रह बेहोशी में ही है। मुझे आज तक किसी भी जाति ने चर्खा न कातने के लिए ऐसा सीधा और स्पष्ट उत्तर नहीं दिया था। सभी लोग चर्खा न कातने के लिए कुछ बहाना बनाते हैं किन्तु इस जाति में चर्खा चलाने के सम्बन्ध में सफलता न पाने पर भी इनका सीधा सच्चा व्यवहार मुझे बहुत पसन्द आया।

कुर्मियों में चर्खे का खूब प्रचार हो चुका था और उनके साथ काफ़ी घनिष्ठता भी हो गई थी। कुछ परिवारों के साथ तो मुझसे घर की तरह सम्बन्ध हो गया था। उन लोगों में काम करने के सिलसिले में मैं गांव की मज़दूर-श्रेणी के चमारों के बीच भी कुछ-कुछ करने लगा था। इस जाति के लोग साधारणतः ब्राह्मणों और क्षत्रियों के यहाँ

मज़दूरी करते हैं। कुर्मी जाति के बड़े किसान भी इनसे मज़दूरी का काम लेते हैं। अवध के देहात में सबसे बड़ी संख्या की कौम यही है जो अछूत श्रेणी में गिनी जाती है। मैंने विचार किया कि इस जाति में भी चर्खे का प्रचार करूँ क्योंकि समाज में इन लोगों के समान दबी हुई जाति दूसरी नहीं है। अवध ताल्लुकेदारी का प्रान्त है। इन ताल्लुकेदारों का सम्पूर्ण भार इन्हीं ग़रीबों को उठाना पड़ता है। इनका आधे से अधिक समय बेगारी के कामों में लग जाता है। ताल्लुकेदारों के यहाँ कोई भी काम होता है तो इन्हीं ही पकड़ कर बेगार ली जाती है। सरकारी अफ़सरों का दौरा भी इन लोगों के लिए एक बहुत बड़ी आफ़त के तुल्य है क्योंकि उनका, उनके सिपाहियों का, तथा उनके खैरख्वाहों का सारा काम इन्हें बेगारी में ही करना पड़ता है। बेगारी करते-करते इन लोगों के स्वभाव में एक विचित्र प्रकार की काहिली, सुस्ती और लापरवाही आ गई है। इनको जीवन से किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं रह गई है। मैंने चमारों को ताल्लुकेदारों की जमीन पट्टे पर लेकर स्वतंत्र रूप से खेती करते हुए नहीं देखा। फैज़ाबाद ज़िले में इतने दिनों तक काम करता रहा किन्तु इस अवधि में मुझे फैज़ाबाद से ११ मील दूर कुतुबपुर नाम का केवल एक ही गाँव इस प्रकार का मिला, जहाँ के चमार ताल्लुकेदारों के सीधे काश्तकार हैं और दूसरे की मज़दूरी नहीं करते। इतने दिनों तक दबे रहने के कारण इन्हें अपने जीवन के साथ किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं रह गई है, ऐसी परिस्थिति में वे काश्तकारी कैसे कर सकते हैं? फिर भला चर्खा चलाने की बात ही क्या है! इसके अतिरिक्त इन लोगों में प्रविष्ट होकर काम करना भी एक विकट समस्या है। गरीबी, हुकूमत और अत्याचार की मार खाते-खाते ये इतने बेहोश हो गये हैं कि इन पर किसी बात का प्रभाव नहीं होता। कोई चमार अपने दरवाजे पर बैठा हुआ तम्बाकू पी रहा हो और तुम उसके दरवाजे पर जाकर खड़े हो

चमारों की जड़ स्थिति

जाओ। किन्तु जब तक तुम उसे पुकार कर कुछ कहो नहीं या उसके किसी सामान पर हाथ न लगाओ तब तक वह उसी ढंग से इसप्रकार तम्बाकू पीता रहेगा मानो उसके दरवाजे पर कोई आया ही नहीं है। पूछने पर भी वह उसी प्रकार तम्बाकू पीते हुए दो-एक शब्दों में उत्तर देकर चुप हो जायगा। ऐसी पिछड़ी हुई जाति के बीच जाकर उनसे बात-चीत करना, परिचय प्राप्त करना तथा उनमें किसी प्रकार के प्रोग्राम की चर्चा चलाना कितना कठिन काम है। मैंने अनुभव किया कि इन लोगों में चर्चा चलवाने की अपेक्षा पत्थर कूट कर उसमें से रस निकालना कहीं अधिक आसान है। उन लोगों में कोई काम कैसे किया जा सकता है? वे तो किसी से बात ही नहीं करना चाहते हैं। देहात में एक कहावत है 'ब्राह्मण और चमार किसी की नहीं सुनते; ये अपने ही ढङ्ग में मस्त रहते हैं।" यह कहावत बहुत अंशों में ठीक जान पड़ती है। ब्राह्मण सर्वदा से गुरु और पुरोहित का काम करते करते इतने घमण्डी हो गये हैं कि दूसरों की बुद्धि को अपनी बुद्धि के सामने तुच्छ समझते हैं। और चमारों को हर एक श्रेणी के लोगों ने शताब्दियों से इतना अधिक दबाया है कि वे हर एक आदमी को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। उनको एक खटका हमेशा लगा रहता है कि ये महाशय भी किसी मतलब से ही बातें कर रहे हैं। लेकिन मैं जितने ही निकट से इनके सम्बन्ध में विचार करता था उतना ही अधिक परीशान होता था। इनमें बेकारी तो है ही, किन्तु यदि किसी जमींदार, ब्राह्मण या क्षत्रिय से पूछा जाय तो वे इन्हें कभी बेकार स्वीकार न करेंगे। इसीलिए मैं सोचता था कि यदि इनमें चर्खे का प्रचार हो जाय तो कुछ अंशों में इनकी बेकारी भी दूर हो जाय और एक स्वतंत्र उद्योग का सहारा मिल जाने से इन में उच्च श्रेणियों के दमन और अत्याचार के विरोध करने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जाय। किन्तु एक तो यह समस्त जाति ही बेहोशी का शिकार हो गई है, दूसरे उच्च श्रेणी के लोग सर्वदा इस बात के प्रयत्न में रहते हैं

कि ये किसी स्वतंत्र व्यवसाय में न लग सकें।

मुझे इन बातों का अनुभव किस तरह हुआ इसकी कहानी अगले पत्र में बताऊँगा। मैं धीरे-धीरे चर्खा चलवाने के लिए इनसे परिचय प्राप्त करने की कोशिश करने लगा। किसी प्रकार की विशेष सफलता न मिलने पर भी हिम्मत नहीं हारता था और किसी न किसी बहाने इनके बीच जा कर बैठ जाता था और इनसे बातें करने लगता था। आज यह पत्र यहीं समाप्त करता हूँ क्योंकि इसके विशेष लम्बा हो जाने का भय है। आजकल मैं जेल में काफी स्वस्थ हूँ और सानन्द हूँ।

---

[११]

चमारों की हालत

२६—७—४१

मैं यह तो लिख ही चुका हूँ कि चमारों के मध्य काम करना बड़ा कठिन है। तुमने एक बार मुझे महाराष्ट्र के ग़रीब किसानों की अवस्था बताई थी। क्या उनकी हालत इनसे भी बदतर है? वहाँ जंगलों की अधिकता के कारण कम से कम उन लोगों को स्वच्छ स्थान तो मिल ही जाता है। ख़ैर, जो भी हो, इन चमारों की परिस्थिति को देखते हुए मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि इनमें चर्खा चलाना नितान्त आवश्यक है। मैं यूराप और अमेरिका की प्राचीन दास प्रथा के विषय में पढ़ता था और उससे बहुत घबराता था। किन्तु यहाँ तो विचित्र दशा है। यद्यपि अवध के मज़दूर क़ानूनन किसी भी प्रकार अपने मालिक के दास नहीं होते किन्तु उनकी विवशता ने उन्हें उन दासों से भी गई-बीती अवस्था में डाल दिया है। उन दासों के पास यदि कोई स्वतंत्र साधन नहीं था तो उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व भी नहीं था। उनके अस्तित्व का उत्तरदायित्व उनके मालिकों पर होता

था। किन्तु इन चमारों का स्वतंत्र अस्तित्व तो होता है तथा अपने परिवार, वर्तमान और भविष्य की ज़िम्मेदारी भी होती है; किन्तु इनके पास इस ज़िम्मेदारी को निभाने का कोई साधन नहीं होता। मालिक अपनी आवश्यकता पर उन्हें काम देता है। अगर ज़रूरत न हुई तो नहीं देता। ऐसे समय वे क्या खायें, इसकी ज़िम्मेदारी मालिक पर नहीं है। ज़रूरत पर काम करते समय भी इन चमारों को इसका कोई भी निश्चय नहीं होता कि काम पूरा हो जाने के बाद उन्हें पूरी मज़दूरी मिलेगी। अवध की बेगार-प्रथा का इतना वर्णन हो चुका है कि मैं फिर उन बातों को दुहरा कर व्यर्थ में पत्र का कलेवर नहीं बढ़ाना चाहता। इसके विषय में तुम लोगों को सम्पूर्ण बातें मालूम हैं। रामपुर गाँव की ओर का एक चमार स्वयंसेवक का काम करता था और वह कभी-कभी आकर मेरे पास बैठता था। वह मुझसे गाँधी जी तथा काँग्रेस के विषय में प्रायः पूछा करता था। मैं भी चमारों से अधिक घनिष्ठता प्राप्त करने के लोभ में कभी-कभी इसके घर टिका करता था। उसके और उसकी टोली वालों के साथ संध्या समय बातचीत करते हुए मुझे यह मालूम हुआ कि जब जमींदारों का आपसी बँटवारा होता है तो उनकी सम्पत्ति व जानवरों के साथ ही साथ चमारों का भी बँटवारा हो जाता है। इस बँटवारे में कौन किधर रहेगा, इस विषय में चमारों को सम्मति देने का कोई भी अधिकार नहीं है। जिसकी राय से सब सम्पत्ति बँटती है उसी की राय से सब चमार भी बँट जाते हैं। प्राचीनकाल में गुलाम भी तो इसी प्रकार बाँटे जाते थे। ये लोग यह सारा अत्याचार चुपचाप इसलिए सहन कर लेते हैं कि ज़मींदारों के अतिरिक्त जीवित रहने का इनके पास कोई भी दूसरा स्वतंत्र साधन नहीं है। इसीलिए मेरी यह धारणा थी कि चर्खा चलाने की सब से अधिक उपयोगिता इसी क़ौम के लिए है।

परमुखापेक्षी जीवन

गुलामों की भाँति बँटवारा

इन बातों को सोचते हुए जब उन दिनों देहात में इधर-उधर घूमा करता था और दो-दो तीन-तीन दिन तक देहात में टिक जाता था, तो जहाँ तक सम्भव होता था मैं चमारों के यहाँ ही टिकने की कोशिश करता था। क्योंकि मैं समझता था कि काफ़ी घनिष्टता हो जाने पर ही इन्हें चर्खे की तरफ़ लाने में सफल हो सकूँगा। उस समय मार्च का महीना था। ये लोग मटर आदि की कटाई में फँसे हुए थे जिससे तत्काल चर्खे की बात करना ठीक नहीं समझता था और केवल सम्बन्ध ही बढ़ाता जाता था।

चमारों की बस्ती आमतौर से गांव के दक्खिन मुख्य बस्ती से थोड़ी दूर हटकर हुआ करती है। इनको इतनी कम ज़मीन में इतनी अधिक संख्या मे बसने को बाध्य किया जाता है कि इन्हें बहुत छोटी-छोटी झोपड़ियाँ बनाकर एक दम सट-सट कर रहना पड़ता है। ये लोग अपने लिए ठीक ढंग से आँगन नहीं छोड़ सकते। फल यह होता है कि इनका सारा काम एक छोटी जगह में होता है, जहां गन्दगी और पानी आदि के निकलने का कोई रास्ता नहीं होता। उनका टोला बहुत गन्दा और बदबूदार होता है। इस गन्दगी के लिए लोग मजबूर हैं क्योंकि इन्हें साफ रहने के लिए समाज ने कोई गन्दगी का कारण साधन ही नहीं छोड़ा है। इधर जब से गांधीजी ने हरिजनान्दोलन चलाया तब से शहर के पढ़े-लिखे देशभक्त बाबू लोगों मे कभी-कभी देहात के हरिजन टोलों की सफाई करने का फैशन चल पड़ा है। वे झाड़ू लेकर गांव जाते हैं और उनकी गलियों को साफ करते हुए गम्भीरता के साथ उन्हें साफ रहने का उपदेश दिया करते हैं; और कभी कभी सफाई करती हुई अवस्था का फोटो खिंचवा कर ले जाते हैं; कभी-कभी पत्रों में भी अपना वक्तव्य दे दिया करते हैं। मैं जब समाचारपत्रों में इस प्रकार के कार्यक्रम के विषय में पढ़ता हूँ या कभी मित्रों को ऐसे कार्य-क्रम में जुटे रहते हुए देखता हूँ तो हँसी आती है। भला हरिजनों की गलियों को साफ करने

से क्या सफाई हो सकती है ? पानी को निकास का मार्ग न मिलने के कारण उनके घरों में तथा आँगन में न जाने कब की सील सड़ती रहती है। गलियाँ तो उनसे कुछ साफ ही रहती हैं। कम से कम बरसात का पानी तो उनसे बह ही जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य मौसिमों में धूप भी मिल जाती है। वर्षों तक एक ही तकिया और एक ही कथरी इस्तेमाल करते करते उनमें कितना पसीना, बच्चों का पेशाव, तेल और मैल जमा हुआ है, इसकी खबर इन सुधारक भाइयों को नहीं रहती। अगर हम वास्तव में हरिजनों के मध्य काम करना चाहते हैं तो हमको किसी न किसी तरह उनकी आर्थिक दासता को ढीला करना है तथा उनकी बेहोश प्रकृति में चैतन्य का प्रसार करना है। नहीं तो चाहे कितना भी सफाई करने का एवं कुएँ बनवाने का तथा उनके बच्चों को वज़ीफा दे कर उन्हें शिक्षित बनाने का कार्य किया जाय किन्तु वे जीवन-यापन के मानवीय साधनों के अभाव में ज्यों के त्यों रह जायँगे। उनके दरवाजे और गलियाँ साफ की जायँ तो वे अपने चिर-अभ्यस्त बच्चों से टट्टी करा देंगे। यदि कुवाँ बनवा दिया जाय तो वे उसके बनने के साल भर के भीतर ही उसकी दीवार और जगत की सारी ईंटें उखाड़ कर घरों में चूल्हे आदि बना लेंगे और जिन बच्चों को वजीफा देकर पढ़ाया जायगा वे अपने माता-पिता एवं कुटुम्बियों को घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे तथा अपनी एवं अपने परिवारवालों की जिन्दगी भार-स्वरूप बना देंगे। चमारों के घरों में रहने का मुझे जितना अवसर मिला है उससे मैंने अनुभव किया है कि वे भी गन्दगी को घृणा की दृष्टि से देखते हैं तथा अपनी साधन-हीन दशा में जहाँ तक सम्भव होता है वे अपने को तथा अपने घर-द्वार को साफ रखने का प्रयत्न करते हैं। उनके बर्तनों को तो प्रायः मैंने ब्राह्मण और क्षत्रियों के बर्तनों से भी अधिक साफ़ देखा है। वे काहिल तो अवश्य होते हैं और यदि काहिल न होते तो शायद इससे

मूल समस्या

भी अधिक सफाई से रहते। किन्तु काहिली भी तो जीवन से निराशा के कारण ही उत्पन्न होती है।

अतएव मैं उनके घरों में जाता था, उनके बच्चों से खेला करता था, स्त्री-पुरुषों से बातें करता था, उन्हें उनकी दशा से परिचित कराने एवं उससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए उद्योग करने के निमित्त प्रयत्न किया करता था। किन्तु अपार प्रयत्न करने के पश्चात् भी उनके जड़ दिमाग़ पर जरा भी प्रभाव न डाल सका। प्रत्युत मैंने यह अनुभव किया कि वे हमसे कुछ घबड़ाते से थे। वे मुझे खाना प्रायः पत्तल में खिलाया करते थे। पहले तो मैं यह समझता था कि बर्तन के अभाव से ही वे वैसा करते हैं किन्तु धीरे-धीरे यह मालूम हो गया कि वे जान-बूझ कर मुझे अपना बर्तन नहीं देते क्योंकि बर्तन देने से उनको अपनी जाति चली जाने का भय था। ऐसा रिवाज है कि जब उच्च जाति का आदमी किसी चमार के घर खाना खा लेता है तो उस खिलाने वाले के बराबर भ्रष्ट संसार में कौन हो सकता है। मैं समझने लगा—'इन से तो वनमानुष ही अच्छे हैं।'

चमारों में काम करने के सिलसिले में मुझे यह एक खास बात देखने में आई कि कुर्मियों की औरतें तो हमारे काम से खास दिलचस्पी रखती थीं जैसा कि पहले मैं तुम्हें लिख चुका हूँ। वे मुझे अपने गाँवों में बुला ले जाती थीं। मेरे वहाँ पहुँच जाने पर सब इकट्ठी हो जाती थीं। गाँधी बाबा कहाँ हैं, वह क्या करते हैं, क्या खाते हैं, किस तरह रहते हैं इत्यादि बातों को पूछती थी। कांग्रेस के विषय में, बाबा रामचन्द्र के विषय में, हाकिम-अमला-वकील वगैरह के विषय में सवाल किया करती थीं। किन्तु चमारों की औरतों में किसी प्रकार की चेतनता देखने में नहीं आती थी। पुरुष लोग तो कुछ विषयों पर बातचीत कर लेते थे। मैं जब उनके घर टिकता था तो खाना भी पुरुष ही लाकर खिलाते थे। उनकी औरतों से तो मैं बात-चीत अवश्य कर लेता था किन्तु उस बातचीत में कोई जीवन न होता था। बहुत

सी जगहों में तो उनका रवैया ऐसा होता था कि मानों उन्हें पता ही नहीं था कि मैं उनके घर पर टिका हुआ हूँ। मुझे इसके लिए काफी परीशानी रहती थी कि जब तक मैं स्त्रियों से भलीभाँति परिचय नहीं कर लूंगा तब तक उनसे चर्खा कैसे चलवाऊँगा ?

बच्चों से परिचय अन्ततः सोचते-सोचते एक तरीका निकाल ही लिया। इनके बच्चों से घनिष्टता बढ़ाना शुरू कर दिया। पहले तो जब बच्चों को इकट्ठा देख कर उन्हें बुलाने की कोशिश करता तो वे सब के सब ऐसी तेजी से भागते मानों कोई शेर उन्हें खाने दौड़ा हो। भागने में जो बच्चे सबसे पीछे छूट जाते थे वे चिल्ला कर रो उठते थे। किन्तु धीरे-धीरे बच्चों से मेरा परिचय बढ़ने लगा। मैं उन्हें कागज की नाव आदि बना कर दे दिया करता था। कभी-कभी मिट्टी के फल और हाथी-घोड़े आदि बना दिया करता था। इन चीजों में बच्चे धीरे-धीरे बड़ी दिलचस्पी लेने लगे।

बच्चों के सम्बन्ध से धीरे-धीरे औरतों से भी परिचय होने लगा। अब औरतें पहले की तरह जड़ता का भाव नहीं रखती थीं। मैं तुम लोगों से स्त्रियों के सम्बन्ध में सर्वदा कहा करता हूँ।

स्त्रियों से परिचय तुम्हारा कहना है कि मैं स्त्रियों के ख़िलाफ़ हूँ। भाई, तुम्हारी जाति ही ऐसी है। उन्हें छोटी-छोटी स्वार्थ-भरी बातें सूझती हैं। जब मैंने उनके बच्चों को अपने पक्ष में कर लिया तो वे स्त्रियाँ मुझसे खूब बातें करने लगीं। ऐसा वे इसलिए नहीं करती थीं कि मुझसे दिलचस्पी हो गई थी, बल्कि वे मेरे मुँह से अपने बच्चों की प्रशंसा सुनने के लिए ही बात-चीत करती थीं। मैं ये बातें ठीक कह रहा हूँ न ? अब तो वे अपने घरों में पहुँचने पर मेरे बैठने के लिए चारपाई आदि निकाल देने लगीं। उस समय फसल कट कर समाप्त हो गई थी। मैंने उनसे चर्खे की बात करने का यही उपयुक्त अवसर समझा। किन्तु थोड़े ही दिनों के प्रयत्न के पश्चात् यह अनुभव होने लगा कि जब तक इनके घरों में पाव भर भी अनाज मौजूद

है तब तक ये किसी प्रकार का उद्योग करने के लिए नहीं तैयार हो सकते। इन दिनों इन लोगों के पास काफ़ी अवकाश रहता था फिर भी इस समय चैत की फ़सल कटने से इनके घरों में इतना अनाज आ जाता था कि वे किसी भी प्रकार की गम्भीर बात करने के लिए तैयार नहीं होते थे। देहातों में यह कहावत प्रचलित है कि "चैत में चमार चैताय जात हैं।" इस समय वे किसी की नहीं सुनते हैं। यह जाति एक विचित्र प्रकार की जड़ जाति है। मैंने इतिहास का विशेष अध्ययन नहीं किया है। ज्ञात नहीं, इस जाति के पूर्व-पुरुष कौन थे। चाहे वे जो भी रहे हों किन्तु इतना तो निश्चित-सा है कि उनमें चैतन्य आत्मा का अभाव था। नहीं तो क्या कारण है कि पाँच-सात हज़ार वर्ष तक लगातार दबाये जाने पर भी इनमें किसी प्रकार की क्रान्ति या विद्रोह का आविर्भाव नहीं हुआ। आज भी इनको सुधारने के लिए गाँधी बाहर ही से उत्पन्न होता है। इनके भीतर से कोई बुकर टी वाशिङ्गटन नहीं पैदा होता है। डाक्टर अम्बेडकर भी तो ब्रिटिश सरकार का ही बनाया हुआ पुतला है। इनके भीतर से उद्भूत कोई अवतार तो नहीं ही है।

चमारों की स्त्रियों के मध्य काम करने में एक और ही विचित्र समस्या खड़ी हो गई। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि इनसे किसी गम्भीर विषय पर बात-चीत करना सम्भव नहीं होता था क्योंकि वे किसी प्रकार के विषय में दिलचस्पी नहीं लेती थीं। अतएव मुझे उनसे उनके बच्चों और खेती-गृहस्थी के ही सम्बन्ध में बात-चीत करनी पड़ती थी। इन बातों के सिलसिले में ये स्त्रियाँ प्रायः बहुत

स्त्रियों का फूहड़ हास्य

निम्न-कोटि का अश्लील और भद्दा मज़ाक कर दिया करती थीं। और कभी कभी तो उनके बात-चीत करने का ढंग भी अत्यन्त भद्दा हुआ करता था। उनमें से कोई एक स्त्री किसी प्रकार की अश्लील बात कह देती थी और शेष सभी की सभी एक अत्यन्त भद्दे तरीक़े

से हँस पड़ती थीं। एक तो मुझे इनमें चर्खे का प्रचार होना असम्भव प्रतीत होता था, दूसरे उनके इस प्रकार के व्यवहार से निराश होकर मैंने इनके बीच जाना ही छोड़ दिया।

चमारों में भी कुछ लोग ऐसे थे जो पहले काँग्रेस के स्वयंसेवक रह चुके थे। ये लोग प्रायः मेरे पास आया जाया करते थे। उनसे भी अक्सर मैं इस प्रकार की बातों की चर्चा किया करता था। वे उत्तर देते थे—"बाबा, उनकी बात तोहरे समझ में नाहीं आवत होइहै। वे फूहर मनई होयँ। अंट शंट कहि दिहे होइहैं। मुला उनके मन माँ कौनो किस्म कै गन्दगी नाहीं बा।" लेकिन मुझे इनकी बातों से तसल्ली नहीं होती थी। मैं देहात के कुर्मियों के घर भी जाता था, उनकी स्त्रियाँ माता व बहिन के समान प्रेम का व्यवहार करती थीं। कभी-कभी एकाध बुढ़िया थोड़ा बहुत मजाक की बात जरूर कह देती थी, लेकिन अन्य स्त्रियां उसे तुरंत सँभाल लेती थीं। इसलिए चमारों की स्त्रियों का इस प्रकार का व्यवहार मुझे स्वाभाविक नहीं लगा।

यह बात मेरे दिमाग में रह रह कर आया करती थी। आखिर, एक दिन एक बूढ़े चमार से बातचीत करने में मुझे इस बात की जड़ का पता लग गया। मैं उन सभी चमारों से, जो मेरे पास आते जाते थे इस विषय में पूछा करता था। एक दिन टांडा का बाजार समाप्त करके मैं बोरों में सूत भर रहा था। इतने में वही रामपुर गांव वाला चमार आ कर बैठ गया। वह हाथ में एक हरे कुम्हड़े का टुकड़ा लिये था। उसके साथ एक बुड्ढा भी था जिसे मैं जानता नहीं था। वह भी कुछ सौदा लिये हुए था। मालूम होता था कि वे लोग बाजार करके लौट रहे थे। मैं उस चमार से कहने लगा कि तुम्हारी बिरादरी कभी नहीं उठेगी। तुम्हारी जाति के अन्दर सुस्ती, गन्दगी, काहिली और चरित्र-हीनता फैल गई है। ठीक ही है कि तुमको दण्ड देने के लिए, तुमसे बेगार कराने के लिए परमात्मा ने इन तल्लुक़ेदारों को पैदा किया है। उस चमार ने कहा "बाबा, हमरे सब चमार होई और उल्लू

मनई होई; कहाँ से ढंग आवे। वावा, तुहूँ जौन कुछ आवा जावा करत रहा तौन यहि साइत तो देखाइन नाहीं परत हो। ढेर दिन होइगा दरशन नाहीं भा। आज वाजार आय रहेन, सोचेन कि दरसन कइ लेई। तौन अउतै ही फटकार परै लागि। काव भलमनई ही पाप कर्रा, कुछ समझ माँ नाहीं आवत। देश दुनियाँ के बीज वोवे हैं सबै हमरे सब का फटकारै लागा थै। जौन गाँधी वाबा कै सहारा रहा वहूँ फटकार ही सुनाय पड़त है।"

मैं वहुत देर तक उनके साथ वात-चीत करता रहा और उनकी स्त्रियों के अश्लील व्यवहारों के विषय में भी आलोचना करने लगा। इसपर वह कहने लगा—"आप उन वातों का ख्याल न करें। उनकी आदत ही ऐसी है।" मैंने उनसे पूछा—आखिर ऐसी आदत क्यों है? मैं कुर्मियों के घर जाता हूँ तो उनकी स्त्रियों की तो ऐसी आदत नहीं है। कुर्मियों की वात सुनते ही उसके साथ का बुड्ढा नाराज हो गया और कहने लगा—"हमकाँ का कहत हौआ? का कुर्मी कौनो वावू कै मजूर हँ, वे तो आजाद हँ, जौन चाहँ तौन करँ। हमरे घर के मेहरारू कै आदत तो वावू लोगन ही विगारिन हँ, नाहीं तो हमरे सव मजूर मनई दिन मैं मेहनत कइकै घर जाइ कै मुरदा अस परि जाइत हइ; हमरे सव कै ऐसन शौक करै का हियाव कहां। तोहरे ठकुरै सव हमरे सव की मेहरारुन का खराव करत हँ, उनकै आदत विगाड़त हैं, उनके साथ हँसी मज़ाक करत हैं और हमरे सव कै धरम नाश करत हैं। हमरे सव टुकुर टुकुर ताकित हैं और कुछ कहि नायँ पाईत है। भला ठकुरन से लड़िकै केऊ रहि सका थै।" जोश में आकर वह बुड्ढा वहुत सी वातें कर गया। फिर तो मुझे प्रत्येक वात का तथ्य मालूम हो गया और उनसे पूछ-पूछ कर सभी वातें जानने की कोशिश करने लगा। उनसे वात-चीत करने पर प्रकट हुआ कि देहात के मध्यम श्रेणी के ज़मींदार घरों के पुरुष मजदूरों की स्त्रियों के साथ अश्लील मज़ाक किया करते हैं। इस प्रकार वे धीरे-धीरे उन्हें फुसला कर

उनके साथ व्यभिचार करते हैं। इन बातों का इतना आधिक्य है कि मज़दूरों की लड़कियां बचपन ही से मज़ाक करना सीख जाती हैं। इनके समाज के लोग इन बातों को देखते हुए भी विवशतया अनदेखी कर जाते हैं। क्योंकि अपने ठाकुरों के साथ झगड़ा करके वे किसी भी प्रकार जीवित नहीं रह सकते। आज-कल के जागरण के युग में इन लोगों में भी कुछ-कुछ हिम्मत आ गई है। लेकिन उस समय की स्थिति आज की सी नहीं थी।

देहात के ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि मध्यम श्रेणी के लोगों के प्रति मेरे दिल में पहले से ही कोई श्रद्धा नहीं थी। किन्तु अब इन उपर्युक्त बातों को सुनने के पश्चात् इन भल मनइयों के प्रति इतनी घृणा हो गई कि मैं अपने देहात-भ्रमण के समय इन लोगों से कोई सम्पर्क नहीं रखता था। दस-बारह साल के बाद भी जब ग्राम-सेवा का प्रोग्राम लेकर रणीवां में जा बैठा था तब तक भी इन लोगों के प्रति मेरी भावना में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। इस विषय में फिर कभी लिखूंगा; आज का पत्र यहीं समाप्त करता हूँ। तुम मेरे प्रति किसी विरोध की भावना को स्थान न देना कि मैं बहुत हठी हूँ और अपने मनमें इतना तीव्र विद्रोह इतने दिनों तक भरे रहता हूँ। किन्तु इतना तो जानती ही हो कि मैं जल्दी अपनी राय नहीं बदला करता।

---

[१२]

गाँव के बच्चे

३०—७—४१

मैंने पिछले पत्र में लिखा था कि चमारों की स्त्रियों से परिचय करने के लिए मैंने पहिले बच्चों से परिचय करना शुरू किया। कभी गांव के पास बच्चों को किसी पेड़ के नीचे इकट्ठा खेलते हुए देखता

था तो किसी न किसी बहाने उनसे बात-चीत करने की कोशिश करने लगता था। कभी किसी जंगल में गाय-भैंस चराते देखकर भी उनसे बात-चीत करने लगता था, इन लड़कों में कुर्मी और चमार जाति के लड़के अधिक होते थे। बच्चों के खेल के साधन और ढंग के विषय में कुछ बताऊँ तो शायद अच्छा लगे। एक दिन कुछ बच्चों को एक गड़ही के पास इकट्ठा हुए देखा। उस गड़ही में बहुत सी काई जमी हुई थी। बच्चे काई को निकाल निकाल कर एक जगह इकट्ठा कर रहे थे, और उसमें से एक एक दाना निकाल कर एक बच्चे के शिर और सम्पूर्ण शरीर में नाना प्रकार से साटते थे। शुरू शुरू में मैं उनके पास न जाकर एक पेड़ के नीचे बैठ गया और दूर ही से उन लोगों का खेल देखने लगा। थोड़ी देर के बाद सब लड़कों ने उस लड़के को आगे रख कर ताली पीटते और हल्ला करते हुए उसे एक पेड़ के नीचे ले जाकर बैठाया। फिर सामने एक गड्ढा खोद कर उसमें पानी भरा और पानी भरने के बाद सब लड़के उसे प्रणाम करने लगे और उसी गड्ढे से पानी निकाल-निकाल कर उसे नहलाने लगे। ऐसा करके ये सब ताली बजा बजा कर ख़ूब हँसने लगे। जिस लड़के को चित्रित करके बैठाया गया था वह इतना गम्भीर हो कर बैठा था मानों उसके सामने कुछ बातें हो ही नहीं रही हैं। सारा दृश्य देखने में एक छोटा-मोटा सा नाटक प्रतीत हो रहा था। जब ये बच्चे इस प्रकार खेल रहे थे तो मैं विचार रहा था कि ये बच्चे नाटक की यह कला मानों अपनी माँ के पेट से ही लेकर आये हैं। आख़िर इन्हें किसी ने सिखाया तो है ही नहीं तो फिर यह सूझ आई कहाँ से? निस्सन्देह, उनकी यह कला भी भारत के प्राचीन कलापूर्ण समाज के संस्कारों का भग्नावशेष है। मैं धीरे-धीरे उन बच्चों के पास पहुँचा। वे मुझे देख कर हँसने लगे। वे मुझे पहले ही से पहचानते थे, क्योंकि मैं इस गाँव में कई बार आ चुका था। मैंने उनसे पूछा कि यह कौन सा खेल हो रहा है? उन्होंने जवाब दिया, "खेल नाहीं होय, देवी जी

कै पूजा होत वा। हमरे सब देवी बनाये हैं।"

एक दिन एक दूसरे गाँव के पास एक जंगल में कुछ लड़के गाय-भैंस चरा रहे थे। वहाँ पर पहुँच कर मैंने देखा कि वे आस-पास के पेड़ों की छोटी-छोटी डालियाँ तोड़-तोड़ कर और उन्हें गाड़-गाड़ कर बहुत दूर तक एक बागीचा बना रहे थे और छोटी-छोटी कंकड़ियाँ चुनकर बागीचे के बीच बीच में सड़क का निशान भी बनारहे थे। उनकी यह क्रिया भी बच्चों के स्वाभाविक विकास की परिचायक थी। बच्चों के खेल इतने प्रकार के होते थे कि उनका वर्णन करना बहुत कठिन है। मुझे पूर्णतः याद भी नहीं है किन्तु यदि उनको ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो उससे उनकी विशेष प्रकार से नई वस्तुओं के निर्माण करने की प्रवृत्ति का पता लगता था। वह नित्य खेलों की कोई न कोई नयी शैली ढूंढ ही लेते हैं। कभी-कभी तो वे अजीब प्रकार के स्वाँग की रचना करते हैं। मैंने शहर के बच्चों को भी खेलते हुए देखा है। वे वेही खेल खेलते रहते हैं जो उन्हें बताये जाते हैं। हाँ, कभी-कभी वे भी नये खेलों का आविष्कार कर लेते हैं। किन्तु यह आविष्कार की शक्ति जितनी देहात के बच्चों में दिखाई पड़ी उतनी शहर के बच्चों में नहीं।

इस प्रकार के खेलों के सिलसिले में बच्चों के अन्दर घुसने का मौक़ा लग गया। ऐसी बातों से मुझे हमेशा दिलचस्पी रही। अब तो और भी मौका मिल गया। मैं उनके खेल में घुस जाता था और उन्हें तरह तरह की चीजें बनाना सिखाता था। मिट्टी के फल और बर्तन आदि बनाने की क्रिया बताता था। मुझे यह देख कर आश्चर्य होता था कि मैं एक वस्तु बनाता था तो वे अपनी ओर से दो-एक वस्तुएँ और बना डालते थे। कहीं कहीं मैं जंगल से लकड़ी और खर इकट्ठा करवाता था और उनसे घर बनवाता था। घर के सामने बग़ीचा भी लगवाता था; कहीं छोटे छोटे कुएँ भी खुदवा दिया करता था। बच्चों की आविष्कार-शक्ति का एक उदाहरण सुन कर तुम्हें

आश्चर्य होगा। एक बार जब मैंने बच्चों से मकान, बागीचा और खेत वग़ैरह बनवा कर कुएँ के लिए ज़मीन पर एक छोटा सा गड्ढा खुदवाया, तो उसी समय एक लड़की उठ कर तेज़ी से एक ओर को भागी और थोड़ी ही देर के बाद एक धतूरे का फल लाई और कहने लगी—"बाबा यहमाँ से कूंड़ बनी कूंड़।" (उधर के देहात में कुएँ से ढेकुल द्वारा पानी निकालने के लिए जो बर्तन प्रयोग में आता है उसे कूंड़ कहते हैं।) कूंड़ की आकृति भी धतूरे के ही समान होती है। मुझे उसकी बात से बहुत हँसी आई और मैं दूसरे बच्चों से पूछने लगा कि इससे कूंड़ किस प्रकार बनाई जायगी? सभी बच्चे सोचने लगे तथा विविध प्रकार के उपाय काम में लाने लगे। वह लड़की बैठी-बैठी सारी क्रिया देखती और मुस्कराती थी किन्तु जब उससे नहीं रहा गया तो बोल उठी—"भीतरा के गुदवा निकाल नाहीं देता, कूंड़ अस तो होइ ना जाई।" कितने आश्चर्य की बात है कि मैंने सब कुछ प्लान उन्हें बताया किन्तु कुएँ के लिए कूंड़ चाहिए और वह कूंड़ भी उसी जंगल से मिल सकती है, यह कल्पना मुझे भी न सूझी। मैं प्रायः सर्वदा ही अपने झोले में अख़बार वगैरह दूसरे काग़ज़ रखा करता था और उनसे बच्चों को नाव आदि खिलौने बना कर दे दिया करता था। किसी किसी को नाव आदि बनाना बता भी दिया करता था। इस प्रकार उनके खेलों में शामिल होने से तथा उन्हें खेल के तरह-तरह के साधन बताने के कारण मैं उनमें बहुत हिल-मिल गया था। बचपन से ही मुझे बच्चों के साथ खेलना बहुत पसन्द आता था। बच्चे मुझसे बहुत जल्दी हिल मिल जाते हैं। जब बच्चे मिल जाते हैं तो मुझे दूसरी बातों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अब भी जब सेवाग्राम जाता हूँ तो मीतु ही मेरा आधा समय ले लेती है और जब उसे कहानी सुनाते समय किसी दूसरे से बात करता हूँ तो वह कैसी नाराज़ होती है। मानो मैं उसी का साथी बच्चा हूँ!

कुछ दिनों में ऐसा हो गया कि जब किसी गाँव में जाता था तो

सब बच्चे इकट्ठे हो जाते थे। खेलने के सिलसिले में जो वस्तुएँ बना कर उन्हें देता था उन पर वे तरह-तरह के प्रश्न करते थे; "कागज़ की नाव पानी पर तैरती क्यों है? कुछ देर में डूब क्यों जाती है? मकान छप्पर आदि जब छाये जाते हैं तो वे ढालू क्यों बनते हैं? हाथी के सूंड़ क्यों होती है?" इसी प्रकार के पचासों सवालों से मुझे तंग किया करते थे। वे मेरे आने की प्रतीक्षा में हफ्तों बिता देते थे और इसी अवधि में पचासों प्रकार की चीज़ें इकट्ठी करके रखते थे। घोंघे का शंख, टूटी हुई चूड़ियाँ और टूटे हुए घड़े आदि जो भी सामान उन्हें मिल जाता था इकट्ठा करके इस आशा में रखते थे कि इस बार जब बाबा आयेंगे तो नया खेल बतायेंगे। उस समय तक बापू जी ने बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा की बात नहीं बताई थी अन्यथा इसके प्रयोग के लिए बहुत सुन्दर अवसर था और यदि उन बातों को उस दृष्टिकोण से देख सकता तो मैं तुम्हारे वास्ते अच्छा मसाला दे सकता था। बच्चों में भ्रमण करने तथा उनसे घुलने मिलने में मुझे एक विशेष बात का अनुभव हुआ कि देहात के किसान और मज़दूरों के बच्चे काफ़ी तेज़ होते हैं और उनमें नवीन आविष्कार की काफ़ी शक्ति होती है। किन्तु ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती जाती है त्यों-त्यों वे बुद्धू होते जाते हैं। इसका कारण क्या है, समझना चाहिये। बचपन में वे संसार को देखते हैं तो उसके जानने के लिए अनेक प्रकार के प्रश्न करते हैं और उनकी प्रकृतिप्रदत्त विधायक शक्ति उनसे तरह-तरह की वस्तुओं का निर्माण कराती है। किन्तु दुःख का विषय है कि देहात में उनके प्रश्नों का जवाब देने वाला कोई नहीं; उनकी निर्माण-शक्ति के विकास का कोई साधन नहीं। इस प्रकार बौद्धिक विकास में लगातार रुकावट पड़ने के कारण उनके मस्तिष्क संकुचित हो जाते हैं। इसलिए अवस्था-वृद्धि के साथ-साथ उसी अनुपात में बुद्धि का विकास न होने के कारण वे अधिक बोदे लगते हैं। उनकी बुद्धि-हीनता का एक दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि ज्यों ज्यों

उनकी अवस्था बढ़ती है, त्यों-त्यों वे अपने को असहाय परिस्थिति में जकड़े हुए पाते हैं। तथा साधन-हीन अवस्था में जब उनके दायित्व बढ़ने लगते हैं तो उसका परिणाम यह होता है कि वे चौबीसों घंटे एक प्रकार से किंकर्तव्य-विमूढ़ बने रहते हैं।

ऐसी दशा में उनका बुद्धि-हीन बन जाना कोई अस्वाभाविक नहीं। आश्चर्य तो इस बात का है कि वे पागल क्यों नहीं हो जाते।

देहात में कहीं कहीं पर ही बच्चों के पढ़ने के स्कूल दिखाई देते हैं। किन्तु उनमें पढ़ाई की जिस पद्धति से काम लिया जाता है उसमें बच्चों के स्वाभाविक प्रश्नों का उत्तर न देकर तथा उनकी प्राकृतिक निर्माण-शक्ति का विकास न करके, उनके मस्तिष्क में ऐसी बातें ठूँसी जाती हैं, जिनमें न तो उन्हें अपने निकटस्थ वातावरण की झलक मिलती है और न उनसे उनका प्राकृतिक विकास ही होता है। आज जब मैं बापूजी की बताई हुई बुनियादी राष्ट्रीय-शिक्षा के विषय में सोचता हूँ तो उन दिनों की बात याद आती है और यह धारणा होती है कि शिक्षा का सबसे अच्छा और प्राकृतिक रूप यही है। बच्चों के सम्बन्ध मुझे यह भी अनुभव हुआ कि लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की बुद्धि प्रखर होती है। जब मैंने लड़कियों का स्कूल प्रारम्भ किया तो मुझे इसका प्रमाण भी मिल गया।

हमारे गाँवों के बच्चे इतने होनहार हैं, किन्तु शोक की बात है कि हमारे पास उन्हें विकसित करने का साधन नहीं है। अशिक्षा और कुशिक्षा के कारण आगे चल कर वे एक विचित्र प्रकार के जीव बन जाते हैं। सबसे अधिक कुशिक्षा तो उन्हें अपने ग्रामीण घरों में ही मिला करती है क्योंकि समाज के रवैये के ही अनुसार उन्हें शिक्षा भी तो मिल सकती है। बच्चों के माता-पिता ही उन्हें विशेष रूप से गालियाँ देने की शिक्षा देते हैं। मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है कि माँ-बाप अपने बच्चे को बुला कर स्वयं यह कहते हैं कि "बाबू बोलदे तो तोरी बहिनी कै........" और जब बच्चे इस प्रकार की

गालियाँ बकने लगते हैं तो उपस्थित लोग आनन्द से विह्वल होकर हँस पड़ते हैं। बच्चा भी समझता है कि उसने बड़ी वीरता का काम किया है। इसलिए वह भी प्रसन्न होता है। इसी तरह अनेकानेक गालियों को सीखते हुए ग्रामीण बच्चे बड़े होते हैं। इन बच्चों में यदि किसी को सौभाग्य से स्कूल में जाने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ तो वहाँ आज कल की प्रचलित निकम्मी शिक्षा-पद्धति के साथ ग्रामीण अध्यापक उन्हें तरह तरह की अनीति और दुर्नीति की शिक्षा देते रहते हैं। क्योंकि आख़िर वे भी तो उन्हीं व्यक्तियों में से होते हैं जो अपने बच्चों को गाली देते हुए देख कर प्रसन्न होते हैं।

इसी प्रकार की प्राथमिक शिक्षा प्राप्त किये हुए व्यक्ति ही एकदिन उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् 'हमारे राष्ट्रीय जीवन के कर्णधार होते हैं। फिर हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में मज़बूती आये तो कहाँ से ? बच्चों की बातें कहते-कहते बहक कर मैं दूसरी बात कहने लग गया। कहने का उद्देश्य यह कि मैंने ग्रामीण बच्चों को जहाँ तक समझा है, वे इतने उच्चकोटि की सामग्री हैं कि यदि उन्हें कुछ ही दिनों तक श्रेष्ठ वातावरण में शिक्षा मिले तो आगे चल कर वे गाँवों को सुचारु रूप से संगठित कर सकते हैं।

जब मैं पूना में बुनियादी तालीम के प्रथम वार्षिक अधिवेशन में तुम्हारा भाषण सुन रहा था तो मुझे रह रह कर यही बात याद आ रही थी। तुम लोग सेवा-ग्राम में बच्चों को जिस प्रकार की शिक्षा देती हो, मालूम नहीं कि हिन्दुस्थान के बच्चों को उस प्रकार की शिक्षा कब प्राप्त हो सकेगी ? सम्भव है, यह मेरा स्वप्न ही हो, किन्तु कभी कभी तो स्वप्न भी सच्चे हो जाते हैं। तुम लोगों के प्रयत्न का भी कुछ न कुछ परिणाम तो होगा ही। सब को नमस्कार कहना। आज बस।

---

[१३]

गाँवों में पंचायत

३१—७—४१

कल एक पत्र लिखा था। बच्चों के साथ हिल-मिल कर जो कुछ देखने को मिला, लिखा। यदि कोई उनके विभिन्न खेलों के विषय में लिखे तो एक बड़ी सी पुस्तक तैयार हो जायगी।

आज बारिश के मारे अपनी सीट—जगह पर ही बैठा हूँ। बैठे-बैठे क्या करूँ? पत्र ही लिखने बैठ गया। देखो, कैसा अच्छा जीवन मिल गया है!

हाँ, तो जिस काम में मुझे प्रारम्भ से ही रुचि थी, अब टाँडा में आकर वह पूर्णतः मिल गया था। जब से टाँडा बाज़ार की ज़िम्मेदारी मिली, तबसे ग्रामीण लोगों के साथ चौबीस घंटा रहने का मौका मिल गया था। उनके सुख-दुःख की बातें सुनते और उन्हें अपने देश और देश के राष्ट्रीय आन्दोलन के विषय में नई-नई बातें बताने में समय बहुत आनन्द से कटता था। देहात में घूम-घूम कर चर्खा-प्रचार करने के साथ-साथ अपनी तत्कालीन शिक्षा और अनुभव के अनुसार गाँवों के विषय में अध्ययन करने का उद्योग भी करता था। इस बार के इस गाँव-भ्रमण में मुझे अन्य प्रकार के भी लाभ प्राप्त हुए। सन् १९२४ का ज़माना था, राष्ट्रीय आन्दोलन की दबी हुई अवस्था के कारण ऐसे कितने ही अवसर आये जिनमें मुझे प्रतिकूल अवस्था से होकर गुज़रना और कष्ट उठाना पड़ा। बन-मानुष के घर जाने और वहाँ रहने की घटना तो मैं लिख ही चुका हूँ। इस प्रकार मुझे कष्ट सहने का अभ्यास भी हुआ और साथ ही गाँव के लोगों को यथार्थ रूप से समझने का अवसर मिला। अगर किसी विशेष हैसियत से गाँव में जाता तो गाँव के लोग कृत्रिम और अस्वाभाविक रूप में मेरे सामने आते और मैं उनके वास्तविक स्वरूप को देखने से वंचित रह जाता।

किन्तु उस समय जिसके हृदय में प्रेम था, उसने प्रेम से बात की और जिनके हृदयों में उपेक्षा के भाव थे उन्होंने उपेक्षा की। इस प्रकार उनके सच्चे मनोभावों को अनुभव करने का अवसर मिला। मैं गाँव में जाता था, हर प्रकार के लोगों के बीच बैठकर बातें करता था, उनके घरों पर रात को टिकता था, उनके रसोईघरों में जाकर भोजन करता था। उनकी स्त्रियों और बच्चों से मिलकर बात-चीत भी करता था; जिससे मुझे उनके दैनिक जीवन का ठीक-ठीक दृश्य देखने का अवसर मिल जाता था।

वह समय व्यतीत हुए आज १६ वर्ष हो चुके हैं। लगभग सभी बातें विस्मृति के गर्भ में विलीन हो चुकी हैं। जो कुछ थोड़ो बहुत याद थीं उन्हें मैंने तुम्हारे समक्ष रखने का प्रयत्न किया है। किन्तु अब तक मैंने लोगों के ही विषय में लिखा है। गाँव के साधारण-सामाजिक जीवन पर शायद कुछ भी नहीं लिखा। इस समय भी इसका पूरा ब्यौरा देना सम्भव नहीं हो सकता किन्तु एक अवसर का थोड़ा-बहुत विवरण, जो मुझे कुछ कुछ स्मरण रहा है, तुमको लिख देना अच्छा समझता हूँ।

देहात में घूमते हुए मैं एक दिन दोपाहर के समय गाँव की ओर जा रहा था। रास्ते में एक गाँव में कुछ लोगों को इकट्ठा होते देखा। मुझे जिज्ञासा हुई और उस स्थान पर पहुँच गया। वहाँ पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि गाँव की पंचायत में किसी मामले का फैसला होने वाला है। पंचायत की कार्रवाई देखने के लिए मैं वहीं खड़ा हो गया। कुछ देर के बाद एक आदमी ने मुझे बैठने के लिए एक चारपाई ला कर डाल दी और मैं उस पर बैठ गया। पंचायत में कुछ पंच थे जिनके मध्य सरपंच महोदय साफ़ा लगाये हुए बैठे थे। प्रतिपक्षी सामने की ओर थे। गाँव के कुछ लोग दर्शक के रूप में भी मौजूद थे। एक किसान का खेत कट गया था; यही पंचायत का विचारणीय विषय था। खेत काटने वाले एक ठाकुर

साहब थे; जैसा मैंने सुना कि यह मुकदमा लगभग एक मास से चल रहा था। पंचायत देखने में एक छोटी-मोटी अदालत के ही रूप में दिखाई देती थी। दोनों पक्षों के गवाहों का बयान नियमानुसार लिखा जा रहा था। सरपञ्च महाशय बीच-बीच में सिर हिला दिया करते थे। कभी-कभी एक-आध सवाल भी कर दिया करते थे। उन्होंने अपनी मुखाकृति इतनी गम्भीर बना ली थी कि मानों हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस हों। गवाहों से कौन-कौन से प्रश्न पूछे जा रहे थे और वे उनका क्या-क्या उत्तर दे रहे थे, यह मुझे स्मरण नहीं है। किन्तु यदि मैं उस समय उन प्रश्नों को लिख लिये होता तो वे विशेष मनोरंजन की सामग्री होते। उन प्रश्नों और गवाहों के उत्तरों से इतना तो स्पष्ट ही व्यक्त हो रहा था कि उनका अधिकांश बयान बनाया हुआ था। पंच लोग भी इस तथ्य को समझ रहे थे। मुझे अनुभव हुआ कि वे लोग यह भी समझ रहे थे कि मुक़दमे की वास्तविकता क्या है? क्योंकि वे इस प्रकार के प्रश्न पूछ रहे थे जो एक अपरिचित मनुष्य पूछ ही नहीं सकता था। गवाहों के मध्य में कभी-कभी गवाहों और गाँव के एकाध व्यक्तियों में वादविवाद और झगड़ा भी हो जाता था, जिसे पंच लोग कोशिश करके रोकते जाते थे। इस प्रकार किसी तरह शाम तक मुक़दमा समाप्त हुआ। पंच लोगों ने फैसला लिखा और सुना दिया। जिस किसान का खेत कट गया था वह अपना मामला साबित नहीं कर सका इसलिए मुक़दमा ख़ारिज कर दिया। साथ ही उसे चेतावनी दी गई कि भविष्य में ऐसा झूठा मुक़दमा न दायर करे।

एक आँखों देखी पंचायत

जिस स्थान पर पंचायत हो रही थी, वह सरपंच महाशय का था। उस गाँव के लोगों से मेरा परिचय नहीं था इसलिए मैंने पंचायत समाप्त होते ही वहाँ से चला जाना चाहा। पंचायत की प्रणाली देख कर उसके प्रति कोई विशेष दिलचस्पी न उत्पन्न हो सकी क्योंकि

कचहरियों का भद्दा अनुकरण

उसका सम्पूर्ण ढंग आज-कल की कचहरियों के भद्दे अनुकरण का एक प्रतिरूप मात्र था। ग्रामीण पंचायतों का जो रूप पुस्तकों में पढ़ते हैं, उसका इससे किसी प्रकार का सादृश्य नहीं था। मुझको उठते देखकर सरपंच ने कहा कि "भला कुछ पानी तो पी लो, फिर जाओ।" देर होने के बहाने मैंने चला जाना चाहा किन्तु मेरी न चली। विवश हो मुझे बैठ जाना पड़ा। सरपंच मुझे बैठा कर कहीं चला गया। उसके चले जाने पर मैं दूसरे पंचों से पंचायत के विषय में बातचीत करने लगा। उनके द्वारा ज्ञात हुआ कि वह एक सरकारी पंचायत है जिसका निर्माण तहसीलदार के द्वारा होता है। गाँव के छोटे-मोटे झगड़े, जैसे खेत काटना, मेड़ बांधना या खूंटा गाड़ना आदि इसमें विचारार्थ उपस्थित होते हैं और निपटारा पाते हैं। थोड़ी देर में सरपंच आया और कुछ चबेना और रस मँगवाया। मैंने जलपान किया और उस गाँव से चल दिया।

उस पंचायत को देखने के पश्चात् मैं सोचने लगा कि जब गाँवों में एक पंचायत मौजूद ही है तो हम लोग क्यों दूसरी पंचायत स्थापित करने का प्रयत्न करें। इस के पहले जब मैं गाँवों में जाया करता था तो किसानों से पंचायत कायम करने के लिए कहा करता था। किन्तु अब तक कहीं भी किसी ने मुझे यह नहीं बताया था कि गाँवों में पंचायत पहले से ही मौजूद है। सरकारी पंचायत ऐक्ट के सम्बन्ध में मुझे कोई अभिज्ञता नहीं थी। किन्तु यह बात मेरी समझ में नहीं आई कि देहात में इन पंचायतों के वर्तमान रहते हुए भी देहात के किसान कभी इस बात की चर्चा मुझसे नहीं करते थे। मैं जब उनसे पंचायत कायम करने को कहता था तो वे लोग सर्वदा स्वीकृति दिया करते थे। दो-तीन गाँवों में मेरे कहने के अनुसार लोगों ने पंचायत बना भी ली थी। मैं उन पंचायतों के द्वारा गांव में चर्खा चलवाने की कोशिश करता था। कालान्तर में ज्ञात हुआ कि जिन गाँवों में मेरी योजनानुसार पंचायतें बनी थीं, वे भी किसी न किसी

प्रकार की सरकारी पंचायत के अन्तर्गत थे।

उस दिन मैं टांडा लौट आया और श्री जानकी प्रसाद जी से, जो वहां के एक कांग्रेस कार्यकर्ता थे, सरकारी पंचायतों के सम्बन्ध में पूछा। उन्होंने बताया कि यह पंचायत ऐक्ट तो पहले ही बन चुका था; किन्तु पहले सरकार ने गाँवों में इसे विशेष रूप से चलाया नहीं था। किन्तु जब १६२१ के आन्दोलन-काल में कांग्रेस की ओर से गांव गांव में पंचायतों का निर्माण होने लगा तो सरकार ने उक्त पंचायत ऐक्ट के अनुसार शीघ्रता के साथ गांव गांव में पंचायतें स्थापित कर दीं और उन्हें कुछ कानूनी अधिकारी दिया। आन्दोलन के दबने के साथ-साथ कांग्रेस की पंचायतें समाप्त हो गईं और यही सरकारी पंचायतें शेष रह गईं। फिर तो मैं जहां कहीं भी जाता था इन पंचायतों के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करता था। गांव के किसानों और चमारों से बात चीतकर यह जानना चाहता था कि इन पंचायतों के सम्बन्ध में इन लोगों के विचार क्या हैं? निकट के गाँवों में जहाँ कहीं भी पंचायत की बात सुनता वहां अवश्य पहुँचने का प्रयत्न करता था। वहां जा कर उनकी कार्रवाई देखा करता था। थोड़े ही दिनों में मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि हम पंचायत के जिस रूप की कल्पना करते हैं; वह रूप इन पंचायतों को कभी मिल नहीं सकता। हर गांव में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो पुलिस थानेदार वगैरह से मिले रहते हैं और उन्हीं की सहायता से गांव में अपनी धाक जमाये रखते हैं। भोले-भाले किसानों को बहका कर लूटना इनका काम होता है। इनके पास निजी जमींदारी होती है अथवा ये अन्य जमींदारों से मिले रहते हैं। इस प्रकार ये गाँव सर्वशक्तिमान समझे जाते हैं। गांव के लोग इनसे सर्वदा डरते रहते हैं। यदि कोई इनके विरुद्ध जाने का प्रयत्न करे तो किसी न किसी बहाने ये उसकी दुर्गति करके ही विश्राम लेते हैं। हमारी सरकार को भी जब कभी किसी गाव में कोई भद्दा काम करवाना होता है तो उस अवसर पर ये ही लोग उसके काम आते हैं! पंचायत

सरकारी पंचायत

ऐक्ट के अनुसार जब गाँवों में पंचायत स्थापित करने की बात चली तो तहसीलदारों ने इसी श्रेणी के लोगों को पंच मुकर्रर किया। फल यह हुआ कि इन पंचायतों से गाँववालों को लाभ होने के स्थान पर नुकसान ही हुआ। जिन लोगों को पंच और सरपंच का पद दिया गया वे पहले से ही गांव के गरीब निवासियों को सताने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली थे; वे अब कानूनी अधिकार पाकर और भी भयंकर बन गये। किसी से किसी के विरोध में मुकदमा खड़ा करा कर गरीब जनता को लूटना और सताना बिल्कुल आसान हो गया। हमारी सरकार ने संसार को दिखाने के लिए तो पंचायत ऐक्ट पास किया, किन्तु जब इसका व्यावहारिक रूप गाँवों में आया तो इसके द्वारा देहात में फैले हुए लूट के दलालों को पुरस्कार के रूप में कानूनी अधिकार प्रदान किया गया जिससे इन एजेण्टों के द्वारा हिन्दुस्तान की जनता को सफलतापूर्वक दबा कर रखा जा सके। १९२१ ई० के किसान आन्दोलन के बाद सरकार को दमन-नीति में सहायता पहुँचाने के लिए ऐसे एजेण्टों की आवश्यकता भी थी, जिसमें वह पूर्णतः सफल रही।

पंचायत के तरीकों को देख कर मुझे अनुभव हुआ कि इनके द्वारा जनता में मुकदमेबाजी की आदत बढ़ गई है। छोटे-छोटे मामलों को लेकर लोग कचहरी नहीं जाते थे और आपस में लड़ झगड़ कर निश्चिन्त हो जाते थे किन्तु पंचायत के हो जाने से लोग उन्हीं छोटे-छोटे झगड़ों पर मुकदमा दायर करने लगे। फिर, जब एक बार मुकदमें का प्रारम्भ हो गया तो हारे हुए पक्ष को एक प्रकार की जिद सवार हो जाती है और वह क्रमशः ऊँची कचहरियों की ओर बढ़ने लगता है। इस प्रकार इन पंचायतों का नतीजा यह हुआ कि लोग अधिक संख्या में कचहरी जाने लगे और इससे सरकारी पक्ष में एक साथ दो प्रकार का लाभ होने लगा। प्रथम तो यह कि उसकी इच्छा के अनुसार घर-घर में फूट पैदा हो गई दूसरे कचहरी की आमदनी में वृद्धि हुई।

कालान्तर में मैंने गांव के किसानों से पूछा कि जब तुम्हारे यहां पंचायत पहले से मौजूद है तब इसकी चर्चा मुझसे क्यों नहीं करते थे? मैं इतने अधिक समय से पंचायत-निर्माण का काम कर रहा हूँ अगर तुम लोग पहले सूचित कर देते तो इतना परिश्रम न करके उन्हीं पंचायतों से काम लेने का प्रयत्न करता। इस पर उन्होंने जो उत्तर दिये उन्हें मैं यथातथ्य नीचे लिखने का उद्योग कर रहा हूँ। उन्होंने कहा "भला वह भी कोई पंचायत है। जैसे जमींदार थानेदार चौकीदार और सिपाही वैसे ही सरपंच और पंच! ये लोग हमें क्या लाभ पहुँचा सकते हैं? उलटे हम लोगों पर घोर अत्याचार करते हैं। आप तो गांधी बाबा वाली पंचायत चलाना चाहते हैं और चाहते हैं कि पंचायत गांव गांव चर्खा चलवाये। लेकिन यदि कहीं इस सरकारी पंचायत के पंच लोगों की चल जाय तो जितने चर्खे चल रहे हैं उन्हें भी समाप्त करवा दें। उनकी हरी, बेगारी और बेदखली आदि से हम योंही मरे जा रहे हैं। अगर हम लोगों में से कोई कलकत्ता या रंगून से कुछ रुपये कमा कर लाता है और चाहता है कि नजराना देकर कुछ खेत-बारी बढ़ा ले तो उसे भी हमारे इन पञ्च परमेश्वरों की गृद्ध-दृष्टि से मुक्ति नहीं मिलती। किसी न किसी तरह उन्हें सब कुछ मालूम हो जाता है और कोई न कोई जाल बिछाकर वे अधिकांश कमाई हड़प जाते हैं।"

'ये भी क्या पंचायतें हैं?'

हाय! भारत का वह पंचायती और स्वावलम्बी समाज कहाँ गया, जब गांव का सारा प्रबन्ध ये पंचायतें ही करती थीं? उनके स्थान पर प्रतिष्ठित आज की यह पंचायत बृटिश साम्राज्यवाद की ओर से शोषण का एक साधन-मात्र है जिसके कर्ता-धर्ता हमारे ही गांव के बन्धु-बान्धव लोग हैं। हमें यह भी मालूम हुआ है कि इन पंचों के दलाल भी होते हैं जो गरीब मज़दूर और किसानों की ही श्रेणी में रह कर अपने साथियों के हितू बन कर उन्हें फांस-फूंस कर इन साम्राज्य-

वादी एजेण्टों के चंगुल में ले जाते हैं। जो लोग बड़े-बड़े आन्दोलनों की बात सोचते हैं, उनको यह सोचना चाहिए कि राष्ट्रीय चरित्र की बुनियाद सड़ गई है और जब तक हम इसे ठीक न कर लें तब तक हम ऐसी सड़ी सामग्री के सहारे कौन सा आन्दोलन और कौन सी क्रान्ति कर सकते हैं। ऐसी भयावह स्थिति में गाँव के अन्दर बैठकर केवल रचनात्मक कार्य किया जा सकता है और इस प्रकार राष्ट्रीय जीवन की बुनियाद को सुदृढ़ बनाया जा सकता है तथा देहाती जनता के चरित्र का संघटन किया जा सकता है। हमारे देश के बड़े-बड़े राजनैतिक नेता गांधीजी की इस सीधी सी बात को कब समझेंगे?

तुम तो बहुत से प्रान्तों के देहात में जाती हो, इसलिए देख ही लिया होगा कि देहात में काम करने वाले कितने कम हैं?

पानी बन्द हो गया। अब बैरेक से बाहर निकलना है, अतः पत्र यहीं पर समाप्त करता हूँ। नमस्कार।

---

[१४]

समस्या की जड़

५—८—४१

पहले ही लिख चुका हूँ कि जिन दिनों मैं देहात में घूम रहा था, मार्च का महीना था। धीरे-धीरे अप्रैल भी आ गया। उस प्रान्त में लू भी खूब चलती है। अतः दोपहर के समय घूमना कठिन हो गया। मुझे दोपहर के समय लोगों के घरों में ठहरना पड़ता था। लू के बचाव के लिए किसान मुझे अपने घरों के भीतर ठहराते थे। इस प्रकार उनके घरों में टिकने से भलीभांति विदित हो गया कि किसानों के मकान उनके रहने के लिए नितान्त अपर्याप्त हैं। जिस घर में दो तीन भाइयों का परिवार एक साथ रहता है, उस घर के लोगों को यह कठिन हो जाता है कि वे अत्यल्प समय के लिए भी निजी (प्राइवेट) जीवन की रक्षा कर सकें।

इतने पर भी जिन लोगों में पर्दे का रिवाज है, उनके लिए तो जीवन ही भार-तुल्य हो जाता है। मैंने देखा कि उन लोगों के कपड़े और बिछौने आदि इतने गन्दे होते हैं कि उनमें दूर से ही बदबू आती है। उन लोगों से यदि कभी सफ़ाई की बात करता था तो वे अपने पास अधिक कपड़े न होने के कारण विवशता प्रकट करते थे। सदियों से साधन-विहीन रहने के कारण ये लोग गन्दगी के अभ्यस्त हो गये हैं। बेकारी के कारण इनकी प्रकृति में सुस्ती और काहिली ने अपना घर बना लिया है। इसीलिए इनकी स्वच्छता-पूर्वक रहने की प्रवृत्ति भी नष्ट हो गई है। उनके बारे में शहर के कितने ही सज्जन, जिनमें बहुत से राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी सम्मिलित हैं, मुझसे नाक-भौं सिकोड़ कर कहा करते हैं कि देहातियों से किसी प्रकार की आशा करना बेकार है और इनके मध्य में जाकर बैठना तो सरासर बेवक़ूफ़ी है। मैं जब उसका कारण गरीबी और विवशता बताता हूँ तो कुछ नाराज होकर कहते हैं—"हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि वे सभी के सभी साधन-विहीन हैं, उनमें से बहुतों के पास साधन हो सकता है। वे इतने गरीब नहीं हैं कि कपड़े न धुला सकें और रजाई न बदल सकें।" ऐसा कहने वाले सज्जन यह भूल जाते हैं कि देहात में ऐसे लोग बहुत थोड़े होते हैं जिनके पास साधन मौजूद होता है। अधिकांश लोग नितान्त साधन-हीन और दरिद्र ही हैं। बचपन से उनका जीवन दरिद्रता के वायुमण्डल में व्यतीत होता है, इसलिए उसी वायुमण्डल के अनुसार उनका स्वभाव भी बन जाता है। इसमें उनका कोई विशेष अपराध नहीं है। अतः

सब बुराइयों की जड़ उनकी गरीबी है

यदि देहात के लोगों को सफ़ाई का पाठ पढ़ाना है तो सबसे पहले उनके लिए आर्थिक सहूलियतों का प्रबन्ध करना होगा। जब तक उनमें अपने जीवन से दिलचस्पी न लाई जाय, तब तक वे हमारी बातों पर ध्यान नहीं दे सकते। सबसे पहले उनको यह

समझाना होगा कि, काहिली दूर होने से उन्हें क्यों फ़ायदा होगा तथा इससे उनके कौन-कौन से अभाव दूर होंगे। इस प्रकार जब उनके जीवन में कुछ आशा का संचार होने लगेगा, तभी उनकी जड़ता शिथिल हो सकेगी। जो लोग ग्राम-सेवा का प्रारम्भ सफ़ाई या शिक्षा से करना चाहते हैं, उन्हें देहात की इस स्थिति पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। किसी न किसी आर्थिक प्रोग्राम की सफलता के बाद ही सफ़ाई आदि का प्रोग्राम हाथ में लिया जा सकता है। यही समझ कर मैंने कुछ ही दिनों के बाद गाँव वालों से सफ़ाई के सम्बन्ध में ताकीद करना छोड़ दिया और केवल चर्खा और पंचायत का ही कार्य लेकर चलने लगा। पंचायत का काम भी केवल चर्खा चलवाने तक ही सीमित रहा। पंचायत का कोई वास्तविक स्वरूप तो अधिकतर गाँवों में बन नहीं पाया किन्तु इस प्रचार से चर्खा का प्रचार पर्याप्त बढ़ने लगा।

गर्मी दिन दिन भीषण होने लगी और लू अधिक चलने के कारण चर्खे का काम भी कुछ कम होने लगा। गर्मी की वजह से मेरा घूमना भी कम हो गया। कभी कभी मैं चार-चार पाँच-पाँच दिन तक देहात में जाता ही नहीं था। इधर राष्ट्रीय सप्ताह भी आगया था, यह भी मेरे देहात में न जाने का एक कारण हुआ। इसमें मैंने केवल टाँडा के कस्बे में खादी बेचने का प्रोग्राम रक्खा। राष्ट्रीय सप्ताह के प्रोग्राम के लिए अकबरपुर से श्री देवनन्दन भाई भी मेरी सहायता के लिए आये हुए थे। बाद में वह भी मेरी सहायता के लिए टाँडा ही रहने लगे। हम दोनों ने बड़ी धूम से खादी बेचने का काम किया। सप्ताह समाप्त होने पर वे हिसाब देने के लिए अकबरपुर चले गये। उनके चले जाने पर मैंने सोचा कि लगभग पन्द्रह दिन होगये, मैं देहात नहीं गया। अब देहात का प्रोग्राम बनाना चाहिए। तदनुसार मैंने देहात में जाकर देखा कि चारों ओर हैज़ा फैला हुआ है। गाँवों में अनेक व्यक्ति मर रहे हैं। हर तरफ़ आतंक छाया हुआ है। कोई एक

गाँव से दूसरे गाँव जाने का साहस नहीं करता था। मुझको गाँव में आते देख कर सब लोग आश्चर्य करने लगे। और गाँव की औरतें दबी ज़बान से मुझे टाँडा वापिस जाने के लिए कहने लगीं। वे मेरे निकट आकर इस प्रकार धीरे से कहती थीं कि कहीं कोई सुन न ले। मैं टाँडा वापिस तो अवश्य आया किन्तु स्पिरिट कैम्फर की बोतल हास्पिटल से लेकर फिर गाँवों को वापिस चला गया। देहात में जब मैं कालरा के रोगी के पास जाकर उसे दवा देने की कोशिश करता था तो लोग बहुत एतराज़ करते थे। कहते थे—"भवानी माई नाराज़ हो जाँयगी और जितने लोग बचे हैं, उन्हें भी हैज़ा हो जायगा।" मै कहीं-कहीं ज़बरदस्ती दवा पिला देता था लेकिन साधारणतया इस काम में सफल न हो सका। भद्र कही जाने वाली अन्य जाति के एकाध व्यक्तियों को तो मैं दवा पिला भी सका किन्तु चमारों के परिवार में किसी एक को भी दवा पिलाने में असमर्थ रहा यद्यपि हैजे का प्रकोप सब से अधिक इन्हीं लोगों में था। कुछ ब्राह्मण क्षत्रिय घरों के लोग हमें बुला कर भी ले गये क्योंकि ये लोग पहले से ही मुझे डाक्टर साहब समझते थे। इस प्रकार चार-पांच दिन प्रयत्न करके देखा कि इन लोगों में दवा का प्रबन्ध करना बेकार है! कड़ाके की धूप में अनेक गाँवों का चक्कर लगाने पर शायद ही एकाध आदमियों को दवा पीने के लिए तैयार कर पाया था। गाँव के लोग ऐसे संक्रामक रोग को रोग नहीं समझते हैं; इसे 'भवानी माई' का प्रकोप समझते हैं। मैंने देखा कि घर में इतने भीषण रोग के होते हुए भी लोग निश्चिन्तता के साथ बैठे रहते थे। बगल में रोगी पड़े हैं, किन्तु न तो ये रोते हैं, न कुछ कहते हैं और न किसी प्रकार का उद्योग ही करते हैं। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि यदि ये लोग दवा खिलाना स्वीकार नहीं करते तो मैं कम से कम प्याज़ का रस ही पिला दूँ। किन्तु उनकी गरीबी इतनी है कि बेचारों के घरों में प्याज़ भी नहीं होता था।

यह बेहोशी!

गाँव के लोगों को दवा पीने से इनकार करते हुए तथा इस प्रकार निश्चिन्त भाव से बैठे हुए देख कर प्रारम्भ में मुझे कुछ कुछ बुरा-सा प्रतीत हुआ किन्तु फिर विचार करने लगा कि ये लोग इतने गरीब और इतने साधनहीन हैं कि 'भवानी माई का प्रकोप' और 'तकदीर' इत्यादि कह कर सन्तोष कर लेते हैं। इनके लिए यह भी एक प्रकार से अच्छा ही है। क्योंकि यदि इन्हें विश्वास होता कि दवा से ही रोगी अच्छा हो सकता है, तो वे इधर-उधर भटकते, दवा की कोशिश करते किन्तु कहीं प्रबन्ध न होने के कारण निराश हो जाते और कुछ कर न सकने के कारण स्वयं को धिक्कारते। ऐसी अवस्था में उन्हें प्रायः उन्माद सा हो जाता।

मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि अवध के ग्रामीणों की गरीबी गरीबी की अवस्था से गुजर कर बेहोशी की स्थिति में पहुँच गई है। इसलिए लोग अपने को विवश जानते हुए भी उससे मुक्ति पाने के लिए किसी प्रकार की क्रान्ति या विद्रोह नहीं करते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब कभी अकस्मात् महामारी का प्रकोप होता है, तो इनके लिए 'भवानी
का प्रकोप' ऐसी मनोवृत्ति ही एक मात्र सान्त्वना
आर्थिक सुधार की है। जो लोग इस प्रकार की मनोवृत्ति को कुसंस्कार
आवश्यकता कह कर इन पर व्यंग करते हैं, उनको चाहिए कि
इनके कुसंस्कारों के प्रति इन्हें उपदेश देने की अपेक्षा
इनकी आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न करें। वे देखेंगे कि आर्थिक सुधार के साथ-साथ उनकी कुसंस्कृत मनोवृत्ति क्रमशः दूर होती जायगी। मेरा अनुभव है कि देहात में जिनकी आर्थिक स्थिति जितनी ही खराब है, उतने ही अधिक वे कुसंस्कारों के शिकार हैं।

तीन-चार दिन इधर-उधर घूमने के पश्चात् मुझे महसूस होने लगा कि इस अथाह महासागर में मैं एक बूँद कैन्सर लेकर कर ही क्या सकता हूँ? दवा भी लगभग समाप्त हो चुकी थी। गाँव के लोग भी मुझसे बार बार टाँडा वापस चले जाने का आग्रह कर

रहे थे। अतः एक कुर्मी के घर में खाना खाकर कुछ देर आराम करने के पश्चात् टाँडा वापस चला आया। धूप के कारण टाँडा पहुँचते पहुँचते बिलकुल थक गया और मकान पर पहुँच कर सो गया। शाम को तीन चार मित्र मुझसे मिलने आये। मैं उनसे बात करने लगा और साथ ही शर्बत बनाकर उन लोगों को पिलाया और स्वयं भी पिया। अँधेरा हो जाने पर वे लोग अपने-अपने घर चले गये। मैं लालटेन जलाकर आँगन में आ बैठा। काफी थक गया था, खाना

स्वयं हैज़े के चंगुल में

बनाने की बात सोच रहा था, किन्तु कुछ आलस्य आ रहा था। आलस्य तोड़ कर उठना ही चाहता था कि अकस्मात् पाख़ाने की हाजत महसूस हुई। मैं टट्टी गया किन्तु वहाँ से लौटने के पाँच ही मिनट बाद फिर टट्टी लगी, इस तरह दो-तीन बार टट्टी जाने के बाद मेरे सिर में चक्कर आने लगे और हाथ-पैर कमज़ोर होने लगे। अब मुझमें इतनी भी शक्ति नहीं रह गई कि उठ कर कहीं बाहर जा सकूँ। पास-पड़ोस में कोई था भी नहीं जिसको सहायता के लिए बुलाऊँ। फिर मैं चारपाई पर के बिछौने हटा कर उसे नाली के पास ले जाकर उसी पर लेट गया। कैम्फर की बोतल की ओर देखा तो वह भी खाली थी।

अन्ततः परमात्मा के ही भरोसे लेट गया और उसी चारपाई पर से ही टट्टी करता रहा। टट्टी के साथ-साथ क़ै भी शुरू हो गई थी। मैं कुछ घबरा गया किन्तु करता ही क्या? सोचा, चलो भवानी के भरोसे पड़े रहो।

संयोग से रात की गाड़ी से ९—१० बजे के लगभग देवनन्दन भाई आ गये। मुझे ऐसी स्थिति में देखकर बहुत घबराये और कुछ रुँआसे से हो गये। कहने लगे कि भाई धीरेन, अब क्या होगा? मैंने उन्हें सान्त्वना देते हुए जवाब दिया, इस समय यह सोचने का अवसर नहीं है, तुम जल्दी से जाकर जानकी प्रसाद के यहाँ से कैम्फर की बोतल ले आओ। जानकी प्रसाद जी का घर आश्रम से ५ मिनट

का रास्ता था, देवनन्दन सिंह चले गये और शीघ्र ही दवा लेकर लौट आये। कैम्फर तो नहीं मिला किन्तु कोई दूसरी दवा लाकर पिलाई। जानकी प्रसाद जी मेरी वैसी अवस्था सुन कर मेरे पास न आकर सीधे डाक्टर के पास चले गये। इसी बीच में मेरा हाथ-पाँव ऐंठने लगा और क्रमशः मैं बेहोश हो गया। डाक्टर आये, मेरी दवा-दारू हुई किन्तु मुझे कुछ भी पता नहीं चला। जब मैं होश में आया तो मेरा कै-दस्त बन्द हो चुका था और मैं बरामदे में एक दूसरी चारपाई पर लिटाया जा चुका था। इस आकस्मिक बीमारी ने मुझे बिल्कुल कमज़ोर बना दिया। पंद्रह-बीस दिन के बाद कहीं अकबरपुर जाने के लायक हुआ। अकबरपुर के लोग मुझे टाँडा से बुला ले गये। पन्द्रह-बीस दिन वहां रहने के पश्चात् जब मुझमें कुछ शक्ति आई तो मैं रेल-द्वारा घर चला गया। लगभग दो माह घर रहना पड़ा जिससे गाँव और वहाँ के लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं रख सका।

पत्र समाप्त ही कर रहा था कि तुम्हारा पत्र आ पहुँचा। पत्र बहुत देर से मिला है। जेल में पत्रों के आदान-प्रदान की व्यवस्था बहुत दोषपूर्ण है। हमारे एक साथी का तार ७ दिन में मिला था। तुमने शिक्षा-सम्बन्धी जो किताब भेजने को लिखा है उसे शीघ्र भेज देना। यहाँ मौका है, पढ़ डालूँगा। बाद को समय मिलना कठिन होगा। मैं अच्छी तरह हूँ। सात पौण्ड वज़न बढ़ा है। प्रभाकर भाई, कृष्णदास भाई और सबको नमस्कार पहुँचाना। नमस्कार।

[१५]

दूसरी समस्याएँ

८—८—४१

बीमारी के पश्चात् मैं अपने भाई के पास शिमला चला गया।

उस वर्ष सुलेखा और सुचेता* एण्ट्रेंस का इम्तहान देकर भाई साहब के ही पास शिमला गई हुई थीं। अतः वे भी मुझ को साथी मिल गईं। हम तीनों भाई बहिन जंगलों में खूब घूमा करते थे। मैं उन्हें देश और गांव के विषय में कुछ बातें बताया करता था। इस प्रकार लगभग डेढ़ माह आनन्द-पूर्वक समय बिताने से मेरा स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक हो गया और मैं अकबरपुर लौट आया। टांडा का चार्ज दूसरे भाइयों ने ले लिया था और अब मेरे लिए कोई खास ज़िम्मेदारी का काम नहीं रह गया था। किन्तु फिर भी मुझे एक ऐसा काम दे दिया गया जिससे मुझे देहात में जाने का पूरा अवसर मिलने लगा।

मैं जिस समय गांव के देहात में चर्खे का प्रचार करता था, उस समय उसके आर्थिक पहलुओं पर भी काफी विचार करता था। फैज़ाबाद जिले में रुई नहीं पैदा होती। मैं सआई और ड्यांढ़े के हिसाब पर सूत बदलता था, हिसाब लगाने पर मुझे ज्ञात हुआ कि इस तरह कात कर देहात के लोग अपना कपड़ा नहीं बना सकेंगे। क्योंकि कचड़ा वगैरह निकाल कर उनको इतनी कम बचत होती थी कि मेरे लाख हिसाब लगाने पर भी उस बचत से उनके सम्पूर्ण परिवार को कपड़ा मिलना किसी तरह सम्भव नहीं होता था। इस विषय पर मैं राजाराम भाई से भी आलोचना प्रत्यालोचना किया करता था।

राजाराम भाई भी जब चर्खे पर आर्थिक दृष्टि से विचार करते तो वह भी उसी परिणाम पर पहुँचते थे। किन्तु विवाद करते समय वह इस बात पर विशेष जोर देते थे कि हमारी देहात में इससे अवश्य लाभ होता है। उनका घर सहारनपुर ज़िले में है और उधर के किसान अपने खेत की ही रुई से सूत कात कर बेचते हैं जिस से उन्हें लाभ होता है। वे प्राचीन काल से चर्खा कातते चले आ रहे हैं। यदि वे अपनी रुई व्यापारियों के हाथ बेचते हैं तो बड़ी मंडियों की अपेक्षा

*यही सुचेता देवी अब देश के प्रसिद्ध जननायक और वर्तमान (१९४७) राष्ट्रपति आचार्य कृपलानी की पत्नी हैं। संपादक।

रुई की खेती बिना चर्खा पंगु है

उन्हें सस्ते दामों में वेचनी पड़ती है। इसलिए सूत कात कर वेचने में उन्हें यथेष्ट लाभ रहता है। किन्तु अकवरपुर की अवस्था इसके प्रतिकूल थी। यहां वड़ी मंडियों से मँहगी रुई ख़रीद कर किसानों को दी जाती थी। जिससे वह उन्हें और भी मँहगी पड़ती थी। इस प्रकार सहारनपुर के किसानों के समान अकवरपुर के किसानों को वचत होनी असम्भव थी। इसके अतिरिक्त किसान जो वस्तुएँ घर पर पैदा कर लेते हैं, उसका कोई मूल्य नहीं समझते। घर की रुई कात कर कपड़ा वनवा लेने में उन्हें सम्पूर्ण मुनाफ़ा ही मालूम होता है। घर की रुई से जितना भी सूत काता जाय सवका कपड़ा वनवा कर प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु जो किसान रुई ख़रीद कर कातते हैं, उन्हें तो अपनी कताई से रुई का दाम भी चुकाना पड़ता है।

अतः फ़ैज़ावाद के किसानों को वचत की रुई से सूत कात कर कपड़ा पूरा करना असम्भव ही था। इस प्रकार के वाद-विवाद और चिन्तन करने से मुझे अनुभव हुआ कि फैजावादी किसान जव तक रुई की खेती स्वयं नहीं करेंगे, तव तक चर्खे की समस्या हल होना कठिन ही है। इसलिए टाँडा में रहते समय गाँव वालों से रुई वोने के लिए कहता था। उन्हें यह समझाने में विशेष कठिनाई नहीं पड़ती थी कि घर की रुई होने पर उनकी कपड़े की समस्या हल हो जायगी। अभी इसका प्रचार प्रारम्भ ही किया था कि मैं वीमार पड़ गया और टाँडा में पड़ा रहा। इस समय देवनन्दन भाई मेरी देख-भाल करने तथा मेरा कार्य सँभालने के लिए रुके रहे। मैंने उन्हें कपास वोने की आवश्यकता समझाई और कहा कि आप यह प्रचार जारी रक्खें। वे टाँडा के इलाक़े में पहले ही से काफ़ी मशहूर हो चुके थे। सन् १९२१ के आन्दोलन से ही सम्पूर्ण तहसील के लोग उन्हें 'वावा देवनन्दन' कह कर सम्वोधित करते थे। उनका व्याख्यान सुनने के लिए सभी किसान इकट्ठे हो जाया करते थे। उन्हीं दिनों वे आन्दोलन में काम

करते हुए जेल भी हो आये थे। वहाँ के लोग उनके विषय में मुझसे पूछा करते थे। इसलिए उनके प्रचार का बहुत प्रभाव पड़ा और बहुत से लोग रूई बोने के लिए तैयार हो गये।

मैं घर जाते समय देवनन्दन भाई से कहे गया कि वे इसका अनुमान कर लें कि कितने लोग कपास बोने को तैयार हैं और उसी के अनुसार कपास के बीज ख़रीद लें। मेरे कहे मुताबिक उन्होंने मेरे अवकाश-काल में ही, जब मैं शिमला में रह रहा था, सारा हिसाब लगा लिया था और लगभग ११ बोरे कपास के बीज ख़रीद लिये थे। किन्तु उनके इस हिसाब में ग़लती थी। ११ बोरे बीज बहुत अधिक थे। इस सम्पूर्ण बीज की खपत उस क्षेत्र में नहीं हो सकती थी। जिस समय मैं शिमला से लौटा, बहुत थोड़े बीज किसानों में बाँटे जा सके थे। आश्रम के लोग मुझसे कहने लगे कि यह तूफ़ान आपही का उठाया हुआ है, इसलिए सम्पूर्ण बीज के बुआने का उत्तरदायित्व आप ही पर है। बीज वास्तव में बहुत अधिक थे और बग़ैर तूफ़ानी कोशिश के उनकी खपत का कोई चारा नहीं था। इस बीज के बांटने के सिलसिले में मुझे काफ़ी दूर तक जाना पड़ा। मैंने स्थान-स्थान पर बीज का स्टाक रखवा दिया और एक बार निकलने पर दस-बीस दिन तक वापस नहीं आता था। बिनौला बोआने के सिलसिले में एक खास बात दिखाई पड़ी। वह यह कि हमारे यहां के किसान खेती के कार्य में किसी प्रकार की कोई नई बात करने के लिए नहीं तैयार होते हैं। देहात में मेरे अधिक परिचय के कारण लोगों ने एक कट्ठा या दो कट्ठा के लिए बीज तो अवश्य ख़रीद लिया किन्तु उनमें से अधिकतर लोगों ने उसे नहीं ही बोया! जिन लोगों ने बोया भी उन्होंने उसे दूसरे अनाजों के साथ मिला कर बोया। इन बातों का अनुभव तुम लोगों को सेवाग्राम की तरफ भी होता होगा।

बिनौला बाँटने के सम्बन्ध में मैं टाँडा के पूरब काफी दूर तक चला गया और इस प्रकार मुझे बिड़हर परगना में घूमने का काफी

खेती के लिए बिनौले का प्रचार

मौका मिला। इस से पहले मैं बिड़हर में कभी नहीं आया था। उस क्षेत्र में अधिकतर क्षत्रियों के ही गांव देखने को मिलते थे। ये लोग साधारणतया अच्छी स्थिति में मालूम होते थे और हमारे काम से बिल्कुल घृणा करते थे। परगने के पूर्वी भागों में घूमने से मुझे एक नया अनुभव हुआ। मैं पहले लिख चुका हूँ कि हँसवर और टांडा के देहात में भी ब्राह्मण और क्षत्रिय मेरे काम से इतनी नफरत करते थे कि मुझसे बात करना भी अच्छा नहीं समझते थे, लेकिन इधर के लोगों में कुछ शहरी सभ्यता अवश्य दिखाई देती थी। शहरी सभ्यता का अर्थ यह कि दिल में तो ये लोग काफी घृणा रखते थे और ऊपर से खूब चिकनी-चुपड़ी बातें करते थे। मुझसे इनकार नहीं करते थे, दरवाज़े पर जाने से बात भी करते थे और बीज भी खरीद लेते थे, किन्तु मुझे रात को टिकाने में सभी घबराते थे। यद्यपि लोगों की ऊपरी बात-चीत काफी अच्छी होती थी किन्तु चार-पांच दिनों में मुझे मालूम हो गया कि ये लोग चर्खा और हमारे आन्दोलन से काफी नफरत करते हैं। कितने ही व्यक्ति तो मुझसे साफ-साफ कहते थे कि कांग्रेस और गांधी बाबा तो छोटे लोगों को सिर पर चढ़ा रहे हैं और सारी समाज-श्रृंखला को चौपट कर रहे हैं। वहां के लोगों में छोटे लोगों के प्रति उतनी ही घृणा का भाव देखने में आया, जितना शहर के पढ़े-लिखे मध्यम श्रेणी के लोगों में। वहां के ठाकुर छोटी जाति के लोगों के साथ सीधे बात भी नहीं करते थे।। इस प्रकार की भावना मुझे अन्य स्थानों में भी देखने को मिली थी किन्तु इतनी अधिक मात्रा में नहीं। इस प्रकार की मनोवृत्तियों को देख कर मुझे यह अनुभव हुआ कि चाहे गांव की मध्यम श्रेणी के लोग हों चाहे शहर के, जिनमें भी पाश्चात्य ढंग की ऊपरी चिकनाहटपूर्ण सभ्यता की भावना जितनी अधिक मात्रा में आई है उनके हृदय से मनुष्यता की भावना उतनी ही अधिक मात्रा

में कम हो गई है। उनके विचार से जो लोग उनकी अपनी श्रेणी के हैं, उनके साथ तो वे अत्यधिक और अप्राकृतिक रूप से मृदु व्यवहार करेंगे, किन्तु जिन्हें वे छोटा समझते हैं उनके साथ ऐसा व्यवहार करेंगे कि मानों उन्हें मनुष्य ही नहीं समझते। यहाँ के ठाकुर मेरे साथ जिस प्रकार अच्छा व्यवहार करते थे उसी अनुपात से छोटों के प्रति नफ़रत और अत्याचार का व्यवहार करते थे! शायद तुम सोचती होगी कि १७ साल बाद अब अवस्था कुछ सुधरी होगी किन्तु अब भी वैसा नहीं हुआ है। इधर १९३८-३९ में जब मैं बिड़हर गया तो देखा कि छोटी जातियों के प्रति लोग ठीक उसी तरह से घृणा और अत्याचार का व्यवहार करते हैं। वहाँ के जो लोग कांग्रेस में शामिल हैं वे भी इससे बरी नहीं हैं। उस समय मैं यह सब देखता था और सोचता था कि भारत के वे पुराने दिन कब लौट आयेंगे जब हिन्दुस्तान में ग़रीब से ग़रीब लड़के राजाओं के लड़कों के साथ गुरु-गृह में अपने हाथ से गौवों की सेवा करते थे और घास छीला करते थे, जब गाँव के हर छोटे-बड़े एक दूसरे से आदर और सम्मान का व्यवहार करते थे। पश्चिमी भेद-भाव की भावना ने ही तो आज श्रेणी-संघर्ष का रूप ले लिया है!

मैं बीज बुआने के सम्बन्ध में बात करते-करते कहां चला गया। तुम सोचोगे इन सब बातों का सम्बन्ध बीज बुआने से क्या है? किन्तु उस बुआई के प्रयत्न में मेरे हृदय में जो जो भावनाएँ उठती थीं अगर उन्हें नहीं लिखता तो सम्भवतः वह भी ठीक न होता। इस प्रकार के सतत प्रयत्न से करीब-करीब सभी बिनौले समाप्त कर डाले थे। इस काल में मुझे जो दो-एक बातें देखने को मिली थीं, उन्हें भी कह देना बुरा न होगा। इससे देहात के उस समय के समाज के सम्बन्ध में थोड़ी सी जानकारी मिल जायगी। मैं आम तौर से जहाँगीरगंज तक के ही देहात में बिनौले का प्रचार कर रहा था, क्योंकि वहीं तक आश्रम के सूत का केन्द्र था, उसके पूर्व की ओर कोई केन्द्र

न होने के कारण उधर जाना बेकार समझा। एक दिन बिनौला लेकर मोटर से जहांगीरगंज जा रहा था, उसी मोटर में एक जमींदार के लड़के, जो युनवर्सिटी में शिक्षा पा रहे थे, मिले। मोटर में ही मेरा उनसे परिचय हो गया। उन्होंने मुझे अपने गांव कम्हरिया बिनौला ले चलने को कहा। कम्हरिया जहांगीरगंज से ८ मील की दूरी पर है। उन्होंने आश्वासन दिया कि वे अपने आस-पास में काफ़ी बिनौला बेंचवा देने का प्रयत्न करेंगे। पूरब जाने में मुझे जो पहला गाँव मिला वह काफ़ी अच्छा मालूम होता था। उस गाँव में एक अच्छा-सा मकान दिखाई दिया। मैंने समझा कि यह मुखिया का मकान होगा, (जब से मैं बिड़हर में घूमने लगा था, ज्यादातर मुखिया के ही घर जाता था और वहाँ से दूसरे स्थान को चला जाता था।) यह सोच कर उसके बरामदे में जो तख्त बिछा हुआ था उस पर जाकर बैठ गया। लगभग आध घण्टा बैठने के पश्चात् भीतर से एक स्त्री निकली। उसकी वेश-भूषा और कपड़ा आदि के देखने से मालूम हुआ कि मैं किसी भले घर में आया हूँ। मैंने उससे पूछा कि यह मुखिया का घर है क्या? एक अनजान आदमी को इस तरह से बैठे हुए देख कर उसे कुछ आश्चर्य-सा हुआ किन्तु मेरे प्रश्न करने पर वह दरवाजे के पास नीचे बैठ गई और पूछने लगी कि आप मुखिया का घर क्यों तलाश कर रहे हैं? मैंने अपना उद्देश्य उससे कह सुनाया। इस पर उसने उत्तर दिया कि आप को परीशान होने की जरूरत नहीं है। मैं सम्पूर्ण प्रबन्ध कर दूँगी। इतना कहने के बाद वह कहीं बाहर चली गई और थोड़ी देर में लौट आई। एक आदमी मेरे लिए हाथ-पैर धोने का पानी लाया। मैं थका हुआ तो था ही, हाथ-पैर धोकर निश्चिन्त होकर बैठा और उस स्त्री के दिये हुए चबैने और रस का सदुपयोग करने लगा। मेरे रस पी चुकने के बाद वह स्त्री वहाँ बैठ गई और गाँधी बाबा तथा अन्य दुनिया भर की तमाम बातें करने लगी। लगभग घंटा-डेढ़ घंटा पश्चात् गाँव के बहुत से लोग वहाँ इकट्ठा हो गये और उस स्त्री ने

उनसे मेरे आने का उद्देश्य बताया और कहा कि सबको चाहिए कि थोड़ा-थोड़ा बिनौला लेकर अपने खेत में बोयें। मैंने भी उन्हें, चर्खा चलाने के फ़ायदे, गांधी जी के उपदेश तथा रूई बोने के काम आदि बातें समझाईं। सब लोग थोड़ा-थोड़ा बिनौला लेकर चले गये किन्तु दो-एक आदमी वहाँ रह गये। शाम भी हो रही थी, मैं सोच रहा था कि अब क्या करूँ? उस घर में टिकना तो मुश्किल था क्योंकि वहाँ एक स्त्री और सिर्फ़ एक छोटी-सी लड़की ही रहती थी। उस समय किसी अन्य गाँव को चलना भी असम्भव ही सा लग रहा था। मैं इस प्रकार द्विविधा की परिस्थिति में पड़ा हुआ था कि इतने में ही एक मुसलमान, जो काफ़ी अच्छे कपड़े पहने हुए थे और शहरी ढंग के मालूम होते थे, वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखते ही वह स्त्री कह उठी "आओ, जिलेदार साहब आओ" और अत्यन्त घनिष्ठता के साथ मुस्कराते हुए बोली कि "लेओ आज हमरे घर में

चरित्रहीना के पाहुन आएबा, आज तुहरे सब कै नाहीं चली।"

घर में उस स्त्री की बात-चीत करने के ढंग से मुझे एकदम सन्देह हो गया कि कहीं मैं किसी बुरे स्वभाव वाली स्त्री के घर में तो नहीं आ गया? मैं बड़ी घबराहट में पड़ गया और फ़ौरन ही वहाँ से चल देने की सोची किन्तु थोड़ी ही देर में अपने को सम्हाल लिया और सोचा कि मुझे गाँव के विषय में अध्ययन तो करना ही है फिर यह नया अनुभव क्यों छोड़ दूँ? अतः निश्चिन्त होकर बैठ रहा। उस स्त्री ने जिलेदार से मेरा परिचय कराया और मुझसे तथा जिलेदार से बातें होने लगीं। वह स्त्री अन्दर चली गई। जिलेदार भी उसी तख्त पर बैठा हुआ था जिस पर मैं। वह बिनौले निकाल-निकाल कर देखने लगा और मुझसे उनके बोने के नियम पूछने लगा। थोड़ी देर में एक आदमी दो-तीन चारपाइयाँ लाकर रख गया और पाँच-सात आदमी आकर इन चारपाइयों पर बैठ गये और जिलेदार से बात-चीत करने लगे। कभी-कभी वे लोग मुझसे भी

एकाध वात कर लिया करते थे। इस प्रकार हम सभी लोग उस संध्या-काल में वात-चीत में समय काटने लगे। थोड़ी देर वाद वह स्त्री भी आकर इस वार्तालाप में शामिल हो गई। अव सव की वात-चीत के ढंग से मुझको उस स्त्री के चरित्रहीन होने में रंच-मात्र भी सन्देह नहीं रह गया। थोड़ी देर वाद सव लोग उठ पड़े और चलने के लिए तैयार हो गये। जिलेदार भी उठ पड़ा और सवेरे आने का वादा करके चला गया। जिलेदार के चले जाने पर मैं यह सोचने लगा कि रात कहाँ विताऊँ ? अँधेरा काफ़ी हो चुका था, दूसरी जगह जाना मुश्किल था इसलिए मैंने उसी तख्त पर पड़े रह कर रात काटने का निश्चय कर लिया। उस स्त्री ने मुझसे पूछा कि आप क्या खाना वनावेंगे ? आप जैसा कहें मैं वैसा प्रवन्ध कर दूँ। उस समय उस स्त्री की वात-चीत से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह यह समझ गई है कि मैंने उसकी वातें जान ली हैं। क्योंकि अब वह मुझसे बातें करने में कुछ झिझकती थी और घवरा सी जाती थी। मैंने उसे उत्तर दिया कि आखिर तुम्हें भी तो कुछ वनाना-खाना है, उसी में से थोड़ा हमें भी दे देना। मैं अलग वनाने की झंझट क्यों करूँ ? मेरी इस वात से उसका चेहरा शर्म से लाल हो गया और थोड़ी देर के लिए उसकी ज़वान वन्द हो गई। फिर वह वहुत हिचक के साथ वोली—"भइया हमार छूआ खाये माँ कोई हरज तो न होईना ? अगर कौनो हरज होय त इंतजाम होय सकत है।" मैंने उससे कहा—"माई, मनई मनई कै वनावा खाई तो वहमाँ हरज का होई ?" फिर वह अन्दर चली गई और मैं उसी तख्त पर लेट गया। दो घंटे के वाद उस स्त्री ने मुझे वहुत प्रेम से खाना खिलाया। अव तक उसकी झिझक भी मिट गई थी और वह खाना परोसते समय गाँधी वावा की वात वहुत श्रद्धा के साथ पूछ रही थी। उसके खाना खिलाने के ढंग में मुझे वही भावना दिखाई दी जो हर जगह दिखाई देती है। यह है भारतवर्ष का नारी-हृदय,

नारी का वही सनातन मातृत्व

जो मातृत्व की भावना से भरपूर रहता है। भारत की स्त्री के हृदय में प्रेम और श्रद्धा की जो भावना होती है, फिर चाहे वह किसी धर्म, किसी जाति और किसी श्रेणी की हो, वह शायद संसार के किसी अन्य देश की स्त्री में नहीं होगी। एक स्त्री जो खुले आम अपनी चरित्र-हीनता का परिचय देती है, उसके हृदय में भी इतना प्रेम और श्रद्धा मौजूद है कि उसका अनुभव कर अवाक् हो जाना पड़ता है। किन्तु हमने स्त्री जाति को पिछड़े रहने के लिए कितना विवश कर रक्खा है। अगर समाज में इनको अपना उचित स्थान प्राप्त हो जाय तो हमें जीवन की लड़ाई में इतनी परीशानी न उठानी पड़े।

प्रातःकाल मैं उठ कर शीघ्रता से चला जाना चाहता था किन्तु उस स्त्री ने मुझको रोका और कहा कि 'बिना जलपान किये मैं नहीं जाने दूँगी।' इसलिए मुझे वहीं पर बैठ जाना पड़ा। थोड़ी देर में जिलेदार भी वहाँ आ पहुँचा। उसने मेरा बचा हुआ सम्पूर्ण बिनौला खरीद लिया और कहा—"लाओ, मैं भी अपने यहाँ बुवा दूँगा।"

पानी पीकर मैं उस गाँव से चल दिया और जहाँगीरगंज की ओर वापस आने लगा। उस स्थान से जहाँगीरगंज प्रायः १० मील दूर था इसलिए मुझे रास्ते में काफी समय लग। मार्ग चलते-चलते मैं उस स्त्री के विषय में सोचने लगा। ऐसी स्त्रियाँ मैंने पहले कभी नहीं देखी थीं। उसका घर और उसके रहने की शैली बाजारू स्त्रियों की तरह नहीं प्रतीत होती थी किन्तु फिर भी जिस ढंग से श्रीमान् लोग उसके यहाँ एकत्र होते और उसके साथ जिस प्रकार का व्यवहार करते उससे स्पष्ट दीख पड़ता था कि उस स्त्री की चरित्रहीनता बिल्कुल खुली चीज़ है। इस घटना के पश्चात् मैं जहाँ कहीं भी गया, इस घटना के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करता रहा। लोगों ने बताया कि इधर के गाँवों में इस प्रकार की स्त्रियाँ अधिक हैं जो प्रायः विधवाएँ होती हैं। अधिकांश उच्च घराने की होती हैं; इनके पास जीवन-यापन के लिए कुछ भूमि होती है; ये अपने घरों में स्वतंत्र रूप से रहती हैं;

इनका स्वतंत्र रहना ही इनके बिगड़ने का कारण होता है; गाँव के लोग इनके अकेलेपन का लाभ उठा कर इनसे दोस्ती का सिलसला क़ायम करते हैं और इनका जीवन बरबाद करते हैं। मुझे यह भी विदित हुआ कि गाँव के अच्छे कहे जाने वाले व्यक्ति ही इनसे विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

इस कथा से इतना तो स्पष्ट ही हो गया कि उस समय का समाज इस क़िस्म की सामाजिक दुर्नीति से परिपूर्ण था। आजकल इस दिशा में कुछ सुधार अवश्य हुआ है क्योंकि उस समय ऐसी स्त्रियों के घर पर आना-जाना और उठना-बैठना समाज के लोग बुरी निगाह से नहीं देखते थे, किन्तु आज कल इस प्रकार के लोगों के प्रति काफ़ी विरोध प्रकट किया जाता है। यद्यपि आज भी समाज में इन बुराइयों से सर्वथा मुक्त हुए लोगों की संख्या बहुत कम है। मैंने इस प्रकार के लोगों को भी देखा है जो स्वयं इन बुराइयों में अनुरक्त रहते हैं किन्तु इसी कोटि के दूसरे व्यक्ति को काफ़ी भला-बुरा कहते हैं। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि समाज को यह अनुभव होने लगा है कि यह कार्य बिल्कुल नीति-विरुद्ध है। आज-कल के ग्राम-सुधारक के सामने इस बुराई को दूर करने का भी एक अत्यन्त आवश्यक कार्य है।

उस दिन मैं जहाँगीरगंज से अकबरपुर लौट आया। इधर बिनौला भी लगभग समाप्त हो चुका था, जो बच भी गया था उसे बोने का अवसर नहीं रह गया था। इसलिए मैं अकबरपुर में ही रहने लगा। आज का पत्र बहुत लम्बा हो गया। इसके पश्चात् मेरा गाँवों में आना जाना भी बन्द हो गया, अब उनके सम्बन्ध में मुझे कुछ लिखना भी नहीं रह गया। अतएव अब अपनी देहाती राम कहानी समाप्त करता हूँ।

तुम लोगों की क्या खबर है? मीतुमा क्या कर रही है? मैं जब वहाँ जाता था तो वह मुझे कहानी सुनाने के लिए तंग किया करती

थी। उसे यह सच्ची कहानी सुना देना और उससे कहना कि वह मुझे लिखे कि यह कहानी उसे कैसी लगी? लिखना तो वह अवश्य सीख चुकी होगी। नहीं लिख सके तो मन मन में बता दे। मैं आकाश से पूछ कर जान लूँगा। ठीक होगा न? उसे प्यार कहना। सबको नमस्कार!

---

[१६]

देश-भ्रमण की कहानी

१६—८—४१

अकबरपुर लौट आने के पश्चात् मेरे ज़िम्मे कोई खास काम नहीं रह गया। एक प्रकार से बेकार ही रहता था और यदि कोई रोगी आ जाता तो उसे दवा दे दिया करता था। असहयोग आन्दोलन पूर्ण रूप से दब चुका था। देश के भीतर निराशा-सी छाई हुई थी, स्वभावतः उन सभी कार्यकर्ताओं के समक्ष कुछ परेशानी-सी थी जो अपने व्यक्तिगत जीवन में वापस नहीं चले गये थे। आश्रम में भी इस प्रकार की चर्चा हुआ करती थी। अकबरपुर में जितने व्यक्तियों के लिए काम था, हम लोगों की संख्या उससे बहुत अधिक थी। इसलिए हर कार्यकर्ता के लिए कुछ न कुछ बेकारी रहती ही थी। मुझे भी उस समय कोई ज़िम्मेदारी का काम नहीं था, हाँ, जिन-जिन व्यक्तियों के पास बिनौले का स्टाक था, उनका हिसाब लेने के लिए कभी-कभी बाहर चला जाया करता था। जब लौट कर आश्रम में आता था तो आश्रमी भाइयों को देश-विदेश भ्रमण करने की योजना बनाते हुए देखता था। इन योजनाओं पर आपस में विवाद भी चला करता था। मैं भी थोड़ा-बहुत इस आलोचना-प्रत्यालोचना में अवश्य सम्मिलित होता था, किन्तु कोई विशेष दिलचस्पी नहीं रखता था।

एक दिन दोपहर के समय बाहर से लौट कर आया तो देखा कि आश्रम के भाई लोग भ्रमण की बात-चीत कर रहे हैं। बहस इस बात पर थी कि भ्रमण का रूप किस प्रकार का हो? सब लोग पैदल ही चलने की बात कर रहे थे किन्तु विवाद मुख्यतया इस विषय पर था कि वेश-भूषा कैसी हो, कहाँ ठहरा जाय, कितनी दूर चला जाय? मेरे आते ही लोग पूछने लगे कि धीरेन्द्र तुम्हारी क्या राय है? हमें किस तरह जाना चाहिए। मैंने उनकी सारी बातें सुनकर उत्तर दिया कि जाना-वाना तो किसी को है नहीं, व्यर्थ में बहस करने से क्या लाभ? पर लोगों ने विवाद करना नहीं बन्द किया। सहसा मैंने कहा कि मैं कल निकलूंगा और उसी समय बताऊँगा कि निकलने का ढंग क्या होना चाहिए। जिसे मेरे साथ चलना हो वह अभी से निश्चय करले। रात के समय भी इसकी चर्चा ज़ोरों के साथ चलती रही। मैं यह सोच कर कि अब तो मैंने चलने का निश्चय कर ही लिया है फिर चर्चा से क्या लाभ, उस चर्चा में सम्मिलित नहीं हुआ। किन्तु हृदय में यह द्वन्द्व मचा हुआ था कि यदि मैं आश्रम छोड़कर चला जाता हूँ तो आश्रम के प्रति कर्तव्य का हनन होता है। फिर जी कहता था कि यदि मैं पैदल घूम कर, काफ़ी मुल्क देख सका तो देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों का, विभिन्न प्रकार की श्रेणियों का अध्ययन हो जायगा। देश की जनता के विषय में अध्ययन करने की रुचि मुझे पहले से ही थी। इस समय काम भी बहुत अधिक नहीं था इसलिए मेरी प्रवृत्ति चलने की ही ओर अधिक झुकी हुई थी। मैं इस प्रकार द्विविधा में पड़ा हुआ था कि एकाएक हमारे पुराने साथी राजाराम भाई घर से आ गये। वे छः-सात महीने पहले अपने भाई की बीमारी के कारण घर चले गये थे। जाने के समय से अब तक हम लोगों को उनके सम्बन्ध का कोई समाचार नहीं मिला था। उस समय देश के राजनीतिक आन्दोलन में बहुत से नौजवान, जिन्होंने १६२१ के अन्दोलन में भाग लिया था, हताश होकर अपने-अपने घर वापस जा

रहे थे। हम लोगों ने राजाराम भाई के सम्बन्ध में भी यही सोच लिया था कि अब वे आश्रम में नहीं आवेंगे। किन्तु उनके इस आकस्मिक पुनरागमन से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह ईश्वर की बहुत बड़ी कृपा है कि उसने राजाराम भाई को यहाँ ला पहुँचाया। अब मेरे जाने से आश्रम की लेश-मात्र भी हानि नहीं होगी। मैं निश्चिन्त होकर आश्रम से विदाई ले सकता हूँ। मुझे अब किसी प्रकार की द्विविधा नहीं रह गई। रात को निश्चिन्तता से सोया। सवेरा होने पर २गज़ लम्बे १गज़ चौड़े दो गमछे, दो लँगोटे, एक झोला और एक लाठी लेकर जिस स्थान पर बैठ कर अन्य आश्रमी भाई बात-चीत कर रहे थे, वहाँ जा पहुँचा और कहा—"देखो, मेरे विचार से इस प्रकार की पोशाक पहनकर चलना चाहिए और जिधर ये दोनों आंखें ले चलें उधर ही चलना चाहिए। अब बताओ कौन कौन मेरे साथ चलने के लिए तैयार है" गत रात तक लोगों ने हमारी बातों की गम्भीरता की ओर ध्यान नहीं दिया था। समझ रहे थे कि नित्य की भाँति यह भी एक कपोल-कल्पना है, परन्तु अब मुझे इस प्रकार तैयार देखकर कुछ आश्चर्य में आ गये और कहने लगे कि तुम जाओ, हम लोग नहीं जाते किन्तु मेरे एक साथी श्री श्रीनिवास सिंघल मेरी ही तरह पोशाक तैयार कर मेरे साथ चलने को उद्यत हो गये। फिर हम दोनों व्यक्ति दोस्तपुर जाने वाली सड़क से होकर दक्षिण दिशा की ओर चल दिये।

यात्रा की आकस्मिक घोषणा

मेरे इस उपर्युक्त लेख को पढ़ कर संभव है तुम सोचो कि ग्राम-सेवा के अनुभव से इन बातों का क्या सम्बन्ध है? तुम्हारा यह सोचना ठीक भी है, ग्राम-सेवा से इन बातों का कोई सीधा सम्बन्ध है भी नहीं। किन्तु इस प्रकार के पर्यटनों ने मेरे मस्तिष्क को पर्याप्त प्रभावान्वित किया है, और वे प्रभाव ग्राम-सेवा के काम में काफी सहायक हुए हैं। इसके अतिरिक्त भ्रमण-सम्बन्धी यह मेरा संक्षिप्त लेख तुम लोगों के लिए एक दिलचस्प कहानी का काम देगा। यों तो यदि मैं इस

वृत्तान्त को विस्तार-पूर्वक लिखना चाहूँ तो एक वड़ी दास्तान हो जायगी अतएव एकाध प्रमुख घटनाओं का अनुभव वता कर ही इसे समाप्त कर दूँगा।

प्रयाग में

अकबरपुर से प्रस्थान कर दोस्तपुर के मार्ग से होते हुए हम लोगों ने सुलतानपुर का ज़िला पार कर लिया और इलाहावाद की सीमा में दाख़िल हो गये। अकवरपुर से इलाहावाद लगभग १०० मील दूर है और यह दूरी हम लोगों ने ५ दिन में समाप्त की। इलाहावाद स्टेशन पर ही, अकवरपुर के रेलवे के एक पुराने कर्मचारी श्रीनान्दी वावू से मुलाकात हो गई। वे हम लोगों को देखते ही पास आ गये और आश्चर्य के साथ कह उठे—"आप लोग यहाँ कहाँ? आप लोगों की खोज में तो अकवरपुर के लोग बड़े ज़ोर से व्यस्त हैं।" उनसे सब समाचार पूछने पर प्रकट हुआ कि आश्रम के लोग प्रथम दो दिन तक हमारे इस तरह प्रस्थान करने को मज़ाक की वात समझते थे और सोचते थे कि यहीं कहीं गांव में टिके होंगे और दो-चार दिन में वापस आ जायँगे। किन्तु तीसरे दिन भी हम लोगों के न आने पर हमारी खोज के लिए इधर-उधर कार्यकर्ता दौड़ाये गये। हम लोगों ने नन्दी वावू से कह दिया कि आप जाकर उन लोगों को सूचित कर दीजिएगा कि वे लोग अव हमारी आशा न करें। हम लोगों ने यहाँ से जवलपुर जाने का निश्चय किया है, वहाँ से विन्ध्याचल का दृश्य देखते हुए द्वारका जाने का विचार रखते हैं, फिर द्वारका से रामेश्वर और रामेश्वर से कलकत्ता जाने का प्रोग्राम है, तदुपरान्त यदि जीवित वचे तो लौट कर आश्रम का दर्शन करेंगे। इस सम्पूर्ण यात्रा में दो वर्ष से कम न लगेंगे और दो वर्ष में संसार किधर से किधर चला जायगा; कौन जाने? इस प्रकार नन्दी वावू को अपना सन्देश देकर हम लोगों ने उनसे विदाई ली।

अव हम लोगों ने इलाहावाद से दक्षिण की ओर पैर वढ़ाया

और अपने पूर्व-निश्चित मार्ग से आगे बढ़ने लगे। अधिकतर देहात के ही मार्ग से होकर यात्रा करते थे। लोगों से खाना माँग कर खाते थे और जहाँ समय आता पड़ कर सो जाते थे। प्रायः दोपहर और संध्या दोनों समय किसी न किसी गाँव में टिकते थे और स्थानीय लोगों से बात-चीत कर के वहाँ की अवस्था जानने का प्रयत्न करते थे—'लोग किस प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं; उनकी आर्थिक स्थिति कैसी है; सामाजिक आचार-विचार किस प्रकार के हैं, इन सभी बातों की जानकारी प्राप्त करने का ध्यान रखते थे। उनके दलगत विचार और श्रेणीजन्य मनोवृत्ति का अध्ययन हम दोपहर और संध्या काल के भोजन-माँगन और रात के लिए विश्रामस्थल प्राप्त करने की वार्ता के ही सम्बन्ध में कर लेते थे। क्योंकि इन बातों को पूछ कर नहीं जाना जा सकता।

दक्षिण की ओर

इस प्रकार हम लाग यू० पी०, सी० पी० और गुजरात के विभिन्न गाँवों और शहरों का चक्कर लगाते हुए लगभग ९०० मील की यात्रा करके अहमदाबाद पहुँचे। इस यात्रा में हम अमीर कहे जाने वाले सम्भ्रान्त श्रेणी के लोगों के घरों में गये, पढ़े-लिखे मध्यमवर्गीय बाबुओं के घर देखे, देहात के उच्च और भद्र कहे जाने वालों का अध्ययन किया और गाँवों के ग़रीब किसान और मज़दूरों के घरों में भी पहुँचे। यदा-कदा के भील आदि जंगली जातियों में भी रहना पड़ा। इस प्रकार इस यात्रा से हमें अनुभव हुआ कि मनुष्य जैसे-जैसे उच्च श्रेणी के होते जाते हैं और ज्यों-ज्यों समाज उन्हें शिक्षित और सभ्य कह कर पुकारने लगता है, त्यों-त्यों उनमें ग़रीब और साधारण रहन-सहन के लोगों के प्रति घृणा की मात्रा अधिक होती जाती है। प्रायः ऐसा भी होता था कि पेटभर भोजन प्राप्त करने के लिए हमें २०-२५ घरों की फेरी लगानी पड़ती थी और विभिन्न श्रेणियों के घरों से थोड़ा-थोड़ा भोजन माँग कर इकट्ठा करने में,

उनके देने के ढंग को देख कर सहज ही उनकी मनोवृत्ति की थाह लग जाती थी। इस भीख माँगने के काम ने हमें यह भी अनुभव कराया कि यदि स्त्रियाँ न होतीं तो हम लोगों को जो यत्किञ्चित प्रेम और आदर मिला वह भी नहीं मिलता। अतिथि—अभ्यागत के प्रति सम्मान और आदर का व्यवहार करने की जो

गुजरात का अनुभव

भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता थी, उसका अवशेष स्त्री जाति में ही देखने को मिलता है। इसका अपवाद हमें अगर कहीं देखने को मिला तो गुजरात में। वहाँ की स्त्रियाँ बाहरी लोगों के लिए कुछ करना पसन्द नहीं करती हैं, यह अनुभव मुझे उस प्रदेश के भ्रमण से ही हुआ। यह बात मुझे ऐसी खली कि साबरमती पहुँच कर जब हमको बापूजी से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और जब उन्होंने पूछा कि 'मार्ग में लोगों का व्यवहार कैसा रहा' तो मैंने तुरन्त उत्तर दिया—"और सब तो ठीक है, केवल आप का गुजरात बहुत ख़राब मुल्क है।"

हाँ, मैं कह रहा था कि उच्च श्रेणी के शिक्षित तथा सभ्य कहे जाने वाले लोग साधारण मनुष्यों को घृणा की, और संकुचित दृष्टि से देखते हैं। मैंने तुम्हें किसी पिछले पत्र में लिखा था कि ये लोग जब अपनी श्रेणी के लोगों से मिलते हैं तो इनका व्यवहार अप्राकृतिक रूप से मीठा और शिष्ट हो जाता है। इस यात्रा की दो-एक घटनाओं के सुनने से इन बातों का तुम्हें और स्पष्ट अनुभव हो जायगा और कहानी के रूप में कुछ मनोरंजन भी होगा। वर्धा में 'मीतुमा' को इनमें से कुछ कहानियाँ तो मैं सुना चुका हूँ, उससे पूछना याद है या नहीं?

एक दिन हम लोग ग्वालियर राज्य की सीमा सरदारपुर से सीधे पश्चिम की ओर चले। सरदारपुर तक तो हम लोग सुन्दर जन-समुदाय-सम्पन्न भू भाग से हो कर आये। किन्तु सरदारपुर से केवल जंगल ही जंगल था। हमें लगभग १०० मील जंगल पार करना था। जंगलों के

मध्य कहीं-कहीं मनुष्यों की छोटी-छोटी बस्तियाँ भी देखने को मिल जाती थीं। ये बस्तियाँ भील लोगों की थीं। भीलों के यहाँ आश्रय ग्रहण करने में हम लोगों को बहुत आनन्द आता

भीलों का आतिथ्य था। वे अपनी अवस्था के अनुसार मक्के की रोटी, खीरा, साग आदि सब्ज़ी खाने को देते थे। बेचारे भील दुनिया के शायद ग़रीब से ग़रीब प्राणी हैं किन्तु जब हम उनके यहाँ अतिथि के रूप में पहुँच जाते थे तो सम्पूर्ण परिवार हमारे निकट बैठ कर पहले हमको खाना खिला लेता था और जब हमारे विश्राम का प्रबन्ध हो जाता था, तब वे लोग स्वयं भोजन करने जाते थे। भोजन के पश्चात् भी आकर बात-चीत करते थे, उनकी उन बातों में आदर, प्रेम और सदाचार की झलक स्पष्ट दिखाई देती थी, किन्तु इतने पर भी संसार उन्हें असभ्य ही कहता है। ये लोग कितने ग़रीब हैं, इसके अनुमान के लिए तुम्हें एक दिन की घटना का वर्णन सुनाता हूँ। अगस्त का महीना था, हम लोगों को मार्ग में घनघोर वर्षा का सामना करना पड़ा था, मार्ग में कोई गाँव नहीं मिला इसलिए हम लोग तेज़ी के साथ आगे ही बढ़ते चले गये। दो-तीन मील और चलने के पश्चात् एक बस्ती दृष्टिगोचर हुई। हम लोग उसी ओर बढ़े और एक भील के घर पर पहुँचे। उस भील के घर में कोई स्थान ऐसा नहीं था, जहां पर पानी न चूता हो किन्तु मैदान की अपेक्षा कुछ बचाव तो था ही इसलिए हम लोग घर के भीतर एक स्थान पर खड़े हो गये। घर का मालिक हम लोगों को उस अवस्था में देख कर कहने लगा कि आप लोगों को यहां बहुत कष्ट होगा, यदि आप पटेल के घर चले जायँ तो कुछ आराम मिलेगा। उस सम्पूर्ण बस्ती में पटेल का ही घर सबसे अच्छा था। उसने एक छोटी लड़की को साथ भेज कर हमें पटेल के घर पहुँचा दिया। पटेल का घर, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उस गांव का ही नहीं, प्रत्युत उस सम्पूर्ण इलाके का अच्छा घर समझा जाता था किन्तु जब उसे हम लोगों ने देखा तो

हैरान रह गये। एक छोटा सा घर था, उससे मिला हुआ एक लम्बा ओसारा था। ओसारा (बरामदा) दो भागों में विभक्त था, जिस के मध्य में जंगली लकड़ियों का एक परदा लगा था। रात के समय एक ओर पुरुष और एक ओर स्त्रियां रहा करती थीं। उसके सामने एक छोटी सी मड़ई भोजन बनाने के लिए थी। पटेल के परिवार में वह स्वयं, एक बड़ा लड़का, एक लड़की और उसकी पुत्र-वधू थो। जिस भाग में पटेल और उसका बड़ा लड़का दोनों सोते थे, उसी भाग में उसने हम लोगों को भी आश्रय दिया। हम लोगों के निकट ही उसी भाग में एक घोड़ा, दो बैल, एक बकरी और उसके बच्चे, तथा पाँच-सात मुर्गियाँ भी थीं। एक कोने में टूटी चारपाई, हल और घोड़े के ज़ीन आदि सामान रक्खे हुए थे। छप्पर से एक बाँस लटका हुआ था, जिस पर एक जीर्ण-शीर्ण कंघा, दो कमली और मैले गन्दे कपड़े रक्खे हुए थे।

यों तो ये लोग कपड़े पहिनते ही बहुत कम हैं, पुरुष कौपीन के आकार का एक चौड़े कपड़े का टुकड़ा बाँधते हैं और स्त्रियाँ कमर पर एक छोटा सा टुकड़ा लपेट लेतीं और वक्षस्थल पर भी एक टुकड़ा बाँध लेती हैं। बच्चे नंगे ही रहते हैं। उसकी बड़ी लड़की, जो अनुमानतः बारह तेरह वर्ष की रही होगी, केवल एक छोटी सी गमछी लपेटे हुए थी। हम लोग जब उस लड़की के साथ चले थे तो रास्ते में ही वह (पटेल) मिल गया था। उसने हम लोगों को अपनी बैठक में लाकर बिठाया, उस बैठक का दृश्य एक कबाड़खाना, गोशाला और घुड़शाले आदि के समन्वित रूप सा ही प्रतीत हुआ। पहुँचते ही वह सारा परिवार वहाँ आ गया और दस-पन्द्रह मिनट हम लोगों के स्वागतार्थ वहाँ उपस्थित रह कर अपने अपने काम पर चला गया। हम लोगों ने अपने गीले कपड़े उतार कर रख दिये और वहां पड़ी हुई दो खटोला-सदृश छोटी-छोटी चारपाइयों पर लेट कर गांव के मुखिया की सम्पत्ति का ग़ौर से निरीक्षण करने लगे। रात के समय

उन्हीं दो चारपाइयों में से एक पर पटेल और उसका लड़का और दूसरी पर हम दोनों व्यक्ति सो रहे। चारपाई लगभग ढाई फुट चौड़ी और चार फुट लम्बी थी, कोई भी साधन न रहने के कारण हम लोगों को उसी पर संतोष करना पड़ा किन्तु यात्रा की थकान से नींद में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ी। प्रातःकाल हम लोगों ने देखा कि हमारे शरीर मुर्गों के पाख़ाने और पेशाब से भर गये हैं। इधर-उधर देखने पर ज्ञात हुआ कि जिस समय हम लोग चारपाई पर सो रहे थे उस समय मुर्गों की गोष्टी ठीक हमारे ऊपर टँगे हुए बाँस पर आराम कर रही थी। भोजन में मक्के की रोटी और मक्के की दाल मिली थी। यह अवस्था उस इलाक़े के पटेल की है। अब तुम सरलता पूर्वक समझ सकती हो कि और लोगों की क्या दशा होगी? किन्तु इतना ग़रीब होते हुए भी उनके अतिथि-सत्कार की भावना में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं थी।

यात्रा की सम्पूर्ण घटनाओं का विवरण देना सम्भव नहीं है, परन्तु एक घटना का वर्णन और कर देने से तुम्हें यह पत्र विशेष अरुचिकर और लम्बा नहीं प्रतीत होगा।

भील प्रदेशीय जंगलों के भ्रमण करने में वहाँ के भील काफ़ी सहायता देते थे। उन जंगलों से ढके हुए पर्वतीय मार्गों से हो कर निकलना हम लोगों के लिए असम्भवप्राय ही था। यद्यपि हम लोग सीधे पश्चिम की ओर बढ़ रहे थे, फिर भी उन जंगली और पर्वतीय प्रदेशों में रास्ता भूल जाने की आशंका सदैव बनी रहती थी। वहाँ के भील साथ चल कर हमें एक बस्ती से दूसरी बस्ती तक पहुँचा दिया करते थे। इसी प्रकार उस जंगली भूभाग में हम लोग तीन दिन तक आगे बढ़ते रहे। चौथे दिन दोपहर के समय एक भील हमें एक गाँव से दूसरे गाँव को पहुँचाने साथ चला किन्तु मार्ग में ही उसे एक दूसरा व्यक्ति मिल गया जो किसी अत्यावश्यक कार्य के लिए उसे उसी गाँव को वापस ले गया जहाँ से हम लोग चले थे। अतः विवशतः

हम लोग बिना किसी पथ-प्रदर्शक के आगे बढ़े। अन्ततः जैसी हम लोगों को पहले से ही आशंका थी, शाम हो गई किन्तु कोई बस्ती नहीं मिल सकी। हमें विश्वास हो गया कि हम लोग रास्ता भूल गये हैं। उस जंगल में पगदण्डियाँ तो हर तरफ़ थीं किन्तु हम लोग निश्चय नहीं कर सके कि किधर जायें। अन्त में श्री निवास जी एक पेड़ पर चढ़ गये। उस पर से उन्हें कोई शहर की तरह अच्छी बस्ती नज़र आई। ऊपर ही से उन्होंने उसी दिशा की ओर निर्देश किया और मैंने उसके ही अनुसार अपने मन में दिशा का निश्चय कर लिया। कुछ देर चलने के उपरान्त एक पहाड़ी नदी पार करके हम लोग झाबुआ राज्य के सदर में पहुँचे। दिन भर की यात्रा और मार्ग भूलने की परीशानी ने हमें काफ़ी थका दिया था इसलिए एक मन्दिर के वरामदे में जा कर लेट रहे। थोड़ी देर के पश्चात् खाना मांगने के उद्देश्य से वहां से वाहर निकले किन्तु वस्ती में जाने पर ज्ञात हुआ कि वहां अधिकतर जैनी रहते हैं। मार्ग में हम लोगों को भली-भांति अनुभव हो गया था कि जैनियों के यहां किसी के खाने-पीने की कुछ सुनवाई नहीं होती है, इस जगह भी २०-२५

झाबुवा के अनुभव

घरों का चक्कर लगाने पर अनाज का एक दाना भी नहीं मिला। अन्त में निराश होकर फिर उसी स्थान पर आ कर वैठ गये। किन्तु ५-७ मिनट के ही पश्चात् तीन आदमी वहां आये और हम लोगों को वहां से हट जाने का आदेश दिया। हम लोग भूख और थकान से चूर-चूर हो रहे थे अतः वहां से जाने को जी नहीं चाहता था इसलिए बैठे ही बैठे उनसे वाद-विवाद करने लगे; तव तक तीन-चार आदमी और आ गये और अन्त में हम लोग वहाँ से हटने को वाध्य हुए, जिस समय हम लोग वाद-विवाद में लगे थे एक महाराष्ट्रीय स्त्री सड़क पर खड़ी-खड़ी सारा दृश्य देख रही थी। हम लोग जव उतर कर नीचे आये तो कहने लगी कि महाराजा की डयोढ़ी पर आज खाना वितरित होने

वाला है, वहां से खाना लेकर वहीं शिव मन्दिर में आराम करना। हम लोगों ने उसे धन्यवाद दिया और महाराज की कोठी पर जा पहुँचे। वहां बहुत से कंगाल और फ़क़ीर दो लाइनों में बैठे हुए थे, हम लोग भी उसी लाइन के अन्त में जाकर बैठ गये। कुछ देर पश्चात् एक सण्ड मुसण्ड राजपूत चपरासी बहुत से आदमियों के सर पर खाना लदवाये आया। खाना क्या था? बड़े बड़े दो लड्डू हर एक को देता जाता था और राजा की जय बुलवाता जाता था। एक लड्डू का वज़न पाव भर से कम तो नहीं ही रहा होगा। उसने हम लोगों को भी लड्डू प्रदान किये और राजा की जय बोलने को कहा। हम लोगों ने जय बोलने से इनकार किया। इस पर वह मारने को दौड़ा। हम लोग भाग चले और एक तालाव के पास पहुँच कर लड्डू खानेका उपक्रम करने लगे।

लड्डू इतने सख्त थे कि लाख प्रयत्न करने पर भी दाँतों से नहीं टूट सके इसलिए उन्हें पत्थर पर रख कर पत्थर से ही चूर किया गया और खाना प्रारम्भ हुआ किन्तु घबराहट और थकावट के कारण गला इतना सूख रहा था कि पानी पी पी कर भी लड्डू को गले के नीचे उतारना कठिन हो गया। अन्ततोगत्वा गमछे में बांधकर शिव मन्दिर में पहुँचे। थोड़ी देर बैठने के पश्चात् श्रीनिवास ने कहा कि भाई भूख बड़े जोर से लगी है, चलो एक बार और प्रयत्न करें। सम्भव है, कहीं रोटी प्राप्त हो जाय। मैंने कहा जैनियों की बस्ती है, जब खाने का समय था तो कुछ मिला ही नहीं, अब इतनी रात को किसके घर में खाने को रक्खा होगा? चुपचाप पड़े रहो, सवेरे देखा जायगा। किन्तु वह नहीं राज़ी हुआ, अतः हम दोनों फिर रोटी की खोज में निकल पड़े। कई बार इधर-उधर घूमते देख कर एक सज्जन ने अपने बँगले के बरामदे से हमें बुलाया और पूछा—तुम लोग किधर जाओगे? कहां घूम रहे हो? मैंने उन्हें उत्तर दिया—घूम कहीं नहीं रहे हैं, हम भूख प्यास से व्याकुल हैं, खाना चाहिए। यह सुन कर वह हम लोगों

को बगल के गोपाल मन्दिर में ले गया और हमें ठाकुर जी का भोग दिलवाया। भोग, एक गीला पदार्थ था अतएव हमने उसे सरलता-पूर्वक खा लिया। खाने के पश्चात् हम लोग फिर उसके बँगले पर गये। वह अब तक बरामदे में ही बैठा हुआ था। अब उसने फिर हमसे बात-चीत करना प्रारम्भ किया और पूछा कि तुम लोग कहां जाओगे? इसी समय उसका लड़का भी वहां आ गया, वह कहीं आफिस में नौकर था, उससे हम लोगों ने दाहोद का रास्ता पूछा। नक्शे से हमने देख भी लिया था कि दाहोद झाबुआ से २०-२५ मील की दूरी पर है। रास्ता पूछने पर लड़के ने कहा कि यदि कुछ लिखना पढ़ना जानते हो तो लिख लो। मैंने उत्तर दिया कि थोड़ा थोड़ा जानता तो अवश्य हूँ, किन्तु श्री निवास को न जाने क्या सूझा, उसने कहा हां, बी० ए० तक पढ़े हैं। उस बुड्ढे ने जब यह सुना कि हम लोग बी० ए० तक पढ़े हैं तो वह एकाएक कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। अब तक वह हमको नीची निगाह से देखता था किन्तु सहसा उन सब की आकृति बदल गई, भाषा बदल गई और ढंग में परिवर्तन हो गया। अब तक हमें कोई बैठाने वाला नहीं था किन्तु अब बैठने के लिए कुर्सी मिल गई और वे दोनों ही व्यक्ति बड़े शिष्टाचार के साथ बात-चीत करने लगे और इस बात की कोशिश होने लगी कि हम लोग रेलगाड़ी से ही जावें। देखा न, ज्योंही उन्हें ज्ञात हो गया कि हम भी उन्हीं की श्रेणी के आदमी हैं, तो किस प्रकार दुनिया बदल गई? हमने उन्हें उनके इस सौजन्य के लिए धन्यवाद दिया और कहा कि हम लोग पैदल यात्रा करने का निश्चय करके निकले हैं, गाड़ी पर नहीं चढ़ेंगे। उन्होंने कहा कि आप लोग यहीं ठहर जाइये, प्रातःकाल रास्ता बता दिया जायगा किन्तु हम लोगों ने शिव-मन्दिर में रहने का निश्चय प्रकट किया और अनेकानेक धन्यवाद देकर वहाँ से चल दिये। शिव मन्दिर में उस दिन कोई उत्सव था, आरती हो

व्यवहार में सहसा परिवर्तन

रही थी, कुछ लोगों की भीड़ थी। हम लोग मन्दिर के एक कोने में कम्बल बिछा कर बैठ गये और मैं स्वामी रामतीर्थ का उपदेश पढ़ कर सुनाने लगा। हाँ, मैं तुमको यह लिखना भूल गया था कि चलते समय स्वामी रामतीर्थ का 'इन उड्स ऑव गाड रियलाइजेशन,' एक छोटी सी रामायण और न्यू टेस्टामेंट लेकर निकले थे। मार्ग में जहाँ आराम करने का अवसर मिलता था, पढ़ते थे। मुझको रामतीर्थ का उपदेश पढ़ते देख कर कुछ नौजवान वहीं आकर बैठ गये और हमारा पढ़ना सुनने लगे और हमसे बातचीत करने की इच्छा प्रकट करने लगे। जब मैंने एक अध्याय समाप्त कर लिया तो पूछने लगे—"अच्छा, आप लोग अँग्रेजी भी जानते हैं?" तब तक एक महाशय पीछे से बोल उठे—"अरे यह बी० ए०, यल० यल० बी० हैं!" हमें बड़े ज़ोर की हँसी आई, किन्तु गम्भीर होकर बैठे रहे और उन लोगों से बात-चीत करते रहे। थोड़ी देर के बाद जब सब लोग मन्दिर से चले गये तो वह बी० ए०, यल० यल० बी० कहने वाले महाशय रुक गये और हमें एक आदमी दे गये और कह गये कि यह आदमी आप लोगों को आठ मील जंगल पार करा कर दोहद जाने वाली सड़क पर पहुँचा देगा। यह महाशय वही थे, जिनके घर हम लोग रात को गये थे।

इस प्रकार की कितनी ही घटनाएँ अब तक स्मरण हैं; किन्तु उनसे हमारे ग्राम-सेवा के विषय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इसलिए उन्हें लिखकर व्यर्थ पत्र का कलेवर बढ़ाना ठीक नहीं होगा। दो-एक घटनाएँ इसलिए लिख दीं कि तुमको यह ज्ञात हो जाय कि विभिन्न लोगों के साथ लोगों के व्यवहार-भेद के विषय में अपनी राय स्थिर करने में किस-किस प्रकार की घटनाओं ने मेरे मस्तिष्क पर प्रभाव डाला है, और साथ ही ऊँची श्रेणी के लोगों के प्रति मेरी स्वाभाविक अश्रद्धा का कारण क्या है, यह भी तुम पर स्पष्ट हो जाय।

कुछ दिवस बाद हम लोग साबरमती पहुँच गये और कीकी बहन के यहाँ उतर गये। वहाँ पहुँच कर दादा का पत्र मिला कि जब तक हम न आवें तब तक आगे न बढ़ें। अहमदाबाद में दादा जी के कुछ मित्र महानुभाव सपरिवार रहते थे और दादा के नाते हमारा भी उनसे परिचय हो गया था किन्तु हम लोगों के ग्रामीण रंग-ढंग देख कर उन लोगों की नाक भौं सर्वदा सिकुड़ी रहती थी और उनके व्यवहार से काफी घृणा और अनादर की भावना परिलक्षित होती थी।

मैं प्रथम ही लिख चुका हूँ कि लोगों में जैसे-जैसे तथाकथित शिक्षा और सभ्यता का विकास होता जाता है वैसे ही वैसे अपनी श्रेणी से नीचे वर्ग के लोगों के प्रति अनादर और असम्मान की भावना बढ़ती जाती है। साबरमती में रह कर इसकी सत्यता का जितना अनुभव मुझे हुआ, उतना इसके पहले कभी नहीं हुआ था। हृदय में सोचा करता था कि अगर इसी का नाम तमीज़ और तहज़ीब (विवेक और सभ्यता) है, तो परमात्मा भारतवर्ष से जितने ही शीघ्र इस तहज़ीब और तमीज़ का नाश करे उतना ही इस देश का कल्याण हो। मुझे यह भी महसूस होने लगा कि जिन लोगों को ये गँवार, बेवकूफ़ और जंगली समझते हैं, वे इन लोगों से कहीं अधिक सभ्य और शिष्ट हैं।

कौन सभ्य है?

यद्यपि अपनी श्रेणी के लोगों के साथ बात करते समय ये लोग जिस चिकनी और पालिशदार भाषा का प्रयोग करते हैं, वह भाषा उन ग्रामीणों को नहीं आती किन्तु उनके व्यवहार में जिस प्राकृतिक आदर और सद्भावना की झलक रहती है, वह इन तथा-कथित सभ्य जनों में नहीं पाई जाती। यह भावना उस समय से मुझमें इतनी दृढ़ हो गई है कि यथासम्भव मैं आज तक अपने को ऐसे समाज से सर्वदा दूर रखने की कोशिश करता हूँ। और यह भी एक बड़ा कारण है कि मैं देहात में ही रहना पसन्द करता हूँ।

दादा के साबरमती आने पर उनके कहने के अनुसार हम लोगों

ने आगे बढ़ने का प्रोग्राम छोड़ दिया और आश्रम की ओर लौट पड़े एवं कुछ ही दिनों में आश्रम पहुँच गये। उस समय आश्रम में मेरे लिए कोई खास काम नहीं था इसलिए लोगों ने मुझे आश्रम के शुभा-कांक्षी श्री सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय की सेवा में लगा दिया जो उस समय महात्मा जी के अनशन के सम्बन्ध से दिल्ली में मौजूद थे। मैं उनके साथ कलकत्ता चला गया। पत्र बहुत लम्बा हो गया। अब यहीं खतम करना ठीक होगा। अब आगरा की गर्मी समाप्त हो चुकी है। जेल में आज-कल काफ़ी आनन्द है। मैं स्वस्थ हूँ। आबोहवा तो ठीक है, लेकिन इधर कुछ दिनों से यहाँ सब लोग कुछ उदास से हो रहे हैं। गुरुदेव के मृत्यु-संवाद ने एकाएक सबको स्तम्भित कर दिया था; आज कल केवल उसी की चर्चा होती है। कल श्राद्ध दिवस है, यहाँ भी उनके प्रति श्रद्धार्पण के लिए सभा का आयोजन किया गया है। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी यहाँ ही नज़रबन्द हैं, उनको बहुत शोक हुआ है। वह कह रहे थे कि वाल्मीकि के पश्चात् इस कोटि के कवि बीच में नहीं पैदा हुए थे। नमस्कार।

---

[१७]

निश्चित प्रयोग की चेष्टा

ता० २६—८—४१

श्री सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय दो माह बाद कलकत्ते से बनारस चले आये; मैं भी साथ-साथ बनारस आया और उनकी सेवा में लगा रहा। इसी बीच आश्रम के मंत्री श्री विचित्रभाई बहुत अधिक बीमार पड़े और उनके लिए दो-तीन साल का आराम लेना ज़रूरी हो गया। ऐसी अवस्था में आश्रम का चार्ज कौन लेगा, यह एक भारी समस्या हो गई थी। एक दिन दादा ने मुझसे इस कार्य का भार ग्रहण करने को कहा किन्तु इस समय मैं इस उत्तरदायित्व को उठाने के लिए

तैयार नहीं था क्योंकि एक तो मैं अपने को इस काम के योग्य नहीं समझता था और दूसरा कारण यह था कि यदि मैं प्रधान कार्यालय की ज़िम्मेदारी लेता तो देहात से मेरा सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता। इतने दिनों तक देहात में रहते-रहते मुझे देहात से बहुत प्रेम हो गया था और मेरी प्रकृति भी कुछ इस प्रकार की हो गई थी कि शहरी जलवायु और शहरी लोगों से एक प्रकार की अरुचि-सी उत्पन्न हो गई थी। किन्तु दादा ने बाध्य किया कि जो कर सको वही करो, जो न समझ में आये विचित्र भाई से पूछ लिया करना। इस प्रकार दादा के आदेशानुसार मैंने प्रधान कार्यालय का भार ग्रहण किया और तब से गाँव से मेरा सम्बन्ध छूट-सा गया। नये कार्य का उत्तरदायित्व अपने ऊपर आ पड़ने से मेरा सम्पूर्ण ध्यान उसी के सीखने में केन्द्रीभूत हो गया और गाँव की बातें प्रायः भूल सी गईं।

इसके पश्चात् जब सन् १९२८ में समाचारपत्रों में बारडोली सत्याग्रह का विवरण देखने को मिलने लगा और जब मैंने वहाँ के संगठन का विवरण पढ़ा तो मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि इस तरह के संगठन के लिए अवध भी बहुत सुन्दर क्षेत्र है। प्रधान कार्यालय का कार्य करते हुए भी देहात के कार्य की योजना फिर मेरे मस्तिष्क में स्फुरित होने लगी। उसी वर्ष कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था; कुछ कारण-वश उस साल हम लोग वहाँ की प्रदर्शनी में खादी की दुकान नहीं ले जा सके, किन्तु आश्रम से खादी भेजी जा चुकी थी। इसलिए प्रदर्शनी के बाहर इस खादी को विक्रय करने का भार मेरे ही ऊपर आ पड़ा। मैंने जिस कोठी में महात्मा गाँधी ठहरे हुए थे उसी के एक कमरे में दुकान खोल कर खादी बेचना प्रारम्भ किया। गाँधी जी की कोठी में जो लोग ठहरे हुए थे उनमें से कितने ही लोगों ने बारडोली के संगठन में काम किया था। मैं उन लोगों से वहाँ का विस्तृत विवरण पूछता रहा और इस प्रकार पुनः मुझमें ग्राम-संगठन की उत्कण्ठा जाग्रत हो उठी। कलकत्ता से वापस आते ही आश्रमी

भाइयों के समक्ष यह प्रस्ताव रक्खा कि मुझे पुनः उत्पत्ति केन्द्रों में काम करने का अवसर दिया जाय किन्तु उन लोगों ने इसे नहीं स्वीकार किया, फिर भी मेरे मस्तिष्क में गाँव की बातें चक्कर काटने लगीं। इसी समय मेरा स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया, और विश्राम करने की भावना से मैंने लम्बी अवधि की छुट्टी ले-ली जिससे प्रधान कार्यालय की जिम्मेदारी श्री अविनाश भाई के ऊपर आ पड़ी। मैंने सोचा कि अच्छा हुआ। अब छुट्टी के पश्चात् मैं प्रधान कार्यालय के भार से मुक्त हो सकूँगा। छुट्टी लेकर स्वास्थ्य-सुधार की कामना से मैं कश्मीर चला गया और लगभग तीन माह तक वहाँ रुक गया। श्री कृष्णदास गाँधी भी वहाँ स्वास्थ्य-सुधार के लिए आये हुए थे, और संयोग से हम लोग एक ही कमरे में रहते थे और गाँव के कार्य की बाबत आपस में विचार-विनिमय किया करते थे। श्री कृष्णदास भाई गुजरात के देहात में काम कर चुके थे; गाँवों के सम्बन्ध में मैं उन्हें अपनी कल्पना बताया करता था और उनकी समालोचना भी सुना करता था। इस प्रकार मैंने कश्मीर के प्रवास-काल में ही देहात के सम्बन्ध में कुछ योजनाएँ बना डालीं।

ग्राम-कार्य की योजना

उस समय तक गाँधी जी ने ग्रामोद्योग के विषय पर कभी चर्चा भी नहीं की थी। ग्रामोद्योग की बात मेरे भी मस्तिष्क में नहीं आई थी, किन्तु कृष्णदास भाई से वस्त्र-स्वावलम्बन-योजना की बात सुनकर ही मेरे मस्तिष्क में उसी योजना को केन्द्र बना कर ग्राम-सेवा का कार्य करने की कल्पना प्रस्फुरित हुई। उस समय मैंने जिस योजना की कल्पना की थी, वह इस प्रकार थी :—

१—कई गाँवों के मध्य में आश्रम बना कर देहात के नौजवानों को कताई और धुनाई की शिक्षा दी जाय। और उनके द्वारा देहात का कार्य किया जाय।

२—प्रधान कार्य-क्रम वस्त्र-स्वावलम्बन का ही होगा किन्तु साथ

ही गाँव की सफाई, प्रौढ़ शिक्षा, ग्राम सेवक दल का संगठन, पंचायतों का स्थापन तथा स्त्री-शिक्षा आदि देहात के सर्वांगीण सुधार का कार्य-क्रम रहे।

३—देहात के लोगों को हर प्रकार की शिक्षा और मार्ग-प्रदर्शन मिलता रहे।

कश्मीर में ही मैंने इस कल्पना को एक योजना के रूप में लिख डाला और अपने पास रख लिया। छुट्टी के पश्चात् अगस्त में मैं मेरठ लौट आया और सहयोगी भाइयों से इस देहात के कार्य के सम्बन्ध में वार्तालाप किया किन्तु उस समय हम आश्रम की ओर से इस प्रकार के विशेष प्रोग्राम बना कर कार्य करने के लिए तैयार नहीं थे। और न आश्रम के पास इतने साधन ही थे कि वह इसके लिए कुछ पूँजी लगा सके। इसलिए इसकी चर्चा विशेष गम्भीर रूप में न हो सकी। मैं भी पुनः प्रधान कार्यालय का चार्ज लेकर कार्य करने लगा। इसके कुछ ही दिन बाद श्री शंकरलाल बैंकर मेरठ आये और मैंने अपनी योजना उनके समक्ष रक्खी। शंकरलाल भाई भी इन दिनों स्थान-स्थान पर वस्त्र-स्वावलम्बन के केन्द्र खोलने का प्रयत्न कर रहे थे, उनको मेरा प्रोग्राम पसन्द आ गया और उन्होंने कहा कि अगर आप केवल वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्य करते हैं, तो मैं चर्खासंघ की ओर से इसका व्यय सहन करने के लिए उद्यत हूँ। मैंने उनसे कहा कि गाँव के कार्य के सम्बन्ध में मेरा जो-कुछ भी अनुभव है उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि गाँधी जी ग्राम-संगठन के सम्बन्ध में जितने प्रकार के कार्यक्रम आवश्यक समझते हैं, उन सभी को समग्र-रूप से गाँवों के मध्य एक साथ ही संचालित करने से ही सफलता प्राप्त हो सकती है। क्योंकि एक प्रोग्राम दूसरे प्रोग्राम पर प्रभाव डालता है। और यदि हम ग्राम-जीवन के प्रत्येक अंग पर सुधार की योजना नहीं बनाते तो केवल एक ही प्रोग्राम लेकर सफल नहीं हो सकते। किसी

भी नवीन कार्यक्रम को चलाने के लिए सब से पहली आवश्यकता यह होती है कि जिनके भीतर यह नवीन कार्यक्रम लेकर चलना है, समग्र दृष्टि की उनमें नवीनता को ग्रहण करने की मनोवृत्ति उत्पन्न आवश्यकता हो गई हो। और यह मनोवृत्ति तभी उत्पन्न होती है जब उनके जीवन की गति में नये दृष्टिकोण का विकास हो जाता है। अगर हम कोई एक ही एकाङ्गी प्रोग्राम लेकर कोई आर्थिक सुविधा प्राप्त कर कुछ दिन उसे चला भी दें तो उसमें जड़ता ही रहेगी, जीवन नहीं आ सकेगा। जीवन उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम सर्वप्रथम देहात में एक ग्राम सेवा शिक्षा-केन्द्र खोलकर उसमें सर्वतोमुखी विकास की योजना चलावें। इतना अवश्य है कि वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्य मुख्य रहेगा और इसी को केन्द्र मान कर दूसरे कार्य-क्रम भी परिधि-क्षेत्र के भीतर चलते रहेंगे।

मुझमें और श्री शंकरलाल भाई में इसी योजना पर देर तक वाद-विवाद हुआ। अन्ततः उन्हें इस योजना के सिद्धान्त स्वीकार करने पड़े और कुछ बातों के अतिरिक्त उन्होंने सभी बातें विवरण-सहित स्वीकार कर लीं। उन्होंने कहा कि जिस क्षेत्र में आप काम करना चाहते हैं, उसे मैं स्वयं देखना चाहता हूँ और जानना चाहता हूँ कि वह क्षेत्र वस्त्र स्वावलम्बन के लिए अनुकूल है अथवा नहीं। मैंने योजना तो बना ली थी किन्तु गाँव का चुनाव नहीं किया था और न मेरठ के देहात के सम्बन्ध में कोई जानकारी ही रखता था। अतएव मैंने श्री शंकरलाल भाई से कह दिया कि आज शाम तक गाँव का निर्वाचन कर लूंगा। कल प्रातःकाल देखने चला जायगा। स्थानीय सहयोगी भाइयों की सम्मति से सरधना तहसील के रासना ग्राम में कार्य प्रारम्भ करने निश्चय हुआ और दूसरे दिन प्रातःकाल हम लोग श्री शंकर भाई को साथ लेकर रासना के लिए चल पड़े। वहाँ पहुँचने पर श्री शंकरलाल भाई ने गाँव में घूम कर वहाँ के निवासियों से बात-चीत की और हमें कार्य प्रारम्भ करने की

स्वीकृति दे दी। इसलिए हम लोगों में से एक श्री श्याम जी भाई, कार्य प्रारम्भ करने के लिए वहाँ भेजे गये। प्रारम्भ में कई दिनों तक मैं भी उनके साथ वहां टिका रहा और गांव के व्यक्तियों से परिचय प्राप्त करता रहा। अवध के गांवों के विषय में मेरी जो धारणा थी, वह यहाँ न रह सकी। यहाँ के लोग न उतने अधिक गरीब थे न उतने अधिक अशिक्षित ही। प्रायः सभी मकान बड़ी अच्छी कोटि के थे; अधिकांश का अग्रभाग बिल्कुल पक्का था। यहाँ अधिकतर तगा जाति के लोग निवास करते थे। तगा जाति शायद क्षत्रियों की ही वंशज है। पूर्वी ज़िलों में इनकी बिरादरी को भूमिहार* कहते हैं। इनके अतिरिक्त उस क्षेत्र में कुछ निम्नश्रेणी की जातियाँ भी रहती थीं। कोई ख़ास बड़ी ज़मींदारी और ताल्लुक़ेदारी की प्रथा न थी। इसलिए लोगों की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। ये लोग अवध के किसानों की तरह दबी हुई प्रवृत्ति के नहीं थे। शिक्षा का भी इनमें अच्छा प्रचार था। इसके अतिरिक्त यहां आर्य-समाज का भी अच्छा संगठन था। इसलिए अवध के किसानों की अपेक्षा उनमें दकियानूसीपन बहुत कम था। त्यागी (तगा) लोग उच्च श्रेणी की जाति में से थे किन्तु उनकी स्त्रियों में पर्दे का रिवाज उतना अधिक नहीं था, जितना पूर्वी जिलों में पाया जाता है।

रासना गांव में एक बहुत सुन्दर पक्का मन्दिर है और गांव की ओर से एक पक्की चौपाल बनी हुई है जिसमें कोई भी व्यक्ति आकर ठहर सकता है। इसके अतिरिक्त यदि गांव की कोई पंचायत होती है तो उसकी बैठक इसी चौपाल में होती है। चौपाल के देख-भाल की ज़िम्मेदारी भी समस्त गांव के लोग वहन करते हैं। हम लोगों ने भी इसी चौपाल में आश्रय लिया। पहिले दिन से ही मुझे यहां का

---

*भूमिहार और तगा दोनों अब बहुत दिनों से अपने को ब्राह्मण मानते हैं।— सम्पादक।

रासना की विशेषताएँ

वातावरण अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हुआ । लोगों की शिक्षा व शिष्टाचार और नई चीजों के समझने की प्रवृत्ति देखकर मुझे कुछ ऐसा लगा कि जितना काम मैं यहां साल भर में कर सकूँगा; उतना अकबरपुर की ओर पांच साल में भी न हो सकेगा। दो बातों ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया:—

१—चौपाल का होना—जिसका मुख्य अभिप्राय यह था कि पंचायती और सम्मिलित समाज का संस्कार इस इलाके में अब तक वर्त्तमान है।

२—घर-घर में चर्खे की उपस्थिति।

जिस चर्खे और पंचायत के लिए मैं टांडा के देहात में मारा-मारा फिरता था, वे दोनों वस्तुएँ वहां पहले से ही मौजूद थीं।

मैं चार-पांच दिन तक रासना में ही रह गया। रासना तथा उनके आस-पास के गांवों में खूब घूमा। सन्ध्या समय रासना के लोग स्वयं चौपाल में आ जाते थे, हम लोग उनसे अपनी योजना पर आलोचना प्रत्यालोचना किया करते थे। पांच छः दिन के पश्चात् मुझे यह अनुभव हुआ कि ये लोग हमारी योजना को भलीभांति समझ गये हैं और उसे चलाने के लिए काफी उत्साह प्रकट करते हैं। अतएव मैं चार-पांच दिन और रहकर उनमें काफी प्रचार करके श्री श्याम जी भाई को वहां के कार्य-क्रम का संचालक बनाकर मेरठ चला आया। श्याम जी भाई ने उनमें धुनाई और कताई सिखाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। मैं प्रति सप्ताह एक बार रासना चला जाया करता था और

धुनाई-कताई और रात्रि पाठशाला

उस गांव के लोगों को हर प्रकार के सुधार की प्रेरणा देता रहता था। कुछ काल पश्चात् किसानों और उनके बच्चों को पढ़ाने के लिए एक रात्रि पाठ-शाला खोल दी गई। मैंने देखा कि किसानों के बच्चे दिन में खाली नहीं रह सकते। जिस दिन से वह कुछ सज्ञान होते हैं;

उसी दिन से उन्हें जानवरों को चराना, उनके लिए घास छीलना, गृहस्थी के काम में सहायता पहुँचाना, गोबर बटोरना तथा जंगल की लकड़ी चुनकर लाना इत्यादि काम करने पड़ते हैं और वे दिन भर इन्हीं कामों में फँसे रहते हैं। अतएव हम देहात में निःशुल्क शिक्षा का कितना भी उत्तम प्रबन्ध क्यों न करें किन्तु जब तक देहात की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन नहीं होता तब तक वहाँ के बच्चे पाठशालाओं में उपस्थित होने में असमर्थ हैं। इसीलिए मैंने रात्रि पाठशाला की योजना बनाई। इससे हमें एक और लाभ हुआ। उसी गाँव के निकट के प्रारम्भिक स्कूल के मास्टर श्री रामदास भाई उस रात्रि पाठशाला में अवैतनिक रूप से पढ़ाने को तैयार हो गये। इस प्रकार वस्त्र-स्वावलम्बन के साथ-साथ शिक्षा और गाँव की सफाई का कार्य होने लगा।

अखिल भारतीय चर्खा-संघ के मंत्री श्री शंकरलाल भाई जब मेरठ आये थे तो उन्होंने मुझे यह बताया था कि जिस क्षेत्र में वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्य होगा, उस क्षेत्र में चर्खा संघ या आश्रम की ओर से सूत की ख़रीद नहीं होनी चाहिए। मैंने वस्त्र-स्वावलम्बन के पण्डित श्री जेठालाल भाई से भी सम्मति ली तो उनकी बातों से श्री शंकरलाल भाई की ही बात प्रमाणित हुई। अतएव मैंने उस क्षेत्र की सूत-ख़रीद बंद करा दी। सूत-ख़रीद बंद हो जाने के पश्चात्

सूत न खरीदने की नीति की निष्फलता

रासना का कार्य शिथिल होने लगा और कुछ ही दिनों में उन दो-चार परिवार के लोगों को छोड़ कर, जिनके साथ हम लोग विशेष घनिष्ठता रखते थे, शेष सभी लोगों की सहानुभूति उस कार्य से समाप्त-सी हो गई। मैं रासना जाकर इस का कारण अध्ययन करने की कोशिश करता रहा। इस सम्बन्ध में उस गाँव तथा आस-पास के गाँवों के बहुत से लोगों से वार्तालाप किया। इससे मुझे जो कुछ अनुभव हुआ उससे इस क्षेत्र की जनता के प्रति मेरी धारणा बदल

गई। मैंने वहाँ के लोगों को अब तक जैसा समझ रक्खा था वैसा वे नहीं निकले। उनमें दिखाऊपन और स्वार्थपरता ही अधिक थी। आदर्श की बात उनकी समझ में नहीं आई। इसलिए अब मैंने सोचा कि जब तक हम इनके सूत का कुछ भाग ख़रीद नहीं लेते, तब तक इन में वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्यक्रम चलाना कठिन है। सदियों की शहरी और बाज़ारू सभ्यता हमारे ग्राम-समाज को ऐसी शैली में ढाल चुकी है कि आज कोई भी काम बगैर बाज़ारू मनोवृत्ति के करना कठिन हो गया है। हमारे किसान खेत में अनाज बोते हैं तो उनका ध्येय यही होता है कि इसे बाजार में बेचेंगे। इसलिए प्रायः वे उसी प्रकार की खेती करते हैं जिसकी वे बाज़ार के लिए आवश्यकता समझते हैं। इसका कारण यह है कि आज वे इस अवस्था को पहुँच गये हैं कि जितना अनाज वे स्वयं खाने के काम में लाते हैं, उसका कई गुना उन्हें दूसरों को देना पड़ता है और दूसरे लोग अपना पावना पैसे के रूप में ही लेते हैं। इसलिए किसान उस चीज़ की खेती के लिए तैयार नहीं होते जो बाज़ार में बिक न सके। हाँ, बाज़ार के लिए तैयार किये हुए माल का कुछ भाग अगर वे अपने इस्तेमाल के लिए बचा सके तो प्रसन्नता से बचा लेते हैं। अतएव इस इलाके में घूमने पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि हमें वस्त्र-स्वावलम्बन के कार्य में सफल होना है तो आवश्यक है कि उनके सूत के लिए बिक्री का बाज़ार खोल दें तथा प्रचार और शिक्षा-द्वारा उनको इस बात के लिए तैयार करें कि अपना कता हुआ सूत अधिक से अधिक अपने ही प्रयोग में लावें। इसके साथ ही एक बात और भी समझ में आई कि वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए अन्य प्रकार की आय में से कपड़े के लिए खर्च करना ठीक नहीं। क्योंकि इस कार्य के लाभ को वे तभी समझ सकते हैं जब उन्हें इसके लिए कुछ खर्च न करना पड़े। इस स्थिति में हम उनको समझा सकेंगे कि वे कपड़े के लिए घर का कितना अनाज बाहर भेज देते हैं। यह तभी हो सकता है जब उनकी खादी के तैयार

होने का अन्य व्यय उनके बढ़ती सूत की बिक्री से ही प्राप्त हो जाय। इन सब बातों पर दृष्टि डालने के पश्चात् मुझे स्वावलम्बन-क्षेत्र में सूत न ख़रीद करने की पद्धति भ्रमपूर्ण प्रतीत हुई। इसलिए मैंने पुनः वहाँ का सूत ख़रीद लेने की क्रिया का प्रचलन कर दिया। दूसरी बाधा बुनाई की थी। उस देहात में कुछ ऐसे बुनकर थे जो २७ इंच अरज़ का कपड़ा बुना करते थे। वहाँ के लोग उनसे पहले भी दोहर आदि के लिए मोटे कपड़े स्वयं बनवा लिया करते थे। कुछ दिन प्रचार करने के पश्चात् और बुनाई कताई की शिक्षा देने के बाद लोग बारीक सूत भी कातने लगे और धोती आदि बनवाने का आग्रह करने लगे।

श्याम जी भाई साबरमती आश्रम में कई वर्ष तक बुनाई का काम सीख चुके थे। उस गाँव के निकट का ही एक बुनकर आश्रम की खादी बुना करता था। उसी को श्री श्याम भाई की संरक्षकता में लम्बी अरज़ का कपड़ा बुनने को देकर गाँव वालों की माँग पूरी करने की व्यवस्था की गई। श्री श्याम जी भाई के द्वारा उस बुनकर की कठिनाइयां भी सुलझ जाती थीं। इस प्रकार धीरे-धीरे वहाँ के लोग स्वावलम्बी होने लगे।

कुछ दिन पश्चात् श्री श्याम जी भाई अपनी स्त्री गुलबदन बहिन और अपनी छोटी बच्ची को भी वहाँ पर ले आये और उस गाँव के निवासी एक मित्र के घर के एक भाग में रहने लगे।

टाँडा के देहात के वर्णन-क्रम में मैं तुमको लिख चुका हूँ कि गाँव का पुनर्गठन तब तक असम्भव है जब तक वहाँ की स्त्रियां शिक्षित न कर दी जायँ और उनका सुधार न हो जाय। गुलबदन बहन के वहाँ पर पहुँच जाने से मुझे इस दिशा में भी कुछ करने का अवसर मिल गया। एक दिन मैंने रासना गाँव के अपने प्रिय लोगों को बुलाया और उन्हें यह समझाया कि प्राचीन काल में हमारे देश की स्त्रियाँ कैसी रहीं और आज कैसी हो गई हैं। मैंने बताया कि संसार और समाज का

मूल संगठन इन्हीं लोगों के हाथ में है। जब तक ये नहीं चाहतीं तब तक हम और आप चाहे कितनी भी कोशिश करें समाज को एक पग या इंच भी आगे नहीं बढ़ा सकते। किसी

स्त्रियों का शिक्षण और सुधार

गृहस्थी में पुरुष चाहे जितनी भी आय करे, और चाहे कितना भी उत्तम प्रबन्ध करे किन्तु अगर स्त्री अयोग्य और संयमहीना हुई तो सारा घर नाश हो जाता है। दूसरी ओर अगर कोई कितना भी ग़रीब क्यों न हो किन्तु यदि स्त्री सुप्रबन्धकारिणी हुई तो घर की रक्षा हो जाती है। इन्हीं घरों और गाँवों की समष्टि का ही नाम समाज या संसार है। उन लोगों ने मेरी बातें समझ लीं और इस दिशा में उत्साह दिखाने लगे। हम लोगों ने आपस में सलाह करके, जिस घर में श्याम भाई रहते थे, उसी घर के एक दालान में स्त्रियों को चर्खा, पढ़ना और अन्य प्रकार की शिक्षा देने के लिए एक महिला-विद्यालय खोल दिया। किन्तु उसमें केवल लड़कियों ने ही आना प्रारम्भ किया। घर की औरतें और बहुएँ नहीं आती थीं। हमने यह सोच कर कि स्त्री-शिक्षा की दिशा में कुछ न कुछ तो हो ही रहा है, इतने पर ही संतोष किया और उन्हीं को लेकर विद्यालय चलाने लगा। किन्तु मैं जब जब रासना जाता था और वहाँ के लोग मुझ से मिलते थे तब तब उनसे कहता था कि आप लोग लड़कियों को सिखा कर तो दूसरों के घर भेज देंगे, किन्तु आप लोगों के इतने परिश्रम का लाभ कुछ आप लोगों को भी तो मिलना चाहिए और जब तक आप अपनी बहुओं की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं करेंगे, तब तक आप के गाँव में किसी प्रकार का सुधार होना सम्भव नहीं। वे लोग मेरी बातों का समर्थन तो करते थे, किन्तु उनके घरों से कोई भी स्त्री अन्त समय तक विद्यालय में नहीं आई। अगर कभी कोई आती भी थी तो केवल विद्यालय देखने की भावना से और गुलवदन बहिन के साथ ग़प्प लड़ाने के अभिप्राय से। मैंने गुलवदन बहिन से कहा कि आप उन्हें अपने घर की सफ़ाई दिखाइए

और उनके घरों में जाकर देश के सम्बन्ध में, स्वच्छता और उनके कर्तव्यों के सम्बन्ध में बात-चीत किया करें। इस प्रकार इस ढंग से कुछ-कुछ स्त्री शिक्षा का काम भी होने लगा।

धीरे-धीरे महीने पर महीने बीतने लगे और उत्तरोत्तर आश्रम के प्रति गाँव वालों की सहानुभूति में वृद्धि होने लगी और योजना के एकाध एकदेशीय कार्य-क्रम उन्नति करते रहे। किन्तु जो योजना हम लोगों ने कश्मीर में बनाई थी, उसको सक्रिय रूप देने का अभी तक कोई मौका नहीं मिला और देहात के मध्य में केन्द्रीय आश्रम बना कर ग्रामीण-समाज के सर्वाङ्गीण पुनर्सङ्गठन की कल्पना अब तक कल्पना ही बनी रही। मैं इस योजना को कार्य रूप में परिणत करने का अवसर ढूंढ़ा करता था किन्तु इसके लिए यह आवश्यक था कि मैं पर्याप्त समय तक रासना रह सकूँ। अतः मैंने विचार किया कि यदि श्री अविनाश भाई प्रधान कार्यलय का कार्य चला लें तो मुझे काफी समय तक गाँवों में रहने की सुविधा मिल जायगी। इसी ध्येय से मैं अविनाश भाई को रासना ले गया और उनसे अपनी योजना के सम्बन्ध में बात-चीत की। उन्होंने मुझे निश्चित आश्वासन दिया कि आप अपनी इच्छानुसार निश्चित समय तक रासना गाँव में रह सकते हैं। फिर क्या था? मैं रासना में ठहर गया और इस क्षेत्र के विशेष विशेष व्यक्तियों से अपने कार्य-क्रम के विषय में चर्चा की। उन लोगों ने मुझे काफी उत्साहित किया और रासना के दो-तीन मित्रों ने गाँव से कुछ दूर मुझे लगभग दस बीघे जमीन दान कर दी। इस स्थान पर लगभग १०० बीघे परती जमीन थी जो उसी गाँव के लोगों की थी। गाँव वालों ने आश्वासन दिया कि आप आवश्यकता पड़ने पर और अधिक जमीन ले सकते है। जिन मास्टर साहब ने रात्रि-पाठशाला में रात को पढ़ाने का भार उठाया था, उन्होंने तो आश्रम के ही हाते में घर बना कर सपरिवार रहने का वादा किया। इस के लिए श्री शंकर-लाल भाई ने १८००) की स्वीकृति चर्खा संघ से आश्रम को प्रदान की

और हम लोगों ने वहाँ आश्रम वनवाने का निश्चय कर लिया।

इसी समय चर्खा संघ का कार्य आश्रम की सुपुर्दगी में आ गया और श्री विचित्र भाई, जो इन दिनों चर्खा संघ के मंत्री का कार्य कर रहे थे, मेरठ आ गये और आश्रम के प्रधान कार्यालय का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। इस प्रकार मुझे आशा हो गई कि मैं अव अवकाश पाकर ग्राम सेवा का कार्य-भार लेकर पुनः रासना में बैठ सकूँगा। किन्तु ऐसा हो नहीं सका।

इसी समय सन् १६३० के सत्याग्रह की लड़ाई छिड़ गई। चारों ओर से खादी की माँग वन्द हो गई। इधर चर्खा संघ की जिम्मेदारी आश्रम के सिर पर आ पड़ने से आश्रम पर वहुत वोझ पड़ गया और आश्रम के खादी उत्पत्ति के कार्य से मुझे छुट्टी न मिल सकी। मुझे मेरठ क्षेत्र के वाहर के केन्द्रों की देख-भाल करने का काम मिला था। तीन-चार माह की अवधि में जव कार्य कुछ संगठित हो चला और मुझे पुनः छुट्टी मिलने की आशा हुई तो अचानक श्री शंकरलाल भाई मेरठ आये। और बंगाल के अभय आश्रम के सभी कार्यकर्ताओं के जेल चले जाने के कारण आश्रम से मेरी सेवा अभय आश्रम के लिए मांगी। फलतःउसी समय वङ्गाल चला जाना पड़ा और जो रूप मैंने रासना का सोच रक्खा था, वह नहीं हो सका। इधर कुछ दिनों वाद श्री श्याम जी भाई भी गिरफ़ार कर लिये गये। इसलिए वहाँ के काम को और भी धक्का लगा और आन्दोलन के दिनों में लगभग नहीं के वरावर रह गया। कालान्तर में कुछ नौसिखुये कार्य-कर्त्ता आश्रम की ओर से वहां भेजे गये, किन्तु अनुभवी कार्य-कर्त्ता के अभाव में वहाँ के कार्य में उन्नति नहीं हो सकी। सन् १६३१ में मुझे अभय आश्रम से छुट्टी मिल गई और मैं पुनः आश्रम की सेवा में लौट आया। एक वार फिर रासना को पुनर्गठित करने की कोशिश की किन्तु आश्रम मुझे सर्वदा के लिए वहाँ बैठने का समय न दे सका प्रत्युत दो-एक कार्य-कर्त्ता वढ़ाकर वहाँ के कार्य-विकास का प्रयत्न किया-गया। दादा

और विचित्र भाई भी इस काम में दिलचस्पी लेने लगे और वहां भेजे गये कार्य-कर्त्ताओं को बराबर चेतावनी देते रहे। मैं बाहर के केन्द्रों का दौरा करता रहा इसलिए मेरा सम्पर्क रासना से टूट गया। फिर मैं उस देहात में नहीं जा सका। इसी समय सन् १६३२ की लड़ाई छिड़ गई। विचित्र भाई आदि बहुत से कार्यकर्ता जेल चले गये और रासना का काम ज्यों का त्यों पड़ा रह गया। जो लड़के उस केन्द्र में काम करते थे; वे सब भी गिरफ्तार कर लिये गये।

यह पत्र योंही कुछ बड़ा हो गया है। इस समय रात भी अधिक जा चुकी है इसलिए इसे और बढ़ाने को जी नहीं चाहता। अतः आज यहीं समाप्त करके सो जाता हूँ। दूसरे दिन रासना की शेष कहानी लिखूँगा। इति।

---

[१८]

रासना की शेष कथा

२६—८—४१

उस दिन मैं रासना की कहानी लिखते-लिखते सो गया था अतएव आज फिर उसकी कुछ शेष बातें लिखूँगा। सन् १६३२ ई० के आन्दोलन-काल में गांधी जी के निर्देशानुसार आश्रम आन्दोलन से अलग रक्खा गया था, फिर भी यह सरकार के दमन-चक्र से बच न सका था।। आश्रम के कितने ही केन्द्र सरकार-द्वारा ज़ब्त कर लिये गये थे। इन्हीं में रासना भी सम्मिलित था। इसके बन्द हो जाने से आश्रम की ओर से उस देहात का कार्य बन्द सा हो गया था। किन्तु अब फिर अन्दोलन कुछ-कुछ दब चुका था, विचित्र भाई जेल से छूट कर आ गये थे और हम लोग पुनः देहात के कार्य के पुनर्सङ्गठन के विषय में चर्चा करने लग गये थे। लड़के भी जेल से छूटकर आ गये थे। इसी अवधि में हजारीबाग जेल से दादा का लिखा हुआ विचित्र

भाई के नाम एक पत्र आया जिसमें उन्होंने देहात के काम पर जोर देने को लिखा था और कार्य का एक निश्चित ढंग भी लिख भेजा था। उनकी कल्पना थी कि गांवों के मध्य एक हाई स्कूल खोलकर और उसी को केन्द्र बनाकर हर प्रकार की सुधार-योजना का कार्य-क्रम चलाना होगा। दादा का यह पत्र पढ़ कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई क्योंकि उन्होंने खास विचित्र भाई पर ही इस प्रोग्राम का भार दिया था। इसलिए विचित्र भाई ने प्रधान कार्यालय का उत्तरदायित्व नहीं लिया। मुझे इस बात से भी प्रसन्नता हुई कि जब आश्रम के सब से बड़े उत्तरदायी भाई गांव में जाकर बैठेंगे तो आश्रम के कार्य-क्रम में ग्राम-संगठन का ही कार्य प्रधान हो उठेगा और हम लोगों को भी धीरे-धीरे देहात में जाने का अवसर मिलेगा। तुम्हें मैं पहले ही लिख चुका हूं कि प्रारम्भ से ही मेरी यह धारणा हो गई कि मैं देहात में रहकर काम करूँ। लगभग दो वर्ष तक टांडा और अकबरपुर में रहने के कारण वह धारणा और भी दृढ़ हो गई थी। इधर तीन-चार वर्ष तक दफ़्तर के कार्य में व्यस्त रहने के कारण इस अवधि में यह भावना कुछ दब-सी गई थी। किन्तु जब से रासना का कार्य प्रारंभ हुआ तब से देहात मे कार्य करने की इच्छा फिर बलवती होती गई। अब तक मुझे स्थायी रूप से गाँवों में रहने का अवसर नहीं मिला था। आश्रम के विविध प्रकार के कार्यों में फँसा रहना पड़ता था अतएव जब दादा ने विचित्र भाई को उपर्युक्त पत्र लिखा तो मेरा प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था। सरकार ने जब रासना केन्द्र वापिस दिया

रासना केन्द्र का अन्त

तब मैंने विचित्र भाई पर वहाँ बैठने के लिए ज़ोर दिया। विचित्र भाई भी तैयार हो गये और रासना चले भी गये, किन्तु कुछ समय बाद कई कारणों से बाध्य हो कर उन्हें मेरठ वापस चला आना पड़ा। फिर वे मेरठ से ही आश्रम के कुछ लड़कों को भेज कर वहाँ का काम चलाने लगे; किन्तु इस ढंग से वहां का कार्य आगे

न बढ़ सका और परिस्थिति इस अवस्था तक पहुँच गई कि कुछ समय पश्चात् उस केन्द्र को बन्द कर देने का प्रस्ताव रक्खा गया। शुरू-शुरू में मैंने इसका विरोध किया किन्तु मुझ पर आश्रम की ओर से खादी भण्डारों की ज़िम्मेदारी आ पड़ी और निकट भविष्य में गांव की ओर जाने की कोई आशा नहीं दिखाई दी अतएव जब रासना के विषय में दूसरी बार उसके तोड़ने का प्रस्ताव आया तो मैंने पक्ष में ही राय दी। फल यह हुआ कि रासना का काम बन्द कर दिया गया। अब मैंने देहात की बातों को अपने दिमाग़ से दूर कर सारा ध्यान बिक्री भण्डारों की व्यवस्था में ही केन्द्रित कर दिया। इस प्रकार पुनः मुझे गांव की बातें भूल जानी पड़ीं।

इस समय मेरा स्वास्थ्य सुधर रहा है, किन्तु दैनिक कार्यों में कुछ शिथिलता आ गई है। कुछ लोग देवली को रवाना हो रहे हैं और कुछ इधर-उधर तब्दील हो रहे हैं। अभी तीन-चार दिन हुए बाहर से एक भाई आये हुए थे; उन्होंने बताया कि १०० नज़रबन्द अन्य जगहों को भेजे जांयगे। इसलिए जेल में दिन-रात "कौन जायगा, कौन नहीं" की ही चर्चा रहा करती है। तीन-चार महीने तक सब के एक साथ रहने के कारण आपस में प्रेम का गहरा सम्बन्ध उत्पन्न हो गया। अब लोगों का तितर-बितर हो जाना बुरा लग रहा है। लेकिन जेल को यह सब माया तो लगी ही रहती है। इसलिए मैं अपने कार्य-क्रम में पुनः जुटने की कोशिश कर रहा हूँ। चर्खा का क्रम नियमित रूप से चल रहा है। सबको नमस्कार। इति।

---

[१६]

सेवा का निश्चित कदम

३१—८—४१

सन् १९३० और १९३२ के आन्दोलन ने आश्रम के बहुत से भाइयों को जेल में भर दिया। इसलिए हम बाहर के लोगों पर अधिक

जिम्मेदारी पड़ गई थी। आन्दोलन के पश्चात् सन् १९३३-३४ में राजनीतिक वायुमण्डल शिथिल पड़ने के कारण कार्य की प्रगति में शिथिलता आ गई थी। ठीक इसी समय मुझे बिक्री भण्डार और प्रचार-कार्य की जिम्मेदारी मिली। अतः परिस्थिति का सामना करने में २ वर्ष तक काफी परिश्रम करना पड़ा। मेरा स्वास्थ्य आन्दोलन-काल में ही बिगड़ चुका था; उक्त परिश्रम वह सहन न कर सका और मैं नितान्त अशक्त हो गया। आश्रम के लोगों ने मुझे साल भर तक विश्राम करने की सलाह दी और आदेश दिया कि आप ही कार्य-क्षेत्र से कहीं अलग चले जावें। उन दिनों मैं अकबरपुर में था। दादा ने मुझे कराची जाकर कीकी बहिन के साथ रहने की सलाह दी। पहले तो मुझे कराची जाना ठीक प्रतीत हुआ किन्तु बाद में मेरी राय बदल गई। कराची का समाज मेरे लिए अनुकूल नहीं था; उस प्रकार के समाज से मैं सर्वथा विमुख हो चुका था। घर का समाज भी मुझे पसन्द नहीं था अतः वहां जाकर भी अधिक दिन तक रहना मैंने उचित नहीं समझा। इस विश्राम-काल को कहां जाकर व्यतीत करूँ यही सोचा करता था। एक बार विचार हुआ कि अभय आश्रम में क्यों न चला चलूं? किन्तु वह भी जब्त हो चुका था। इसी चिन्ता में एक महीना समाप्त हो गया। इसी समय बनारस में खादी और स्वदेशी प्रदर्शनी का संगठन हो रहा था। बनारस के आश्रमीय भाइयों ने आग्रह किया कि मैं वहां अवश्य जाऊँ। फलतः मुझे बनारस जाना पड़ा। बनारस में परिश्रम अधिक करना पड़ा जिससे मेरा स्वास्थ्य और भी चिन्त्य हो गया।

स्वास्थ्य का दिवाला

अपनी निर्बलता देख कर और विश्राम के लिए अब तक किसी समुचित स्थान का निश्चय न कर सकने के कारण मुझे कुछ निराशा-सी प्रतीत होने लगी। रात को नींद तो आती ही न थी इसलिए दिमाग चक्कर खा-खाकर इसी समस्या का समाधान किया करता था। सोचते-

सोचते एक दिन एकाएक यह विचार उठा कि क्यों न किसी देहात में चल कर आसन जमाऊँ। वहां का वातावरण मेरे विशेष अनुकूल होगा और विश्राम के दिनों में भी गांव वालों की कुछ न कुछ सेवा तो कर ही सकूंगा। इस प्रकार यह विश्राम का समय बिल्कुल व्यर्थ नहीं जायगा।

गाँव में विश्राम का निश्चय

दादा भी बनारस आये हुए थे; मैंने अपना यह विचार उनके सामने रक्खा और उन्होंने इसका निर्णय हमारी स्वेच्छा पर छोड़ दिया। मैंने उसी दिन अकबरपुर वालों को गाँव तलाश करने को लिख दिया और यह भी लिख दिया कि गांव तलाश करते वक्त निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना होगा :—

१—गांव छोटा हो, साफ हो, तथा अच्छे जलवायु वाला हो।

२—उस क्षेत्र में कांग्रेस आदि का काम न हो। जिससे मुझे किसी अन्य प्रकार के कार्य-क्रम में न फँसना पड़े।

३—गांव का मुखिया सभ्य और सहानुभूतिपूर्ण हो।

४—जहां तक सम्भव हो गांव नदी के किनारे आबाद हो। इसी प्रकार की कुछ और भी शर्तें थीं जो इस समय स्मरण नहीं आ रही हैं।

तदनुसार अकबरपुर के भाइयों ने रणीवाँ गांव का चुनाव किया। एक सप्ताह पश्चात् जब मैं अकबरपुर गया तो उन लोगों ने मुझसे कहा कि जिस गांव का चुनाव किया गया है, उसमें नदी के अतिरिक्त सभी शर्तें पूरी हो जाती हैं। मैं तो गांव में जाने के लिए उत्सुक था ही इसलिए तुरन्त अकबरपुर से रणीवां के लिए रवाना हो गया। मेरे साथ रणीवां गांव का निर्वाचन करने वाला लाल सिंह नाम का कार्यकर्ता भी था। यह पहले ही निश्चय हो चुका था कि मेरे साथ लाल सिंह और कर्ण जांयगे और मेरे वहां पूर्ण रूप से स्थिर हो जाने के पश्चात कर्ण वहां से लौट आयेगा।

रणीवाँ का चुनाव

गुसाईंगंज पहुँच कर मैं एक मन्दिर में रुक गया और लालसिंह रणीवां मकान का प्रबन्ध करने चला गया। रणीवां के एक ब्राह्मण ने अपने दो कमरे, जिनसे वह भूसा रखने और घोड़ा बांधने का काम लेते थे, हमें प्रदान किये और लालसिंह उन कमरों को कुछ साफ-सुथरा करके वापस लौट आया। तत्पश्चात् हम लोग जाकर रणीवां में बैठ गये और तीनों व्यक्ति मिल कर अपने रहने के स्थान की दुरुस्ती में लग गये।

रणीवां गुसाईंगंज से ५ मील दक्षिण की ओर है। आने-जाने की सड़क भी ठीक नहीं है। लोग उस क्षेत्र को वज्र देहात कहा करते हैं। सन् १९२३-२४ में मुझे इसी फैजाबाद ज़िले की टांडा तहसील के देहात में भ्रमण करने का अवसर मिला था। अगस्त सन् १९२४ में मैंने पैदल वह भ्रमण प्रारम्भ किया था। दस वर्ष के पश्चात् ३१ दिसम्बर सन् १९३४ को उसी ज़िले के इस गांव में आकर स्थायी रूप से बस गया। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। उससे पांच वर्ष पूर्व मैंने रासना के क्षेत्र में बैठने का प्रयत्न किया था, किन्तु उस समय अवसर न प्राप्त हो सका था। किन्तु आज अपनी आकस्मिक बीमारी के कारण बरसों की दबी हुई इच्छा पूरी हो गई। मनुष्य-जीवन में कभी-कभी शाप भी वरदान का रूप प्राप्त कर लेता है। दूसरे दिन हम लोग दिन भर गांव के चारों ओर घूमते रहे। चना, मटर और गेहूँ के खेतों की मेड़ों पर घूमने से मुझे एक-एक करके पुरानी बातें याद आने लगीं। अवध प्रान्त की वही टूटी-फूटी झोपड़ियां, वही हवा और पानी, वही बोली तथा उसी प्रकार की रहन-सहन देखकर हृदय प्रसन्नता से ओत-प्रोत हो गया। दो ही-चार दिन के पश्चात् मैं चंगा होने लगा। आज तबीयत कुछ ठीक नहीं प्रतीत हो रही है। इसलिए पत्र यहीं समाप्त कर रहा हूँ। आशा है तुम लोग कुशल-पूर्वक होगे। मैं कुशल से हूँ। तालीमी संघ का केन्द्र उड़ीसा में खोलने के सम्बन्ध में लिखा था, उसका क्या हुआ? रणीवां का प्रोग्राम तो रुक ही गया। देखो, कब होता है? नमस्कार। इति।

[२०]

ग्राम-प्रवेश का तरीका

३—६—४१

रणीवां में अपने स्थान को ठीक रूप से रहने योग्य बना लेने में दो-तीन दिन लग गये। रहने के स्थान की दुरुस्ती से निश्चिन्त होने पर श्री करण भाई और लालसिंह भाई ने पूछा कि अब क्या प्रोग्राम होगा। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि आप तो अभी कमजोर ही हैं इसलिए आप बैठे-बैठे बताते रहें और हम लोग ग्राम-संगठन का कार्य प्रारम्भ कर दें। पिछले दिनों गांव में काम करने से मुझे यह अनुभव हो गया था कि गांव में जाकर तुरन्त ही गांव वालों से कुछ करने के लिए नहीं कहना चाहिए। क्योंकि मैं तुम्हें पहले ही लिख चुका हूँ कि गांव के लोगों को हम लोग जितना बेवकूफ़ समझते हैं उससे अधिक वे हमें समझते हैं। जिस समय शहर के पढ़े-लिखे कार्यकर्ता गांव की किसी सार्वजनिक सभा में भाषण कर उनके अज्ञान एवं उनसे पैदा होने वाली खराबियों का वर्णन कर और उन्हें दूर करने के उपाय बता कर चले जाते हैं उस समय अपने घरों को लौटती हुई जनता के साथ होकर उनकी आपसी बात-चीत सुनने में बड़ा आनन्द आता है। उनकी बातें निम्न प्रकार की होती हैं।

व्याख्यानबाजों के सम्बन्ध में गाँव वालों के विचार

एक देहाती—भैया, खूब लिक्चर दिहिन।

दूसरा—ठीक कहत हैं हमरे सब बड़े फूहर मनई होईं।

तीसरा—जभी त हिन्दुस्तान दुख उठावत है।

इसी बीच में एक कह उठता है, दुख तो पावत है, मुला यह जौन चश्मा पहिनिके आये रहिन, वे कौन सा काबिल मनई हवैं। दुइ अच्छर अँगरेजी पढ़ि लिहिन, दुनिया भर का उपदेश करे फिरत

हैं। हमरे सब का ज्ञान बतावत हैं।

दूसरा—"हा, भइया, जौन बाप दादा कै रिवाज रस्म रहे, तौन बेकार। इनके सब के जौन परदेसी विचार तौन भलां। आये हैं स्वदेशी कै प्रचार करै खातिर मुला दिलवा में सम्मै विलाइतिया भरे बैठे हैं।"

तीसरा—"हमका पढ़े कहत हैं, सफ़ाई राखे कहत हैं। तुहरे अस झोली भर रुपया रहत तो हमहू सब पढ़ कै और धोबी से कपड़ा धुलवा कै तुहूं ले बड़ के बड़बड़ाइत। यहां खाये बिना मरित हैं, ए आय कै नकशा काढ़त हैं!"

उनमें से एक और कहता है कि "वे कहत रहे कि व्याह-शादी में ढेर खरचा जिनि करो। आजा बाजा जौन जात है तौन कुल बेकार है, ई कुल टीम-टाम नाहीं करे के चाही। भला उनसे पूछौ तो कि तुहरे शादी में तुहरे माई-बाप हँड़िया अस मुँह करके बइठे रहे और तुहरे यहां लड़का-लड़की के व्याह-शादी मां दूल्हा-दुलहिन का लढ़िया में बैठा कै हांक देत हैं क्या?"

हम लोग जब देहात में जाकर देहात के लोगों को सुधरने का उपदेश देते हैं तो वे लोग हमारी बातों की इसी प्रकार दिल्लगी उड़ाते हैं क्योंकि वे अपने सदियों से जमे हुए रस्मो-रिवाज के सामने दूसरी बातें ऊँची नहीं मान सकते। इससे उनके प्रच्छन्न आत्माभिमान पर चोट पहुँचती है और उनकी आत्मा विद्रोही बन जाती है। मैंने टांडा के देहात में काम करते समय यह भी देखा था कि जिनको वे अपना समझते हैं उन्हीं की बात सुनने के लिए तैयार होते हैं। और जब दूसरे उनकी ग़लती बताने आते हैं तो वे उनको बरदाश्त नहीं करते। यह उनका स्वाभिमान ही है कि जितना वे अपने भाई की डाँट बरदाश्त करेंगे उतना पड़ोसी की नहीं करेंगे। और जितना पड़ोसी का सहन करेंगे उतना किसी दूसरे बाहरी आदमी का नहीं। इसलिए मैंने अपने साथियों से कहा कि इस समय हमारे सामने

कोई प्रोग्राम नहीं है। गाँव में रहना और यहाँ बस जाना ही हमारा प्रोग्राम है। इस प्रकार हम लोग दिन भर गाँव में रहने का ही प्रोग्राम चलाने लगे। सबेरे उठना, चक्की चलाना, पानी भरना, भोजन बनाना, कपड़ा धोना, अपने स्थान तथा आस-पास की जगह को साफ़ रखना एवं चर्ख़ा चलाना इत्यादि कामों में तन्मय हो गये। गाँव के लोग हमारे पास आते थे, बैठते थे, बातें करते थे। हम लोग भी उनके घरों में जाते थे और बैठते थे। धीरे धीरे लोगों ने हमारे विषय में बहुत कुछ जान लिया और आस-पास के दो-एक गांवों से भी लोग हमें देखने आने लगे। किन्तु ऐसे लोग बहुत कम आते थे।

देहात के लोगों में यह ख़ास बात है कि किसी एक गाँव की घटनाओं से दूसरे गाँव वालों को कोई विशेष दिलचस्पी नहीं होती। गाँव में भ्रमण के समय कभी-कभी ऐसा अवसर आ उपस्थित होता था कि हमारे साथी लालसिंह गाँव के दक़ियानूसी ख्याल के लोगों से बहस करने लग जाते थे। मैं उनको रोकता था। कहता कि इस प्रकार के विवाद से लोग तुमसे विमुख हो जायँगे और तुम कुछ काम नहीं कर सकोगे। वह मेरी बातों से घबरा से उठते थे और कभी-कभी निराश हो कर कहने लगते थे कि यदि गाँव के लोग ऐसे ही अन्धकार में पड़े रहे तो हमारे यहाँ आने से ही क्या लाभ हुआ? क्या खाना बनाना, बर्तन मांजना और चक्की चलाना ही काम है? मैं उन्हें समझाता था, घबड़ाने की आवश्यकता नहीं, सब कुछ स्वतः हो जायगा। पहिले गांव के कुटुम्ब में तुम भी एक कुटुम्ब बनने का प्रयत्न करो। फ़िर धीरे-धीरे लोग जब हमारे सम्पर्क में आयँगे तो अपने-आप ख्यालात बदलने लगेंगे।

हमारे रहन-सहन की देखरेख

हम लोग जिस क्षेत्र में जाकर बैठे थे वह अयोध्या के समीप ही था; इसलिए वहां प्राचीन रूढ़ियों का अधिक प्रचलन था। लोग बहुत ग़ौर से देखा करते थे कि हम लोग क्या खाते हैं और किस तरह रहते हैं। मैं बंगाली था;

इसलिए लोगों में और भी उत्सुकता थी। हम लोगों के कुर्ता पहन कर भोजन करने के ढंग पर पर्याप्त टीका-टिप्पणी होती थी। हम लोग मिल कर एक साथ भोजन बनाते थे, यह भी उनके लिए एक विषम समस्या की बात रही। खाना खाने के पश्चात् चप्पल पहन कर हाथ धोने जाते थे, इस पर भी लोगों को काफी एतराज़ होता था। इस विषय पर हमसे गांव के लोग अत्यधिक वाद-विवाद किया करते थे। हम भी उनका उत्तर देने के लिए विचित्र-विचित्र सिद्धान्तों को जन्म देते थे। ऐसा करने में हमारा उद्देश्य यह रहता था कि उनके रस्मो-रिवाज पर आक्षेप किये बिना ही अपने विरुद्ध की जाने वाली टिप्पणी से अपनी रक्षा करते हुए अपने व्यवहारों के प्रति उत्पन्न हुई उनकी घृणा की प्रवृत्ति को क्रमशः कम करते चलें। क्योंकि यदि वे अपने परम्परागत आचारों में कोई परिवर्तन नहीं भी करते किन्तु हमारे व्यवहारों और आचार-विचार को समझते हुए हमें अपने समाज में ग्रहण कर लेते हैं तो भी हम उनके दकियानूसी विचारों को दूर करने में एक क़दम आगे ही बढ़ते हैं। हमारे आविष्कृत सिद्धान्तों को जब तुम सुनोगी तो तुम को बड़ी हँसी आयेगी। कपड़ा पहिन कर खाने के विषय में हम उनसे कहा करते थे कि हमारे देश के प्राचीन ऋषि महर्षि कोई बेवकूफ़ तो थे नहीं, उन्होंने जो रिवाज आप के लिए बनाया है वह ठीक है। आप लोगों को कपड़ा पहन कर नहीं खाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने में सफ़ाई नहीं रह सकती। क्योंकि आप लोग रोज़ नहाते समय धोती तो धोही लेते हैं किन्तु अन्य कपड़े नहीं धोते इसीलिए कुरता आदि पहन कर खाना मना कर दिया गया है। किन्तु हम लोगों के लिए यह बात लागू नहीं होती क्योंकि हम लोग नित्य स्नान करते समय अपने सभी इस्तेमाली कपड़े साबुन से साफ़ कर लिया करते हैं। इस ढंग से बात करने में दो लाभ होते थे। एक तो उनकी प्राचीन प्रणाली का सम्मान बना रहत और दूसरे

हमारा तर्क

यह कि समाज के प्रचलित आचार-व्यवहार केवल आचार के ही लिए नहीं हैं बल्कि उनके पीछे विचार भी मौजूद हैं और हर एक आचार के साथ विचार का होना अनिवार्य है, इन बातों की धारणा भी उनके मस्तिष्क में धीरे-धीरे उत्पन्न हो जाती थी। और साथ ही उन्हें सफ़ाई की महत्ता समझाना आसान हो जाता था।

एक साथ मिल कर खाने के विषय में उनसे कहता था कि हम लोग आप से तो नहीं कहने आते हैं कि आप भी हमारे साथ खाइये। आप अपना धर्म निबाहिए, हम अपना निभायें। हम लोग तो गाँधी बाबा की फ़ौज के सिपाही हैं। भला कहीं फ़ौज में भी पचास चूल्हे जलते हैं? इस प्रकार गाँव वालों ने धीरे-धीरे अपनी स्थानीय सामाजिक प्रथा के सर्वथा विरुद्ध हमारी रहन-सहन को स्वीकार कर लिया। और हम उत्तरोत्तर उनमें से एक बनने के निकटतर होते गये और गाँव के अन्य सभी परिवारों में हमारा भी स्थान होने लगा। स्त्रियां भी हमें कुटुम्बी ही जैसा देखने लगीं।

अब हम लोगों ने धीरे-धीरे गाँव में चर्खा चलवाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। तीन-चार चर्खे वहाँ पहले से ही चल रहे थे, हम लोगों की कोशिश से चर्खे बढ़ने लगे। चर्खा तो लोग कात लेते थे किन्तु रुई धुनने के लिए नहीं तैयार हुए। रणीवाँ गाँव ब्राह्मणों का था अतएव वे लोग ताँत छूने से धर्म चले जाने का ख्याल करते थे। हम लोग उन्हें बहुत समझाते भी थे, किन्तु वे किसी तरह स्वीकार नहीं करते थे।

चर्खा चला

अन्त में हमने उनके घरों में आटा चलाने वाली चर्मनिर्मित चलनी देखी। अनाज साफ़ करने का सूप भी ताँत से बँधा हुआ था। अब हमने उनको यह बताया कि आप लोग खाने-पीने की सम्पूर्ण सामग्री तो चमड़े और ताँत से मिला देते हैं किन्तु केवल ताँत को हाथ से छूने तक में एतराज़ करते हैं। मेरी इस दलील का जवाब गाँव की किसी स्त्री या पुरुष के पास नहीं था और इस प्रकार धीरे-धीरे उनमें

धुनाई का भी प्रचार हो चला।

पं० लालताप्रसाद मिश्र उस रणीवाँ गाँव के मुखिया थे और उन्हीं के आग्रह से हम लोग रणीवाँ आये थे। जब लालता प्रसाद जी हम लोगों के साथ. बैठ कर नियमित रूप से चर्खा चलाने लगे तब हमारा काम बहुत सरल हो गया। उनकी देखा-देखी गांव के अन्य लोग भी चर्खा कातने लगे। प्रारम्भ में गांव वालों की यह धारणा थी कि चर्खे के सूत से धोती और साड़ी नहीं बन सकती है। उनका यह सोचना स्वाभाविक भी था। क्योंकि उस गांव में जो दो-तीन चर्खे चलते थे, उनमें चार-पांच नम्बर का ही सूत कतता था और साधारणतया लोग उसे बेच दिया करते थे। हम लोगों ने यहां पर वस्त्र-स्वावलम्बन के ही उद्देश्य को दृष्टिकोण में रख कर कार्य प्रारम्भ किया था। जब पहले-पहल गांव के सूत से जनानी साड़ी बन कर रणीवां आई तो वहां के इतिहास में यह एक नवीन बात थी। गांव में वहीं कते जब लोगों ने सुना कि अमुक के घर में अमुक के सूत की पहली साड़ी सूत की एक धोती बुन कर आ गई है तो लोग तमाशा देखने के लिए इकट्ठा होने लगे थे। पर्दे के कारण जो स्त्रियां वहां नहीं आ सकती थीं, वे उसे अपने घर मँगा कर देखती थीं। इस तरह अपने सूत का कपड़ा पहिनते देख कर लोगों की अभिरुचि बढ़ने लगी और हमारे लिए भी चर्खा-प्रचार का एक साधन प्राप्त हो गया। और इस प्रचार से चर्खा सिखाने के क्रम में वहां की स्त्रियों और बच्चों से हमारी घनिष्ठता बढ़ने लगी।

मैं तुम्हें पहले ही लिख चुका हूँ कि देहात के काम करने के लिए योजनाओं की कमी नहीं है। कमी कार्यकर्ताओं की है। अगर गांव में जाकर बिना किसी प्रोग्राम और काम के भी बैठा जाय तो कुछ ही दिनों में हमें इतने काम आकर घेर लेंगे कि हमें यह निर्णय करना कठिन हो जायगा कि किस काम को पहले करें और किसे बाद में करें। रणीवां में भी देखते ही देखते चर्खा सिखाने की इतनी

माँग आने लगी कि हम लोगों को एक मिनट के लिए भी छुट्टी नहीं मिलती थी।

बस, आज यहीं समाप्त करता हूँ। रणीवां ग्राम का कुछ परिचय अगले पत्र में लिखने का विचार है। इति।

---

[२१]

समग्र-सेवा की ओर

४—६—४१

कल मैंने रणीवां का कुछ परिचय देने का वादा किया था। यों तो तुम स्वयं ही उस गांव में घूम आई हो, फिर भी विस्तार के साथ कुछ बातें बताना बुरा न होगा।

रणीवां गांव फैज़ाबाद जिले के ठीक मध्य में पड़ता है। गुसाईं-गंज स्टेशन से ५ मील दक्षिण बसी हुई ब्राह्मणों की यह छोटी सी बस्ती देखने में गांव नहीं प्रतीत होती। इसको पुरवा या टोला ही कहा जा सकता है। किन्तु तुम देख चुकी हो कि इधर के गांव यों ही बसे हुए हैं। जिस व्यक्ति का जिस स्थान पर अधिक खेत होता है, वह वहीं जा-कर बस जाता है और उसके नाम से उस पुरवा का नामकरण हो जाता है। परिवार बढ़ जाने पर जब दो-चार घर बढ़ जाते हैं तो वही पुरवा गांव कहलाने लगता है। रणीवां भी इसी तरह का एक गांव है। इसमें ६-१० घर ब्राह्मणों के तथा तीस-बत्तीस घर मज़दूर, अहीर, बनिया और बढ़ई, कुम्हार वगैरह के कुल मिला कर पचास घर होंगे। इतर जातियों के लोग ब्राह्मणों के असामी हैं और उन्हीं की सेवा-टहल किया करते हैं। ब्राह्मण लोग भीटी के ताल्लुके-दारों की अधीनता में पोख्तेदार हैं। ये लोग जमीन के मालिक होते हैं किन्तु लगान ताल्लुकेदारों को देते हैं। इस गांव के लोगों के पास

रणीवाँ की बस्ती

ज़मीन बहुत थोड़ी है जिससे वे किसी तरह अपना निर्वाह कर लेते हैं। कुछ दिन पहले यहां के कई व्यक्ति कलकत्ता और रंगून में नौकरी करते थे और बाहर की कमाई के पैसे से खेती की कमी को पूरा करते थे किन्तु आज कल तो केवल एक व्यक्ति के अतिरिक्त और कोई बाहर नहीं है। अवध की गरीबी को देखते हुए उस गांव को मध्यम श्रेणी का गांव कहा जा सकता है किन्तु साधारणतया उसे ग़रीब गाँव में ही परिगणित करना चाहिए।

यह गांव ऐसे स्थान पर बसा है कि इससे उत्तर और दक्खिन दोनों ओर नदी पड़ती है इसलिए यह बरसात के दिनों में शेष संसार से अलग हो जाता है। और सड़कों की सुविधा न रहने से बाहर से बहुत कम सम्बन्ध रह जाता है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और सरकारी विभाग के लोग इधर बहुत कम आ पाते हैं। इसलिए इस क्षेत्र को पिछड़ा हुआ इलाका कहा जाता है। आस पास के कई गांव ढूँढ़ डालने पर कहीं जा कर दो-एक लड़के मिलते थे। संसार से अलग रहने के कारण इस क्षेत्र में प्राचीन रूढ़िवाद का

बहुत पिछड़ा गांव

वातावरण अधिक देखने में आता था। गांव में केवल खान-पान के भेद-भाव के अतिरिक्त और कोई आन्दोलन देखने में नहीं आता था। कौन किसका निमंत्रण काटता है, इसी एक बात की चर्चा गांव वालों की दिलचस्पी का प्रधान विषय था। कांग्रेस की बातों से इन्हें स्वप्न में भी कोई सम्बन्ध नहीं था। हम लोगों के विषय में भी इन लोगो में तरह-तरह की कहानियों का विकास होता था। लोग आपस में कहा करते थे कि एक बंगाली बाबू आये हैं, कहीं बम् आदि बनाने का विचार तो नहीं है। कभी लोग कहते थे कि ये लोग जादू जानते हैं। एक बार बच्चो को तमाशा दिखाने के लिए मैं आतशी शीशे से काग़ज़ जला रहा था, इस पर गांव भर की औरतें यह कहती हुई इकट्ठा होने लगीं कि बंगाली बाबू जादू से आग लगा देते हैं। इस तरह की

विभिन्न कहानियां गांव में फैली हुई थीं। ऐसे पिछड़े हुए क्षेत्र के लिए यह सब स्वाभाविक ही था!

यद्यपि इस इलाके को कोई नई बात समझाना बड़ा कठिन कार्य था फिर भी मुझे यही जगह पसन्द आई। मैंने अपने साथियों से पहले ही कह दिया था कि ऐसे गांव की खोज की जाय जहां किसी प्रकार का सार्वजनिक कार्य न होता हो जिस से मुझे शान्ति प्राप्त हो सके। प्रारम्भ में मैंने केवल अपने स्वास्थ्य को ही दृष्टिविन्दु में रख कर ऐसा कहा था। किन्तु दो-तीन माह इस क्षेत्र में रहने के बाद मुझे

दकियानूसी दिमाग़ पर प्रेम और श्रद्धा से भरा हृदय

ज्ञात हुआ कि इस क्षेत्र के लोगों में अन्य जगहों की अपेक्षा भारतीय संस्कृति अधिक दिखाई देती है। अशिक्षित, मूर्ख और दकियानूसी ख्याल के होते हुए भी ये लोग श्रद्धा और प्रेम में अतुलनीय थे! इसलिए उत्तरोत्तर मुझमें उत्सुकता उत्पन्न होने लगी कि मैं इसी क्षेत्र में काम करूँ। मैंने उस क्षेत्र में स्वावलम्बन-कार्य के प्रसार के लिए एक योजना बना कर शंकर लाल भाई के पास भेज दी। श्री शंकर लाल भाई ने मेरी योजना स्वीकृत करते हुए मुझे पत्र लिखा। तदनुसार मैंने मेरठ को पत्र लिखा और वहां से स्वीकृति आ गई। रणीवां आने के समय यह निश्चय हुआ था कि कर्ण भाई मुझको रणीवां में बैठाकर अकबरपुर वापस चले जायँगे। इसलिए वे कभी अकबरपुर रहते थे और कभी रणीवां। किन्तु जब रणीवां में आश्रम की ओर से ग्रामसेवा-कार्य का केन्द्र खोलने का निश्चय हुआ तो ये भी स्थायी रूप से मेरे साथ रहने लगे।

इस प्रकार अब रणीवां, आश्रम की ओर से ग्राम-सुधार का स्थायी केन्द्र बन गया तो मैं उसके लिए स्थायी कार्य-क्रम सोचने लगा। मैंने तुम्हें लिखा था कि सदियों की गरीबी ने ग्रामीण लोगों को सर्वथा बेहोशी की अवस्था में पहुँचा दिया है, इसलिए जब तक हम उनके जीवन में चेतना का संचार नहीं करते तब तक उनमें कोई भी

कार्य-क्रम सफल नहीं हो सकता। जीवन-संचार के लिए यह अनिवार्य है कि हम उनके जीवन के प्रत्येक अंग की एक साथ सेवा करें। सन् १६२६ ई० में भी मैंने ग्राम-सेवा की जो योजना बनाई थी, उसकी कल्पना का आधार यही था कि हमें देहात के प्रत्येक पहलू को लेकर चलना होगा।। गांवों में कार्य करने से हमें इसका पर्याप्त अनुभव हो गया था कि हम किसी एक योजना को लेकर नहीं सफल हो सकते। यदि केवल गांव की स्वच्छता का ही प्रोग्राम लिया जाय तो हम जीवन भर गलियाँ ही साफ करते रह जायँगे और उनके जीवन में कोई परिवर्तन नही ला सकेंगे।' इसी प्रकार अगर हम कोई दूसरा ही प्रोग्राम लेकर चलें तो वह चाहे यन्त्र-वत् चलने में सफल भी हो जाय किन्तु उससे नव-जीवन-संचार का कार्य नहीं हो सकेगा। यदि हम केवल चर्खा ही चलवाते रहे तो ग्रामीण जनता को कुछ थोड़े से पैसे तो अवश्य दिला सकेंगे किन्तु बापूजी चर्खे के द्वारा ग्रामीण-समाज में जो परिवर्तन लाना चाहते है, वह नहीं हो सकेगा। गाँव के लोग सूत कात कर हमारे पास लायेंगे और हम उन्हें पैसा दिया करेंगे। इस प्रकार उनकी अवस्था ठीक वही हो जायगी जो हमने सी० पी० के बिलासपुर और गोंदिया में देखी थी कि वहां के हज़ारों व्यक्ति बीड़ी बनाकर रोजी कमाते हैं, किन्तु उनमें कोई चेतना नहीं उत्पन्न होती।

ग्रामसेवा का आधार-बिन्दु

सन् १६२६ ई० में बापू जी इस प्रान्त का दौरा करने के क्रम में मेरठ आये हुए थे। हम आश्रमी लोग उनसे एक दिन का समय अलग लेकर अपनी अपनी शंकाएँ उनके समक्ष उपस्थित कर रहे थे। इस सम्बन्ध में बापू जी ने कहा था कि "यदि तुम लोगों ने कत्तिनों से सूत लेकर खादी बेच दी तो तुमने कुछ नहीं किया। तुम्हें प्रत्येक कत्तिन को स्वराज्यवादिनी बना देना है।" बापू जी की ध्वनि हमारे कानों में अब तक गूँजती रही और इस बात का क्षोभ

बना रहा कि हम लोग अब तक उनकी इच्छानुसार काम नहीं कर सके। यद्यपि मैंने योजना तो वस्त्र-स्वावलम्बन की ही बनाई थी किन्तु विचार था कि ग्राम-संगठन के सर्वाङ्गीण कार्य-क्रम को कार्य रूप में ग्रहण करूँगा। इसका अर्थ तुम यह न समझ लेना कि हम लोग एक ही दिन में सभी कार्य करने लग गये थे, या एक काम करते-करते दूसरे में कूद पड़ते थे। हमने अधिकतर देखा है कि लोग देहात में जाकर ग्रामीणों की अनेकविध परेशानियां देख कर घवड़ा से उठते हैं और उस घबराहट में कभी कुछ और कभी कुछ करने लग जाते हैं। इस प्रकार भी ग्रामीणों की सेवा नहीं हो सकती। इससे तो हमारी शक्ति और हमारे साधन धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं और ग्रामीण जनों को कोई स्थायी लाभ नहीं पहुँच पाता और अन्त में काम बन्द कर देना पड़ता है। अन्ततोगत्वा उन्हें कहना पड़ता है कि जब तक हम शासन का पूरा-पूरा अधिकार अपने हाथ में नहीं कर लेते, तब तक ग्राम-संगठन आदि की बात करना पागलपन मात्र है। उनका ऐसा कहना स्वाभाविक ही है क्योंकि जब हम अपनी भीतरी शक्ति का विश्वास खो बैठते हैं तो हमारे लिए बाह्य-शक्ति पर भरोसा करना अनिवार्य सा हो जाता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि हम प्रारम्भ में प्रधानतः एक ही मुख्य प्रोग्राम लेकर गाँव में जाते हैं तथापि जब तक हम गांव की सर्वाङ्गीण समस्याओं का अध्ययन कर उनके सुधार कार्य-क्रम को उस मुख्य कार्यक्रम से समन्वित नहीं कर देते तब तक वह मुख्य प्रोग्राम भी निर्जीव सा ही रहता है। इसीलिए यद्यपि हमने वस्त्र-स्वावलम्बन के ही प्रोग्राम को लेकर रणीवां में कार्य करना प्रारम्भ किया था तथापि उस क्षेत्र की प्रत्येक समस्या को समझने की कोशिश करता रहा। हम इस अनुसन्धान में लगे रहे कि इन समस्याओं के क्या क्या समाधान हो सकते हैं तथा उन्हें किस प्रकार मुख्य प्रोग्राम से समन्वित किया जा सकता है। किन्तु किसी

निराशा हमारे ग़लत दृष्टिकोण का परिणाम

भी प्रोग्राम को एकाएक हाथ में लेने की जल्दबाज़ी नहीं की। प्रारंभ में जब रणीवां आया और साथियों ने प्रोग्राम के लिए उत्सुकता प्रकट की तो मैंने उनसे कहा था कि गांव में गांव वालों की तरह रहना ही प्रोग्राम है। क्योंकि हमें यह विश्वास हो गया था कि अगर हम गांव में ग्रामीण बन कर रहने लग जायेंगे और अपने दृष्टिकोण को वहां की समस्याओं के प्रति सजग रक्खेंगे तो कार्यक्रम सहज रूप से हमारे सामने आते जाएँगे। और जो काम स्वभावतः जिस क्रम से हमारे सम्मुख आवेगा उसी क्रम में काम करना उस क्षेत्र के लिए सर्वोचित ढंग होगा। इसलिए प्रारम्भ में हम उन्हें चर्खा चलाने तथा अपने सूत के बने हुए कपड़े पहिनने की शिक्षा देते रहे। उनके साथ उठते-बैठते तथा उनसे विभिन्न प्रकार के वार्तालाप करते समय देश की परिस्थिति तथा उसके प्रति गांव वालों के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में भी बात-चीत किया करते थे।

इस प्रकार रणीवां में रहते रहते दो-तीन महीने कट गये। रणीवां के सम्बन्ध में इतना काफ़ी है। अब कुछ जेल का वृत्तान्त सुनो। इस साल यहां वर्षा कुछ नहीं हुई। इसलिए बाहर चाहे जो कुछ हो यहां तो मौज ही मौज है। आजकल लोगों के दिमाग में छूटने की धुन

हम कितने दुर्बल हैं

खूब समाई हुई है। कहीं कोई वक्तव्य देता है तो लोग झट समझते हैं कि अब छूटे, छूटे। इतना उतावलापन देखकर मैं परीशान हो जाता हूँ। हममें कितनी कमजोरी है, इसका पता तो जेल में ही लगता है। हम स्वयं कष्ट उठाना नहीं चाहते। चाहते हैं, देहात की जनता कष्ट उठावे और हम नेता बने रहें। ख़ैर, यह सब तो चलता ही रहता है। देखो, हमारे देश की क्या गति होती है। सब को मेरा नमस्कार कह देना। इति।

---

[२२]

सफाई की योजना

६—६—४१

मैं पिछले पत्रों में तुम्हें लिख चुका हूँ कि प्रारंभ में हमारा ध्येय केवल यही था कि हम ठीक ढंग से रणीवां में बस जायँ तथा धीरे-धीरे ग्राम-सेवा के काम में भी आगे बढ़ते रहें। हम लोगों का केवल ग्राम-वास ही गांव वालों को बहुत सी बातें सिखाता था। हमारा चक्की चलाना, खाना बनाना, मकान की मरम्मत करना, वर्तन मांजना और अपने रहने के स्थान के निकट सफ़ाई करने आदि कामों को लोग बहुत ध्यान से देखा करते थे। लोग यह सोच नहीं सकते थे कि भले घर के व्यक्तियों का और वह भी पुरुषों का यह सब काम करना सम्भव है। जब हम लोग सफाई आदि का काम करते थे तो कभी-कभी गांव के कुछ लड़के भी शौकिया हमारे साथ हो लेते थे। इस प्रकार उनके मस्तिष्क से इन कामों के प्रति घृणा की भावना धीरे-धीरे अप्रत्यक्ष रूप से हटती जा रही थी। गांव के मुखिया श्री लालता बातों ही बातों में एक दिन मुझ से कहने लगे कि "धीरेंद्र भाई, आप लोगों के आने से हम लोगों की कपड़े की समस्या तो धीरे-धीरे हल हो रही है। और इससे चाहे जितना लाभ हुआ हो, किन्तु एक बात का विशेष लाभ यह दिखाई दे रहा है कि अब हमारे यहां के लड़के अपने हाथ से कोई काम करने में बेइज्जती नहीं महसूस करते। सबेरे उठकर दातुन करने के पश्चात् जब तक मैं अपना दरवाज़ा और आंगन स्वयं अपने हाथ से साफ नहीं कर लेता हूँ तब तक मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता है।" टांडा के देहात में रहकर मध्यम श्रेणी के लोगों की काहिली और बेकारी को लेकर उनके विरुद्ध मेरी जो धारणा हो गई थी, उसके विषय में मैंने तुम्हें लिखा है। अब तो हमें उन्हीं के सम्पर्क में आकर बसना पड़ा है। रणीवां के आस-पास अधिकतर

ब्राह्मणों और क्षत्रियों की वस्ती है और उनकी अवस्था भी ठीक उसी किस्म के 'भलमनई' की तरह है, जिसका ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ। वही नहीं, इस दस वर्ष की अवधि में इन लोगों की अवस्था और भी विगड़ गई है। उनमें निम्न श्रेणी के लोगों के प्रति उसी प्रकार की घृणा, अपनी हैसियत के विषय में उसी प्रकार का अभिमान और परिश्रम करने से अपनी प्रतिष्ठा के विगड़ जाने का उसी प्रकार का ख्याल मौजूद है। इधर सन् १६२६ के पश्चात् आने वाले विश्व-व्यापी अर्थ-संकट के शिकार होकर आज वे और अधिक गरीब हो गये हैं। गरीब हो जाने के कारण इनके वड़प्पन प्रकट करने की चेष्टा और अधिक हास्यास्पद प्रतीत होती थी। अपने उसी वड़प्पन को स्थायी वनाने के प्रयत्न में अपनी प्रजा के प्रति ये लोग अत्यधिक अत्याचारी वन गये। अतएव परिश्रम करने के मर्य्यादा-त्याग की वात उनके लिए सबसे अधिक लाभ की वात थी। इस प्रकार हम लोग केवल गांव में वस कर ही अप्रत्यक्ष और स्वाभाविक रूप से गांव के एक मुख्य कार्यक्रम पर आ गये। परिश्रम की मर्य्यादा समझ लेने के पश्चात् स्वच्छता का कार्यक्रम आप से आप सामने आ जाता है। हमारे घर और दरवाजे की सफाई देख कर और लोग भी अपने दरवाजे की सफाई करने में लग गये।

अव तक हम लोगों ने परिश्रम या गांव की स्वच्छता का प्रोग्राम नियम-पूर्वक कभी गांव वालों के समक्ष नहीं रखा था। क्योंकि इन प्रोग्रामों को नियमतः गांव वालों के सामने रखने पर हमें विश्वास ही नहीं था। वस्त्र-स्वावलम्वन के मूल कार्य के साथ-साथ प्रत्येक प्रोग्राम समय पाकर अनायास ही हमारे समक्ष आते जायंगे, हमारा काम केवल उन्हें क्रम देकर उनमें सामञ्जस्य स्थापित करना ही होगा। मुझे इस प्रकार का विश्वास पहले से ही हो गया था इसीलिए हम लोग झाड़ू, फावड़ा और टोकरी लेकर गांव की सफाई करने कभी नहीं निकले। एकाध दिन हमारे साथी श्री लालसिंह भाई ने इसकी चर्चा

भी की और कहा कि महात्मा जी तो गांव की सफाई का ही प्रोग्राम सबसे महत्व का बतलाते हैं। किन्तु मैं उन्हें सर्वदा ही मना करता रहा। इसका यह अर्थ तुम मत समझना कि मैं गांव की गन्दगी को महसूस नहीं करता हूँ या गांव की गन्दगी मेरी निगाह में आती ही नहीं है। अगर मुझे गांव में रहने पर किसी बात से घबराहट होती है तो वह गन्दगी से ही। शुरू शुरू में जब बनारस के धौरहरा गांव में गया था तो वहां की गन्दगी देख कर मैं व्याकुल हो गया था किन्तु रणीवां में मैं देख रहा था कि अभी गांव की सफाई का प्रोग्राम हाथ में लेने का समय नहीं आया है। जब तक हम गांव वालों के साथ रह कर गन्दगी के प्रति उनके दिमाग में घृणा नहीं उत्पन्न करेंगे, तब तक केवल गांव की गली साफ़ करने का कोई परिणाम नहीं होगा। चेतना-विहीन ग्राम-वासी उसके प्रति कोई ध्यान नहीं देंगे।

अब हम गांव में ग्राम-वासी के रूप में अपने बसने का क़िस्सा प्रायः समाप्त कर चुके। उपर्युक्त परिस्थिति के उत्पन्न होने तक हमारे वहां तीन माह समाप्त हो चुके थे। गांव के हर आदमी से हम परिचित हो चुके थे; हर परिवार में हमारा स्थान बन चुका था। गांव वाले हमें जानने लगे थे और हम लोग गांव वालों को जानने लग गये थे। हमने उनके एक निकटस्थ पड़ोसी का पद प्राप्त कर लिया था। जिस प्रकार गांव के लोग अपने सुख-दुःख की बातें अपने पड़ोसियों से किया करते हैं और अपने मामलों में उनसे परामर्श लिया करते हैं, उसी प्रकार का व्यवहार अब उनके और हमारे मध्य में होने लगा था। इसी अवधि में होली का त्यौहार आ गया और गाँव-गाँव में लोग होली के रंग से रंगे जाने लगे। होली और फाग से देश का कोना-कोना गुञ्जायमान होने लगा। होली के त्योहार में घरों के भीतर-बाहर अच्छी तरह सफ़ाई करना एक धार्मिक अनुष्ठान है। अमीर और गरीब सभी लोग अपने-अपने घर-द्वार साफ़ करते हैं किन्तु अपने वास-स्थान का निकटस्थ क्षेत्र एवं गली, झाड़ी कभी साफ़ नहीं

करते। हम लोगों ने निश्चय किया कि गाँव की सफ़ाई का प्रोग्राम प्रारम्भ करने का यही उपयुक्त अवसर है। अतः हम लोग उन्हें साथ लेकर सफ़ाई के कार्य में जुट गये। हम लोग उन जगहों की भी सफ़ाई करने लगे जिन्हें वे कभी साफ़ नहीं करते थे और गाँव के कूड़े के ढेर (घूर), गली, कूचे और रास्ते की टट्टी जो कुछ भी गन्दगी दिखाई देती थीं, सबकी सफ़ाई प्रारम्भ कर दी। लज्जा और संकोच-वश कुछ गांव के लोग भी हमारे साथ हो लिये। एक बूढ़ी स्त्री, जिन्हें गांव के सब लोग 'अइया' कह कर सम्बोधित करते थे, हम लोगों को गन्दगी साफ करते देख कर रोने लगीं और गांव के लोगों पर नाराज़ होने लगीं कि क्यों लोग गांव में गन्दगी फैलाते हैं। होली के कारण सफाई के प्रति लोगों के हृदय में उत्साह तो था ही इसलिए हमारे उस दिन के काम और उपर्युक्त घटना का लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इस समय के पश्चात् लोग गन्दगी के प्रति पहले से ही सावधान रहने लगे। यद्यपि सदियों का परम्परागत सस्कार एक दिन में नहीं मिट सकता किन्तु अब इस सम्बन्ध में कभी-कभी कुछ कह देने मात्र से ही लोग स्वच्छता के प्रति पहले से अधिक ध्यान देने लगे। इस प्रकार हम लोगों ने अप्रत्यक्ष रूप से देहात में परिश्रम और सफाई का प्रोग्राम लेकर प्रवेश पा लिया। तदनन्तर उन लोगों के साथ उठते-बैठते प्रायः हर समय परिश्रम की मर्यादा और सफाई के विषय पर उन्हें कुछ समझाते ही रहते थे। अब हमारे लिए वहां तीन प्रोग्राम हो गये। १. चर्खा, २. परिश्रम, और ३. स्वच्छता।

गांव के त्योहार और अनुष्ठान आदि के उपलक्ष में अगर हम सफ़ाई के प्रोग्राम को हाथ में लेते हैं, तो उस परिस्थिति में गांव के सम्पूर्ण निवासी हमारा साथ देने को तैयार हो जाते हैं। और उसका प्रभाव भी अच्छा पड़ता है। आज हम लोगों को रणीवां में कार्य करते हुए छः वर्ष बीत चुके हैं और इस अवधि में मैंने जिला ग्राम-सुधार की ओर से भी सफाई के कार्य किये हैं पर इनमें भी हमने उन्हीं

उपयुक्त अवसरों का प्रयोग किया है। इस प्रकार दिन-ब-दिन मेरा विश्वास दृढ़ होता गया कि स्वच्छता का कार्य इसी ढंग से करना उचित है। प्राचीन काल से त्योहार, शादी, विवाह आदि शुभ कार्यों में सफाई के अनुष्ठान को बहुत महत्व दिया है, और ऐसे अनुष्ठान साल में इतने अधिक बार आते हैं कि अगर उन्हीं अवसरों पर गांव के लोग सुचारु ढंग से गांव की सफाई कर लिया करें तो हमारे गांव पर्याप्त स्वच्छ रहा करेंगे। लोग घर-गृहस्थी और खेती-बारी के काम में इतना अधिक व्यस्त रहते हैं कि वे प्रति दिन नियम-पूर्वक सफाई का कार्य-क्रम पूरा करने में सफल नहीं हो सकते। अतएव यह कार्य करने के लिए कोई न कोई दूसरी शैली खोजनी ही पड़ेगी। यदि वे अपना घर और द्वार ही नित्य नियमपूर्वक साफ कर लिया करें तो हम उसी को पर्याप्त समझेंगे। सम्भव है कि सुदूर भविष्य में हमारे ग्रामीण समाज की आर्थिक, बौद्धिक और नैतिक परिस्थिति इतनी विकसित हो जाय कि देहात के लोगों की स्वच्छता का मापदण्ड और ऊँचाई पर पहुँच जाय। किन्तु आज यदि हमारे ग्रामीण कार्यकर्ता ऊपर बताई हुई विधि से ग्रामीणों में गांव की स्वच्छता के संस्कार उत्पन्न करने में सहायक बन सकें तो हमारी दृष्टि से इनका उतना ही करना पर्याप्त होगा।

तुम लोग सेवा-ग्राम में रहती हो। तुम्हारी दृष्टि में मेरी यह राय सम्भवतः विचित्र-सी मालूम होगी। किन्तु मैं अपने अनुभव से जिस नतीजे पर पहुँचा हूँ वही तो कहूँगा। कभी मिलने पर इस विषय पर विस्तृत बातें करूँगा। आज विदा। नमस्कार। इति।

———

[२३]

घनिष्ट सम्पर्क का लाभ

७—९—४१

पिछले पत्र में मैंने तुमको लिखा था कि प्रारम्भिक तीन महीने में हम लोगों ने रणीवां में व्यक्तिगत ग्राम-वासी के रूप को पारकर देहात के लोगों से पड़ोसी का सम्बन्ध स्थापित कर लिया। बीमारी में, कष्ट में लोगों की खबर लेने लगे। उनकी सेवा-सुश्रूषा करने लगे और उनकी दवा-दारू में उनको सम्मति देने लगे। उनको शादी और गमी के अवसरों पर एक पड़ोसी की तरह भाग लेने लगे। उनके यहां जब विवाह या श्राद्ध के अवसर आते थे और जब बिरादरी के लोगों को भोज दिया जाता था तो वे लोग हम लोगों को भी आमंत्रित करते थे और हम लोग बिना किसी एतराज के स्वीकार कर लेते थे। और समय पर उनके यहाँ चले जाते थे। पहले पहल हम लोगों के जाने से निमंत्रित व्यक्तियों में कुछ खलबली उत्पन्न हुई। हमारा सभी जाति के लोगों के साथ बैठकर खाना, भोजन के समय कुर्ता आदि न उतारना, भोजनोपरान्त जूता और चप्पल आदि पहन कर हाथ-मुँह धोने के लिए जाना आदि सभी बातों पर समालोचना होने लगी किन्तु हम लोगों ने अपना ही ढंग कायम रक्खा। निमंत्रण देने वालों से हम लोग स्पष्ट कह दिया करते थे कि हमारे खाने-पीने की शैली वही रहेगी जो आश्रम में रहती है। तुम सोच लो, अगर हम लोगों के जाने से तुम पर कोई आपत्ति आ पड़े तो हम लोगों को न बुलाओ। यह सब होते हुए भी गांव के लोग हमें अवश्य बुलाते थे।

क्योंकि अब उन लोगों ने हमें अपने एक पड़ोसी के आलोचनाओं का रूप में ग्रहण कर लिया था। धीरे-धीरे समा-

अन्त लोचनाएँ समाप्त होने लगीं और इस प्रकार के निमंत्रणों में हमारे बैठने का आसन भी धीरे-धीरे प्रधान पंक्ति के निकट पहुँचता गया और उसे भी लोग बरदाश्त करने

लगे। इस प्रकार भोजन के सम्बन्ध में लोगों की कट्टरता धीरे-धीरे कम होती गई और हम लोगों की देखादेखी जो लोग अपने प्रयोग में आने वाले कपड़े नित्य धो लिया करते थे वे भी कभी-कभी कपड़े पहिन कर भोजन करने लगे। अवस्था यहाँ तक पहुँच गई कि उस गांव का एक लड़का निमंत्रणादि में हमीं लोगों के साथ बैठ कर खाने लगा और गाँव के लोगों ने भी उसे सहन कर लिया। अब हम लोग छुआछूत के सम्बन्ध में लोगों से खुलकर वाद-विवाद करने लगे। शनैः शनैः वही जनता जो पहले कुर्ता पहन कर खाने पर हम लोगों से घृणा करती थी, अब वाद-विवाद करते हुए यह कहने लगी कि "भाई, हम लोग भी जानते हैं कि यह सब ढकोसला है किन्तु प्रथम तो हमारा इस प्रकार का संस्कार बन गया है जिसके विरुद्ध आचरण करने को जी नहीं चाहता और दूसरी बात यह है कि कौन आगे चल कर पहले अपनी नाक कटाये।" इस प्रकार प्रतिवेसी के रूप में एक और बड़ा कार्यक्रम हमें मिल गया और हम दिन प्रति दिन इस दिशा में भी आगे ही बढ़ते गये।

मैं अभी-अभी लिख चुका हूँ कि हम लोग गांव वालों के पड़ोसी होने के सम्बन्ध से उनके शोक-ताप और बीमारी आदि के समय उनके यहाँ जाया करते थे और जहां तक सम्भव होता था, उनकी सेवा करते थे और उन्हें सान्त्वना देते थे। इसी समय मेरे सामने एक जटिल प्रश्न आ खड़ा हुआ। अकबरपुर आने से पहले ही सन् १९२३ ई० में, जब कि मैं बनारस में रहा करता था और गांवों में कार्य प्रारम्भ करने के विषय में विचार किया करता था तो श्री राम-कृष्ण मिशन के श्री कालिका महाराज की प्रेरणा से होमियोपैथी का अध्ययन करना प्रारम्भ किया था। इसका उद्देश्य केवल यही था कि यह ग्राम-सेवा के लिए उपयोगी होगा। अकबरपुर रहते समय इसका पर्याप्त अभ्यास भी हो गया था। यद्यपि इधर कई वर्ष से अभ्यास छूट जाने के कारण यह विद्या मुझे प्रायः भूल चुकी थी किन्तु

चिकित्सा के सम्बन्ध में विचार

जब गांव के बच्चों को बीमार होते देखता था तो होमियोपैथिक दवा और पुस्तकें मँगाने की इच्छा प्रबल होने लगती थी। किन्तु बापू जी के विचार गांवों में दवा देने के प्रतिकूल हैं, इसे मैं उनके कई लेखों में देख चुका था। उनकी योजनानुसार गांव के रोग, गांव की सफ़ाई करके ही दूर किये जाने चाहिएँ। दवा का उनके प्रोग्राम में कोई विधान नहीं है। इसलिए मैंने होमियोपैथी पुस्तकें मँगाने की कल्पना छोड़ दी और हम लोग स्वयं अपने प्रयोग के लिए जो टिंचर आयोडिन, अमृतधारा, और त्रिफला आदि दवाइयाँ मँगा कर रखते थे उन्हीं में से आवश्यकता आ पड़ने पर कुछ उन्हें भी दे दिया करते थे। कभी-कभी तुलसी की पत्ती, बेल का पत्ता, शहद, और दूब की जड़ आदि देहाती दवाएँ भी उन्हें बता दिया करते थे। किन्तु हमने अनुभव किया कि जब गांव वालों को साधारण रोग की अपेक्षा कठिन रोग हो जाता था तो हम लोग असहाय से हो जाते थे और उनकी कोई मदद नहीं कर सकते थे। गांव में कुछ लोग, जिनमें विशेषतः स्त्रियां थीं, बहुत दिनों के रोगों से ग्रस्त थे। उन्हें देख कर मैं सोचता था कि यदि हम होमियोपैथिक दवाएँ मँगा लें तो ऐसे अवसरों पर ग्रामीण जनता की सेवा कर सकेंगे। ज्यों-ज्यों मैं रणीवां और उसके आस-पास के लोगों को बीमार पड़ते देखता था, त्यों-त्यों मेरी इस विषय की चिन्ता बढ़ती जाती थी। मैंने देखा कि यदि हम गाँव की सफाई करके रोग-निवारण पर भरोसा करते हैं तो इस प्रकार रोगों के दूरीकरण में एक-दो पुश्त का समय लग जायगा। हम गाँव में कितनी भी सफाई क्यों न कर लें किन्तु सदियों का बना हुआ संस्कार एक दिन में नहीं दूर हो सकता। यदि दो-चार व्यक्तियों में कुछ सुधार हो भी गया तो भी सम्पूर्ण गाँव का परिवर्तन तत्काल नहीं हो सकता और यदि गाँव के किसी भी भाग में गन्दगी रह गई तो उसका प्रभाव, गाँव के सम्पूर्ण व्यक्तियों पर पड़ेगा। गाँव के किसी भी

कोने की गन्दगी पर की मक्खी उनके भोजन पर भी बैठ सकती है जो लोग स्वच्छता का पूरा ध्यान रखते हैं। अतएव जब तक हम सम्पूर्ण गाँव के रहन-सहन में परिवर्तन नहीं करते तब तक हमारी रोग-निवारण की आशा दुराशा मात्र है और गाँवों का इस प्रकार का आमूल परिवर्तन कितने दिनों में हो सकता है, इसका हिसाब तुम स्वयं लगा सकती हो। हमारे आश्रम के कार्य-विभाग में साधारणतः अच्छे घरों के ही नौजवान आते हैं; अनेक प्रकार के विधि-निषेध का पालन करते हुए शिक्षा पाते हैं; अच्छे से अच्छे वायुमण्डल में ऊँची कक्षा के व्यक्तियों से सम्पर्क और संगति का अवसर मिलता है; किन्तु इनमें हम कितने प्रतिशत लोगों की गन्दगी और अव्यवस्था की प्रकृति का परिवर्तन कर पाते हैं और जो कर पाते हैं वह भी कितने वर्षों में ? इन बातों पर दृष्टि-निक्षेप करते हुए तुम समझ सकती हो कि गाँव वालों की प्रवृत्ति में परिवर्तन लाने के लिए कितने वर्षों की अपेक्षा होगी ? यदि यह भी कल्पना कर ली जाय कि कोई अपनी अलौकिक शक्ति-द्वारा गाँवों को सम्पूर्ण रूप से स्वच्छ कर देगा और उनके संस्कार का भी परिवर्तन कर देगा, तो भी इतने दिनों से गन्दगी में रहने के कारण और ठीक प्रकार से भोजन न मिलने के कारण उनके शरीर की नस-नस में, उनके रक्त के अणु-अणु में रोग के जो बीज प्रवेश कर गये हैं, उन रोगों के शिकार तो अवश्य ही बनेंगे। इसलिए औषधि का का ज्ञान रखते हुए भी, उसका प्रयोग न करने से हमारे पड़ोसी धर्म का यथातथ्य पालन हो सकेगा ? इस प्रकार की द्विविधा में पड़कर मैं तत्काल कोई निश्चय न कर सका। किन्तु अन्ततः मैंने लोगों के कष्ट देख कर होमियोपैथिक दवाइयाँ और किताबें मँगा ली और अब यदि कोई बीमार होता था, तो उसकी दवा करना भी प्रारम्भ कर दिया।

कुछ काल पश्चात् जब लोगों ने जान लिया कि मैं रोगों की दवा भी करता हूँ तो धीरे-धीरे आस-पास के सात-आठ गाँवों के लोग बीमार पड़ने पर मुझसे सहायता लेने लगे। इस प्रकार दवा-वितरण

के आधार पर पांच-छः गांवों के लोगों से हमारा और परिचय हो गया और हम उन में भी चर्खे का प्रचार करने लगे। धीरे-धीरे सभी गांवों में कुछ चर्खे चलने लगे और हमारा कार्य-क्षेत्र भी बढ़ने लगा। हमने देखा कि रोगियों का इलाज करने से चर्खे के प्रचार-

क्षेत्र-विस्तार

कार्य में भी सहायता मिलने लगी। लोग साधारणतः हमें बच्चों की बीमारी में बुलाया करते थे और इस प्रकार हम गांव की स्त्रियों से भी कुछ-कुछ परिचित होने लगे और वे हमारी बातों की प्रतिष्ठा करने लगीं। मैं तुम्हें पहले लिख चुका हूँ कि जब अकबरपुर टांडा के क्षेत्र में चर्खे का प्रचार करता था तो मैं पर्दे के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति की स्त्रियों से नहीं मिल सकता था इसलिए उनमें चर्खे का प्रचार नहीं हो सका। दो-तीन वर्ष तक देहात में काम करके मैंने देख लिया था कि हमारे सिद्धान्त को जितने शीघ्र गांव की स्त्रियां समझ लेती हैं उतने शीघ्र पुरुष नहीं समझ पाते। यदि कभी कोई पुरुष हमारी बातों को समझ भी लेता था तो वह अपने घर की स्त्रियों को समझा नहीं पाता था। वे समझती थीं कि यह उनके सिर पर एक और नये काम का बोझा रखने का ढंग है। वास्तव में शताब्दियों से भारतवर्ष की समाज-व्यवस्था ऐसी बिगड़ गई है कि पुरुष वर्ग ने स्त्रियों को केवल भोग की सामग्री और सेविका बना कर रक्खा है। समाज में उनके लिए कोई प्रतिष्ठा का स्थान नहीं रह गया है। मुझे कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि जब से भारतवर्ष ने स्त्री-जाति का असम्मान करना प्रारम्भ किया तभी से इसका पतन हो गया है। आज गांव की स्त्रियां कार्य-कलाप के विषय में पुरुषों को सर्वदा सन्देह की दृष्टि से देखा करती हैं। इसी-लिए वे उनके कहने पर भी चर्खा चलाने की ओर ध्यान नहीं देतीं। उस समय कुर्मियों की स्त्रियों से हमारा कोई पर्दा नहीं था इसलिए हम उन्हें चर्खे के लाभ भलीभांति समझा सके थे। किन्तु रणीवां में प्रतिवेशी के सम्बन्ध से और दवा करने के सम्बन्ध से हम मध्यम,

श्रेणी की स्त्रियों के भी सीधे सम्पर्क में आने लगे थे और इस प्रकार उनमें भी चर्खा चलने लगा था। इस प्रकार दवा मँगा कर रख लेने से हमें विशेष लाभ हुआ और हम लोगों ने अब तक भी दवा का प्रोग्राम नहीं छोड़ा है। सम्भवतः इस बात में तुम मुझसे सहमत ही होओगी। तुम्हारा क्या विचार है? लिखना।

मेरी तबीयत कुछ सुस्त मालूम होती है। कई दिन से दाँत उखाड़ रहा हूँ। अब तुम्हारी तरह मेरे भी सब दाँत बने हुए हो जायँगे। वहाँ के विषय में लिखना। तुम लोग किस प्रकार हो? नमस्कार।

---

[२४]

वस्त्र-स्वावलम्बन की ओर

८—६—४१

अब तक हम अपने ही विषय में लिखते रहे। आज हम तुम्हें यह बताने की कोशिश करेंगे कि वस्त्र-स्वावलम्बन के प्रोग्राम से हमें क्या-क्या लाभ हुए। इससे तो तुमको ख़ास दिलचस्पी है न?

रणीवाँ के आस-पास कहीं कोई बुनाई का काम करने वाले कारीगर नहीं हैं। इसलिए स्वावलम्बन के लिए जो सूत कातता था, उसे हम अकबरपुर से बुनवा लेते थे। किन्तु धीरे-धीरे जब कई गाँवों में चर्खे चल गये तो हमारे सामने बुनाई की कठिन समस्या आ खड़ी हुई। एक तो अकबरपुर से बुनवाकर मँगाने में पर्याप्त समय लग जाता था, दूसरे बुनाई का काम बहुत दूर होने के कारण लोगों को बुनाई के प्रति कोई विशेष दिलचस्पी नहीं थी और जो कपड़ा बन कर आता था, वह अपने यहां के बने हुए कपड़े के रूप में नहीं मालूम होता था। इससे स्वावलम्बन की भावना में कमी पड़ जाती थी। एक दिन पण्डित लालताप्रसाद और गांव के कई अन्य लोग हमसे

कहने लगे कि यदि गांव में ही बुनाई का प्रबन्ध हो जाय तो अपना सूत बुना जाता हुआ देख कर हमको जो आनन्द होगा वह आनन्द अकबरपुर से बुनवा कर मँगाने में नहीं होगा और स्त्रियां जब अपना सूत अपने सामने बुने जाते हुए देखेंगी तो उनका हौसला बढ़ता ही जायगा। तीसरा लाभ यह होगा कि यदि हमारे गांव के कुछ लड़के बुनाई सीख लेंगे तो उनकी बेकारी की समस्या भी हल हो जायगी। और हम लोग स्वयं पैसा के स्थान पर अनाज देकर सूत बुनवा सकेंगे। हमने आपस में परामर्श किया और गांव वालों की दलील माकूल मालूम हुई। हम लोगों ने विचार किया कि यदि गांव के लोग कताई और बुनाई दोनों अपने-आप स्वयं करलें तो वे स्वावलम्बी हो जायँगे; उन्हें हम पर भरोसा नहीं करना पड़ेगा।

यह सोच कर हम लोगों ने बुनाई का काम प्रारम्भ कर दिया। इसके लिए भी तुमने देख ही लिया कि इस प्रोग्राम का प्रस्ताव भी पहले गांव की ही ओर से आया। और हम लोगों को सहज ही एक प्रोग्राम मिल गया।

बुनाई का कार्यक्रम चालू कर देने से कई दृष्टिकोण से और भी लाभ हुआ। यह क्षेत्र इतना पिछड़ा हुआ था कि यहां के लोगों को किसी प्रकार की नई बात देखने को नहीं मिलती थी। पुरुष तो इधर-उधर जाकर कुछ बातें देख भी लेते थे किन्तु स्त्रियां और बच्चे अंधकार में ही रह जाते थे। बुनाई का कार्य प्रारम्भ हो जाने से उन्हें यह एक नई बात तो देखने को मिल ही गई। इस कार्य की विभिन्न प्रकार को प्रक्रियाओं में लोगों की अभिरुचि होना

बुनाई का आरंभ स्वाभाविक था। ताना तन कर माड़ी-द्वारा उस सूत को मांजने से सूत मजबूत हो जाता है, 'बै' और 'राछ' में सूत भरना, शटल की खट-खट आवाज़ इत्यादि बातों को बच्चे और स्त्रियां तमाशा के रूप में देखती थीं और इस प्रकार उनके दृष्टिकोण एवं उनकी बुद्धि का परोक्ष रूप से विकास होता था। अब

बुनाई के रूप में गांव के भीतर कुछ उद्योग का वातावरण भी आ गया। इस क्षेत्र के गांवों के लोगों में यह कल्पना भी नहीं उत्पन्न हुई थी कि वे ग्रामोद्योग के द्वारा अपनी आवश्यकता के सामान स्वयं तैयार कर सकते हैं। अब बुनाई खुल जाने से इस दिशा में भी लोगों का मानसिक विकास होने लगा।

शुरू में इस काम के लिए अकबरपुर से बुनकर भी बुला लिया था। बुनकर और बुनाई के अन्य सामान आ जाने पर हमारे सामने स्थान की समस्या आ उपस्थित हुई। हम लोग जिस घर में रहते थे वह इतना संकीर्ण था कि उसमें हमीं लोगों के रहने के लिए पर्याप्त स्थान नहीं था, फिर उसमें करघे के लिए स्थान कहां से आता। हमने यह प्रश्न गांव वालों के सामने रक्खा कि यदि आप लोग हमें कहीं करघे के लिए थोड़ा स्थान दें तो यह काम प्रारम्भ हो जाय। गांव के लोगों ने आपस में सलाह करके हमारे निवास-स्थान के निकट एक घर की कोठरी में करघा गाड़ने का स्थान दे दिया। वह घर गांव के पंडित का था। इसलिए उसमें बुनाई का कार्य प्रारम्भ करने से हमें एक प्रकार का और भी लाभ था। आमतौर से लोग बुनाई के काम को एक बहुत छोटा काम समझते हैं। यह काम केवल जुलाहों और हरिजनों का था, भले घर के लोग इसको घृणा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसी अवस्था में गांव के पंडित जी के घर में करघा गड़ जाना और उसमें एक जुलाहे का बस जाना, इस क्षेत्र के लिए एक विशेष महत्व की बात थी। इसलिए जब हमारे साथी श्रीकर्ण भाई ने आकर कहा कि हमारे बुनाई विभाग के लिए तिवारी बाबा के घर में एक कोठरी मिल गई, तो हमने कहा अच्छा ही हुआ—"एक पंथ दो काज सध गये।" कर्ण भाई ने भी हँसते हुए कहा कि अब इसके विरोध में कोई भी कुछ कह नहीं सकेगा। हम लोग प्रारम्भ से ही रूढ़िवाद और दकियानूसी विचारों को शिथिल करने का सहज समाधान ढूंढा करते थे। इस घटना से हमको इस दिशा में पर्याप्त सहायता मिली। गांव के

शुभ परिणाम

अग्रगण्य तिवारी वावा के घर में एक मुसलमान वस गया। गाँव की स्त्रियाँ और वच्चे बुनाई की क्रिया देखने के लिए आने जाने लगे। ऐसी स्थिति में यह परम स्वाभाविक हो गया कि लोगों की मुसलमानों और बुनाई के प्रति प्रकृतिगत घृणा की मात्रा क्रमशः कम होती जाय।

बुनाई का कार्य प्रारम्भ हो जाने से लोगों में अपने सूत का कपड़ा बुनवाने का उत्साह तो वढ़ता ही गया किन्तु हमारा उद्देश्य यही नहीं था कि वाहर से जुलाहा बुलवाकर बुनाई का काम कराया जाय। हमारा उद्देश्य तो यह था कि इस क्षेत्र के वेकार नौजवान इसे सीख लें और स्वयं करने लग जायँ। किन्तु प्रारम्भ में हमें इस दिशा में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। यह एक ब्राह्मण का गाँव था। अपने घर में एक जुलाहे को स्थान देकर बुनाई का काम कराने लगे, इतना ही उस क्षेत्र के लिए एक वहुत वड़ी क्रान्ति की वात थी; ऐसी स्थिति में वे स्वयं बुनाई का कार्य करें यह उनकी मानसिक स्थिति के किसी भी तरह अनुकूल नहीं था। जिससे गाँव में कई नौजवानों के वेकार रहते हुए भी हम उन्हें इस काम के लिए तैयार नहीं कर सके। पं० लालता प्रसाद जी ने कहा कि मैंने तो यह अनुमान किया था कि आप हमारे दो-एक चमारों को सिखा देंगे और सीख कर वे गाँव वालों का सूत बुन दिया करेंगे। हमने उनकी यह वात स्वीकार कर ली और वे सीखने के लिए आने लगे। उनके द्वारा मालूम हुआ कि वे लोग सर्वदा नहीं ख़ाली रह सकते, क्योंकि वे खेती के कामों में मज़दूरी करते हैं और जव उच्चवर्गीय लोगों को खेती के काम के लिए ज़रूरत पड़ेगी तो वे उन्हें बुला लेंगे। प्रायः होता भी ऐसा ही था। इसलिए उनका बुनाई सीखना सम्भव नहीं था। यह सब सोच कर हम लोगों ने उन्हें सिखाने की चेष्टा छोड़ दी और उन लोगों ने सीखना वन्द कर दिया।

जिस ब्राह्मण के घर हम लोग रहा करते थे, उनकी आर्थिक स्थिति

बहुत शोचनीय थी। कुछ ही काल पहले ये लोग अच्छे गृहस्थ थे किन्तु कर्ज के कारण इनकी जायदाद धीरे-धीरे दूसरों के हाथ में चली गई थी। उन्हें दोनों समय भोजन भी नहीं मिल पाता था, मालगुजारी चुकाना तो दूर की बात है। उस परिवार का सम्पूर्ण भार एक विधवा के सिर पर था जिसके लड़के बिल्कुल बेकार बैठे हुए थे। बेचारे करते ही क्या? ज़मीन भी तो काफ़ी नहीं थी कि उसी की देख-भाल करते। दूसरा कोई उद्योग तो था नहीं। अपने हाथ से हल चलाना या इसी प्रकार के अन्य काम करने में बेइज्जती का डर था। इतना साधन भी नहीं था कि स्कूल में जाकर शिक्षा ही प्राप्त करते। घर-गृहस्थी की देख-रेख तो इनकी माता ही कर लेती थी। इसलिए ये लोग दिन भर बैठे बैठे मक्खियां मारा करते थे। और भूख से छटपटाते रहते थे। हमारे इतने दिन तक इस परिवार में रहने और हम लोगों के अपने हाथ से सम्पूर्ण काम करने की वजह से इनके हृदय की संकीर्णता बहुत-कुछ कम हो गई थी। हमने इनको समझाया कि बुनाई का काम सीख लो, आखिर हम लोग भी तो इसे करते हैं। इससे हमारी कौन सी इज़्ज़त चली जाती है। तुम लोगों की इज़्ज़त ही क्या है? गरीब होने के कारण प्रथम तो कोई पूछता ही नहीं, दूसरे बेकार बैठ कर दूसरों की कृपा का अन्न खाने से परिश्रम करके खाना अधिक प्रतिष्ठा की बात है। जिस दिन तुम परिश्रम करके खाने लगोगे और अपनी बिगड़ी हुई अवस्था बना लोगे, उस दिन लोग तुम्हें अधिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखने लगेंगे। रात-दिन के सहवास और बार-बार समझाने से उस घर के रामकरण नाम के एक लड़के ने बुनाई का काम प्रारम्भ कर दिया। उसके बुनाई सीखने से चारों

एक विधवा ब्राह्मणी का साहस

ओर उसके विरुद्ध खूब आलोचनाएँ और प्रत्यालोचनाएँ तथा हो-हल्ला होने लगा। गाँव की चौबीसों घण्टे की आलोचना से उसका बड़ा भाई कुछ घबड़ा सा गया। किन्तु रामकरण अपने निश्चय

पर डटा रहा। उसकी माँ ने भी उसका साथ दिया। एक दिन बड़े भाई ने जब अपनी माँ से कहा कि सब लोग कहते हैं कि "तुम लोग जुलाहा हो गये" तो उसकी माँ ने हम लोगों की ओर संकेत करते हुए स्पष्ट उत्तर दिया कि 'ये लोग इतने भले घर के लड़के अगर जुलाहे हैं, तो भले ही हमारे घर के लड़के जुलाहे हो जायँ, कोई चिन्ता नहीं। जब हम लोग खाने बिना भूखों मरते हैं, तो ख़िलाफ़ कहने वाले क्या हमारे घर में अनाज भेज देते हैं?' मैंने देहात में काम करते हुए यह अनुभव किया है कि देहात की स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक रुढ़िवादी होती हैं। किन्तु अनुकूल वातावरण में सुचारु-रूपेण समझा देने पर किसी आदर्श की बात को जितनी शीघ्रता से वे ग्रहण कर लेती हैं, उतने शीघ्र पुरुष नहीं ग्रहण कर पाते। परिवर्तन भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में शीघ्र हो जाता है। इतने पिछड़े हुए दक़ियानूसी ब्राह्मण-गांव की एक ग़रीब विधवा ब्राह्मणी का इतना कहना बहुत साहस का काम था। मैंने देखा है कि कांग्रेस के अनेक प्रमुख कार्यकर्त्ता, जो संसार के नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से भली-भांति परिचित हैं और उठते-बैठते 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' का नारा लगाते हैं, भी अपने घर और गांव के प्रचलित रूढ़िवाद के विरुद्ध आचरण करने का साहस नहीं करते हैं। अतएव उस दिन से मैं रामकरण की माता के प्रति अधिक श्रद्धा रखने लगा। उनके द्वारा मुझे इस बात की एक झलक सी मिल गई कि ग्रामीण स्त्रियां कहां तक आगे बढ़ सकती हैं।

अब रामकरण धीरे-धीरे बुनाई सीखते हुए दो रुपया प्रति मास उपार्जित करने लगा। इसको देख कर दो और ब्राह्मण के लड़कों ने बुनाई सीखना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार हम लोग गांव के रूढ़िवाद का सुधार करने की दिशा में एक क़दम और आगे बढ़ गये। कुछ दिन के पश्चात् घाघरा पार के एक किसान के घर का मिडिलपास लड़का, जो बुनाई भी जानता था और जिसका नाम रामफेर था,

हमारे पास आया और आश्रम-परिवार में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार रामफेर के आश्रम में आ जाने से हम लोगों ने अकबरपुर के जुलाहे को वापस कर दिया और अब रामफेर भाई ही बुनाई का कार्य करने लगे और वही दूसरों को भी सिखाने लगे। इस प्रकार अब हमारे यहां दो विभाग स्थापित हो गये। एक कताई, दूसरा बुनाई।

बुनाई-विभाग के संघटन के क्रम से हम गांव की सामाजिक क्रान्ति की दिशा में कहां तक आगे बढ़ सकते हैं, यह तुम अनुमान कर सकती हो। फिर भी हमारे विद्वान नेता लोग रचनात्मक कार्य और उसके करने वालों को उतना ही नाक सिकोड़ कर देखते हैं, जितना एक पढ़े-लिखे बाबू एक देहाती को देखते हैं। बापूजी कहते ही रहते हैं; किन्तु कौन सुनता है?

आज यहीं समाप्त करता हूँ। फिर दूसरे पत्र में आगे की बातें लिखूँगा। नमस्कार।

---

[२५]

शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा

१०—६—४१

देखते ही देखते देहात में चर्खे का काफ़ी प्रचार होने लगा और दिन बदिन चर्खे की माँग अधिक आने लगी। हम लोगों ने चर्खे बनवाने के लिए आस-पास के गाँवों में बढ़इयों की तलाश की। किन्तु उस सम्पूर्ण देहात में कोई भी बढ़ई इस योग्यता का नहीं मिला। सम्पूर्ण क्षेत्र में केवल दो-तीन घर बढ़ई आबाद थे जो किसानी का काम करने के साथ-साथ थोड़ा-बहुत बसूला भी चला लेते थे और गांव के लोग उन्हीं से अपने हल-पाटा आदि साधारण चीजें बनवा लिया करते थे। इनमें इतनी योग्यता नहीं थी कि चर्खे बनाने का काम कर

चर्खे की बढ़ती हुई मांग

सकें। एतदर्थ हम लोगों ने चर्खा संघ विहार से कुछ चर्खे मँगवा लिये और इस चिन्तन में लगे रहे कि चर्खे की बढ़ती हुई स्थानीय मांग को किस तरह पूरा किया जाय और स्थानीय व्यक्तियों को चर्खा बनाने की शिक्षा किस प्रकार दी जाय। हमारा विचार हुआ कि उन्हीं दो-चार बढ़इयों को इसकी शिक्षा दें किन्तु उनकी संख्या इतनी कम थी कि उनके लिए किसानों के हल-फाल और मकान आदि बनाने का ही काम बहुत अधिक था। ऐसी परिस्थिति में उनका किसी अतिरिक्त कार्य में समय देना नितान्त असम्भव था। अतएव उस समय हम लोग इस दिशा में कुछ भी कर सकने में असमर्थ रहे।

इसी समय हम लोग जिस व्यक्ति के मकान में रहते थे उसे भूसा रखने के लिए अपने मकान की आवश्यकता हुई; हमें अपने रहने की कोठरी खाली करने का प्रबन्ध करना पड़ा। हम लोगों ने एक दूसरा घर तलाश किया; उसमें भी पहले बैल बाँधे जाते थे। न तो उसमें कोई खिड़की थी और न दरवाज़ा ही। हमने अपना सम्पूर्ण कार्य बन्द करके उस मकान के पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। उस घर में आगे की ओर एक छोटा सा बरामदा था। जब घर बन कर ठीक हो गया तो हम लोगों ने उस बरामदे को बढ़ा कर और लम्बा कर लिया। अब उसमें खिड़की खोलना और दरवाज़ा लगाना शेष रह गया। मैं तुम्हें पहले लिख चुका हूँ कि हम लोग गांव में आकर अपने सम्पूर्ण कार्य अपने ही हाथों से कर लेते थे। इसलिए हमने सोचा कि हमें इसे भी अपने ही हाथ से तैयार कर लेना चाहिए। साथियों से कहा "तुम लोग सामान इकट्ठा करो और औज़ार मांग लाओ, मैं सब स्वयं बना लूंगा।" लकड़ी मांगने के लिए कहीं जाना नहीं पड़ा। जिसका घर था उसी के पास लकड़ी मौजूद थी। औज़ार गांव के बढ़इयों से प्राप्त हो गया। मुझे बढ़ई का काम पहले से ही आता था, साथियों को भी आरा से लकड़ी चीरना सिखा

दिया। इस तरह हम सब लोग मिल कर दरवाज़ा और जँगला बनाने लगे। गाँव के लोगों के लिए यह भी एक नई बात थी और वे लोग हमारा काम देखने आया करते थे।

एक दिन मैं चौखट बना रहा था कि भाई लालसिंह बरहँची नाम के एक नौजवान को लेकर मेरे पास आये। लालसिंह गुसाईं-गंज के बाज़ार गये थे और वहीं पर उनसे बरहँची से परिचय और बातचीत हुई थी। बरहँची बढ़ई जाति का एक मिडिल पास नौजवान था। उसके हृदय में पहले से ही राष्ट्रीय भावना जाग्रत हो चुकी थी। अपने गाँव के आस-पास के क्षेत्रों में उसने कुछ राष्ट्रीय सेवा भी की थी। उसने आश्रम में रहने की इच्छा भी प्रकट की थी। फलतः वह दूसरे दिन से आश्रम में रहने लगा। इस प्रकार अब हम लोगों की संख्या तीन से पाँच हो गई। बरहँची बढ़ईगिरी के काम में भी होशि-यार था; इसलिए हम लोगों ने दरवाज़ा वगैरह बड़ी शीघ्रता से बना लिया। बुनाई का कार्य तो रामफेर भाई ने आकर सँभाल ही लिया था, अब बरहँची के आ जाने से हम लोगों ने चर्खा बनाने का काम भी प्रारम्भ कर दिया। हम लोग गाँव से पेड़ ख़रीद कर उसकी लकड़ी चीर-चीर कर बरहँची भाई को दिया करते थे और वह चर्खे बनाता रहता था। अब इस कार्य के लिए भी स्थान की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। हम लोगों ने बहुत तलाश किया किन्तु गाँव में किसी के पास इतना फालतू स्थान नहीं था कि वह हम लोगों को इस काम के लिए दे दे। आख़िरकार एक दूसरे गाँव मकनपुर के एक ब्राह्मण ने अपने यहाँ दो कोठरी और आँगन हमें इस काम के लिए दे दिया। मकनपुर रणीवाँ से दो-तीन फ़र्लांङ्ग की दूरी पर था। इसलिए हम लोगों का वहां पर रह कर काम करना कोई अधिक कठिन नहीं था। हम लोगों ने अपना बढ़ई विभाग वहीं पर स्थापित कर दिया। बरहँची भी सामान की हिफ़ाज़त के लिए उसी मकान की एक कोठरी

बढ़ई विभाग की स्थापना

में रहने लगा। बरहँची के वहां रहने में एक लाभ और था। वह नित्य संध्या समय गांव के लोगों को रामायण और अखबार पढ़ कर सुनाया करता था। इस सम्बन्ध में वह उन्हें अन्य प्रकार की बातें भी सुनाया करता था। हम लोग भी नित्य प्रातःकाल लकड़ी चीरने के अभिप्राय से वहां पहुँच जाया करते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे उस गांव के लोगों से परिचय बढ़ने लगा। हम लोगों को आरा चलाते देख कर उस गांव के नवजवानों पर अधिक प्रभाव पड़ा और वे हमारे परिश्रम की प्रतिष्ठा करने लगे। यहां के निवासी रणीवां के लोगों से भी अधिक ग़रीब थे इसलिए वे हमारी बातों को उनसे अधिक शीघ्र समझ जाया करते थे। वे शीघ्र ही चर्खा चलाने के लिए तैयार हो गये।

अब हम लोग नियम-पूर्वक दो गाँवों में रहने लगे और हमारा कार्य-क्षेत्र दो गांवों में फैल गया। वस्त्र-स्वालम्बन के कार्य में हम लोग क्रमशः आगे बढ़ने लगे। अब चर्खे बनाना, सूत कातना और कपड़े बुनना सभी कार्य गांव में ही सम्पादित होने लगे। चर्ख़ा कातना और कपड़ा बुनना तो हमने गांव वालों को भी सिखाना प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु स्थानीय बढ़इयों को चर्ख़ा-निर्माण की कला सिखाने की समस्या शेष ही रह गई और स्वावलम्बन की दृष्टि से हम लोगों को इस दिशा में कुछ भी सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। मैं पहले लिख चुका हूँ कि यहाँ के बढ़ई प्रधानतः किसानी का काम करते हैं और उनका बढ़ईगीरी का ज्ञान नहीं के बराबर है। इसमें भी रहस्य है। मैंने फ़ैज़ाबाद के दूर-दूर गाँवों में भ्रमण किया किन्तु इस ज़िले में मुझे किसी प्रकार की कारीगरी देखने को नहीं मिली और न तो कहीं लकड़ी के कारीगर ही ढूँढ़ने से मिलते हैं। इसका कारण क्या है? क्या यहाँ के निवासी किसी भी युग में लकड़ी की अच्छी चीज़ें प्रयोग में नहीं लाते थे? पर यह बात तो नहीं। आज भी जिले के देहात में सुन्दर कारीगरी के सुरुचि-पूर्ण चौखट-बाजू देखने में आते हैं। कहीं कहीं

बढ़इयों का लोप कैसे हुआ ?

पुराने गृहस्थों के घर में अच्छे काम के पलंग, मचिया और पिढ़ई अब भी मिल जाती हैं। मैंने पूछ कर जान लिया है कि ये सुन्दर वस्तुएँ प्राचीन बढ़इयों के ही हाथ की बनी हुई हैं। फिर उनकी कारीगरी कहाँ चली गई? अन्वेषण करने पर मुझे दो कारण ज्ञात हुए। प्रथम तो यह कि भीषण गरीबी के कारण अब लोगों में यह शक्ति ही नहीं रह गई कि वे इस प्रकार की चीजों की कदर कर सकें; दूसरे अवध की बेगार प्रथा सालों तक ऐसा भयंकर रूप धारण किये रही कि किसी प्रकार के कारीगर इस क्षेत्र में पनप नहीं सके। अच्छी कारीगरी जानना भी बेगारी में पकड़े जाने का एक सर्टिफिकेट था! बेगार से बचने के लिए भी लोग अपने गुण प्रकट नहीं करते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे अच्छा काम होना ही एक प्रकार से बन्द हो गया और काम बन्द हो जाने से परिवार की भावी सन्तानों को उस प्रकार के कार्य सीखने का अवसर ही नहीं मिला। इस प्रकार कई पीढ़ियों के पश्चात् बढ़ई जाति के लोग भी धीरे-धीरे अपनी कारीगरी छोड़ कर किसान बन गये। बंगाल के इतिहास में भी इसी प्रकार ढाका के जुलाहों ने विवश होकर अपने अँगूठे काट डाले थे। अन्तर केवल यह था कि वहाँ पर यह स्थिति विदेशियों की उत्पन्न की हुई थी किन्तु यहाँ तो अपने ही देश-वासी ताल्लुकेदारों के डर ने इन्हें ऐसा करने को बाध्य किया था।

हम लोगों पर चर्खा सिखाना, गाँव में उसका प्रचार करना, रुई की लेन-देन और चूल्हा-चक्की आदि खानगी कार्यों का भार इतना काफी हो गया था कि चर्खा बनाने के काम में और अधिक मदद नहीं कर सकते थे इसलिए यह अत्यावश्यक हो गया कि बरहँची को लकड़ी चीरने और चर्खा बनाने में मदद करने के लिए कुछ और लोगों की भी सहायता प्राप्त हो जाय। अन्य बढ़इयों के न मिलने पर विचार किया कि ब्राह्मणों के बेकार नौजवानों को इस कार्य में लगाया

जाय। पर ब्राह्मण के लड़के बढ़ई का काम करने के लिए किस प्रकार तैयार हो सकते थे? आखिरकार मैंने इस कार्य्य के लिए भी उसी परिवार की शरण ली जिसका एक लड़का बुनाई का काम करना प्रारंभ कर चुका था और रामकरण के बड़े भाई श्यामधर को आरा चलाकर लकड़ी चीरना सिखाना प्रारम्भ कर दिया। जब रामकरण ने बुनाई सीखना प्रारम्भ किया था उस समय जितना विरोध उत्पन्न हुआ था, उतना इस बार नहीं हुआ। फिर भी देहात के लिए इस प्रकार का कार्य एक क्रांतिकारी कार्य था। गांव के लोगों ने इन कामों के लिए जो सम्मान और प्रोत्साहन प्रकट किया, उसने हमारे कार्य-क्रम को आगे ही बढ़ाया। अब वे प्राचीन रूढ़ि-वादी विचार-धारा छोड़कर हर प्रकार के परिश्रम की मर्यादा समझने लगे। जब वे इस बात को देखने लगे कि उनकी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इतने उद्योग निकल सकते हैं तो गांव की गरीबी और बेकारी के लिए निराशा का कोई स्थान नहीं रहता। मैं प्रायः कहा करता था कि आज हम ग्रामीण बाहरी लूट की मार खाते-खाते गरीबी की हालत को पार करके बेहोशी की अवस्था में पहुंच गये हैं। और इसी बेहोशी के कारण अपनी दशा का भी ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर पा रहे हैं, फिर इस गरीबी को दूर करने का उपाय सोचना तो दूर की बात है इसलिए जब किसी प्रकार की आर्थिक योजना उनके सामने आ जाती है और वे उनके द्वारा अपने सुधार की थोड़ी सी भी सम्भावना देख लेते हैं तो उनके जीवन में चेतना का समावेश हो जाता है और उनमें एक प्रकार का उत्साह और जोश उत्पन्न हो जाता है तथा यही उत्साह और जोश उनके जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला देता है। फिर वे हर प्रकार से अपने को सुधारने के लिए तैयार हो जाते हैं। रणीवाँ में भी यही हुआ। जब गांव के कुछ बेकार नौजवान कार्य में लग गये और कुछ घरों में कपड़े के व्यय की बचत होने लगी तो लोगों में इतना उत्साह पैदा हुआ कि लोग गाँव की सफाई और शिक्षा आदि कार्यों

में भी काफ़ी दिलचस्पी लेने लगे। गाँव की स्वच्छता और शिक्षा के सम्बन्ध में हमने और कौन-कौन से प्रयोग किये, यह मैं तुम्हें अगले पत्र में लिखूँगा। यह पत्र तो मैं यहीं पर समाप्त कर रहा हूँ क्योंकि अब समय नहीं रहा कि आज और लिख सकूं। इसके अतिरिक्त हमारे कुछ साथी इस जेल से प्रतापगढ़ जा रहे हैं; उनको विदा करना भी है। आज मेरा जन्म-दिवस है। इकतालीस वर्ष पूरे हो गये। इसलिए वहाँ पर मेरे जितने स्वजन हैं और जो लोग सालभर मेरे लिए शुभ कामना करते रहे, उन सब को मेरा हार्दिक धन्यवाद पहुँचा देना। भगवान हर वर्ष मुझे जन-सेवा की शक्ति और बुद्धि दे। आज के दिन यही एक मात्र प्रार्थना है। सबको मेरा प्रणाम और नमस्कार कहना। मुनिया को प्यार।

---

[२६]

गन्दगी की समस्या

१४—६—४१

पिछले पत्र में मैंने गाँव की सफाई के विषय में अपने विचार तथा प्रयोग लिखने का वादा किया था। वास्तव में सफाई का प्रश्न एक ग्राम-सेवक के लिए सबसे जटिल और विकट प्रश्न है। गाँव वाले प्राय: ऐसी परिस्थिति में रहते ही हैं कि वे सफाई रखने में असमर्थता अनुभव करते हैं। कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जिनमें वे अपनी इच्छा-नुसार सफाई रख सकते हैं; इसके लिए उन्हें किसी प्रकार की विवशता नहीं है किन्तु मेरा विचार है कि वे उन बातों में भी सफाई रखने से विवश ही हैं। मैंने तुम्हें अपने एक पत्र में लिखा था कि ग्राम-सुधार किसी एक प्रोग्राम को लेकर नहीं चल सकता क्योंकि देहात में जितनी बुराइयाँ मौजूद हैं, एक दूसरे से कार्य कारण का सम्बन्ध

सब बुराइयों का एक ही स्रोत

रखती हैं। देहात के लोग काहिली के कारण गन्दे रहते हैं और इस काहिली का कारण उनकी बेकारी है। इसलिए सफ़ाई की समस्याओं को हल करने के मार्ग में पग-पग पर अड़चनें आ मौजूद होती हैं। इसके अतिरिक्त गन्दगी उनके जीवन में इस सीमा तक व्याप्त हो गई है कि केवल यह सोचने से ही दिमाग़ पागल हो जाता है कि हमें स्वच्छता के लिए किस विन्दु से कार्य प्रारम्भ करना है। गाँव के लोग गलियों में ही पेशाव करते हैं, उन्हीं में कूड़ा-कचड़ा फेंकते हैं। उनके घर और आँगन का पानी घर के ही पास सड़ा करता है। घरों में इतना अँधेरा होता है कि उनकी नमी उन्हीं के भीतर सड़ा करती है। चारपाई, कपड़े, कथरी, दोहर, चादर नोसक, रजाई और तकिया और सभी प्रयोग में आने वाली चीजें पसीना, धूल और तेल से सनी रहती हैं। बच्चे से लेकर बूढ़े तक की ज़वान पर चौबीस घंटे अश्लीलतापूर्ण गन्दी बातें बनी रहती हैं। इस प्रकार इन तमाम गन्दगियों पर विचार करने से हमारे सामने यह प्रश्न आ उपस्थित होता है कि हम सबसे पहले किस गन्दगी को दूर करें।

टाँडा में रहते समय मैं अधिकतर किसानों और मजदूरों के ही घरों में जाया करता था। उस समय की कहानी लिखते समय मैंने तुमको बताया था कि गाँव की गलियों और मकानों के आगे-पीछे की गन्दगी से उनके घर के भीतर की गन्दगी मुझे अधिक भयंकर प्रतीत होती थी। अब रणीवाँ आकर मुझे ब्राह्मण और क्षत्रिय लोगों के घरों को भी भलीभाँति देखने का अवसर मिला। इनके घरों की गन्दगी देख कर मुझे अनुभव हुआ कि उन मज़दूरों के घरों की गन्दगी इनकी तुलना में कुछ नहीं थी। उसके पश्चात् मैं ज्यों-ज्यों देहात में काम करता गया त्यों-त्यो मेरी उक्त धारणा और भी दृढ़ होती गई कि गाँव की सफ़ाई के कार्य-क्रम में कपड़ों की सफ़ाई पर सबसे पहले और सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए। उच्च श्रेणी के घरों में मुझे कपड़ों की गन्दगी के प्रति और भी भयंकर उदासीनता

देखने को मिली। किसानों और मज़दूरों के घरों में भी कपड़े प्रयोग

कपड़ों की सफ़ाई में लाये जाते हैं यद्यपि उनकी संख्या कम होती है। बिछाने के लिए पतली चादर और कथरी के अतिरिक्त और होता ही क्या है? किन्तु उनके कपड़ो में जल्दी से फट जाने के कारण अधिक गन्दगी नहीं आ पाती किसान और मज़दूर कुरते भी कम पहनते हैं। जो पहनते हैं वे भी ऐसे मामूली कपड़े के बने होते हैं कि आसानी से धुल सकें। इसके अतिरिक्त ये कुर्ते केवल धराऊ रूप में ही काम में लाये जाते हैं, इसलिए उन्हें सर्वदा धोकर ही रखा जाता है। किन्तु उच्च श्रेणी के लोग दरी, तोशक और रज़ाई प्रयोग में लाते हैं जो अधिक टिकाऊ और अधिक भारी होती हैं। इसलिए इनमें असीम गन्दगी इकट्ठी हो जाती है। कुर्ते, कोट और बंडी भी ये लोग प्रयोग में लाते हैं जिससे ये चीज़ें भी पसीना आदि से सन जाती हैं। मैंने अनुभव किया कि जब तक ये अपने ओढ़ने, बिछाने और पहनने के कपड़े इतने गन्दे रखते हैं तब तक इन्हें गली-कूचों और बाहरी गन्दगी का अनुभव कराना नितान्त असम्भव है। क्योंकि सफ़ाई तो वे ही लोग रख सकते हैं जिन्हें गन्दगी से घृणा हो। इसीलिए मैं जहाँ भी जाता था, लोगों के कपड़ों पर विशेष ध्यान रखता था और कपड़ों की ही गन्दगी के विषय में उन्हें चेतावनी भी देता था। लोग मेरी इन बातों को महसूस तो करते थे किन्तु कुछ तो अपने स्वभाव और कुछ साधन के अभाव के कारण इस पर अधिकतर अमल नहीं कर पाते थे। किन्तु फिर भी कुछ तो हमारे लगातार प्रचार और कुछ हमारे अपने हाथ से साबुन-द्वारा कपड़ा धोने के व्यवहार को देखकर गाँव के कुछ लोगों को भी साफ़ रहने का शौक़ पैदा होने लगा।

इस दिशा में कुछ दिन काम करने के पश्चात् हम यह महसूस करने लगे कि यदि हम किसी तरह साबुन बनाने का कार्य देहात में जारी कर सकें तो एक पंथ दो काज होगा। लोगों में सफ़ाई की रुचि

बढ़ेगी और हम लोग ग्रामोद्योग की दिशा में एक क़दम और आगे बढ़ सकेंगे। मैंने यह अनुभव किया था कि यदि कोई वस्तु गाँव में ही बनने लग जाय तो गाँव वाले सरलता से उसका व्यवहार कर लेते हैं, किन्तु बाजार की वस्तु मजबूरी की अवस्था में ही ख़रीद कर लाते हैं। इसलिए हम लोगों ने साबुन बनाने का निश्चय किया और फ़ैजाबाद से थोड़ा सा कास्टिक सोडा और तेल लाकर कुछ साबुन बना कर तैयार कर दिया। यह साबुन बनाने का कार्य भी गाँव वालों के लिए बिल्कुल नया ही था। नितान्त सरलता-पूर्वक साबुन तैयार होते देख कर लोग आश्चर्य-चकित रह जाते थे। उनकी इस कुतूहल-वृत्ति का लाभ उठा कर हम लोग उन्हें यह समझाने की कोशिश करते थे कि साबुन ही क्यों, यदि वे चाहें तो अपनी ज़रूरत की सम्पूर्ण वस्तुएँ गाँव में ही तैयार कर अपना पैसा बचा सकते हैं। इस प्रकार उनकी धारणा, उनके दृष्टिकोण और उनके आत्म-विश्वास की भावना में उन्नति होती रही। हम लोगों को साबुन बनाते हुए देख कर पण्डित लालताप्रसाद ने भी साबुन बनाना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह उत्तरोत्तर लोगों में साबुन के प्रयोग करने और स्वच्छ रहने की ओर दिलचस्पी बढ़ती रही। मैंने यह अनुभव किया कि गांव की स्वच्छता की समस्याओं को हल करने की दिशा में यह प्रयोग अनुकूल ही सिद्ध हुआ। क्योंकि कुछ ही दिनों के पश्चात् गांव के लोगों को गन्दे कपड़े का व्यवहार करना बुरा प्रतीत होने लगा जिसके परिणाम-स्वरूप लोग बाहरी स्वच्छता में दिलचस्पी लेने लगे।

गांवों में साबुन बनाने की आवश्यकता

कुछ दिनों तक साबुन बनाने का कार्य निर्बाध गति से होता रहा किन्तु कालान्तर में इसमें एक कठिनाई महसूस होने लगी। फ़ैजाबाद और गुसाईंगंज कोई ऐसे औद्योगिक केन्द्र नहीं थे कि वहां से कास्टिक सोडा सर्वदा सरलता-पूर्वक प्राप्त होता रहे।

पं० ललिताप्रसाद जी भी प्रायः यही कहा करते थे कि साबुन बनाने का कोई ऐसा ढंग निकालिए जिसमें हमें बाजार से कोई सामान मँगाने की आवश्यकता न पड़े। अतएव हम लोगों ने गांव में प्राप्त होने वाली रेह से ही साबुन बनाने का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। इस विषय में हम लोगों को रंच मात्र भी अनुभव नहीं था इसलिए हम अपने प्रयोग में सफल न हो सके। आख़िरकार रेह का साबुन न बना पाने पर हम लोगों ने साबुन बनाना ही बंद कर दिया। और सोचा गया कि यदि बाज़ार से ही सामान ख़रीद कर साबुन बनाना है तो बाज़ार के बने हुए साबुन ही क्यों न ख़रीद लिये जायँ। इस तरह हम लोग मेरठ का बना हुआ साबुन ही प्रयोग करने लगे और गांव वाले भी उसी को ख़रीद कर अपना काम चलाने लगे। यद्यपि हमने साबुन बनाना बन्द कर दिया किन्तु मेरे मस्तिष्क से यह बात कभी दूर न हो सकी कि इस उद्योग का प्रचलन गांवों के लिए विशेष महत्व रखता है। कालान्तर में जब इस प्रान्त में कांग्रेसी मंत्रि-मण्डल स्थापित हुआ तो इस दिशा में एक बार पुनः प्रयत्न किया किन्तु फिर भी एक अनुभव-प्राप्त व्यक्ति के अभाव से सफलता न प्राप्त हो सकी। कुछ दिनों के पश्चात् इस प्रकार का एक अनुभवी कार्यकर्ता भी मिल गया पर आर्थिक विषमता ने फिर भी इस कार्य में सफल न होने दिया। यों इस काम को छोड़ ही देना पड़ा किन्तु मेरी यह धारणा क्रमशः दृढ़ होती गई कि एक ग्राम-सेवक के लिए गांव के साधनों से साबुन बनाने का काम हाथ में लेना बहुत उपयोगी सिद्ध होगा और इसके द्वारा गांव की स्वच्छता के कार्यक्रम में पर्याप्त सहायता मिलेगी। स्वच्छता के अन्य कई कार्यक्रमों के विषय में मैं पहले ही लिख चुका हूँ। कालान्तर में अन्य कार्यक्रमों के साथ सफ़ाई का कार्यक्रम किस किस प्रकार सम्बन्धित होता गया, इसकी चर्चा उचित स्थान पर करने की कोशिश करूँगा। अब आज यहीं विदा लेता हूँ। सब भाई-बहिनों को नमस्कार। बच्चों को प्यार।

[२७]

शिक्षा का प्रयोग

१७—६—४१

अब तक हम लोगों को रणीवां आये कई महीने हो चुके थे। लोगों से काफी घनिष्ठता हो गई थी। चर्खे का काम दिन प्रति दिन बढ़ता ही जा रहा था। हम लोगों के सम्पर्क से गांव के लोग अपने बहुत से पुराने संस्कारों और आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में विचार से काम लेने लगे थे। इस तरह यद्यपि धीरे-धीरे लोगों का मानसिक विकास होता जा रहा था किन्तु अब तक शिक्षा का कोई विधिवत् कार्यक्रम निश्चित नहीं हो सका था। मैं स्वयं इसका निश्चय नहीं कर पाया था कि गांव वालों के लिए शिक्षा की किस प्रकार की योजना उपयुक्त होगी। गांव के किसान और मज़दूर दिन भर इस तरह काम में फँसे रहते हैं कि दिन के समय वे किसी स्कूल में अपना समय नहीं दे सकते, और यदि रात की व्यवस्था की जाय तो भी सदियों से पठन-पाठन की ओर दिलचस्पी न होने के कारण स्कूल में आने के लिए उन्हें कोई विशेष उत्सुकता नहीं होगी। इसके अतिरिक्त मुझे स्वयं भी इस बात का सन्देह था कि केवल अक्षर-ज्ञान करा देने से इन्हें कोई लाभ हो सकेगा। स्कूलों में लगातार ६ वर्ष पढ़ कर लोग मिडिल पास होते हैं और तब कहीं उन्हें अन्य विविध पुस्तकों के पढ़ने की योग्यता होती है। ऐसी स्थिति में यदि हमने दिन या रात को उनका थोड़ा सा समय लेकर उन्हें अक्षर-ज्ञान करा भी दिया तो इससे उनके मानसिक विकास में कहां तक सहायता मिल सकती है ? इसी प्रकार के विचारों की उधेड़बुन में पड़कर तथा अन्य कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण हम लोग ग्राम-शिक्षा की कोई स्पष्ट योजना नहीं बना सके। पर धीरे-धीरे हमें यह महसूस होने लगा कि इस दिशा में कुछ न कुछ करना अत्यावश्यक है। प्रारम्भ

में हम लोगों ने यह निश्चय किया कि रामायण का पाठ शुरू किया जाय और उसी के द्वारा इन्हें सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक शिक्षा दी जाय। इस कार्य्य के लिए मकनपुर के नौजवानों ने बहुत उत्साह प्रकट किया अतएव हम लोगों ने नित्य संध्या समय मकनपुर में रामायण का पाठ प्रारम्भ कर दिया। कर्ण भाई और बरहैंची मिस्त्री साथ-साथ रामायण का गाना गाते थे और कर्ण भाई उसकी व्याख्या करते थे तथा उसी व्याख्या के ही सिलसिले में प्रत्येक विषय पर कुछ न कुछ बताया करते थे। कुछ दिनों के पश्चात् यह प्रतीत होने लगा कि इस प्रकार की शिक्षा गांव के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो रही है। धीरे-धीरे लोगों की रुचि इधर बढ़ने लगी और पाठ के समय गांव के सभी लोग उपस्थित होने लगे। इस प्रकार रामायण क्लास में आते-आते लोगों को इस प्रकार के अन्य कामों के लिए भी उपस्थित होने की टेव पड़ने लगी। इसके पहले लोग इसी संध्याकाल में अपने अपने घरों में बैठे-बैठे तम्बाकू खाया करते थे और गांव के दूसरे लोगों पर टीका-टिप्पणी किया करते थे। एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। किन्तु रामायण का पाठ प्रारम्भ होने पर लोगों की इस प्रकार की एक दूसरे के विरोध में कही जाने वाली बातें कम हो गई तथा रोज़ एक साथ उठते-बैठते उनमें आपस में प्रेम और सद्भावना का विकास होने लगा। वास्तव में हमारे गांवों के लोग इतने काहिल और इतने स्वार्थ-रत हो गये हैं कि एक दूसरे से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना भी गुनाह समझते हैं। जब ग्राम-सेवक गांव वालों में एक दूसरे से सम्पर्क पैदा कर सकेंगे तभी वे किसी प्रकार के ग्राम-संठगन का कार्य प्रारम्भ कर सकेंगे। अब भी मेरी यह धारणा बनी हुई है कि ग्रामीण-शिक्षा के कार्य-क्रम में गांव वालों में एक दूसरे के प्रति घनिष्ठता उत्पन्न करना सबसे महत्वपूर्ण बात है। इस कार्य के लिए किसी ऐसे ही साधन को अपनाने की आवश्यकता होगी जिसमें

रामायण पाठ-द्वारा शिक्षा

गांव वाले स्वाभवतः दिलचस्पी रखते हो और उसके लिए प्रति दिन एक ही समय किसी निश्चित स्थान पर इकट्ठा हो सकते हों। प्रतिदिन एक साथ एक स्थान पर बैठने से लोग स्वभावतः एक दूसरे के प्रति प्रेम करने लगेंगे।

[२८]

रोगी-परिचर्या की दिशा में

रामायण-पठन के कार्य से एक लाभ और भी हुआ। लोग दूसरे कार्यों के लिए भी बुलाये जाने पर उसी आश्रम के कारखाने के लिए मिले हुए आंगन में एकत्र होने लगे और वह स्थान एक प्रकार से गांव के लोगों का क्लब बन गया। फिर हमारे निर्णयानुसार बरहँची मिस्त्री उन्हें दिन के समय भी अखबार पढ़ कर सुनाने लगा। कालान्तर में धीरे-धीरे हम लोगों ने रामायण का पाठ प्रति दिन करने के स्थान पर साप्ताहिक करना शुरू कर दिया और शेष दिन उसी स्थान पर नियमपूर्वक रात्रि-पाठशाला का कार्य होने लगा। मिस्त्री उन्हें पढ़ाने का काम करता था। कभी-कभी हम लोग स्वयं भी चले जाया करते थे। हां, एक बात और भी उल्लेखनीय है कि यह रात्रि-पाठशाला मैंने स्थानीय लोगों के अनुरोध करने पर ही प्रारम्भ की थी। इस प्रकार रामायण के द्वारा ग्रामीण शिक्षा के कार्यक्रम के प्रारम्भ करने का प्रयोग बहुत अंशों में सफल ही रहा और उसी का परिणाम है कि आज मैं इस प्रकार कार्य-प्रारम्भ करने का कायल हूँ। जब तक हम गाँव वालों में अभिरुचि और उत्सुकता नहीं उत्पन्न करेंगे तब तक केवल पाठशाला स्थापित कर देने से वे इधर नहीं आकर्षित हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त केवल अक्षर-ज्ञान से ग्राम-शिक्षा का अभिप्राय पूरा नहीं होता। प्रारम्भ में उनके हृदय में संसार की बातें जानने की आकांक्षा

सामाजिक भावना का जागरण

उत्पन्न करनी होगी; फिर तो वे स्वयं ही पढ़ना-सीखने के लिए उत्सुक हो उठेंगे। उस परिस्थिति में वे पाठशाला में काफी उत्साह से भाग लेने लगेंगे। जिस समय मैं गिरफ्तार होकर जेल चला आया उस समय रणीवाँ के आस-पास के लगभग पचीस गाँवों में प्रौढ़-रात्रि पाठशाला का कार्य चल रहा था जिसका विशेष वर्णन मैं अगले पत्रों में करूँगा। फिलहाल इतना ही कह देना पर्याप्त समझता हूँ कि चूँकि हम लोगों ने अन्य-अन्य कार्यों के द्वारा गांव वालों की उत्सुकता जगा कर पाठशाला का कार्यक्रम अपने हाथ में लिया था इसलिए गांव वाले इसमें इतनी दिलचस्पी लेने लगे थे कि हमें इसकी उपयोगिता समझाने के लिए अलग प्रयत्न नहीं करना पड़ा। पाठशाला का स्थान; बैठने का सामान और रोशनी आदि सभी वस्तुओं का प्रबन्ध गांव वाले स्वयं करते थे। पढ़ाने वाले भी गांवों से ही उपलब्ध हुए थे।

इस प्रकार गांववालों के मध्य रह कर उनसे बात-चीत कर रामायण-पाठ का प्रबन्ध कर और रात्रि-पाठशाला के द्वारा दिन को अखबार सुनाने का नियम बना कर हम लोग गाँव की सर्वांगीण शिक्षा के कार्यक्रम में अग्रसर होने लगे।

तुम तो शिक्षा-शास्त्री ही हो। मेरी इस धारणा में यदि किसी प्रकार के सुधार की आवश्यकता हो तो सूचित करना। इससे हमारी भी शिक्षा हो जायगी। अपनी सूचना के साथ पत्रोत्तर अवश्य देना। नमस्कार।

१८—३—४१

अब तक हम लोग रणीवाँ में भली-भाँति जम गये थे और दो-तीन फर्लांग के भीतर के गाँवों में हर प्रकार का कार्यक्रम चलाने लगे थे। यद्यपि कहने के लिए तो हमारा कार्यक्रम चार गाँवों में फैला हुआ था किन्तु वे चारों गाँव मिल कर एक ही गाँव की बराबरी कर सकते हैं। क्योंकि उन सब की जन संख्या पाँच छः सौ से अधिक नहीं है। इस ज़िले की आबादी साधारणतया छोटे-छोटे गाँवों में ही फैली हुई है।

पाँच छः सौ की आबादी वाले गाँव काफ़ी बड़े गाँव शुमार किये जाते हैं। इस स्थिति में कुछ दृष्टियों से लाभ भी है और कुछ से हानि भी। तितर-बितर बिखरी हुई अवस्था में रहने के कारण उनका संगठन करना कठिन होता है किन्तु स्वच्छता की दृष्टि से उनका दूर-दूर रहना बहुत लाभदायक भी होता है। मेरठ, मुज़फ्फ़रनगर सहारनपुर और बिजनौर ज़िले के बड़े-बड़े गाँवों में जिस प्रकार की गन्दगी देखने को मिलती है, वैसी यहाँ नहीं है।

ये चारों गाँव इतने निकट-निकट थे कि हम लोग लगभग नित्य ही इन में घूम लेते थे और प्रति दिन सफ़ाई, चर्खा, रोगियों का इलाज तथा राजनीतिक आलोचना आदि कार्य कुछ न कुछ अंशों में कर ही लेते थे। इनमें रोगियों की सेवा और इलाज के कार्यक्रम ने काफी लोकप्रियता और महत्व का स्थान प्राप्त कर लिया। इस कार्यक्रम में बड़ी सरलता से उन्नति होने लगी। धीरे-धीरे हम लोग कठिन और पुरातन रोगों का भी इलाज करने लगे। स्त्री-रोग और बाल रोगों में आशातीत लाभ प्रकट होने लगा। इस के कारण रोगों की चिकित्सा उन चार के अतिरिक्त अन्य गाँवों के लोग भी हमें जानने तथा हमारे कार्यों से दिलचस्पी और सहानु-भूति प्रकट करने लगे। हम लोगों ने यह निश्चय कर लिया था कि इस क्षेत्र को छोड़कर किसी अन्य देहात में नहीं जाया जायगा। इसलिए लोग रोगियों को लेकर स्वयं हमारे पास आ जाया करते थे। यो भी लोग हमसे मिलने आया करते थे। जिन्हें आवश्यकता होती थी हम दवा देते थे और उनसे अपने कार्यक्रमों के सम्बन्ध में वार्तालाप किया करते थे। वे हमारे धुनने और कातने की क्रिया देखते थे। हमारी रहन-सहन पर विचार करते थे और गाँव वालों से पूछ-ताछ तथा आलोचना-प्रत्यालोचना करते थे। इस प्रकार डेढ़-दो मील तक की दूरी के लोग हमारे कार्यक्रमों से परिचित हो गये और बीमारी एवं दुःख के अवसर पर हमारे पास आने लगे। दवा देने के लिए अब

तक हमने कोई निश्चित क्रम नहीं किया था। हमारे पास दवा रहती थी और कभी किसी के बीमार पड़ने पर उसे किसी भी समय दे दिया करते थे। किन्तु जब दूर-दूर के लोग आने लगे तो कभी कभी उन्हें बड़ी परीशानी होने लगी।

क्योंकि जब हम देहात में रहते थे, घर पर नहीं मिलते थे तो उन्हें रोगी के साथ वापिस चला जाना पड़ता था। इसलिए हमने निश्चय किया कि किसी निश्चित स्थान पर निश्चित समय तक दवा देने का प्रोग्राम रक्खा जाय। किन्तु इसके लिए भी फिर हमारे सम्मुख स्थान की समस्या आ खड़ी हुई। जिस घर में हम लोग रहते थे वह इतना छोटा था कि उसमें हमारे रहने के लिए भी पर्याप्त स्थान नहीं था फिर उसमें दस-बारह व्यक्तियों को एक साथ बैठने के लिए जगह कहां मिलती? हमने इस समस्या को फिर गांव वालों के सामने उपस्थित किया और उन लोगों ने निकट के ईश्वरपट्टी नाम के गांव में इस काम के लिए कोठरी की व्यवस्था कर दी। उसमें भी हम लोगों ने अपने ही हाथ से खिड़की और दरवाजा लगा कर उसे काम के योग्य बनाया। इस गांव में एक विशेषता यह दिखाई दी कि जब हम लोग उस कोठरी को ठीक-ठाक कर रहे थे तो गांव के लगभग सभी नौजवानों ने हमारे काम में सहायता प्रदान की। चार-पांच दिन तक मैंने अपनी कोठरी एवं उसके आसपास का स्थान स्वयं साफ किया किन्तु इस के पश्चात् जब मैं वहां पहुँचता था तो कोठरी और आस-पास के स्थानों की सफाई पहिले ही हो चुकी रहती थी। फिर धीरे-धीरे ध्यान दिलाने पर लोग अपने-अपने घर तथा उसके आस-पास के स्थान साफ़ रखने लगे।

स्वच्छता की रुचि

रणीवां के लगभग एक मील दूर ठाकुर लोगों का चाचीपुर नाम का एक बड़ा-सा गांव है। पहले ज़माने में यह गांव बहुत समृद्धिशाली था। किन्तु दुराचार और दुर्नीति के प्राबल्य के कारण अब

नितान्त दरिद्र बन गया था। अब इसे लोग डाके डालने वाला और दूसरों को लूटने वाला ही कह कर मशहूर करते थे। गाँव के कितने ही नौजवान डाके के अभियोग में लम्बी-लम्बी सजाएँ भुगत चुके थे और शायद अब भी काट रहे हों। सुदूर देहात के लोग भी इसके प्रति घृणा और त्रास की भावना रखते थे। कितने ही लोग तो चाचीपुर का नाम ही न लेते थे। यदि कभी उस गाँव का नाम लेना अनिवार्य हो जाता तो बड़का गाँव या पथरा का गाँव कहते थे। क्योंकि जन-साधारण में यह किम्वन्दती प्रचलित थी कि यदि सवेरे चाचीपुर का नाम ले लिया जाय तो उस दिन दिन-भर खाना नहीं मिलेगा। इसी गांव के ठाकुर माधव सिंह की पुत्रवधू लम्बी अवधि से सन्निपात से ग्रस्त थीं तथा उसके जीने की कोई आशा नहीं रह गई थी। माधव सिंह गांव भर के लोगों के प्रेमभाजन थे। इसलिए सभी व्यक्ति इस बीमारी से चिन्तित थे। इसी समय किसी ने उन्हें सूचना दी कि रणीवाँ में आश्रम खुला है और वहाँ पर दवा मिलती है। उस गांव के कई व्यक्ति आश्रम पर आये। और चाचीपुर चलकर रोगी की औषधि करने का अनुरोध करने लगे। मैं उस समय आश्रम पर मौजूद नहीं था। यद्यपि हम लोगों ने किसी दूसरे गाँव में जाकर दवा न देने का नियम बना रक्खा था किन्तु रोग की भयंकरता और गाँव वालों की आतुरता देखकर कर्ण भाई और निकुंज भाई (जो उस समय कुछ दिन के लिए आश्रम में आये थे) किताब और दवा लेकर उस गाँव में गये और रोग का अध्ययन कर दवा देने लगे। कुछ दिनों बाद वह रोगिणी रोग-विमुक्त हो गई। इस घटना से चाचीपुर के लोग आश्रम के प्रति विशेष आकर्षित हुए और हमारे प्रत्येक कार्य में दिलचस्पी लेने लगे। हमने भी इस गाँव को अपने कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया। धीरे-धीरे यह गाँव इतना अधिक सुधर गया और आश्रम का इतना प्रेमी बन गया कि आज तक हमने रणीवाँ के

चाचीपुर का पुनर्जीवन

आस-पास जो-जो कार्यक्रम प्रारम्भ करने चाहे, उनमें चाचीपुर ही सब का नेता बना। चाचीपुर अपनी कुरीतियों के लिए ज़िले भर में बदनाम हो चुका था; आज लोग इसकी सुधरी हुई अवस्था देख कर आश्चर्य करते हैं। जेल से जब मैंने तुम्हें चिट्ठी लिखना प्रारंभ किया था, उस समय तुमको लिखा था कि ग्रामसेवकों को गाँव में जा कर गाँव वालों की परिस्थिति और उनकी आवश्यकताओं का अध्ययन करना होगा। उसी बात को लेकर सेवा-कार्य प्रारम्भ करना होगा जिससे गाँव के लोग सब से अधिक पीड़ित होंगे। अगर उचित अवसर पर कार्यारम्भ हो सका तो आधे से अधिक कार्य तो तत्काल ही पूरा हो जाता है। चाचीपुर का दृष्टान्त इस बात का पक्का सबूत है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के अवसर देहात में काम करते समय हमें और भी मिले हैं। इसलिए इस सिद्धान्त पर दिन प्रतिदिन मुझे अधिक विश्वास होता गया। चाचीपुर और इसी प्रकार की अन्य घटनाओं से मैंने अनुभव किया है कि डाकू, लुटेरा और बदमाश कहे जाने वाले लोगों के दिल पर अगर किसी प्रकार से प्रभाव पड़ जाय तो वे सुधर कर आदर्शों के प्रति जितने वफ़ादार हो सकते हैं, उतने समाज के भले और अच्छे कहे जाने वाले लोग नहीं हो सकते। ग्राम-सेवकों को इस प्रकार के लोगों से घबड़ाना नहीं चाहिए प्रत्युत धैर्य के साथ प्रतीक्षा करते हुए इस बात की खोज करनी चाहिए कि उनकी हृदय-तंत्री के किस तार पर उँगली रक्खें जिससे उनके जीवन में परिवर्तन की झन-कार झंकृत हो उठे।

मैं चिकित्सा के कार्यक्रम के विषय में लिख रहा था। प्रसंग-वश अपने विषय से हट कर दूसरी बातें लिख गया किन्तु एक प्रकार से यह लिखना भी आवश्यक ही था। क्योंकि यदि ऐसा न करता तो ग्राम-सेवा का एक विशेष अनुभव लिखे बिना ही रह जाता।

गर्मी का मौसम चल रहा था। इसी समय हमें ज्ञात हुआ कि निकट के कुछ गाँवों में हैज़ा फैला हुआ है। कर्ण भाई ने मुझे बताया

कि स्थिति बहुत भयंकर है; चारों ओर से मृत्यु के समाचार प्राप्त हो रहे हैं। हम लोगों ने निश्चय किया कि इस समय सब कुछ छोड़ कर हैज़े की दवा और रोगियों की सेवा करना ही हमारा धर्म है। अतएव हम लोगों ने सर्व-प्रथम यह पता लगाया कि किन-किन गाँवों में हैज़े का प्रकोप फैल रहा है। अभी तक केवल दो ही एक गाँव में बीमारी फैली थी। इससे हम लोगों ने सोचा कि यदि हम इन गाँवों पर अधिकार प्राप्त कर लें तो बीमारी के अधिक फैलने की आशंका नहीं रहेगी। इसलिए दवा आदि लेकर हैज़ा-ग्रस्त क्षेत्र में जाने के लिए तैयार हो गये। रगीवाँ के लोगों को जब यह बात मालूम हुई कि हम लोग हैज़े का इलाज करने जा रहे हैं तो वे हमें रोकने के लिए हमारे पास आकर कहने लगे कि यदि हैज़ा के रोगी को दवा दी गई तो भवानी माई नाराज़ हो जायँगी, गाँव भर में किसी को नहीं छोड़ेंगी, सम्पूर्ण देश को खा जायँगी आदि। किन्तु हम लोग उनकी बातों की उपेक्षा कर अपने निश्चित प्रोग्राम के अनुसार चल पड़े। जब हम गाँव में गये तो देखा कि चमारों के मुहल्ले में प्रायः प्रत्येक घर में रोगी पड़े हुए हैं और परिवार के लोग करुण और असहाय अवस्था में उनके पास बैठे हुए उनकी मौत की प्रतीक्षा कर रहे हैं। किसी-किसी घर के तो समस्त प्राणी रोगाक्रान्त हो गये थे। उनके दरवाजे पर कोई यमदूतों का स्वागत करने वाला भी नहीं बचा था। चारों ओर मृत्युलोक की भयंकर शान्ति छाई हुई थी। कोई मरता था तो उसके लिए लोग रोते भी नहीं थे। क्योंकि उन्हें यह विश्वास था कि रोने से भवानी माई नाराज़ होकर सब को समाप्त कर देंगी। हम लोग जब किसी बीमार के विषय में पूछते थे तो वे बहुत धीरे से फुसफुसा कर उत्तर देते थे और हमसे बात करते समय इस प्रकार डरते थे कि कहीं भवानी माई उनकी बातें सुन न लें।

हैज़े का प्रकोप और भवानी का भय

सन् १९२३--२४ में जब मैं टाँडा में रहता था तो एक बार मुझे

पर हैजे का आक्रमण हुआ था; जिसकी कहानी मैं तुम्हें लिख चुका हूँ। उस समय मुझे अनुभव हुआ था कि यदि हम उन्हें दवा दे जायँगे तो वे उसका सेवन नहीं करेंगे। इसलिए हम लोग दिन भर घूम-घूम कर स्वयं दवा देते थे। इस तरह इलाज और सेवा करने से चार-पाँच दिन में ही परिस्थिति कब्ज़े में आ गई और हैज़ा अधिक फैलने नहीं पाया। जब यह काम समाप्त हो गया और कई दिन बीत गये तो रणीवाँ के लोगों ने यह देख लिया कि भवानी माई नाराज़ हो कर न तो हमी लोगों को खा गई और न तो गाँव के ही किसी व्यक्ति को नुकसान पहुँचाया। इससे उन लोगों के भवानी माई के विश्वास में कुछ शिथिलता अवश्य आई। हम लोगों ने उनकी इस अवस्था का लाभ उठा कर उन्हें यह बताना प्रारम्भ कर दिया कि यह संक्रामक बीमारी है। प्लेग और चेचक आदि बीमारियाँ भी इसी प्रकार की हैं। इनके फैलने का कारण भवानी माई का प्रकोप नहीं है। गाँव वालों के रहन-सहन की ठीक प्रणाली से अनभिज्ञ और स्वच्छता के प्रति लापरवाह रहने के कारण ही इनका आगमन होता है। इसी सिलसिले से हम लोग उनमें गाँव की स्वच्छता, रोग के कारण और उनके निवारण के तरीके आदि का प्रचार करने लगे।

धीरे-धीरे हमारा कार्यक्षेत्र कई गाँवों में फैल गया और दुस्साध्य रोगियों को देखने के लिए हमें बाहर भी जाना पड़ने लगा। थोड़े ही दिनों तक इस प्रकार का कार्य करने पर मुझे अनुभव होने लगा कि यदि हम इसी प्रकार होमियोपैथिक दवायें देते रहे तो गाँव वाले सर्वदा हमारा ही भरोसा करेंगे। कभी स्वावलम्बी नहीं हो सकेंगे। यों तो प्राचीन और असाध्य रोगों का इलाज करना हमारा धर्म ही है किन्तु सामान्य ज्वर, खाँसी, सिर दर्द, फोड़ा-फुंसी आदि का इलाज ऐसा सरल होना चाहिए कि गाँव वाले उसे स्वयं कर लें। इसलिए यह आवश्यक है कि गाँव वालों को गाँवों में मिलने वाली वनस्पतियों और बूटियों से रोग-निवारण का तरीक़ा बताया जाय। इस विषय में

मैं और मेरे साथी कुछ भी जानकारी नहीं रखते थे। अतः हम इस प्रकार का कोई कार्यक्रम अमल में नहीं ला सके। किन्तु कुछ पुस्तकें मँगा कर इस प्रकार का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया और उसी के आधार पर कुछ प्रयोग करने की भी कोशिश की।

कुछ दिनों के पश्चात् मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि इस प्रयोग में किताबों से कोई विशेष सहायता नहीं मिल रही है। हमने इस विषय की कई पुस्तकें देखीं किन्तु वे सभी हमारी आवश्यकता की पूर्ति करने में असमर्थ सिद्ध हुईं। सभी पुस्तकों में प्रायः आयुर्वेद के सरल सरल नुस्खे ही लिखे रहते हैं। किन्तु हमें तो दूब, तुलसी की पत्ती और बेल की पत्ती आदि गाँव में मिलने वाली वनस्पतियों से इलाज की खोज करनी थी और इस दिशा में मदद देने वाली मुझे कोई पुस्तक नहीं मिली। पर मैंने देखा कि गाँव के कुछ लोग और विशेष कर कुछ पुरानी स्त्रियाँ इस प्रकार के टोटकों की जानकारी रखती हैं। हाँ, यह बात सत्य है कि एक ही व्यक्ति अनेक रोगों की ऐसी दवाएँ नहीं जानता; किन्तु यदि कोई ग्राम-सेवक इस प्रकार की दवाओं की खोज करना प्रारम्भ करे और स्थान-स्थान से प्राप्त नुस्खों को सावधानी से नोट करके रोगियों पर उनका प्रयोग करके शोध करे तो कुछ ही दिनों में उसके पास इतनी सामग्री इकट्ठी हो जायगी कि वह अनेक रोगों की चिकित्सा देहाती साधनों से कर सकेगा। इसलिए मैंने गाँव वालों को ही अपना गुरु बनाने का निश्चय किया और जहाँ से भी सम्भव होता था इस प्रकार की औषधियों को जानने की कोशिश करता था। कितने ही अन्य कार्यों में फँसे रहने के कारण मैं इस काम में अधिक आगे नहीं बढ़ सका और अधिकतर होमियो-पैथिक दवाइयों का ही सहारा लेता था किन्तु इस दिशा में थोड़े ही प्रयत्न ने मुझे यह विश्वास करा दिया कि आज भी देहात में टोटकों का ज्ञान इतना अधिक फैला हुआ है कि उचित ढंग से खोज करने

गाँवों में नवीन चिकित्सा क्रम की आवश्यकता

पर साधारण रोगों की चिकित्सा की सम्पूर्ण पद्धति का आविष्कार हो सकता है। और गाँव के लिए वही पद्धति सब से उपयुक्त होगी। क्योंकि इस पद्धति से उन्हें दवा भी सरलता-पूर्वक प्राप्त हो सकेगी और धीरे-धीरे उनकी जानकारी भी बढ़ती जायगी। मुझे इस बात का विशेष दुःख है कि मैं आज तक इस काम को नहीं कर सका। जब कांग्रेस के लोगों ने मंत्रिपद ग्रहण किया था तो मैंने एक बार इसके लिए कोशिश की थी। मैं चाहता था कि मुझे कोई उत्साही और नवयुवक वैद्य-शास्त्री मिल जाय और मैं उसकी सहायता से इस प्रकार की खोज कर सकूं। किन्तु मैं अधिकारियों को इसकी महत्ता नहीं समझा सका। तुम यह प्रश्न कर सकती हो कि जिस बात को हम स्वयं गाँव वालों से सीखेंगे; फिर उन्हीं बातों को गाँव वालों को सिखाने से क्या लाभ? किन्तु मैंने पहले ही कह दिया है कि एक आदमी बहुत रोगों की दवा नहीं जानता है। कहीं कोई कुछ जानता है तो कहीं कोई दूसरी बात जानता है। इसलिए उन्हें संग्रह कर और फिर रोगियों पर प्रयोग कर के तथा शास्त्रीय ढंग से उनकी परीक्षा करके उनका परिशोध करना है। इस तरह एक सम्पूर्ण चिकित्सा-प्रणाली बन जायगी तो गाँव वालों को सिखाना सरल होगा। और उनके लिए वही चीज़ नई हो जायगी। किन्तु जब तक इस प्रकार की सर्वाङ्गीण खोज करने की सुविधा नहीं मिलती है, तब तक ग्राम-सेवकों को चाहिए कि वे इस दिशा में जहाँ तक प्रयत्न कर सकें करते रहें। रोगियों की सेवा करने में मुझे जो कुछ अनुभव हुआ वह प्रायः सम्पूर्ण मैंने इस पत्र में लिख दिया। यह पत्र बहुत लम्बा हो गया। इसलिए इसे यहीं समाप्त करता हूँ। नमस्कार।

---

[२६]

मज़दूरी का सवाल

२३—६—४१

रणीवाँ में दवा आदि कार्य के साथ चर्खे का कार्य दिन प्रतिदिन वृद्धि ही पाता रहा। किन्तु कुछ दिनो के अनुभव से हमें ज्ञात हुआ कि यह जो चर्खे की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ रही है उसमें लोगों की स्वाभाविक रुचि नहीं है। अधिकतर लोग हमारे व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण संकोच से ही चर्खा चलाते हैं। उनके रंग-ढंग से ऐसा प्रतीत होता था कि वे चर्खा चलाने से कुछ अधिक लाभ नहीं समझते। कुछ स्त्रियाँ तो हमसे साफ़-साफ़ कहती थीं कि 'भैया, इतनी मिहनत करके सूत कातें और बदल-बदल कर रूई लायें। इस प्रकार इतने काल तक मिहनत करके कहीं एक धोती बन पाती है। इससे तो अच्छा यही है कि हम बाज़ार से धोती ख़रीद लें। लाभ के अनुपात से हमें परिश्रम बहुत अधिक करना पड़ता है।' हम उन्हें यह कह कर समझाने का प्रयत्न करते थे कि जो कुछ लाभ होता है वह बैठे रहने से तो बहुत अधिक है। किन्तु इससे उन्हें अधिक सन्तुष्टि नहीं होती थी। वे कहती थीं कि तुम कहते हो इसलिए कातती हैं, नहीं तो यह बिल्कुल व्यर्थ काम है। कुछ लोग तो अपने घरों में कताई का कार्य इसलिए जारी रखते थे कि एक तो इससे कुछ थोड़ा-बहुत

चर्खे का आर्थिक कपड़ा मिल जाता था, दूसरे चर्खे में व्यस्त रहने के

पक्ष कारण उनके घरों की स्त्रियों को आपस में झगड़ा करने का अवसर कम मिलता था। हम अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध के प्रभाव से तथा कुछ आर्थिक और नैतिक लाभ बता कर उनसे चर्खा अवश्य चलवा लेते थे किन्तु गाँव की स्त्रियों के सन्देह ने हमें भी कुछ सन्देह में डाल दिया। अतः मैं चर्खे की वास्तविक आय का पता लगाने में लग गया। शुरू-शुरू में जब मैं अकबर-

पुर आया था तब भी मुझे एक बार सन्देह हुआ था और मैंने श्री राजाराम भाई से इसकी चर्चा भी की थी। उन दिनों हम लोगों ने हिसाब कर के देखा था कि यदि कोई स्त्री दिन भर बैठी कातती रहे तो वह चार पैसे पारिश्रमिक प्राप्त कर सकती थी। हिन्दुस्तान के किसानों के लिए इतनी आय भी कम न थी जब कि उनके साल के चार-पांच माह बिल्कुल बेकारी में बैठे-बैठे कट जाते हैं। उस समय हम लोग मध्यम श्रेणी के ब्राह्मण और क्षत्रियों के घर चर्खा नहीं चलवा सके थे क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति आज से अच्छी थी और इतनी थोड़ी मज़दूरी के लिए वे परिश्रम करने को तैयार नहीं थे। कुर्मियों की बात दूसरी थी। उनका तो मिहनत करने का स्वभाव ही होता है। इसलिए उनके लिए बेकार रहने की अपेक्षा चार ही पैसे की आमदनी विशेष महत्व रखती है। रणीवां के आस-पास के मध्यम श्रेणी के लोगों ने चर्खा चलाना स्वीकार किया, इसके दो कारण थे। एक तो हमारा व्यक्तिगत सम्बन्ध का संकोच और दूसरे यह कि आज उनकी स्थिति सन् २३-२४ की अपेक्षा अधिक दीनता-पूर्ण हो गई थी।

मैंने चर्खे की आय की परीक्षा की तो मुझे ज्ञात हुआ कि सन् २३ में हम लोगों ने मज़दूरी का जो हिसाब लगाया था उसकी तुलना में आज की आमदनी आधे से भी कम हो गई है। इस स्थिति को देख कर मैं काफ़ी परीशान हुआ। कारण का विचार करने पर मुझे अनुभव हुआ कि खादी-संसार में सन् १९३० से ही एक नई मनोवृत्ति उत्पन्न हो गई थी। लोगों ने खादी सस्ती करने का घोर आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन में चर्खा-संघ के अधिकारी भी सम्मिलित थे। इसलिए खादी कार्यकर्ताओं को खादी सस्ती करने के लिए अथक परिश्रम करना पड़ा। सभी वस्तुओं का भाव गिरने के साथ-साथ रुई का भाव तो गिर ही गया था किन्तु लोग इतनी ही कमी से संतुष्ट नहीं थे। वे तो मिल के साथ मुक़ाबला करने की असम्भव परिस्थिति का स्वप्न देख रहे थे। इन कोशिशों के कारण कताई की

मज़दूरी तो कम हो गई किन्तु कताई की गति में कोई वृद्धि नहीं हुई। रणीवाँ के आस-पास लोगों ने पहले पहल चर्खा चलाना प्रारम्भ किया था इसलिए उनकी गति साधारण गति से भी कम थी। धुनाई की कला सिखा कर हम लोगों ने उनकी गति बढ़ाने का प्रयास किया था किन्तु आय का ब्योरेवार हिसाब करने पर ज्ञात हुआ कि धुनाई और कताई का छीजन घटा देने से एक कत्तिन की आठ घंटे की आमदनी तीन पैसे भी नहीं होती थी; अभी हम लोग इस अवस्था पर विचार ही कर रहे थे कि समाचारपत्र में गांधी जी की 'जीवन-मज़दूरी' के सिद्धान्त का एलान पढ़ने को मिला। प्रारम्भ में तो हमें बड़ी प्रसन्नता हुई किन्तु साथ ही यह भी विचार आया कि यदि गांधी जी के इस आठ आने के हिसाब से खादी का दाम लगाया जाय, तो खादी बिकेगी ही नहीं। फिर हम उन्हें अधिक मज़दूरी देने की अपेक्षा जो दे रहे हैं वह भी नहीं दे सकेंगे। हम लोग रणीवाँ में इस विषय पर विचार-विनिमय करते रहे। साथ ही मैंने गांव के लोगों से भी इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। इस प्रकार अन्ततः हम लोग इस परिणाम पर पहुँचे कि आज की मज़दूरी की परिस्थिति में परिवर्तन लाना तो आवश्यक ही है किन्तु यह आठ आने की योजना भी सम्प्रति अव्यावहारिक है। मैं सोचता था कि यदि कत्तिनों को वर्तमान मज़दूरी से दूनी मज़दूरी मिलने लग जाय तो कुछ स्वाभाविक और सुविधा-जनक परिस्थिति उत्पन्न होजायगी। इसलिए मुझसे जब इस विषय में सम्मति मांगी गई तो मैंने लगभग इसी प्रकार की सम्मति भेज दी थी।

जीवन-वेतन का सिद्धान्त

इस प्रकार मैंने अपनी राय तो भेज दी थी किन्तु मेरे मस्तिष्क में गांधी जी के एलान के सम्बन्ध में तरह-तरह की भावनाएँ उत्पन्न हो रही थीं। यद्यपि यह निश्चित था कि चर्खे की मज़दूरी दो आने कर देने से लोगों की चर्खा चलाने की अरुचि दूर हो

जाती, और गाँव की स्त्रियाँ चर्खा चलाने के लिए तैयार हो जातीं परन्तु गाँधी जी तो आठ आने मज़दूरी कर के गाँव की सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति में क्रान्ति करना चाहते थे। इस तथ्य को मैं भी समझता था कि यदि यह मज़दूरी सम्भव हो जाय तो हम केवल कत्तिनों के ही द्वारा ग्रामीण समाज में क्रान्ति उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए मैं गांधी जी के एलान पर और भी गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगा। किन्तु इतनी मज़दूरी सम्भव हो सकेगी, इसकी कल्पना करना कठिन प्रतीत हो रहा था। इसलिए मैंने अपनी सम्मति दो ही आने के पक्ष में भेजी। कुछ दिनों के पश्चात् जब सम्पूर्ण खादी कार्यकर्ता गांधी जी के एलान के विरोध में सम्मति देने लगे तो गांधी जी ने प्रत्येक प्रान्त के लोगों को अलग अलग बुला कर इस विषय पर विचार-विमर्श करना प्रारम्भ किया। इसी सम्बन्ध में विचित्र भाई और अनिल भाई वर्धा जा रहे थे। उन्होंने मुझे भी वर्धा पहुँचने को लिखा। हम लोग वर्धा पहुँच कर गांधी जी से मिले। हमारे साथ दूसरे प्रान्तों के भी कार्यकर्ता थे। गांधी जी से वहुत देर तक आलोचना-प्रत्यालोचना होती रही। वह हर एक की शंका का समाधान बड़े विस्तार के साथ करते थे। वहां की वार्ता सुन कर मुझ में यह भाव अंकुरित हो उठा कि यह मजदूरी बढ़ाने का कार्य हमें अवश्य करना चाहिए। क्योंकि अगर हम मजदूरी बढ़ा देते हैं तो हमें संसार के समक्ष महँगी खादी पेश करने के लिए एक बहुत बड़ा नैतिक आधार मिल जायगा। अब तक भी हम जो खादी बेचते रहे वह भी विदेशी कपड़े या मिल के कपड़े से मँहगी ही रही। इस मँहगी खादी को दुनिया के सामने उपस्थित करने का हम लोगों के पास केवल एक यही आधार था कि खादी के द्वारा हम देहात के कुछ ग़रीब लोगों को बेकार समय में काम देकर कुछ पैसे दिला सकते हैं। वह पैसा कितना है; उसे कहने में भी शर्म मालूम होती थी। किन्तु 'जीवन-मजदूरी' के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने से हम न केवल नैतिक

दृष्टि से कत्तिनों के प्रति न्याय करते हैं प्रत्युत देहाती समाज को पुनर्गठित करने के लिए इसे हम अपना बहुत बड़ा साधन बना सकते हैं। इसका प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र के स्वराज्य आन्दोलन पर भी पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में खादी मँहगी होने पर भी बिक्री कम हो जाने का बहुत अधिक भय नहीं रहेगा। क्योंकि खादी की बिक्री तो राष्ट्रीय भावना पर ही निर्भर है और राष्ट्रीय भावना हमारे कार्य-क्रम की शैली पर ही अवलम्बित है।

एक ग्रामसेवक की दृष्टि से मुझे इसमें एक दूसरा लाभ भी दृष्टिगोचर होता था। मैं तुम्हें पहले ही लिख चुका हूँ कि भारत के ग्रामीण समाज का सुधार नहीं हो सकता है, जब गांव की स्त्रियों का सुधार हो जाय और स्त्रियां समाज-सेवा का भार अपने हाथ में ले लें। साथ ही मेरा यह भी विश्वास है कि हम इस विषय में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक शीघ्र तैयार कर सकते

स्त्रियों में कार्य की आवश्यकता

हैं और वे हमारी बातें अधिक आसानी से समझ सकती हैं। यदि हम कत्तिनों को इतनी पर्याप्त मजदूरी देने की व्यवस्था कर लें तो हम उनका सम्पूर्ण ध्यान अपनी ओर खींच सकेंगे। और थोड़े ही प्रयत्न से उनके भीतर राष्ट्रीय और समाज-सेवा की भावना उत्पन्न कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त उनमें से अधिकांश हमारे निर्देशानुसार ग्राम-सेविका का कार्य भी कर सकती हैं। क्योंकि इस प्रकार वे हमारे संघ का अंग ही बन जाती हैं। सन् १६२६ ई० में जब बापू मेरठ आये थे तो उन्होंने कहा था—"तुम्हारा कार्य प्रत्येक कत्तिन को स्वराज्य-वादिनी बना देना है।" इस बार वर्धा में जब गांधी जी से जीवन-मजदूरी के विषय में चर्चा हो रही थी तो मुझे अनुभव हुआ कि इस परिस्थिति में कत्तिनों को स्वराज्य-वादिनी बना देने की कल्पना का सफल होना सम्भव हो सकेगा। यह सोच कर मैंने विचित्र भाई से कहा कि अब तक मेरे हृदय में सन्देह था किन्तु अब मैं समझता हूँ कि जीवन-

मजूरी के सिद्धान्त के अनुसार चलने पर हमारे आन्दोलन का कल्याण होगा। विचित्र भाई ने एक मधुर परिहास करते हुए मेरी राय से असहमति प्रकट की। किन्तु मैंने स्वयं इस विषय पर जितना ही सोचा उतनाही मेरा विश्वास दृढ़ होता गया और कालान्तर में जब-जब मुझे अवसर मिला इस दिशा में कुछ न कुछ करने की कोशिश की। इन प्रयोगों के अनुभव से आज यह मेरा दृढ़ विश्वास हो गया है कि यदि चर्खा संघ कत्तिनों की उचित शिक्षा और मार्ग-प्रदर्शन की व्यवस्था करते हुए कुछ दिनों में आठ आने मजूरी देने के सिद्धान्त पर पहुँच जाय तो गाँधी जी की चर्खे के द्वारा स्वराज्य-स्थापना की बात चरितार्थ हो कर उसकी निश्चित रूपरेखा हमारे सामने स्पष्ट हो जाय।

वर्धा में इस प्रकार शंका-समाधान कर के हम लोग वापस लौट आये। चर्खा संघ ने आठ आने मजूरी का सिद्धान्त नहीं स्वीकार किया किन्तु आज तीन आना तक तो कर ही दिया है। इस तीन आना के ही आधार पर हम लोग कत्तिनों में क्या क्या कार्य कर चुके हैं, इसके विषय में फिर कभी लिखूँगा। आज पत्र यहीं समाप्त कर रहा हूँ।

---

[३०]

सेवा-क्षेत्र का विस्तार

६—१०—४१

हमारे रणींवां-जीवन का लगभग एक वर्ष बीत चुका था। इस अवधि में हमारा कार्यक्रम प्रायः ६-७ गाँवों तक फैल गया था और दूर के ग्राम-वासियों से भी परिचय हो गया था। हमने अपने कार्य का विवरण श्री शंकरलाल भाई को लिख भेजा। जब बापू जी को यह ज्ञात हुआ कि हम लोग कई गाँवों में कार्य कर रहे हैं तो उन्होंने श्री

शंकरलाल भाई से कहा कि तुम धीरेन्द्र को लिख दो कि वह इस सम्बन्ध में मुझसे वार्तालाप कर ले। अतएव श्री शंकरलाल भाई के आदेशानुसार सेवाग्राम जाकर बापूजी से मिला तथा तीन-चार दिन तक उनसे बातें करता रहा। बापू जी का अभिप्राय यह था कि मैं अपने ग्रामसेवा का काम एक ही गाँव तक सीमित रक्खूँ। किन्तु मेरी विचारधारा इस के प्रतिकूल कई गाँव का एक क्षेत्र बना कर कार्य करने की थी। बापू जी कहते थे कि यदि तुम लोग ऐसा करोगे तो तुम्हारी कार्य-कारिणी शक्ति कई गाँवों में विभाजित हो जायगी जिस का परिणाम यह होगा कि तुम कहीं भी सफल न हो सकोगे। किन्तु इसके विपरीत मेरा निजी अनुभव यह था कि ग्रामीण लोग किसी प्रकार के नवीन परिवर्तन की एक निश्चित गति रखते हैं। हम अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी उस निश्चित गति में किसी प्रकार की तीव्रता नहीं ला सकते। उन्हें हमारे रहन-सहन, हमारे कार्य करने के ढंग एवं हमारी शिक्षा का प्रभाव ग्रहण करने के लिए एक निश्चित समय की अपेक्षा होगी। चाहे हम वह समय एक ही गाँव के सम्पर्क में बैठे रह कर व्यतीत करें या कई गाँवों के सम्पर्क में लगावें और कई गाँवों के लोगों के दृष्टिकोण में अन्तर लाने की कोशिश करें, समय एक ही लगेगा।

बापू से भिन्न अनुभव

इस के अतिरिक्त प्रत्येक गाँव में हमारे प्रोग्राम के साथ कुछ ही व्यक्ति सहानुभूति रखते हैं, शेष लोगों को अपने साथ लाने में समय लगता है। तिस पर भी कुछ व्यक्ति तो कभी साथ नहीं आते। इसी प्रकार प्रत्येक गाँव के कुछ व्यक्ति तो स्वभावतः हम से सहानुभूति रखते हैं और शेष कुछ लोगों को साथ लाने में हमें उसी समय की आवश्यकता होती है जिसे हम एक गाँव के लोगों को साथ लाने में व्यय करते हैं। इसके अलावा सभी व्यक्ति सभी प्रोग्रामों में सम्मिलित नहीं होते। रुचि-वैभिन्न्य के कारण कोई एक प्रोग्राम में भाग लेता है, कोई दूसरे में। इस प्रकार अगर हम कई

गांवों का क्षेत्र लेते हैं तो सम्पूर्ण क्षेत्र मिलाकर हमारे प्रोग्राम के हर एक पहलू पर काफी संख्या में लोग अमल करने लग जाते हैं और हम उनके सहारे अपने प्रोग्राम को आगे बढ़ा सकते हैं। कुछ कार्यक्रम तो इस प्रकार के होते हैं कि उन्हें संचालित करने के लिए गांव में वायु-मण्डल तैयार करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, हम चाहे कितना ही झाड़ू देते रहें, कितना ही टट्टी साफ करते रहें और हल चलाना आदि कार्य अपने हाथ से करते रहें, परिश्रम की मर्यादा स्थापित करने के लिए हम साक्षात् आदर्श ही क्यों न बन जायं, किन्तु एक ठाकुर घर का राजकुमार एवं उस घर के अन्य लोग इस प्रकार के कार्य करने का साहस नहीं करेंगे। इच्छा रखते हुए भी वे ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि इस से उनके समीपवर्ती विरादरी के लोग उन्हें तुच्छ समझने लगेंगे। इसी प्रकार ब्राह्मणों के लिए तांत छूना, पंक्ति-पावन लोगों का चक्की चलाना और छुआछूत दूर करने आदि के विकट प्रश्न सामने आते हैं। लोगों का चाहे कितना ही बौद्धिक विकास हो जाय किन्तु प्राचीन परम्परागत रूढ़ि को त्याग कर किसी नवीन बात को ग्रहण करने का साहस उनमें नहीं आ पाता। गांव में एक आध ही ऐसे दुस्साहसी व्यक्ति मिलते हैं जो इन पुरानी बातों को छोड़ने के लिए तैयार होते हैं। किन्तु अकेले होने के कारण उनका साहस ढीला पड़ जाता है। यदि एक पूरे क्षेत्र के कई गांव के कई व्यक्ति इस विचार के प्राप्त हो जायँ तो उन्हें एक दूसरे से बल मिलता है और उनके आगे बढ़ने से सम्पूर्ण क्षेत्र के वायुमण्डल में एक साहस की लहर पैदा हो जाती है और धीरे-धीरे दूसरे लोग भी उनका साथ देने लगते हैं। कई गांवों का एक क्षेत्र चुनने से एक विशेष लाभ और होता है। प्रत्येक गांव के कुछ अलग-अलग ढंग होते हैं इसलिए कोई कार्य-क्रम किसी एक गांव में चल जाता है तो कोई किसी दूसरे में चल जाता है। हम लोगों के उस क्षेत्र में भी यही हुआ। हम लोगों ने सबसे अधिक समय रणीवां में रह कर व्यतीत

किया किन्तु चाचीपुर में पहले ही अधिक चर्खा चल गया। चतुरी पट्टी नामक गांव के सम्पर्क में हम लोग बहुत पीछे आये किन्तु उस गांव में सबसे अधिक चर्खा चलने लगा था किन्तु आश्रम से सटे हुए गांव केवाड़ी में आठ साल प्रयत्न कर के हम एक भी चर्खा नहीं चलवा सके। छुआ छूत के सम्बन्ध मे भी यही हुआ। आश्रम से डेढ़ मील दूर के एक गांव के कई नौजवान आश्रम में सबके साथ खाने-पीने लगे, फिर अन्य गांव के लोग भी खाने-पीने का साहस करने लगे और अब वहां वायु-मण्डल अनुकूल हो जाने से इस सम्बन्ध में कहीं किसी प्रकार का विरोध भी नहीं प्रकट किया जाता।

रणीवां के निवासियों ने हमारे कहने से एक बार तम्बाकू पीना छोड़ दिया था। किन्तु अन्य स्थानों से उस गांव में अतिथि आने पर जब उन्हें तम्बाकू नहीं दी गई तो सम्पूर्ण बिरादरी में एक हलचल खड़ी हो गई। क्योंकि बिरादरी की संगति में बैठ कर तम्बाकू न पीना एक प्रकार की बेइज्ज़ती करना समझा जाता है। इस प्रकार बहुत से प्रोग्राम ऐसे हैं कि जब तक अनुकूल वातावरण नहीं पैदा होता है तब तक व्यक्तिगत रूप से वे चल नहीं पाते हैं।

मैं गाँधी जी से तीन-चार दिन तक बातें करता रहा किन्तु हम लोग सहमत नहीं हो सके। अन्त में बापू जी ने कहा—"जाओ, अपने ढंग से काम करो, अन्त में अनुभव तुम्हें मेरी बात का कायल बना देगा।" उन्होंने जेठालाल भाई का भी उदाहरण दिया और कहा :—"जेठालाल भी आरम्भ में इसी प्रकार की बातें करता था, मगर अब उस की राय बदल गई है।" बापू जी की इन बातों से भी मेरी धारणा परिवर्तित न हो सकी। और मैं उनको प्रणाम कर और उनका आशीर्वाद ले कर रणीवाँ लौट आया। तब से छः वर्ष बीत गये। मै इस प्रश्न पर सर्वदा विचार करता रहा, किन्तु इतने काल तक देहात में काम करने पर भी मेरे विचार में कोई परिवर्तन नहीं आया। प्रत्युत अपनी ही धारणा दिन प्रति दिन और भी दृढ़ होती

गई। तुम जब रणीवाँ आई थीं तो इस प्रश्न पर तुमसे आलोचना-प्रत्यालोचना हुई थी। उस समय तुम भी मुझ से सहमत प्रतीत होती थीं। मालूम नहीं, आज इस विषय पर तुम्हारी क्या सम्मति है?

---

[३१]

रणीवाँ आश्रम की स्थापना

१०—१०—४१

जेल का जीवन

कल ही तुम्हें एक पत्र लिखा था; परन्तु आज भी कुछ अवकाश पाकर फिर लिखने बैठ गया। यह तो तुम्हें विदित ही है कि जेल का जीवन विचित्र हुआ करता है। कभी मन में आता है कि खूब सोयें तो कभी जी चाहता है कि दिन भर पढ़ते ही रहें और कभी चर्खा चलाने बैठते हैं तो मन दिन भर चर्खा चलाने को ही कहता है और यदि कभी हुल्लड़ करने को मिल जाय तो फिर कहना ही क्या? उस दिन की तो हम लोग जेल-जीवन में गिनती ही नहीं करते। जिस दिन लोगों की तबीयत जिधर मचल जाय, उस दिन लोग उसी में मस्त हो जाते हैं। अभी सप्ताहारम्भ की तो बात है। कुछ लोगों ने निश्चय किया कि गांधी-जयन्ती के अवसर पर कताई होनी चाहिये और २५ से २-१०-४१ तक जितना सूत कते, सब गांधी जी को भेंट किया जाय। पहले निश्चय किया गया कि सप्ताह भर में एक लाख छियालीस हज़ार गज़ सूत काता जायगा। किन्तु जब कातना शुरू किया गया तो लोगों के दिमाग़ में कातने की ही बात घुस पड़ी और निश्चय हुआ कि तीन लाख गज़ सूत कातना चाहिये, किन्तु अन्ततः लोग उसमें इतना तन्मय हो गये कि सप्ताहान्त तक लगभग साढ़े छः लाख गज सूत कत कर तैयार हो गया। इस तरह जेल की ज़िन्दगी एक धुन की जिन्दगी होती है। इसी तरह जब चिट्ठी लिखने की धुन

आ जाती है तो यही जी चाहता है कि सर्वदा लिखा ही करूँ। इस-लिए मैं आज फिर चिट्ठी लिखने बैठ गया।

अब तक के पत्रों में मैंने अपने गाँव के काम के अनुभव का ही उल्लेख किया है; आज रणीवाँ आश्रम के सम्बन्ध में कुछ बातें बताऊँगा। यह मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि शुरू-शुरू में हम लोग केवल तीन आदमी ही रणीवाँ आये थे। फिर रामफेर भाई और बहरँची मिस्त्री आगये। कुछ समय पश्चात् मेरठ से प्रेमनारायण भाई ग्राम-सेवा करने के विचार से चले आये। इस तरह हम लोगों की संख्या तीन से छः हो गई। एक छोटी सी कोठरी में छः आदमियों का रहना कठिन हो रहा था। इधर कई माह से हम लोग यह महसूस करने लगे थे कि जब रणीवाँ में सर्वदा के लिए निवास करना निश्चित-सा हो गया और अब इस स्थान ने एक आश्रम का रूप धारण कर लिया है तब हमें गाँव से बाहर कोई उपयुक्त ज़मीन मिल जाय तो वहीं छोटी-मोटी झोपड़ियाँ डाल लेनी चाहिएँ। यों तो गाँव वालों ने हमें जो भी स्थान दिये थे, प्रेम और आदर से ही दिये थे किन्तु हम लोग यह अनुभव करते थे कि वे लोग संकोच-वश हमें

आश्रम के लिए ज़मीन का चुनाव

आश्रम के लिए स्थान देकर स्वयं तंगी का अनुभव करते थे। इसके अतिरिक्त अब आश्रम में ग्राम-सेवा की शिक्षा पाने के लिए तरह-तरह के नवयुवकों का आगमन सम्भव है, उस परस्थिति में गाँव के भीतर चौबीसो घंटे हिल-मिलकर रहना उचित न होगा। इन सम्पूर्ण बातों का विचार कर हमने गाँव वालों के समक्ष अपना प्रस्ताव रक्खा और उनसे जमीन माँगी। कई स्थान देखे गये और आश्रम निर्माण की भिन्न-भिन्न योजना बनने लगीं। दीवार कच्ची ईंट की रक्खी जाय या बिलकुल कच्ची हो और फूस से बनाई जाय या खपरैल से इत्यादि विषयों में विवाद चलने लगा।

इसी प्रकार ज़मीन के सम्बन्ध में भी नित्य विचार निश्चित होता था और दूसरे दिन पलट जाता था। अन्ततः श्री लालताप्रसाद जी

मिश्र ने गाँव से दक्खिन खेतों के मध्य लगभग एक बीघा भूमि प्रदान की और ज़ोर दिया कि आप लोग वहीं पर अपनी झोपड़ियाँ बनालें। उस स्थान पर एक कुआँ भी था इसलिए हम लोगों ने उसी स्थान पर आश्रम बनाने का निश्चय किया।

आश्रम बनाने का निश्चय करके मैं किसी काम से मेरठ चला गया। मेरठ से लौट कर आश्रम-निर्माण के लिए साधन इकट्ठा करने की युक्तियाँ सोचने लगा।

वह टीलों का आकर्षण

एक दिन संध्या समय मैं और पं० लालताप्रसाद गाँव के दक्षिण की ओर घूमने निकले। कुछ दूर जाने के बाद हम लोग एक जंगल के समीप आ पहुँचे। वह जंगल एक बहुत बड़े तलाब के चारों ओर फैला हुआ था। तालाब बहुत प्राचीन होने के कारण भठ चुका था। सुन्दर चाँदनी रात थी इसलिए वह स्थान बहुत आकर्षक प्रतीत होता था। मैं जंगल के मध्य तालाब के खुले मैदान पर बैठ गया और पं० जी कुल्ला करने चले गये। मैं बैठे-बैठे सोच रहा था कि यदि इस जंगल का कोई कोना प्राप्त हो जाता तो आश्रम बनने के लिए बहुन सुन्दर और एक आदर्श स्थान होता। गाँव से कुछ दूर भी था और बन जाने पर देखने में भी एक प्राचीन काल के आश्रम के ही समान ही प्रतीत होता। साथ ही मुझमें वह कल्पना भी जाग्रत हो उठी जिसे मैंने अपने कश्मीर-निवास के समय गाँव के सेवा-कार्य के लिए एक केन्द्रीय संथा बना कर आस-पास के नौजवानों को शिक्षित कर देहात को संगठित करने के रूप में किया था। अपनी उसी कल्पना के अनुसार मैंने मेरठ के निकट रास्ना में कार्य करना प्रारम्भ किया था। किन्तु अनुभवहीन विद्यार्थियों के द्वारा संचालित किये जाने के कारण वह सफल न हो सकी थी। अब तो मैं रणीवाँ में सर्वदा के लिए बैठ रहा था तो क्या फिर एक बार और कोशिश करना उपयुक्त नहीं होता। जिस समय मैंने रास्ना की योजना

बनाई थी, उस समय मेरे विचार में ग्रामोद्योग की बात नहीं आई थी। उस समय तो मैं केवल कताई और बुनाई के ही द्वारा ग्राम-संघटन की कल्पना कर रहा था।

ग्रामोद्योग—संघ की स्थापना कर गांधी जी ने हम लोगों के लिए ग्राम-संघटन का बहुत बड़ा क्षेत्र खोल दिया था। इसलिए मैंने रास्ता में जितनी बड़ी केन्द्रीय संस्था की कल्पना थी, उससे भी बड़ी कल्पना उस तालाब के मैदान पर बैठे-बैठे कर डाली। यह सोच कर वह स्थान मुझे और भी सुन्दर प्रतीत होने लगा कि वहाँ रह कर भविष्य में अनुकूल परिस्थिति मिलने पर हम आगे भी बढ़ सकेंगे।

थोड़ी देर में पं० लालता प्रसाद जी कुल्ला कर के लौट आये। मैंने उनसे पूछा कि यह ज़मीन किसकी है? उन्होंने मेरे प्रश्न का अभिप्राय पूछा तो मैंने अपना उद्देश्य कह सुनाया। पंडित जी हँसकर कहने लगे कि इन जंगली सियारों के बीच कहाँ आकर निवास करेंगे? यहाँ कहीं निकट में पानी भी तो नहीं है। मैंने आप को जो स्थान दिया है वह आप के लिए बहुत सुन्दर और साफ़ स्थान है। यहाँ तो घर बनाने के लिए भी कोई स्वच्छ स्थान नहीं है। सब टीला और जंगल है। आप घर बनायेंगे भी तो कहाँ बनायेंगे? फिर भी मैंने उनसे ज़मीन के मालिक का नाम बता देने का आग्रह किया। मेरा आग्रह देख कर वे हँस पड़े और कहने लगे:—"कोई हर्ज नहीं, यदि जंगल में ही निवास करना है तो यहीं घर बनाइये। किसी से पूछना नहीं है। जमीन अपनी ही है।" तब मैं उसी स्थान पर आश्रम-निर्माण का निश्चय करके घर लौट आया और कर्ण भाई से सारी बातें कह सुनाईं। दूसरे दिन प्रातःकाल श्री कर्ण भाई और पं० लालता प्रसाद पुनः उस स्थान को आश्रम भवन-निर्माण की दृष्टि से देखने के लिए गये। स्थान कर्ण भाई को भी बहुत पसन्द आया और वे लोग जंगल का एक कोना पसन्द करके लौट आये।

शुभस्य शीघ्रम। हम लोगों ने उसी समय गाँव से फावड़े और

टोकरियाँ इकट्ठी कर लीं और सवेरे से ही उस स्थान पर जुट गये। जंगल की सफाई और टीले को काट छाँट कर बराबर करने का कार्य प्रारम्भ हो गया। हमारी इस चेष्टा को देखकर गांव के लोग हँसने लगे। आपस में कहते थे कि भला इतना ऊँचा टीला ये लोग किस तरह काट सकेंगे? यह तो टिटिहिरियों के समुद्र सोखने का साहस करने-जैसा है। किन्तु हम लोग उनकी बातों को अनसुनी करके अपने फावड़े और टोकरियाँ लेकर काम पर जुट जाया करते थे। कुछ दिनों के पश्चात् गाँव के व्यक्ति हमारे काम के प्रति हँसी-मज़ाक करने के उपरान्त धीरे-धीरे उस टीले पर आने लगे और हमारे कार्य को कौतूहल की दृष्टि से देखने लगे। कुछ लोग थोड़ी देर के लिए हमारे साथ फावड़ा लेकर खोदने भी लगते थे। इस प्रकार जो लोग हमारे कार्य को असम्भव समझते थे, वे ही अब शनैः-शनै स्वयं सहायता देने लगे। अन्तिम दिनों में तो वहीं लगभग तीस-चालीस फावड़े चलने लगे थे। इस प्रकार प्रायः दो-तीन माह की अवधि में हम लोगों ने उस टीले और जंगल को काट कर समतल बना डाला और आश्रम के मकान के लिए नींव खोद डाली। गाँव के सभी लोगों में उस समय काफ़ी उत्साह था। उस उत्साह और जोश के ही परिणाम-स्वरूप हम जितना बड़ा घर बनाना चाहते थे उससे चौगुना और पाँचगुना बड़ा घर बना डाला। मैंने एतराज भी किया तो लोगों ने कहा कि आप घबड़ाइये मत, सब कुछ हो जायगा। बहुत से लोगों ने बाँस वगैरह सामान देने का भी वादा किया। इस प्रकार रणीवां में लगभग एक वर्ष रहने की अवधि में ही हम लोगों ने स्थायी रूप से आश्रम बनाने की नींवँ डाल दी।

आश्रम-भवन बनाते समय हमें एक बहुत बड़ा अनुभव भी प्राप्त हुआ। ग्रामीण जनता में अपने को भलमनई समझने वाले लोग भी हमें रोज़ फावड़ा चलाते हुए देख कर अपने दिल में परिश्रम के प्रति श्रद्धा करने लगे। हम लोगों की यह बात इतनी फैल गई कि दूर-दूर

के लोग भी हमारा काम देखने के लिये आते थे।

इस प्रकार तीन माह तक लगातार टीला काटने का काम करते रहने से आश्रम का काफी प्रचार हो गया और गाँव वालों ने थोड़ा-थोड़ा सामान देकर आश्रम के लिए पूरी सामग्री इकट्ठी कर दी। हम लोगों को केवल बढ़ई और लुहारों के ही लिए खर्च करना पड़ा।

आज जब हम आश्रम की उस विशाल इमारत को देखते हैं तो ग्रामीण जनता के इस असीम प्रेम की बात सोचकर आश्चर्य करते हैं। हमारे बहुत से नौजवान कहा करते हैं कि, गाँव का काम किस प्रकार होगा? गाँव वाले इतने गरीब, मूर्ख और आलसी हैं कि उनसे तो कुछ हो ही नहीं सकता है और हमारे पास कोई साधन नहीं। अतः गाँव में जाकर बैठना बेकार-सा ही है। किन्तु वे भूल जाते हैं कि शहरी लोगों के शहरी जीवन व्यतीत करने के लिए, ताल्लुक़ेदारों और महाराजाओं की अट्टालिकाओं को बनाने के लिए तथा शहर के लोगों को मोटर, सिनेमा आदि सामग्री जुटाने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है वे सब कुछ उसी ग्रामीण जनता के यहाँ से आता है। इसलिए देहात के जन-समूह अपने जिन साधनों से ऐसे बड़े-बड़े कार्य कर डालते हैं यदि वे चाहें तो उन्हीं साधनों से अपनी टूटी-फूटी झोपड़ी की मरम्मत भी कर सकते हैं। केवल मार्ग बतलाने की आवश्यकता है। यदि हम गांवों में जाकर श्रद्धा-पूर्वक उनके सेवा-कार्य में लग जायँ तो धीरे-धीरे उनको रास्ता बताने में समर्थ हो जायँगे।

श्रद्धा की आवश्यकता

आश्रम के सम्बन्ध में तुम्हें थोड़ा-सा परिचय देना था किन्तु यह लेख लिखते-लिखते लम्बा हो गया। अपने सम्बन्धित व्यक्तियों के विषय में प्रचार करने में भला किसको रस नहीं मिलता? फिर मैं भी तो आदमी ही हूँ? ख़ैर, इस कहानी से तुम्हें ग्रामीण लोगों की मनोवृत्ति का कुछ परिचय तो मिल ही जायगा। इसलिए मेरा यह

लम्बा लेख तुम्हें विशेष अरुचिकर नहीं प्रतीत होगा। अभी तुम्हारा पत्र आया है। सब समाचार मालूम हुआ। तुमने लिखा है, मैं तुमा अब सत्याग्रह का अर्थ समझ गई। फिर क्या पूछना ? अब तो वह बाकायदा एक नई नेत्री बन सकती है। सरोजनी नायडू तो अब बुढ़िया हो गईं। उनकी जगह पर उसी को क्यों न कर दिया जाय ? मैं खूब मजे में हूँ, सब को नमस्कार।

---

[३२]

सरकारी दमन का रूप

१२—१०—४१

परसों ही तुम्हें एक पत्र लिखा था। मिला होगा। आज फिर लिखने बैठा हूँ। देखो, आजकल मैं पढ़ने-लिखने में कितना ध्यान लगा रहा हूँ ! अब कभी न कहना कि धीरेन्द्र भाई, तुम लिखने पढ़ने के चोर हो।

अपने पिछले पत्र में मैंने यह लिखा था कि किस प्रकार गाँव वालों की सहायता से रणीवाँ स्थायी आश्रम बन गया। उस बार जब तुम रणीवाँ गईं थीं तो पश्चिम की भीट पर जो बड़ा-सा मकान देखा था, वह वही भाग है जिसका जिक्र मैंने पिछले पत्रों में किया है। तुमको स्मरण होगा कि उसमें एक बहुत बड़ा-सा हाल भी है। उसी में बैठकर तुमने आस-पास के ग्रामीण मित्रों को बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा का महत्व समझाता था। वे लोग बिलकुल देहाती थे। तुमने देखा था कि वे कितने आग्रह के साथ इस योजना का स्वागत करते थे। तुमसे तरह तरह के प्रश्न भी करते थे। चूंकी बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा ग्रामीण लोगों की मतलब की चीज है इसलिए वे इसे बहुत शीघ्र समझ जाते थे। हमारे बहुत से सुधारक नौजवान कहा करते हैं कि गाँव के लोग महामूर्ख और दकियानूसी हैं। वे कोई नई बात

ग्रहण ही नहीं करना चाहते हैं। किन्तु वे भले आदमी यह नहीं समझते कि ग्रामीण लोगों को यदि ठीक-ठीक उन्हीं के अर्थ की बात समझाई जाय तो वह चाहे कितनी ही नई क्यों न हो पर वे उसे सरलता से समझ लेते हैं। वास्तविक तथ्य यह है कि हमारे सुधारक भाई जब गाँवों में जाते हैं और उन्हें कुछ समझाते हैं तो उसमें से अधिकांश उनके मतलब का नहीं होता। रही दकियानूसी विचार की बात। मेरा विचार तो यह है कि मनुष्य-मात्र ही अपनी शिक्षा, संस्कार और आस-पास के वातावरण के प्रभाव से कुछ धारणा बना लेते हैं; उसे सरलता से नहीं छोड़ पाते। पं० जवाहरलाल की तरह साफ दिमाग और वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाला आदमी संसार में दूसरा कौन है? किन्तु उनको यह समझाना कठिन है कि बिना कुर्सी और मेज़ के भी लिखने-पढ़ने का कार्य स्फूर्ति और कुशलता के साथ किया जा सकता है। देहात के लोग अपना सम्पूर्ण कार्य उपर्युक्त साधनों के बिना ही बड़ी सुन्दरता से कर लेते हैं। इसीलिए मैं सर्वदा कहा करता हूँ कि दकियानूसी मनोवृत्ति केवल गाँव वालों की ही बपौती नहीं है। मनुष्य मात्र की ही यह ख़ास सम्पत्ति है। जब देहात के लोग अपना आचरण और जीवन हम लोगों की तरह नहीं बना पाते तो हम उन्हें पत्थरदिमाग़ कहते हैं, किन्तु हम जब अपना जीवन देहाती जीवन के रूप में नहीं परिवर्तित कर पाते तो उस समय हमारा दिमाग़ किस प्रकाश-रश्मि का बना हुआ कहा जा सकता है?

सुधारकों का गलत तरीका

आज मैं तुम्हें कुछ और ही लिखने बैठा था, किन्तु प्रसंग-वश दूसरी ओर बहक गया। पिछले पत्र में मैं तुम्हें लिख ही चुका हूँ कि धीरे-धीरे आस-पास के दूरस्थ देहात तक भी आश्रम की बात फैल रही थी और आश्रम का प्रभाव बढ़ रहा था। पहले की अपेक्षा ग्रामीण लोगों में कुछ-कुछ जीवन-संचार भी हो रहा था। तालाब का

टीला और जंगल खोदने की दृष्टि से हम लोग और भी प्रसिद्ध हो चुके थे। इससे सरकारी अधिकारियों की दृष्टि भी हम पर पड़ने लगी। चौकीदारों को हमारी गति-विधि नोट करने का आदेश मिल गया। देहात के जो व्यक्ति हम लोगों से अधिक घनिष्ठता रखते थे उन्हें पुलिस के सिपाही परोक्ष रूप से डराने भी लगे। किन्तु अब तक हम लोगों ने गाँव वालों के हृदय में स्थान बना लिया था। इसलिए हमारा कार्य पूर्ववत् चलता रहा। अधिकारी-वर्ग ने जब देखा कि देहात के लोग सामान्य रूप से उनकी धमकी में नहीं आते तो उन्होंने दमन का विशेष तरीक़ा काम में लाना प्रारम्भ किया।

आश्रम का बढ़ता प्रभाव

उस वर्ष लखनऊ में कांग्रेस हो रही थी और उसी वर्ष पहले-पहल कांग्रेस में खादी और ग्रामोद्योग सामान की हमें प्रदर्शनी करनी थी। इसलिए मुझे चार-पांच माह के लिए लखनऊ चला जाना पड़ा। जिले के अधिकारियों ने अच्छा अवसर देखा और एक वर्ष पूर्व स्वाधीनता दिवस के अवसर पर किये गये भाषण के उपलक्ष में श्री कर्ण भाई पर राजद्रोह की दफ़ा १२४-अ लगा कर गिरफ्तार कर लिया। तत्पश्चात् गांवों में दमन-नीति का प्रयोग प्रारम्भ हो गया। सिपाही और चौकीदार गाँव-गाँव में जाकर गाँव वालों को धमकाते थे और कहते थे कि अब क्या देखते हो? कर्ण भाई तो गिरफ़्तार कर लिये गये और बंगाली बाबू डर के मारे जान बचा कर कहीं भाग गये। अब जो कोई आश्रम बनाने में किसी तरह की सहायता करेगा वह बाँध लिया जायगा; इत्यादि। गांव के लोग इन बातों से घबराते तो अवश्य थे किन्तु आश्रमीय भाइयों के साथ उनका सम्बन्ध पूर्ववत् ही बना रहा। अधिकारियों को इतने पर भी सन्तोष न हुआ। एक दिन थानेदार ने अपने दल-बल के साथ रणीवाँ के पास एक बाग़ में आकर खीमा गाड़ दिया। वहीं पर लोगों को बुला-बुलाकर ख़ूब धमकाया

सरकार-द्वारा दमन

और कहा कि जो लोग आश्रम बनाने में मदद देंगे उन्हें देख लूंगा। थानेदार के सब से अधिक कोप-भाजन वे लोग बने जिन्होंने हमें रहने के लिए या हमारे काम के लिए अपने मकान के हिस्से दिये थे। कुछ लोग डर गये और उन्होंने संकोच का अनुभव करते हुए लालजी भाई से घर छोड़ देने का अनुरोध किया। लालसिंह भाई ने उन्हें आश्वासन दिया और उनके घर छोड़ कर बाहर मैदान में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। इन लड़कों के अन्दर इतना जोश आ गया था कि कष्ट भोगते हुए बाहर रह कर सभी विभागों का कार्य सुचारु रूप से चलाते हुए भी आश्रम-निर्माण के लिए सामान एकत्र करना जारी रक्खा। गांव के छोटे-छोटे बच्चों में भी काफ़ी जोश और प्रेम उमड़ उठा था। जब आश्रम के भाई अपने खुले मैदान के निवास-स्थान से कार्य के लिए किसी दूसरी जगह जाते थे तो बच्चे बारी-बारी से सामान की रखवाली करते थे।

पुलिस और ज़िले के अन्य अधिकारी पं० लालता प्रसाद पर बहुत अधिक दबाव डालने लगे कि आप अपनी ज़मीन में आश्रम न बनने दें। तहसील के हाकिम और थानेदार ने उन्हें बुला कर धमकियां भी दीं। प्रारम्भ में पंडित जी बहुत घबराये। उनके हृदय में प्रेम और भय का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। दो तीन दिन तक वे अहर्निशि पड़े रहे। अन्त में प्रेम की ही जीत हुई और उन्होंने निश्चय कर लिया कि जो कुछ हो आश्रम तो बनेगा ही। अधिकारियों के हाथ में जो कुछ शक्ति थी, उसके द्वारा उन्होंने पंडित जी को गिराने की पूर्ण कोशिश की। गांव के मुखिया का पद छीन लिया गया। पंडित जी कई गांवों की सरकारी पंचायत के सरपंच भी थे। अधिकारियों ने उन्हें इस पद से भी वञ्चित कर दिया। परन्तु यह सुन कर तुम्हें प्रसन्नता होगी कि दो वर्ष तक लगातार परिश्रम करके भी सरकार उस क्षेत्र में दूसरा सरपञ्च न चुन सकी। निर्वाचक

दमन की आंधी में अचल रहने वाले

हमेशा पंडित जी का ही नाम लेते रह गये।

गांव का यही क्षेत्र था जहाँ साल भर पूर्व एक पुलिस के चौकीदार को देख कर लोग थर-थर कांपते थे। सिपाही देखकर तो गाँव छोड़ भाग जाते थे। जब पहले-पहल हम लोग रणीवाँ आये तो एक बार उस गांव में अकबरपुर से तहसीलदार आये हुए थे। उनके भय से कई अच्छे-अच्छे व्यक्तियों ने अपने चर्खे और धुनकियां छिपा दी थीं। एक महाशय ने तो घबराहट में अपनी धुनकी धान के पयाल में छिपा दी थी। उसी क्षेत्र में केवल एक वर्ष तक रचनात्मक कार्य करने से लोगों में इतना साहस आ गया कि अधिकारी कोशिश करने पर भी एक सरपंच नहीं चुन सके और अन्त में उन्हें उस क्षेत्र की पंचायत ही तोड़ देनी पड़ी। हमारे देश के नौजवान गांधी जी के रचनात्मक कार्य पर व्यंग करते हैं। कहते हैं, इससे स्वराज्य किस तरह मिल जायगा ? भला बताओ तो जब तक भारतवर्ष की ग्रामीण जनता संघटित नहीं होगी और उसमें स्थायी हिम्मत नहीं पैदा होगी तब तक स्वराज्य का आन्दोलन ही किस प्रकार चल सकेगा, स्वराज्य-प्राप्ति तो बहुत दूर की बात है। गाँधी जी की इस सूझ को हमारे देश के नौजवान तो नहीं समझते किन्तु सरकार की नौकरशाही खूब समझती है। यही कारण है कि वे भर सक यह कोशिश करते रहे कि हम लोग रणीवां में न जम सकें।

पं० लालता प्रसाद जी के ऊपर बीती हुई बातों को तुम्हें लिख ही दिया। अब जिस घर में हम रहते थे उस घर के लोगों की कहानी सुनोगी तो तुम आश्चर्य करोगी। उस दिन थानेदार ने उन सभी लोगों को बुलाया था जिनके घरों में हम लोग रहते थे। कुछ लोगों ने तो अपने डर की बात भाई लालसिंह से कह कर अपनी जगहें खाली करवा लीं। किन्तु जिस घर में हम लोग रहते थे उस घर की विधवा के बड़े लड़के श्यामधर मिश्र ने हम लोगों के लिहाज से कुछ नहीं कहा और फिर जब उसने यह देखा कि पं० लालताप्रसाद ने

अपनी भूमि पर आश्रम बनाने का काम नहीं रोका तो वह भी चुप रहा। किन्तु तीन-चार दिन के पश्चात् पुलिस वालों ने उसे फिर बुलाकर धमकाया जिससे वह डर गया। उस समय उस की विधवा माता अपने नैहर में थी। श्यामधर वहीं चला गया और उसे बुला लाया तथा पुलिस के हस्तक्षेप का सारा क़िस्सा उससे कह सुनाया। साथ ही इस बात पर भी जोर दिया कि अब इन लोगों से अपना घर खाली करा लेना चाहिये। किन्तु उस गरीब और ग्रामीण विधवा स्त्री ने साहस के साथ जवाब दिया कि चाहे जो हो किन्तु मैं इन्हें नहीं निकालूँगी। अगर पुलिस को निकालना हो तो वह स्वयं आकर निकाल जाय। हमारे ऊपर जो मुसीबत पड़ेगी देख लूँगी। जिसे डर लगता हो वही घर से निकल जाय।

विधवा का तेज

कितने आश्चर्य की बात है देहात की एक गरीब विधवा, जिसके घर में हमेशा दोनों समय उचित रूप से भोजन भी नहीं मिलता, जिसके पास जीवित रहने के लिए भी पर्याप्त साधन नहीं है, जिसने अपने जीवन भर में किसी प्रकार का राजनीतिक व्याख्यान भी नहीं सुना उसके भीतर इतना साहस कहाँ से आ गया।

ग्राम-सेवा के द्वारा ग्रामीण लोगों के साथ आत्मीयता का सम्पर्क कायम करने से क्या नहीं हो सकता? हम जन-सम्पर्क के लिए कमेटियाँ बनाते हैं और समझते हैं कि देहात की बड़ी-बड़ी सभाओं में भाषण देकर जन-सम्पर्क कायम कर लेंगे। किन्तु यह समझना बहुत बड़ी भूल है। केवल भाषण देकर जन सम्पर्क नहीं कायम किया जा सकता। मैं आज भी तुम्हें यह पत्र लिखते समय जब उस विधवा की बात सोचता हूँ तो स्तम्भित रह जाता हूँ। किस शिक्षा, किस आदर्शवाद और किस ऊँची सभ्यता ने उसके हृदय में इतने ऊँचे भाव जाग्रत किये। शिक्षा, स्वच्छता और सभ्यता का दम भरने वाले और देहात के लोगों को गन्दे, बेवकूफ कहकर नाक सिकोड़ने वाले मित्रों से पूछो कि वे अधिक

स्वच्छ और साफ हैं अथवा वह मूर्खा, जीर्ण वस्त्र-धारिणी विधवा ? जो अपने रहे-सहे साधनों पर भी जोखिम उठाकर साहस, प्रेम और शिष्टाचार का आदर्श हमारे समक्ष उपस्थित करती है।

अधिकारियों और पुलिस की उपर्युक्त चेष्टा देख कर मुझे जवाहरलाल जी की कही हुई एक बात याद आती है। सन् १६३३ ई० में मैंने गणेशशंकर विद्यार्थी-द्वारा ग्राम सेवा कार्य के लिए संस्थापित कानपुर के देहात के नर्वल आश्रम के सम्बन्ध में जवाहरलाल जी को एक पत्र लिखा था। ग्राम-सेवा के कार्य में मुझे प्रारम्भ से ही दिलचस्पी थी। इसलिए मै विशेष उत्सुक था कि वह आश्रम सुचारु रूप से चल जाय। जवाहरलाल जी ने मेरे पत्र का जो उत्तर दिया वह मुझे अब तक ज्यों का त्यों स्मरण है। वह इस प्रकार था :—

"प्रिय धीरेन्द्र, तुम्हारा पत्र मिला। विद्यार्थी जी के नाम के साथ जिस भी काम का सम्बन्ध है, उससे दिलचस्पी होना मेरे लिए परम स्वाभाविक बात है। मैं कानपुर जा रहा हूँ और आश्रम के सेक्रेटरी से बातें करूँगा किन्तु तुमसे मैं एक बात कहे देता हूँ कि देहात में तुम चाहे कोई भी काम करो किन्तु उसका कुछ वास्तविक प्रभाव जनता पर पड़ने वाला हो तो अधिकारी तुम्हें वह काम नहीं करने देंगे।"

यही हुआ भी। रणीवां में जवाहरलाल जी की बात चरितार्थ हो गई किन्तु साथ ही यह भी अनुभव हुआ कि अगर हम देहात में रचनात्मक कार्य इस ढंग से करें कि उससे जनता पर दर असल प्रभाव पड़ सके तो अधिकारियों के लिए काम का न करने देना भी असम्भव हो जाता है।

आज मैंने बहुत लम्बा पत्र लिख डाला। काफी शाम हो गई। अतः आज यहीं समाप्त करता हूँ। तुम्हारे यहाँ का क्या हाल है ? दादा अभी टूर (प्रवास) पर ही हैं या वर्धा लौट आये ? सब को नमस्कार कहना।

[३३]

खादी-सेवकों की शिक्षा

१५—१०—४१

इधर मैंने प्रति दिन एक पत्र लिखने का निश्चय किया था किन्तु आज तीन दिन में एक भी नहीं लिख सका। दो-एक दिन से मेरे मन में एक प्रकार की अव्यवस्था-सी उत्पन्न हो गई थी। रणीवाँ के ब्रह्मचारी जी को तो तुम जानती हो। इधर जब से हम लोग ग्रामोद्योग-विद्यालय को व्यवस्थित करने में लगे रहे, तब से गांव के कार्य का सारा भार उन्हीं ने उठा लिया था। उनके समान सादा जीवन, सेवा की भावना और चरित्र रखने वाला सेवक दुर्लभ है। काफी योग्य और पुराना कार्यकर्ता होते हुए भी हमेशा अपने को पीछे रख कर ही कार्य करते थे। अभी अभी मुझे समाचार मिला है कि ब्रह्मचारी तालाब में तैरते हुए डूब गये हैं। इस खबर ने मुझे इन दिनों बेचैन सा कर दिया है। इस समय भी मैं जबर्दस्ती ही लिखने बैठा हूं। मेरे लिए तो वह सगे भाई से भी अधिक था। जेल में बैठे-बैठे उसके भरोसे न जाने क्या-क्या करने की योजना सोच रहा था। साथी कार्यकर्ता तो बहुत आते हैं किन्तु ऐसा चरित्रवान कार्यकर्ता कहां प्राप्त हो सकेगा। हमारा क्या? संसार के अन्य शोकों की तरह यह शोक भी भूल ही जायँगे। किन्तु रणीवां के निकट के तीन-चार सौ गांव की गरीब और असहाय जनता को उस पर बहुत भरोसा था। पुलिस, ज़मींदार और रोग आदि के प्रकोप में ब्रह्मचारी उनका एक मात्र आधार था। आज वह जनता अनाथ हो गई। इसकी चिन्ता मुझे रह-रह कर सता रही है। किन्तु विवश हूँ। मनुष्य कर ही क्या सकता है? ईश्वर की लीला अपार है।

दुर्लभ सेवक का निधन

हाँ तो उस दिन मैं अधिकारियों-द्वारा हम लोगों के हटाये जाने की चेष्टा की कहानी लिख रहा था। मेरी अनुपस्थिति में कर्णा भाई को गिरफ़्तार कर लेने के वाद पुलिस ने गाँव वालों पर अपना आतंक फैलाने की कोई भी कोशिश उठा नहीं रक्खी। इससे एक लाभ भी हुआ। एक प्रकार से लोगों के साहस और प्रेम की परीक्षा भी होगई, हमारे सहकर्मियों की भी परीक्षा हो गई। वास्तविक दिक्कतों का सामना किये विना मनुष्य नैतिक वल नहीं प्राप्त कर सकता अतएव सेवकों के लिए कभी-कभी ऐसी परिस्थितियों का आ जाना ईश्वर की विशेष कृपा ही समझना चाहिए।

कर्णा भाई का मुकदमा लड़ा गया और सात महीने अभियोग चलाकर भी पुलिस अपनी वात सावित न कर सकी। कर्णा भाई मुक-दमे से वरी हो गये। मैं भी लखनऊ से लौट आया।

कर्णा भाई का छुटकारा

फिर हम लोगों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति आश्रम-भवन-निर्माण में ही केन्द्रित कर दी। कर्णा भाई के छूट जाने से देहात में चारों ओर एक नया जोश छा गया और लोग पहले की अपेक्षा अधिक सामान और परिश्रम से आश्रम वनाने में सहायता करने लगे। इस प्रकार जून सन् १९३६ तक आश्रम-भवन पूर्णतया तैयार हो गया।

अव तक हम लोगों ने ग्राम-सेवा का कार्य केवल व्यक्तिगत रूप से ही किया था। किन्तु अव रणीवाँ केन्द्र ने एक संस्था का रूप ग्रहण कर लिया था। आश्रम के खादी-विभाग में एक योग्य कार्यकर्ता की समस्या आ खड़ी हुई थी। उत्पत्ति विभाग के कार्य-सम्पादन के लिए आवश्यक था कि कुछ कार्यकर्ताओं को इस प्रकार की शिक्षा दी जाय कि वे कताई धुनाई के ज्ञान के साथ-साथ हमारे खादी आन्दोलन के उद्देश्य और स्वरूप का भी ज्ञान प्राप्त कर लें। मेरे रणीवां में रहते तथा वहाँ पर एक आश्रम वन जाने के कारण आश्रम के प्रधान कार्या-लय ने उत्पत्ति विभाग के नये कार्य-कर्ताओं को कताई धुनाई सीखने,

राष्ट्रीय आन्दोलन का साधारण ज्ञान प्राप्त करने एवं आश्रम-जीवन की भावना ग्रहण करने के लिए तीन महीने तक रणीवां में भेजने का निश्चय किया।

खादी-शिक्षण का केन्द्र

गांव में चर्खे का प्रचार और स्वच्छता आदि का कार्य तो चल ही रहा था किन्तु इस शिक्षण-केन्द्र के स्थापित हो जाने से मेरी पुरानी कल्पना को साकार रूप प्राप्त होने की कुछ सम्भावना प्रतीत होने लगी। व्यक्तिगत रूप से शिक्षा की अवधि कुछ अधिक रखना चाहता था किन्तु आश्रम ने केवल तीन माह की ही अवधि स्वीकार की। इस प्रकार के कार्यकर्ता-शिक्षण का अनुभव मुझे पहले से कुछ नहीं था। इसलिए मैंने सोचा कि इस तीन माह के कार्यक्रम से मुझे अनुभव हो जायगा। अतः यह कार्य-क्रम मेरे लिए भी उतना ही सीखने का विषय था जितना किसी नवागत शिक्षार्थी के लिए। वस्तुतः इससे मैंने सीखा भी बहुत अधिक। इससे मुझे अनुभव हुआ कि कार्यकर्ता-शिक्षण पर अब तक हम लोगों ने जितना ध्यान दिया है, वह बिल्कुल नहीं के बराबर है। चर्खा संघ ने इस दिशा में योजना बना कर कोई भी विशेष कार्य नहीं किया है। वास्तव में हमें यह मानना पड़ेगा कि चर्खा संघ के कार्यकर्ताओं को यह भी नहीं मालूम है कि हम क्यों चर्खा चलायें और क्यों खादी पहनें? क्योंकि अब तक उन्हें इस प्रकार की शिक्षा ही नहीं दी गई। गांधी जी कहते हैं कि 'हम चर्खा आन्दोलन से स्वराज्य ले लेंगे। चर्खा ग्राम-आन्दोलन का केन्द्र-बिन्दु है। एक हाथ से हमें चर्खा दे दो तो दूसरे हाथ पर हम तुम्हें स्वराज्य दे देंगे।' इत्यादि।

खादी-बिक्री के लिए जब हम लोग प्रचार करते हैं तो जनता में इसी प्रकार की भावना उत्पन्न करने की कोशिश करते हैं। हम लोगों से कहते हैं कि आप खादी पहनें। क्योंकि खादी के ही द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता, हरिजन-उद्धार, मद्य-निषेध और गांवों के पुनर्निर्माण

का कार्य तथा स्वराज्य तक प्राप्त हो सकता है। शायद मैं तुम्हें एक बार और लिख चुका हूँ कि गांधी जी जब मेरंठ आये थे तो उन्होंने कहा था कि तुम्हारा कार्य प्रत्येक कत्तिन को स्वराज्य-वादिनी बना देना है। किन्तु हम लोग अब तक भी इस दृष्टिकोण से कार्य नहीं कर सके। चर्खा-संघ की पौने तीन लाख कत्तिनों को स्वराज्य-वादिनी बनाना तो दूर की बात है; हम कत्तिनों में कार्य करने वाले कार्य-कर्त्ताओं को ही स्वराज्यवादी नहीं बना पाये। हमारे कार्यकर्ता हिसाब रख लेते हैं

हमारी कमी

और खरीद बिक्री का काम ठीक-ठीक समझ लेते हैं तो हम मान लेते हैं कि उनमें एक सुयोग्य कार्यकर्ता की पर्याप्त योग्यता आ गई। मैं स्वीकार करता हूँ कि पौने तीन लाख कत्तिनों को स्वराज्यवादिनी बना देना स्वराज्य पाने जैसा ही, कठिन और विशाल कार्य है किन्तु उस दिशा में अब तक हम कोई संयोजित कदम भी नहीं उठा पाये। इस-लिए कार्यकर्ता-शिक्षण केन्द्र खोलने का अवसर मिलने पर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। और मैं समझने लगा कि अब शायद हमें इस दिशा में कदम बढ़ाने का दिन प्रति दिन सुन्दर अवसर मिलने लगे। जब हम कार्य-कर्ताओं की भावना और उनके दृष्टिकोण ठीक कर लेंगे तो उत्पत्ति-केन्द्रों का कार्यक्रम भी अभीष्ट दृष्टि-बिन्दु से बना सकेंगे।

इस उद्देश्य से मैं नवागत शिक्षार्थियों के शिक्षा-कार्य में ही लग गया और कुछ दिनों के लिए इसी कार्य को अपना प्रधान कार्य बना लिया। और गांव में कोई नई योजना प्रचलित करने की कोशिश नहीं की। जो कार्य पहले से चल रहे थे उन्हीं को अपने सहयोगियों की सहायता से क़ायम रक्खा। इसके पश्चात् आश्रम के विविध विभागों के लिए बहुत से कार्यकर्ताओं को कई टुकड़ियों में शिक्षा दी गई। कुछ कार्यकर्ता तो सन्तोषजनक नहीं निकले किन्तु साधारणतया इस थोड़े दिनों की ही ट्रेनिंग से उनकी भावना में कुछ परिवर्तन अवश्य आ गया। कालान्तर में वे जहां-जहां गये, वहां-वहां इस शिक्षा

का कुछ प्रभाव अवश्य देखने में आया। किन्तु शिक्षा-केन्द्र खोलते समय मेरी कल्पना कुछ और ही थी। मैं चाहता था कि चर्खा संघ के उत्पत्ति-केन्द्र इस दृष्टिकोण से चलाये जायँ कि गांधी जी के चर्खा और खादी का व्यापक अर्थ साकार रूप से दृष्टिगोचर हो सके। मेरी वह कल्पना कल्पना ही रह गई। एक तो तीन माह के संक्षिप्त समय में कार्यकर्ताओं को पर्याप्त शिक्षा देना सम्भव नहीं था। दूसरे उत्पत्ति-केन्द्रों को नये दृष्टिकोण से चलाने का कार्यक्रम आश्रम स्वीकार न कर सका। सम्पूर्ण कार्य पुराने ही ढर्रे से चलता रहा। मैं जितना ही विचार करता हूँ उतना ही यह धारणा दृढ़ होती जाती है कि जब तक चर्खा संघ उत्पत्ति-केन्द्रों के संचालन के ढंग और दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं करेगा, तब तक बापू जी का चर्खे-द्वारा भारतीय गांवों के पुनर्निर्माण का स्वप्न उनके दिल ही में रह जायगा। यदि चर्खा संघ के उत्पत्ति-केन्द्रों और ग्रामोद्योग के कार्य ठीक ढंग से चल सकें तो ग्राम-सुधार, ग्राम-सेवा और ग्राम-संगठन आदि कार्य के लिए अलग से किसी संगठन की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। चर्खा संघ के ही कार्यों से देहातों का कायाकल्प हो जायगा। अतएव इसके लिए यह आवश्यक है कि चर्खा संघ साहस और दृढ़ता के साथ उपर्युक्त नवीन दृष्टिकोण से अपने कार्यकर्ताओं की शिक्षा का प्रबन्ध करे। ज्यों-ज्यों कार्यकर्ता तैयार होते जायँ त्यों-त्यों उत्पत्ति-केन्द्रों का कार्य इस ढंग से संचालित किया जाय कि हर एक कातने वाली कम से कम अपने काते हुए सूत का कपड़ा पहनने के लिए उत्सुक हो उठे। आज जो वे यत्किंचित खादी पहनती भी हैं वह एक प्रकार के दबाव से ही पहनती हैं। मेरा विचार है कि वस्त्र-स्वावलम्बन की योजना अलग से न बना कर कताई केन्द्रों को ही स्वावलम्बी कर दिया जाय। तभी हम वस्त्र-स्वावलम्बन की दिशा में सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

उत्पत्ति-केन्द्रों को नये ढग पर चलाने की आवश्यकता

मैंने तुम्हें ग्राम-सेवा के कार्य का अनुभव बताने का वादा कर के यह पत्र लिखना प्रारम्भ किया था। किन्तु बीच में चर्खा संघ को मैदान में घसीट लाया। मालूम नहीं, तुम्हें इससे कुछ दिलचस्पी है अथवा नहीं। किन्तु देखो, मैंने तो पहले ही कह दिया था कि मैं कोई लेखक नहीं हूँ। इसलिए कोई भी बात क्रमपूर्वक लिखना मेरे लिए संभव नहीं है। मैं तो अपने काम करने के रास्ते में जो कुछ भी कूड़ा-करकट पाऊँगा उसका ढेर तुम्हारे सामने लगा दूँगा। तुम अपनी इच्छानुसार अपने काम की वस्तु चुन लेना। इसके अतिरिक्त मैं ग्राम-सुधार कार्य का भी कोई विशेषज्ञ तो हूँ नहीं। अभी तो मैं केवल उस दिशा में चलने का अभ्यास कर रहा हूँ। इसलिए जब जब जो विचार आये हैं, उन सब का लिख देना अच्छा ही है। आज बहुत देर हो गई। शुरू से ही आज लिखने में तो मन लगता नहीं था। इतना भी ज़बर्दस्ती ही लिखा है। आशा है तुम्हारे यहाँ का कार्य ठीक-ठीक चल रहा होगा।

हाँ, एक बात लिखना मैं भूल गया था। 'खादी-जगत्'[1] से मालूम हुआ कि चर्खा संघ ने खादी-विद्यालय खोल दिया है। उसका क्या रूप है? लिखना। सम्भव है, यह विद्यालय उस योजना के सूत्रपात के रूप में हो जिसकी कल्पना मैं बहुत दिनों से करता रहा और जिसका उल्लेख अभी अभी इस पत्र में किया है। सब को नमस्कार।

---

[३४]

किसानों का झगड़ा

१७—१०—४१

परसों के पत्र में मैंने इस बात का ज़िक्र किया था कि किस परिस्थिति में रणीवाँ ने खादी कार्यकर्ता-शिक्षण केन्द्र का रूप धारण

---

[1] भारतीय चर्खा सङ्घ का पत्र।

किया था। मेरी यथार्थ कल्पना तो यह थी कि देहात में चर्खा और ग्रामोद्योग का वायुमण्डल पैदा कर के उनकी आर्थिक दशा सुधारी जाय और उन उद्योगों को मध्य विन्दु मान कर शिक्षा और संस्कृति का कार्यक्रम निर्मित किया था। किन्तु परिस्थिति हमें खादी-कार्यकर्ता-शिक्षण की ओर ले गई। मैंने यह विचार कर कि यह रूप भी हमारी योजना का सहायक ही होगा, इसका स्वागत किया। इन विद्यार्थियों के आ जाने से आश्रम ने एक विद्यालय का रूप धारण कर लिया। जिससे गांव के लोगों को भी हमारे स्थायित्व का विश्वास होने लगा और कुछ स्थानीय नौजवान भी बुनाई और लकड़ी का काम सीखने के लिए हमारे यहाँ विद्यालय में भरती हो गये। तव से अव तक कार्य-कर्ता-शिक्षण के साथ-साथ ग्रामीण नौजवानों को उद्योग का काम सिखा कर उनके घरों पर ही ग्रामोद्योग का काम संचालित करने का क्रम चल रहा है। मैं आशा करता हूँ कि इन शिक्षाप्राप्त नवयुवकों के द्वारा प्रत्येक उद्योग-केन्द्र को ग्राम्य-जीवन का मध्य विन्दु वनाने में सफल हो सकेंगे। यह योजना, जो वहुत दिनों तक मेरी कल्पना की वस्तु वनी रही, अव प्रयोग की स्थिति पर आ गई। इस दिशा में मुझे जितना भी अनुभव हुआ है, उसके आधार पर मुझे विश्वास है कि इस ढंग से काम करके सफलता प्राप्त करने में रंच मात्र भी सन्देह नहीं है।

इस प्रकार हम लोगों ने ग्राम-सेवा के साथ-साथ केन्द्रीय आश्रम का संघटन करने में ध्यान लगाया। आश्रम में पर्याप्त विद्यार्थियों के आ जाने से आश्रम के भीतर भी एक सामूहिक जीवन व्यतीत करने का अवसर मिला। गांव के लोग इससे भी वहुत प्रभावित हुए। धीरे-धीरे वे अपने घरों की स्वच्छता आदि कार्यों में स्वयं दिलचस्पी रखने लगे।

इसी समय प्रान्तीय एसेम्वली के चुनाव की लहर देश भर में फैल गई। इस कार्य में आश्रम को अपनी पूरी शक्ति से सहयोग देना

पड़ा। गांवों में उस समय कोई दूसरा कार्य हो भी नहीं सकता था क्योंकि सारी जनता का ध्यान उस समय चुनाव पर ही केन्द्रित हो रहा था। इसके अतिरिक्त यह चुनाव कांग्रेस के लिए बहुत महत्व का विषय था। इसलिए तीन माह तक हमारी सम्पूर्ण शक्ति इसी में लगी रह गई। इस चुनाव के कार्य से भी हम लोगों का लाभ ही हुआ। रात-दिन गांव-गांव घूमना, जहाँ संध्या हुई वहीं रह जाना और जो मिला उसी को खा लेना, इत्यादि बातों से हमारे कार्यकर्ताओं ने पर्याप्त साहस का पाठ पढ़ लिया। प्रत्येक श्रेणी के लोगों के सम्पर्क में आने के कारण हमने गांवों की अवस्था का भी भलीभाँति अध्ययन कर लिया। यह अध्ययन कालान्तर में ग्राम-सेवा कार्य के लिए हमारा बहुत सहायक हुआ।

कौंसिलों का चुनाव

चुनाव के पश्चात् हमारे समक्ष एक दूसरी समस्या आ खड़ी हुई। अब तक हम गांव में चर्खा चलवाने, सफ़ाई, रोगी की सेवा और छुआछूत-निवारण का कार्य करते रहे। चुनाव में कांग्रेस की जीत होने के कारण देहात की परिस्थिति एकाएक बदल गई। युक्तप्रान्त में कांग्रेस के विरोध में केवल ज़मींदार और ताल्लुकेदार पार्टी के ही लोग खड़े हुए थे। इन ताल्लुकेदारों और ज़मींदारों का इस प्रान्त के अवध के जिलों में किस प्रकार एक-छत्र अधिकार है, यह तो तुम्हें विदित ही है। उनके विरुद्ध आवाज़ उठाना तो बहुत बड़ी बात थी, सीधे आंख उठा कर देखना भी देहात के लोगों के लिए असम्भव था। धन, सम्पत्ति, सरकारी कानून और अधिकारी सभी इनके हाथ में थे। इसलिए वे जिधर से निकलना चाहते थे, उधर का रास्ता बिल्कुल साफ़ और चिकना होता जाता था। यदि कोई बीच में आने का साहस करता तो कुचल दिया जाता था। ऐसी दशा में जब उन्हीं की भूमि में रहने वाले अवध के किसानों ने

जमींदार-किसान-संघर्ष की वृद्धि

उन्हीं के विरुद्ध वोट दिया तो वे क्रोध से पागल हो उठे। और किसानों की इस धृष्टता का वदला लेने की कोशिश में लग गये। उनके सिपाहियों-द्वारा किसानों का निरपराध ही पीटा जाना, ज़वर्दस्ती खेत दखल कर लेना, खड़ी फ़सल कटवा लेना नित्य की साधारण वातें हो गईं। ऐसी अवस्था में आस-पास की असहाय और ग़रीब जनता, उपर्युक्त प्रकार के कष्टों से पीड़ित होकर सहायता के लिए स्वभावतः हमारे पास आने लगी। दिन भर में इस तरह के दो-तीन मामले तो आ ही जाते थे। इस प्रकार चुनाव के कई माह वाद तक भी किसानों के अत्याचार-निवारण में उनका साथ देना ही हमारा मुख्य काम हो गया था।

जव हमारे पास कोई शिकायत आती थी तो पहले हम उसे अपने रजिस्टर में नोट करते थे। इसके वाद घटना-स्थल पर पहुँचते थे। मार-पीट की वात होती तो स्थानीय पुलिस की भी सहायता लेते थे। किन्तु अधिकांश मामले ज़मींदार से मिलकर तय करने की कोशिश करते थे। कभी-कभी गांव के सम्पूर्ण किसानों को संघटित करके क्षणिक सत्याग्रह का भी विधान करना पड़ता था। देहाती झगड़ों के फैसला करने के क्रम में हमें काफी अनुभव भी हुआ। गांव की जमींदारी प्रथा किस प्रकार की है, किसान कितने प्रकार के होते हैं, उनके कौन कौन से कानूनी हक हैं, उनकी आर्थिक अवस्था किस प्रकार की है, खेती में काम करने वाले मज़दूरों की क्या दशा है, गांव की मध्यम श्रेणी के छोटे-छोटे जमींदार किस तरह रहते हैं, और उनकी मनोवृत्ति कैसी है, आदि वहुत सी वातों का गहरा अध्ययन करने का अवसर मिला। इस विषय में मैं फिर कभी विस्तारपूर्वक लिखूंगा।

जव से हमने देहाती झगड़ों का फैसला करने का कार्य अपने हाथ में लिया, तव से ज़मींदारों के अत्याचार-सम्बन्धी झगड़ों के अतिरिक्त किसानों के आपसी झगड़े भी हमारे पास आने लगे। इन झगड़ों को भी अनेक श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

ग्राम-वासियों की विविध समस्याएँ

कोई किसी का रुपया नहीं वापस कर रहा है, किसी ने ज़मीन के बँटवारे में बेईमानी कर ली है, किसी ने अपने पट्टीदार का पेड़ काट लिया है, किसी विधवा के जेवर उसके देवर ने ले लिये हैं और देता नहीं है, कोई आकर कहता था कि हमारी स्त्री ही भाग गई, आती नहीं है इत्यादि-इत्यादि अनेक उलझनों से भरी हुई समस्याएँ सामने आती रहती थीं। इन असंख्य पुकारों के विषय में मैं तुम्हें कहां तक लिखता रहूँ? इनका फैसला करने में हम लोगों को बहुत परीशानी उठानी पड़ती थी। सैकड़ों अभियोग तो झूठे ही आया करते थे। सत्य का पता लगाने में भी कम परेशानी नहीं होती थी। किन्तु हम लोग इसे सहर्ष सहन करते थे। क्योंकि इससे अपना भी लाभ था। इसी हीले से गाँव के लोगों में संगठन और सुधार करने का अवसर मिलता था। सब से बड़ा लाभ तो उस अनुभव का था, जो देहात की आर्थिक, नैतिक और सामाजिक समस्याओं की पेचीदा गुत्थियों के सम्बन्ध में होता रहा।

इन मामलों के द्वारा समस्याओं की जितनी गहराई तक हम पहुँच सके उतनी गहराई तक किसी और कार्यक्रम के द्वारा नहीं पहुँच सकते थे।

तुम्हें उन सभी समस्याओं को जानने का कुतूहल होता होगा। किन्तु इस पत्र में और अधिक कितना लिखूं? धीरे-धीरे सभी पर लिखने की कोशिश करूँगा। आज छुट्टी ले रहा हूँ। हमारे दो साथी आज़मगढ़ को ट्रांसफर हो रहे हैं, उनकी विदाई में शामिल होना है उनमें से एक हमारे प्रान्तपति श्री पालीवाल जी हैं। उनके जाने से हम लोगों की मौज में कुछ अन्तर आ जायगा। वे रात-दिन अपने चुटकुलों से लोगों को खूब हँसाया करते थे। किन्तु जेल-जीवन में तो यह आना-जाना लगा ही रहेगा। इसलिए सन्तोष करना ही ठीक है।

आशा है, तुम सभी लोग अच्छी तरह होगे। सबको मेरा नमस्कार

कहना। मीतुमा को प्यार। उससे कह देना कि उसका लम्बा-चौड़ा पत्र मुझे मिला है। किन्तु वह इतना बड़ा है कि उसका क्या जवाब दूं, अब तक सोच नहीं सका। सोच कर लिखूंगा। नमस्कार।

---

[३५]

ताल्लुकेदारों का अत्याचार

१८—१०—४१

कल पत्र लिखते-लिखते अपने साथियों को विदा करने चला गया था। कल मैं लिख रहा था कि चुनाव के पश्चात् हम लोगों का मुख्य काम ग्रामीण झगड़ों का फैसला करना था। इससे तुम्हें आश्चर्य होता होगा और तुम समझती होगी कि हम अपने प्रधान लक्ष्य से बहक गये। जिस समय मैंने अपना कार्य-क्षेत्र चार-पांच गांवों तक विस्तृत किया था उसी समय बापू ने हमें बुला कर समझाया था। तुम भी सेवाग्राम में रहती हो; इससे सम्भव है कि इतने गांवों में फैल कर काम करने को अच्छा न समझो और साथ ही कहीं यह न समझ बैठो कि हमारी ग्राम-सेवा का कार्य समाप्त हो गया। पर ऐसा नहीं। हम लोग अपने उस छोटे से क्षेत्र में पूर्ववत् कार्य करते रहे। कार्यकर्त्ता शिक्षण का कार्य भी पूर्ववत् चलता रहा। किन्तु हमने ग्राम-सेवा के शेष कार्यों का विस्तार नहीं किया। प्रोग्राम पूर्ववत् परिमित ही रहा। ग्रामीण झगड़ों के निबटारे के लिए एक अलग विभाग अवश्य चालू किया गया। इस विभाग में आश्रम के और नौजवान भी सहायक बन गये थे। पिछली बार जब आश्रम में आई थीं उस समय विभिन्न कार्यों की देखभाल करते हुए तुमने हरदेव ब्रह्मचारी को देखा था। ग्राम-सेवा के लिए गुरुकुल छोड़ कर वह इन्हीं दिनों आश्रम में आये थे। हमने उन्हीं की ज़िम्मेदारी पर बाहरी कार्य छोड़ दिया था। वे केवल दो-तीन साथियों की सहायता से इन कार्यों को

ठीक कर लेते थे। मैं और कर्ण भाई आवश्यकता पड़ने पर उनकी सहायता के लिए गाँव में चले जाया करते थे।

थोड़े ही दिनों में हरदेव ब्रह्मचारी अपने उच्च चरित्र, सेवा-भावना, सरल स्वभाव और अथक परिश्रम के कारण गांवों में सर्व-प्रिय बन गये। इसलिए उनके लिए झगड़ों का फैसला करना भी सरल हो गया था। आश्रम के विद्यार्थियों पर भी उनके त्याग और आचरण का काफ़ी प्रभाव पड़ता था। इसलिए रणीवां के क्षेत्र में उनका एक विशेष व्यक्तित्व कायम हो गया था। जेल चले आने पर जब मैं ग्राम-सेवा-सम्बन्धी भविष्य की योजनाओं पर विचार करता था तो मेरे मस्तिष्क में ब्रह्मचारी का भरोसा सर्वदा बना रहता था। पर क्या बताऊँ? मनुष्य सोचता कुछ और है किन्तु परमात्मा करता कुछ और है। अभी पांच-सात दिन हुए मुझको समाचार मिला कि ब्रह्मचारी संसार छोड़ कर चल बसे। ब्रह्मचारी ने थोड़े ही दिनों से पानी में तैरना सीखा था और अपने दूसरे साथियों के साथ तालाब में तैरने की प्रतियोगिता कर रहे थे। इस प्रतियोगिता में ही वह थक कर डूब गये। लोगों ने उन्हें बाहर निकाला किन्तु बचा न सके और वह हम सब लोगों को छोड़ कर चल बसे। मुझे रह-रहकर उनकी बातें याद आ रही हैं। तुम्हें यह पत्र लिखते समय भी अकस्मात् ही उनका प्रसंग आ गया है। सम्भव है, उस प्रकार का योग्य अथवा उससे भी योग्य कार्यकर्ता भविष्य में हमें मिल जाय, किन्तु उस प्रकार का निर्मल चरित्र और वैसी निर्भीकता हमें कहाँ से प्राप्त हो सकेगी? उस तरह का सदा जीवन और उच्च विचार रखने वाला साथी हमें कठिनता से ही प्राप्त हो सकेगा। ईश्वर की माया अपार है।

हाँ, मैं तुम्हें आश्रम के विस्तृत क्षेत्र में काम करने के विषय में लिख रहा था। सम्भव है, तुम लोगों को हमारा इस प्रकार के कार्य हाथ में लेना अनुचित प्रतीत होता होगा किन्तु यदि तुम्हें अवध की परिस्थिति का कुछ ज्ञान हो जायगा, तो हमारे काम के लिए हमें

दोषी नहीं बनाओगी। यों तो मै अवध की ताल्लुकेदारी प्रथा की बुराइयों के विषय में तुम्हारे कई पत्रों में कुछ उल्लेख कर चुका हूँ; किन्तु इनके विषय में कुछ और भी लिख देना सम्भवतः व्यर्थ नहीं जायगा।

जब मैं भारत की ग्रामीण पंचायती प्रथा के वर्णन पुस्तकों में पढ़ता हूँ और उस समाज से आज की ज़मींदारी प्रथा के समाज की तुलना करता हूँ तो व्यग्र हो उठता हूँ। उन दिनों समाज में साम्यवादी व्यवस्था कायम थी; ड्यूटी बँटी थी; श्रेणी-भेद का निर्माण कर्मभेद की ही दृष्टि से हुआ था, शोषण की दृष्टि से नहीं। कालान्तर में यह ज़मींदारी प्रथा कहाँ से और किस प्रकार आ गई इसे तुम्हारे सदृश इतिहास-विशारद ही बता सकते हैं। मैंने इतिहास का इतना विस्तृत अध्ययन नहीं किया है,

१ ज़मींदारी प्रथा

इसलिए मैं इसका ठीक-ठीक अनुमान नहीं कर सकता। यह प्रथा चाहे जब प्रारम्भ हुई हो किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि यह बहुत बाद की चीज़ है और सम्भवतः विदेशी शासन के बाद ही इस ज़मींदारी और जागीरदारी का जन्म हुआ है। प्रारम्भ में जब यह स्थापित हुई तो शताब्दियों के परम्परागत साम्यवादी संस्कार के कारण ज़मींदार और किसानों के बीच आपस में प्रेम और सहकारिता का ही सम्बन्ध रहा किन्तु युरोपीय संस्कृति और सभ्यता के साथ-साथ वहां के सामन्तवादी स्वार्थ और शोषण की प्रवृत्ति भी हमारे देश में पहुँच गई। बृटिश साम्राज्यवादी स्वार्थ ने भी इसे प्रोत्साहन ही दिया। उनको तो किसी ऐसी श्रेणी की आवश्यकता थी ही जिस के द्वारा वह जनता का शोषण जारी रख सकते और मुल्क पर प्रभुत्व स्थिर रख सकने में समर्थ हो सकते। इसलिए उन्होंने एक ओर तो जमींदारों को शोषण और प्रजा-पीड़न का पाठ पढ़ाया और दूसरी ओर कानून बना कर इनका संरक्षण किया। ज़मींदारी प्रथा के सम्बन्ध में अधिक लिख कर इस पत्र को बढ़ाना नहीं चाहता। इसका वृत्तान्त कौन नहीं जानता; किन्तु

अवध की ताल्लुकेदारी-प्रथा तो एक विचित्र वस्तु है। इन ताल्लुकेदारों के लिए हर प्रकार के शोषण और हर प्रकार के अत्याचार उनके वाजिब हक़ूक हैं। उनकी जबान से जो कुछ निकल जाय वही कानून है। उसके विरुद्ध कोई कुछ नहीं कह सकता। क्योंकि सरकारी कर्मचारी भी सर्वदा उन्हीं का साथ देते हैं। किसानों से लगान लेकर कम रक़म की रसीद देना और फिर बकाया लगान का दावा करना, किसी से नज़राना लेकर उसे खेत देना और फिर उसका पट्टा किसी दूसरे के नाम लिख देना, एक साधारण सी बात है। लगान के अतिरिक्त भूसा, पुआल, मोटरावन, हथियावन आदि और विवाह, श्राद्ध तथा बच्चा पैदा होने से अवसर पर एवं प्रत्येक त्यौहार के अवसर पर सलामी वसूल करना उनका साधारण हक़ होता है। इसके अतिरिक्त वे जब जी चाहें किसी भी किसान को पकड़ कर बेगार करा लेते हैं, किसान के खेत बिना जोते-बोये रह जांय किन्तु उनका हल-बैल लेकर अपना खेत जोत लेना उनका परम्परागत हक़ हो गया है। अगर किसी किसान ने ज़रा भी चूँ की तो उसका खेत खुदवा देना, उसकी फसल कटवा लेना और उसको पकड़ कर पिटवा देना भी बहुत मांमूली बात है। इनके अत्याचार की सीमा यहां तक पहुँच गई है कि किसान के लिए अपनी बहू-बेटियों की इज्ज़त क़ायम रखना मुश्किल हो जाता है। ज़मींदार की अभिलाषा के विरुद्ध कोई कुछ कहने का साहस नहीं कर सकता। ऐसी परिस्थिति में जब अवध के किसानों ने ताल्लुकेदारी के विरुद्ध कांग्रेस को वोट दिया तो तुम अनुमान कर सकती हो कि इन ताल्लुकेदारों के क्रोध का पारा कहां तक पहुँच गया होगा। उस समय वे क्रोध से उन्मत्त हो उठे थे और उनके पास किसानों पर अत्याचार करने के जितने भी साधन थे सबको बेलगाम खुला छोड़ दिया था। इन सब कारणों से कोई भी दिन ऐसा नहीं जाता था जिस दिन पांच-सात मुक़दमे हमारे पास न आते रहे हों।

और यह ताल्लुकेदारी!

मैं तुम्हें लिख चुका हूँ कि किसानों ने बहुत साहस करके इन अत्याचारी ताल्लुकेदारों के विरुद्ध कांग्रेस को वोट दिया था। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वे साहसी हो गये थे। वह तो उनकी एक क्षणिक उमंग का काम था। मरता क्या नहीं करता? बलिदान का जीव भी गर्दन छुड़ाने के लिए एक बार जोर से छटपटाता है।

सदियों के अत्याचार से दबे हुए किसानों ने जब ताल्लुकेदारों की यह नवीन उग्र मूर्ति देखी तो वे घबड़ा से गये। जिससे उनकी अवस्था और भी बुरी हो गई क्योंकि ज़मींदार के नौकरों का घबराये हुए असामियों को सताना अत्यन्त सरल हो गया। घबराहट के कारण किसान कितने साहस-हीन हो गये थे, एकाध उदाहरणों से ही तुम इसका अनुमान कर सकोगी।

एक दिन की बात है, प्रातःकाल लगभग ६-१० बजे थे। मैं स्नान करके अख़बार पढ़ रहा था। इतने में ही दो किसान मेरे पास आकर फूट-फूट कर रोने लगे। रोते-रोते उन्होंने बताया कि ज़िलेदार हमारे गांव के लोगों को अकारण पीट रहा है। मैंने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा कि तुम लोग चलो, मैं अभी आता हूँ। वह गांव आश्रम से क़रीब आठ मील की दूरी पर था। इसलिए मैं खाना खाकर साइकिल से उस गांव के लिए चल पड़ा। रास्ते में समरसिंहपुर नाम का एक गांव पड़ता था जिसमें हमारे द्वारा बनाई गई पंचायत के एक सरपंच रहते थे। मैं उन्हें भी साथ लेकर घटना-स्थल पर पहुँचा। किन्तु वहां जाकर एक अजीब दृश्य देखने को मिला। गांव में कोई व्यक्ति नहीं दिखाई देता था, केवल दो-तीन बूढ़ी स्त्रियां अपने-अपने बरामदे में बैठी नज़र आती थीं। उनसे पूछकर भी हम यह नहीं जान सके कि उस गांव के आदमी कहां चले गये। दीर्घकाल तक हम इस प्रतीक्षा और खोज में लगे रहे कि किसी से भेंट हो जाय, किन्तु पर्याप्त समय बीत जाने पर भी कोई दिखाई नहीं पड़ा। आख़िर-

किसानों की साहस-हीनता के कुछ उदाहरण

कार निराश होकर हमें वापस लौट आना पड़ा। समरसिंहपुर के सरपंच श्री मथुरासिंह उस गाँव के लोगों पर बहुत क्रोधित होकर वापस आये। रास्ते में एक दूसरे गाँव के लोगों से मालूम हुआ कि हमें आते देखकर वे छिप गये थे। क्योंकि उनमें इतना साहस नहीं था कि गाँव में बैठ कर ज़िलेदार की निन्दा करसकें। जो व्यक्ति शिकायत करता उसकी सूचना ज़िलेदार के पास अवश्य पहुँच जाती और ज़िलेदार उसका गाँव में रहना असम्भव कर देता।

ये बातें सुन कर किसानों की अवस्था पर विचार करते हुए मैं आश्रम वापस आया। किसान ताल्लुकेदार से कहाँ तक घबराता है, इसका एक उदाहरण और दे देना अधिक नहीं समझा जायगा।

एक दिन दोपहर के समय आश्रम से एक मील दूर पिछौरा गाँव से एक दो औरतें और दो-तीन पुरुष दौड़ते हुए आये और कहने लगे कि ज़मींदार के आदमी हमारे खेत बलात् जोत रहे हैं। उस समय आश्रम पर कई भाई उपस्थित थे। उन्होंने आश्रम के दो भाइयों को उन किसानों के साथ दिया। किसान आगे-आगे और हमारे आश्रमीय भाई उनके पीछे-पीछे जा रहे थे। रास्ते में एक खेत के पास से ताल्लुकेदारों के सिपाही उन किसानों पर टूट पड़े। जब हमारे आश्रमीय कार्यकर्ता भी नज़दीक पहुँचे तो एक लाठी इन पर भी पड़ी। किन्तु तत्काल ही वे आश्रम के लोगों को पहचान कर भाग गये। हमारे कार्यकर्ता गाँव में गये। उन्होंने गाँव वालों को साहस दिलाया कि जमींदार के आदमी ज़बरदस्ती खेत न जोतने पावें। फिर जो आदमी घायल हुए थे उन्हें साथ लेकर थाने में रिपोर्ट करने चल दिये। उनके चले जाने पर ताल्लुकेदार के सिपाहियों ने गाँव में घुस-घुस कर गाँव वालों को बहुत मारा। कुछ लोगों को तो मारते-मारते बेहोश कर दिया। और कहते गये कि देखेंगे कि अब किस तरह आश्रम में जाते हो! दूसरे दिन प्रातःकाल मैं और कर्ण भाई उस गाँव में तहक़ीक़ात करने पहुँचे। रात के मारे गये लोगों को भी, थाने

में रिपोर्ट देने के लिए भेज दिया। लोग बहुत डरे हुए थे, किन्तु साहस दिलाने पर सब लोग उन सिपाहियों के विरुद्ध गवाही देने को तैयार हो गये। मैंने इस मामले की एक लिखित रिपोर्ट ज़िले के डिप्टी कमिश्नर के पास भेज दी। और उनसे अनुरोध किया कि इस सम्बन्ध में पूर्ण जांच की जाय। उनसे स्वयं भी जाकर मिला। डिप्टी कमिश्नर और पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने आकर स्वयं जांच भी की। गांव वालों ने भी साहस के साथ सच्ची-सच्ची घटना कह सुनाई। ज़िलाधीश ने तहक़ीक़ात करके उन सिपाहियों पर अभियोग भी चालू कर दिया।

ताल्लुकेदार के आदमी क्यों और कैसे दख़ल कर रहे थे, वह भी एक सुनने योग्य कहानी है। मैं तुम्हें पिछले पत्र में लिख चुका हूँ कि खेत किसी अन्य को देकर और उस पर नाम किसी अन्य का चढ़ा देना उनका एक साधारण काम था। इसी प्रकार उस गांव के सैकड़ों बीघ खेत, जिन्हें गांव के किसान पचास-पचास साठ-साठ साल से जोते हुए थे, पटवारी के रजिस्टर में ज़मीदार के नाम से सीर दर्ज थे।

किसानों के खेत कैसे छीने जाते हैं?

ताल्लुकेदार से तो प्रायः सभी अधिकारी मिले ही रहते हैं, इसलिए सर्वदा उसके आदेशानुसार ही पटवारी के यहाँ इन्दराज होता रहा। बन्दोबस्त के समय बन्दोबस्त के अफ़सरों ने भी उस पर ध्यान नहीं दिया; क्योंकि आख़िर वे भी तो ज़मींदार के दोस्त बन कर उनसे इच्छानुसार पूजा प्राप्त करते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब ज़मींदार किसी भी ऐसे खेत के लिए यह कह दे कि यह मेरा खेत है तो किसानों के लिए उसे अपना सिद्ध करना कठिन हो जाता है। हाँ, गवाहों-द्वारा कब्जा अवश्य ही सिद्ध किया जा सकता है; किन्तु इस प्रकार के ज़ालिम और सर्वशक्तिमान ताल्लुकेदारों के विरोध में साक्षी देने का साहस कौन कर सकता है? इस प्रकार झूठी सीर लिखी हुई जमीन छीन कर वह गांव पर अत्याचार करना चाहता था किन्तु जब यह अभियोग डिप्टी कमिश्नर की कचहरी में चला गया तो

उसे कुछ परीशानी अवश्य हुई। पर तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि अन्त में गांव वाले उस ताल्लुकेदार के दवाव से इतना घवड़ा गये कि सभी के सभी डिप्टी कमिश्नर के यहां जाकर उसके अनुकूल गवाही दे आये। कालान्तर में मुझे मालूम हुआ कि उन पर दवाव डालने में पुलिस ने भी जमींदार का साथ दिया था।

इस प्रकार मामला समाप्त होजाने पर भी ज़मींदार का क्रोध शान्त नहीं हुआ। थोड़े ही दिनों के भीतर उस गांव के एक आदमी का कत्ल करा दिया गया। यह आदमी वही था जिसने ताल्लुकेदार के विरुद्ध सर्वप्रथम आवाज़ उठाई थी। इस प्रकार की हत्या-सम्बन्धी घटनाएँ उस क्षेत्र के लिए वहुत साधारण वातें हैं। पुलिस और अधिकारी भी कुछ कर नहीं पाते; अथवा यों कहा जा सकता है कि कुछ नहीं करते।

वृटिश अधिकारी समय-समय पर भारतीय जनता को सुख-शान्ति प्रदान करने की डींग हांकते हैं। लिखित पुस्तकों द्वारा यह प्रचार किया जाता है कि उनकी राज्य-व्यवस्था इतनी सुन्दर है कि भारतवर्ष में चोर लुटेरे और डाकुओं का भय नहीं रह गया। किन्तु जव हम देखते हैं कि ये साम्राज्यशाही लूट के दलाल गाँव के ग़रीव किसानों का डाका, लूट और खून आदि से किस प्रकार संर-
व्यचस्थित लूट की त्राण कर रहे हैं तो स्पष्ट प्रकट होता है कि वर्तमान प्रणाली शासन ने प्राचीन-काल के साँझ-सवेरे होने वाले डाका और लूट के स्थान पर इनका व्यवस्थित रूप से इस्तमरारी वन्दोवस्त कर रक्खा है। अग़र ये एक-आध ऐसी घटनाओं को कहीं रोकते भी हैं तो इसलिए नहीं कि वे हिन्दुस्तान की गरीव जनता को आराम पहुँचाना चाहते हैं वल्कि इसलिए कि वे नहीं चाहते कि उनके नियत किये गये एजेण्टों के अतिरिक्त दूसरा कोई उन्हें लूटे।

गाँव के केवल वे ही किसान नहीं सताये जाते जो ताल्लुकेदारों की

भूमि में रहते हैं। छोटे-छोटे ज़मींदार, जिन्होंने निर्वाचन में कांग्रेस का साथ नहीं दिया था, ताल्लुकेदारों से भी अधिक पागल हो गये थे। ताल्लुकेदार तो किसानों से दूर रहते हैं। किसानों की अवज्ञा उनके सामने से नहीं गुजरती, किन्तु छोटे ज़मींदार तो सर्वदा उनके सिर पर सवार रहते हैं और समय पर डंडा लेकर पहुँच जाते हैं। शायद इसी दृष्टि से किसानों में एक कहावत प्रचलित है "घोड़चढ़ा ठाकुर अच्छा, मेड़चढ़ा नहीं।" छोटे ज़मींदार न तो किसानों को पट्टा ही देते हैं और न कभी लगान की रसीद ही। इसलिए उनके किसान सोलहों आने उनकी अधीनता में रहते हैं।

'घोड़चढ़ा ठाकुर अच्छा, मेडचढ़ा नहीं'

इस प्रकार चुनाव के पश्चात् ताल्लुकेदारों और छोटे ज़मींदारों का अत्याचार इतना बढ़ गया था कि हमारी सम्पूर्ण शक्ति प्रायः उसी के निराकरण में लग जाती थी। अब तो तुम स्वयं महसूस कर लोगी कि हम लोग क्यों इतने विस्तृत क्षेत्र के झगड़ों में पड़े। उन दिनों ग्रामीण जनता पर इतनी तूफ़ानी आफ़त आ गई थी कि शिक्षा और सफ़ाई आदि की बात करना भी कठिन था। वास्तव में मुझे तो यह विश्वास हो गया है कि ग्राम-सेवक के एक मुख्य और विशेष कार्यक्रम लेकर चलते हुए भी गाँव की स्थानीय और आकस्मिक घटनाओं के प्रति उदासीन रहने से काम नहीं चलेगा। यदि वे पारिपार्श्विक परिस्थितियों के प्रति जाग्रत नहीं रहेंगे तो अपने मुख्य और निश्चित प्रोग्राम के द्वारा भी सेवा करने में असफल रहेंगे। क्योंकि ग्राम-सेवक के लिए जनता की हर तकलीफ़ में साथ रहना परम धर्म है। गांव के लोग उससे यही अपेक्षा भी रखते हैं।

किसानों की कष्ट-गाथा लिखते-लिखते पत्र बहुत लम्बा हो गया। मेरा विचार तो यह था कि संक्षेप में ही तुम्हे उस समय की परिस्थिति का परिचय दे दूँ। किन्तु इसी थोड़े थोड़े में पत्र लम्बा हो गया और मैं ख्याल भी नहीं कर पाया।

आज कल जेल में कुछ चहल-पहल है। इसलिए दो-एक दिन से समय अच्छी तरह कट रहा है। परसों दिवाली है। लोग उसकी तैयारी में लगे हुए हैं। जेल में लोग इसी प्रकार के त्योहार मना-मना कर अपने जीवन की शुष्कता को दूर कर लिया करते हैं। अभी अभी रणीवां से समाचार मिला है कि सरकारी सहायता कुछ कम हो जाने के कारण वहाँ का काम कुछ घटा देना पड़ा है। इसी के साथ तुम्हारी बुनियादी शिक्षा का प्रयोग भी बन्द हो गया होगा। आशा है, तुम सभी लोग स्वस्थ होगे। सबको नमस्कार।

---

[३६]

किसानों और मज़दूरों की बेबसी

१६—१०—४१

मैंने कल के पत्र में इस बात पर थोड़ा सा प्रकाश डाला था कि चुनाव में हारने के पश्चात् ताल्लुकेदारों और ज़मींदारों ने किसानों को किस प्रकार तंग करना प्रारम्भ किया था। उनके अत्याचार का एक बहुत लम्बा-चौड़ा कथानक है। अगर उसका पूरा-पूरा विवरण लिखा जाय तो एक बहुत बड़ा इतिहास बन जायगा और उस इतिहास की करुण कहानी संसार के किसी भी अत्याचार के इतिहास से अधिक रोमाञ्चकारी होगी। अवध के किसानों की हालत तो योंही बहुत दर्दनाक है। पहले पत्र में मैंने इस सम्बन्ध में तुम्हें कुछ लिखने का वादा किया था। आज मैं उसके सम्बन्ध में कुछ लिखने की कोशिश कर रहा हूँ। इससे तुम यह अनुमान कर सकोगी कि अवध के किसान इतना अधिक दबे हुए क्यों हैं?

शायद ही कोई ऐसा पढ़ा-लिखा मनुष्य होगा जो आजकल के ज़मींदारों के किसानों पर अत्याचार करने का हाल कुछ न कुछ न जानता हो। किन्तु अवध के किसानों को मौरूसी हक़ नहीं मिलता,

जिससे वे उन अत्याचारों के विरुद्ध चूँ तक नहीं कर सकते। कानून का निर्माण कुछ इस ढंग से हुआ है कि अगर जमींदार कानून के कुछ विरुद्ध भी ज्यादती करे तो किसान उसे सहने के लिए मजबूर हैं

कानूनी त्रुटियाँ

किसान ताल्लुकेदार को नजराना देकर जमीन का पट्टा लेता है किन्तु उस पट्टे की मीयाद केवल उसी के जीवन तक समाप्त हो जाती है और उसकी मृत्यु के पाँच वर्ष पश्चात् जमींदार उसके कुटुम्बियों को वेदखल कर देता है। तथा नये सिरे से नज़राना लेकर उसका नया पट्टा लिखता है। यदि उसके बाल-बच्चे दूसरे लोगों से अधिक नज़राना देने की व्यवस्था न कर सके, तो उनका खेत औरों के हाथ में चला जाता है और वे सदा के लिए वेदखल हो जाते हैं। जीवित रहने के एक मात्र साधन अपने खेतों को बचाने के लिए लोग अधिक से अधिक ब्याज दर पर भी महाजन से क़र्ज़ लेते हैं और इस प्रकार पिता की मृत्यु के पश्चात् ही पुत्र के जीवन पर कर्ज़ के बोझ का दबाव आ पड़ता है। इन ग्रामीणों के क़र्ज़ का हिसाब भी बहुत विस्तृत है। उसकी कहानी मैं किसी दूसरे दिन लिखूंगा। आज तो ताल्लुकेदारों के कारण किसानों के दुःख के ही विषय में लिख कर पत्र समाप्त करने का विचार है।

इस तरह लम्बा नज़राना देकर प्राप्त की गई जमीन के लिए भी यह कोई आवश्यक नहीं कि किसान अपने जीवन भर उसका उपयोग कर सकें क्योंकि ज़मींदार उन्हें कई अन्य तरीकों से जब चाहे तब वेदखल कर सकता है। अगर किसान किसी कारण-वश अपने खेत का कोई भाग नहीं जोत सका और उसे किसी अन्य को जोतने के

बेदख़ली के गोरखधन्धे

लिए दे दिया तो ज़मींदार उसे सारी ज़मीन से बेदखल कर देता है। लगान न देने के अपराध में बेदख़ली हो जाती है। यदि चार-छः आने ही बाक़ी रह जायँ तब भी किसान अपनी सारी जमीन से वेदखल हो जाता है। ताल्लुकेदार के कर्मचारी किसानों को हर प्रकार

से अपने पंजे में रखने के लिए उनसे पूरा लगान लेकर भी उन्हें पूरी वसूली की रसीद नहीं देते। सर्वदा कुछ न कुछ बकाया तो लगाये ही रहते हैं। यदि किसी समय किसी पर भृकुटी टेढ़ी हुई तो उसी बकाया रजिस्टर के आधार पर दावा कर देते हैं। प्रायः ऐसा भी होता है कि ज़मींदार के कर्मचारी किसानों को तंग करने की नीयत से फस्ल का मौसम न रहने पर भी लगान मांग बैठते हैं और यदि दो-एक दिन के भीतर उन्हें लगान न मिला तो दावा कर बैठते हैं। इस प्र ार यदि किसान कहीं से क़र्ज़ लेकर अदालत में हाजिर भी हुआ तो कम से कम अदालत तक आने-जाने का व्यय-भार तो उसे उठाना ही पड़ता है और उसे लगान से कई गुने के चक्कर में पड़ ही जाना होता है। किसानों को क़र्ज़ देने वाले भी या तो ज़मींदार के एजेण्ट ही होते हैं या ऐसे व्यक्ति होते हैं जो ज़मींदार से मिले जुले रहते हैं। वे एक ओर से दबाते हैं और दूसरी ओर कर्ज़ा लेने के लिए वाध्य करते हैं। इस तरह वे किसानों से दोहरा फ़ायदा उठाते हैं।

वेदख़ली के उपर्युक्त अधिकार किसानों से जो चाहे सब कराने के लिए काफ़ी हैं। वेदख़ली की पिस्तौल सर्वदा उनके सर पर तनी रहती है। यद्यपि नजराना लेने का कोई क़ानूनी हक नहीं है, फिर भी उन्हें देना ही पड़ता है। साधारणतया प्रति बीघे पचास-साठ रुपये नजराने देने पड़ते हैं जो लगभग ज़मीन के दाम के बराबर ही होता है। जिस समय कांग्रेस की हुकूमत चल रही थी उस समय उन लोगों में इस विषय पर विवाद चल रहा था कि यदि ज़मींदारों से ज़मीन ले ली जाती है तो उन्हें मुआवज़ा देना चाहिए अथवा नहीं। मेरी समझ में नहीं आता कि अब इस विषय पर विवाद करने की आवश्यकता ही क्या रह गई है? नज़राना के रूप में उन्होंने अब तब इतना अधिक रुपया प्राप्त कर लिया है जो ज़मीन के वास्तविक मूल्य से कई गुना हो सकता है। इसके अतिरिक्त आये दिन वे किसानों

ज़मींदारों को मुआवज़ा देना अनुचित है

से जो तरह-तरह की रकमें लेते रहते हैं उसका तो हिसाब ही अलग है।

प्रत्येक फ़स्ल के समय किसानों से भूसा और पयाल वसूल करना एक साधारण बात है। इसके अतिरिक्त यदि ज़मींदार के घर में किसी उत्सव-अनुष्ठान का आयोजन हुआ तो उसका सम्पूर्ण भार किसानों के ही सिर पर पड़ता है, ताल्लुकेदार के घर यदि कोई सरकारी अफ़सर मेहमान के रूप में आ गया तो उसकी मेहमानी और उसके ऐश-आराम के प्रवन्ध का सम्पूर्ण व्यय इन्हीं के मत्थे मढ़ा जाता है। सरकारी अधिकारी भी यह सब कुछ देखते और समझते हुए भी कुछ बोलते नहीं, प्रत्युत उलटे वे ज़मींदारों को इस कार्य के लिए और प्रोत्साहन देते हैं। ज़मींदार मोटर या हाथी खरीदता है तो उसका मूल्य किसानों से ही वसूल किया जाता है। उसकी सीर के खेत जोतने और बोने के लिए किसान अपने हल-बैल के साथ ही बेगार में पकड़ लिये जाते हैं। उनके निजी खेत बिना जोते-बोये भले ही रह जायँ किन्तु ज़मींदार की बेगार तो उन्हें करनी ही होगी। इन सारे पाशविक अत्याचारों को किसान इसी भय से चुपचाप सहन कर लेते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि ज़मींदार नाराज होकर उनके जीवन-यापन के एक मात्र साधन खेतों से बेदख़ल कर दे। अन्त में उनकी यह बेबसी इस दर्जे तक पहुँच जाती है कि वे ज़मींदार और उसके कर्मचारियों की मांग के विरुद्ध अपनी बहू-बेटियों की प्रतिष्ठा बचा सकने में असमर्थ हो जाते हैं और उनकी मांगों को दृढ़ता-पूर्वक अस्वीकार करने का साहस उनमें नहीं रह जाता।

मैंने पिछले पत्र में तुम्हें लिखा है कि अवध के किसानों ने ताल्लुकेदारों के विरुद्ध वोट दिया था। उनका यह कार्य उस छलांग के समान था जो उन लोगों ने अपनी गहरी परीशानी से घबरा कर छटपटाहट में मोक्ष पाने के लिए मारी थी। इसमें किसी प्रकार का स्थायी साहस नहीं था। इन उदाहरणों से तुम्हें अनुमान करने में सहायता

मिलेगी कि निर्वाचन के पश्चात् गांव का किसान-समाज ताल्लुकेदारों के भीषण अत्याचार से किस प्रकार त्रस्त हो उठा था और क्यों हम लोग अपनी सारी शक्ति से इस समस्या को सुलझाने में लग गये।

यह बात सत्य है कि कांग्रेस-मंत्रिमण्डल स्थापित हो जाने पर तथा नये विधान के निर्माण के पश्चात् परिस्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है। किन्तु सदियों से ज़मींदारों-द्वारा सताये जाने के कारण उनमें इतना साहस नहीं रह गया है कि वे अपने सत्व पर अड़ सकें। लगातार की लूट से उनकी आर्थिक विवशता इस सीमा तक पहुँच गई है कि वे ज़मींदार के विरुद्ध अदालत में जाकर न्याय प्राप्त करने में असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त सरकारी अधिकारियों एवं पुलिस के कर्मचारियों से तो ज़मींदारों का रिश्ता-सा ही चलता रहता है। अतएव कांग्रेस-द्वारा बनाये गये कानून से किसानों को जो लाभ हुआ वह समुद्र में एक बूंद के ही तुल्य है। इस प्रकार अवध प्रान्त के ग्राम-सेवक के लिए ज़मींदार और किसान की समस्या आज भी उसी तरह मौजूद है। नये कानून के बन जाने पर भी उनकी अवस्था ठीक उसी प्रकार की है जिस प्रकार ग़रीब ज़मींदार को अपनी ज़मीन की डिग्री अदालत से मिल गई हो, किन्तु अपनी गरीबी और बेबसी के कारण वह उस पर अधिकार न कर पाता हो।

कानून की असमर्थता

ऊपर मैंने जो कुछ लिखा है वह किसानों की अवस्था का केवल वर्णन मात्र है। अब प्रधान प्रश्न यह है कि ग्राम-सेवक किसानों की सहायता के लिए किस प्रकार कार्य करे। क्योंकि यह समस्या इतनी नाज़ुक है (विशेषतया जब राष्ट्र की शक्ति हमारे हाथ में नहीं है) कि इसमें जरा भी असावधानी हुई अथवा जरा भी व्यतिक्रम हुआ तो हालतें सुधरने के बजाय बिगड़ जा सकती हैं। इसलिए अतीत के तीन वर्ष तक हमें बहुत फूंक-फूंक कर कदम रखना पड़ा। इस विषय में अपना प्रयोग और अपनी राय फिर कभी लिख भेजूंगा। आज उन

मजदूरों का कुछ हाल सुनो जो किसानों के साथ गांवों में रहते हैं।

गांव में मजदूरी करने वाले लोग प्रायः चमार, केवट और पासी आदि जाति के होते हैं। इनके अतिरिक्त कुर्मी, अहीर और कुम्हार आदि द्विजेतर जाति के लोग, जिनके पास अपना खेत बहुत कम है, दूसरों के खेत में भी मजदूरी कर लेते हैं। साधारणतया गांव के जमींदार मजदूरों को कुछ खेत दे देते हैं जिसके बदले वे या तो लगान लेते हैं अथवा मजदूरी करा लेते हैं। जो लोग मजदूरी कराते हैं वे मजदूरी का कोई हिसाब भी नहीं रखते। प्रायः दस से बारह घंटे तक मजदूरों को खेत में काम करना पड़ता है जिसके बदले में उन्हें सेर डेढ़ सेर मटर या चना की किस्म का घटिया अनाज दिया जाता है। कहीं कहीं सवेरे के समय पाव भर चर्वन भी देते हैं। किन्तु यह रिवाज बहुत कम स्थानों में पाया जाता है। इस

यह सस्ती मजूरी!

प्रकार हिसाब की दृष्टि से दस-बारह घंटे की मजदूरी एक आने या छः पैसे तक पड़ती है। जो बड़े-बड़े अर्थशास्त्र-विशारद चर्खे की कम मजदूरी की आलोचना करते हैं उन्हें यह बात बता देना। यह थोड़ी सी मजदूरी भी मजदूरों को तभी मिलती है जब खेत में काम करने का समय होता है। अर्थात् यदि साल में सब मिला कर उन्हें आठ माह काम मिल सके तो उनकी एक वर्ष की औसत आय क्या होगी, यह तुम सरलतापूर्वक जान सकती हो। इसके अतिरिक्त गृहस्थी के छोटे-मोटे काम तो उनसे मुफ़्त ही करा लिये जाते हैं। बात करने पर जमींदार जवाब देते हैं कि इन कामों के बदले हम उन्हें काफ़ी सामान देते रहते हैं। आम की फ़स्ल में उन्हें काफी आम दिया जाता है, अबेर-सबेर काम पड़ने पर हमारे ही पेड़ों पर से लकड़ी काट कर ले जाते हैं। घर में कोई यज्ञ-भोज होता है तब भी उन्हें कुछ दिया ही जाता है। इत्यादि। किन्तु अगर उसके आदान-प्रदान का ठीक-ठीक हिसाब लगाया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि मजदूरों को जो कुछ सामान मिलता है, उससे कहीं अधिक मूल्य की

मजदूरी वे जमींदारों को प्रदान कर चुकते हैं। यह तो रही इधर की उचित मजदूरी की व्याख्या; किन्तु अधिकतर जमींदार जिस प्रकार किसानों को सताते और लूटते हैं उसी तरह मजदूरों के साथ भी व्यवहार करते हैं। अनाज, तेल, नमक और तम्बाकू के लेन-देन में अंधेर की सीमा हो जाती है। जब ये चीजें मजदूरों के पास नहीं रह जातीं तो वे अपने ठाकुरों से उधार लेते हैं और जब मजदूरी का जमाना आता है तो मजदूरी में से कटवा देते हैं। परन्तु काटते समय जमींदार लोग बहुत बढ़ा कर दाम लगाते हैं। इसी प्रकार जिन मजदूरों के पास कुछ खेती होती है अथवा जो छोटे किसान होते हैं उनसे ये जमींदार साल भर अनाज, घी और तेल आदि लेते रहते हैं। वर्षान्त में इन चीजों का मूल्य लगान में या अपने दिये हुए रुपये के सूद में काट देते हैं। किन्तु हिसाब करते समय बड़ी बेरहमी के साथ चीजों का सस्ता से सस्ता मनमाना भाव लगा लेते हैं। इन बातों के अतिरिक्त मजदूरों को मार-पीट कर उनसे अधिक काम करा लेना, उनकी झोपड़ी के आगे-पीछे या छप्पर पर लगी हुई सब्ज़ी, तरकारी और तम्बाकू आदि ज़बर्दस्ती तोड़ लेना उनके लिए साधारण बातें हैं।

मज़दूरों के पास कमाने का अन्य कोई साधन नहीं है। इसलिए चुपचाप इन अत्याचारों को सहन करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं। टाँडा में काम करते समय, चमारों के सम्बन्ध का अपना अनुभव तुम्हें लिख ही चुका हूँ। उसमें मैंने यह भी उल्लेख किया है कि अपनी विवशता के कारण वे किस प्रकार अपनी बहू-बेटियों की इज्जत ठाकुरों से बचा नहीं पाते। सम्भवतः ये सम्पूर्ण बातें तुम्हें स्मरण ही होंगी।

हम लोगों ने चुनाव आन्दोलन में भी भाग लिया था इसके अलावा चुनाव के पश्चात् ग्रामीण झगड़ों में पड़ने के कारण हमें जमींदार-किसान एवं सभी श्रेणी के लोगों के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने का अवसर मिला। यह अध्ययन ग्राम-सेवा की दिशा में चलने के लिए सर्वदा एक संचित पूँजी की तरह हमारी सहायता करेगा।

आज इतना ही लिख कर विदा लेता हूं। कल दीवाली है, इसलिए जेल में धूम-धाम काफी रहेगी। अब मैं दिवाली के बाद ही कोई पत्र लिख सकूंगा।

मैं स्वस्थ हूं। आज कल यहां का मौसम बहुत सुन्दर हो गया है इसलिए आनन्द भी खूब आता है। आशा है, तुम सभी लोग भली-भांति होगे। सबको नमस्कार।

---

[३७]

ज़मींदारी प्रथा की समस्या

२१—१०—४१

कल लोगों ने खूब दिवाली मनाई। इसीलिए मैं नित्य एक पत्र लिखने का निश्चय करके भी कल कुछ लिख नहीं सका। दिवाली में हम लोगों ने अपनी अपनी बैरकों को प्रकाश से खूब सजाया था। इतने प्रकाश का हो जाना इस जेल की दुनिया के लिए बिल्कुल नई बात थी। रात के समय 'कैम्पफायर' की तरह का तमाशा भी हुआ। लोग विचित्र-विचित्र पोशाकें पहन कर अपना खेल दिखाते थे। कोई औरत बनकर आता था, कोई मर्द बनता था, कोई अफ़ग़ानिस्तान के पठान का रूप ग्रहण करता था और कोई विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक रत्न बन कर पहुँचता था। इस तरह रात भर खूब हो-हल्ला रहा जिससे महीनों की उदासीनता समाप्त हो गई। आज मालूम होता है कि पहले पहल जेल आया हूँ। मन और शरीर खूब ताज़ा हो गया है। इसलिए आज ताजे उत्साह के साथ चिट्ठी भी लिखने बैठा हूँ।

परसों के पत्र में मैंने तुम्हें यह बताने का वादा किया था किसानों के कष्ट में सहायता पहुँचाने के लिए हम क्या क्या करते रहे। तुम्हें यह ज्ञात है कि किसान और ज़मींदार के झगड़ों की समस्या सुलझाने के

लिए आज कल बहुत से लोग देहात में जाते हैं किन्तु उनमें प्रायः एकरुखी भावना होती है। मेरे पिछले पत्रों से तुम्हें यह ज्ञात हो गया होगा कि जमींदार किसानों को कितना परीशान करते हैं। इसलिए ग्राम-सेवक के विचार में ज़मींदारों के प्रति कटु भावना का होना स्वाभाविक है। जब कोई किसान किसी ज़मींदार के विरुद्ध कोई शिकायत लेकर आता है, तो हमारा दिमाग़ तुरन्त किसान के पक्ष और ज़मींदार के विपक्ष में हो जाता है। किन्तु मैंने अपने तीन वर्ष के अनुभव में यह महसूस किया है कि इन अभियोगों में से बहुत से असत्य भी होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि हम किसान की केवल मौखिक बातें सुनकर ज़मींदार के विरुद्ध अपनी भावना बना लेते हैं तो हम किसी पक्ष के प्रति उचित न्याय नहीं कर सकते। मैंने अनुभव किया है कि ६० प्रति शत ग्राम-सेवक यह भूल कर बैठते हैं। इस बात के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। अनेक उदाहरण तो मुझे स्मरण भी नहीं हैं। क्योंकि कालान्तर में इस प्रकार के प्रायः सभी मामले कर्ण भाई और ब्रह्मचारी ही तय कर लिया करते थे। फिर भी मैं अपने सामने घटित हुई ऐसी दो-एक घटनाओं का उल्लेख कर रहा हूँ जिनसे तुम्हें यह पता चल जायगा कि किसानों के इस प्रकार के असत्य मामले भी हमारे सामने आते थे। एक दिन मैं खाना खाने के बाद चर्खा चला रहा था। भींटी के पास का एक किसान दौड़ा हुआ आया और एक पैर पर खड़ा होकर रोने लगा। सान्त्वना देने पर वह कुछ शान्त होकर कहने लगा—"भइया, भींटी के सिपाही के मारा हम रहे नाहीं पाइत। वे हमका मारत हैं और कहत हैं कि तुहें हम नाहीं रहे देव। जिनका वोट दिये हो, उन्हीं के खेत जाकर जोतो और उन ही की ज़मीन पर बसो।" उस समय आश्रम पर कर्ण भाई या ब्रह्मचारी कोई भी नहीं थे। मैंने उसका और उसके गाँव का नाम लिख लिया और कह दिया कि जाओ मैं किसी को भेजूँगा। वह मेरा पैर पकड़ कर रोने लगा

किसानों द्वारा असत्य आरोप

और कहने लगा—"अभी चलो हमरे घर भर का निकाल दीहिस है और हमरे रहे के कौनों ठेकान नाहीं वाय और विना तुहरे वह केहू दूसरे के मान कै नाहीं वाय।" उसकी करुण कहानी सुनकर मैंने उससे कहा कि तुम चलो हम अभी आते हैं। उसके जाने के लगभग आध घण्टे पश्चात् मैं साइकिल से उसके घर पहुँचा। तव तक वह अपने घर नहीं पहुँचा था। रास्ते में भी मैंने उसे कहीं नहीं देखा था किन्तु उस के घर की अवस्था देख कर मुझे वहुत आश्चर्य हुआ। घर वालों में विल्कुल शान्ति विराज रही थी। यह नहीं मालूम होता था कि उन लोगों पर किसी प्रकार की आपत्ति आई हुई है। एक स्त्री शान्ति-पूर्वक वैठ कर चर्खा कात रही थी। वच्चे इधर-उधर खेल रहे थे। मैंने उसी स्त्री से उस मनुष्य के सम्वन्ध में पूछा। उसने उत्तर दिया कि वह तो आश्रम की ही ओर गये हुए हैं और अव तक घर वापस नहीं आये। मैं वहीं पर वैठ गया और उस स्त्री से वात-चीत करने लगा। जव मैंने उससे पूछा कि आश्रम जाने की क्या आवश्यकता आ पड़ी तो उसने कहा कि 'सिपहिया हम सव का तंग करत हैं, वही का शिकायत करे गये हैं।' फिर मैंने धीरे-धीरे उसी स्त्री से सारी वातें पूछ लीं। मालूम हुआ कि यह झगड़ा वहुत पुराना है और दोनों में वहुत दिनों से चलता रहता है। पूछ-ताछ करने पर यह भी मालूम हुआ कि उस किसान के परिवार के किसी भी व्यक्ति का नाम वोटर लिस्ट में नहीं था। इन वातों की विशेष व्याख्या करना व्यर्थ सा ही है। निष्कर्ष यही है कि इस झगड़े में वे दोनों ही अपराधी थे। हाँ, वह सिपाही ज़मींदार का कारिन्दा भी था इसलिए वह अधिक ज्यादती कर सकता था किन्तु मुझसे जिस घटना का उल्लेख किया गया था वह आदि से अन्त तक झूठी थी। इसी प्रकार के अन्य भी सैकड़ों मामले आया करते थे जो जाँच करने पर असत्य सिद्ध होते थे। एक स्थान पर तो किसान ने जमीं-दार के विरुद्ध प्रचार करने के लिए अपना झंडा स्वयं अपने हाथों से

तोड़ डाला और हल्ला मचाना शुरू किया कि जमींदार ने मेरा झंडा तुड़वा दिया है। उसके इस प्रचार से देहात में काफी हल्ला मचा। अन्त में जब कर्या भाई ने घटनास्थल पर जाकर पता लगाया तो कुछ दूसरा ही विवरण प्राप्त हुआ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही गांव के दो जमींदार आपसी शत्रुता के कारण एक दूसरे की रिआया को अकारण ही उभार दिया करते हैं। अन्त में जब स्थिति अति गम्भीर हो जाती है तो मामला हमारे पास पहुँचता है। ऐसे अभियोगों में एक जमींदार दूसरे की रिआया के प्रति स्वभावतः बहुत अधिक हमदर्दी प्रकट करने लगता है। ऐसे मामलों का सुलझाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। क्योंकि अगर हमने किसी तरह से मामला सुलझा भी दिया तथा किसान और जमींदार में किसी तरह समझौता भी करा दिया, तो हमारे चले आने पर वह समझौता स्थिर नहीं रह पाता। क्योंकि गांव में एक उभारने वाला तो सर्वदा मौजूद ही है। इस प्रकार के लोग कभी कभी पूरे कांग्रेसी बन जाते हैं और हमको उल्टा-सीधा समझाने का भी प्रयत्न करते हैं। कहीं-कहीं तो झगड़ा लगाने वाले जमींदार स्वयं कांग्रेस-जन होते हैं। ऐसे झगड़ों को सुलझाने के प्रयत्न में कभी-कभी हमें किसानों का मामला स्थगित कर इन पट्टीदारी वाले जमींदारों का ही झगड़ा सुलझाना पड़ जाता है।

जमींदारों की परस्पर प्रतिद्वंद्विता के कारण उठने वाले झगड़े

उपर्युक्त दृष्टान्तों से तुम्हें यह भली-भाँति ज्ञात हो गया होगा कि ग्राम-सेवक को किसान और जमींदार के झगड़े सुलझाने में बहुत शान्ति और धैर्य्य से काम लेना चाहिए। मौखिक शिकायतें सुनकर तदनुसार अपनी धारणा बना लेना बहुत ग़लत तरीक़ा है। अधिकांश सेवक कार्यकर्ता इस प्रकार के झगड़ों के सम्बन्ध में जमींदारों के प्रति विरुद्ध धारणा बना कर ही घटना-स्थल पर जाते हैं। उनका ऐसा

करना एक प्रकार से स्वाभाविक भी है; क्योंकि साधारणतया जमींदार किसानों पर इतना अमानुषिक अत्याचार करते हैं कि किसानों-द्वारा उस अत्याचार की करुण-कहानी सुन कर नौजवानों के लिए स्थिर और शान्त रहना असम्भव हो जाता है। किन्तु जिन्हें यह कार्य अपने हाथ में लेना है, उन्हें तो अपने विचार शान्त और स्थिर बनाने ही होंगे। नहीं तो हम किसानों की दशा सुधारने की अपेक्षा बिगाड़ देंगे और उनके कष्ट का कारण बनेंगे।

हम लोगों को जब कभी इस प्रकार की रिपोर्ट मिलती थी तो पहले हम उसे नोट कर लेते थे। तदनन्तर हम में से कोई घटना-स्थल पर पहुँच जाता था और जमींदार से भेंट कर तथा उसका भी बयान लेकर दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न करता था। अपनी शक्ति भर हम लोग यही प्रयत्न करते थे कि अगर जमींदार थोड़ी भी सुविधा प्रदान करने की स्वीकृति दे तो दोनों पक्षों में समझौता अवश्य हो जाय। हम लोगों ने कोई ऐसी मर्यादा नहीं निश्चित की थी कि जमींदार के किस सीमा तक झुकने पर समझौता किया जाय। परिस्थिति के अनुसार झगड़े की गम्भीरता और स्थानीय किसानों की संघटन-शक्ति के आधार पर मर्यादा बना ली जाती थी। कभी-कभी तो हमें यही उचित प्रतीत होता था कि हम जमींदारों के अत्याचार को चुप-चाप सहन कर जायँ। क्योंकि स्थानीय किसान आपस में इतना कलह-पूर्ण व्यवहार रखते थे और इतने बुजदिल थे कि हम लोगों को अशंका होती थी कि यदि इनके द्वारा किसी भी प्रकार का झगड़ा उठाया गया तो ये लोग बेतरह पिस जायँगे और इनका करा-धरा कुछ नहीं हो सकेगा। कभी-कभी हमें कुछ किसानों के झगड़े लेकर कचहरी तक भी पहुँचना पड़ता था। और उनके लिए पैरवी की कुछ सुविधा की भी व्यवस्था करनी पड़ती थी। अवसर आने पर हाकिमों और पुलिस अफसरों से मिल कर भी हम उनके मामले को

हमारी जाँच का तरीका

तय कराने की कोशिश करते थे। कचहरी में मुकदमे ले जाने पर प्रायः हमें बहुत कटु अनुभव हुआ।

मैं तुम्हें पहले ही लिख चुका हूँ कि अवध के किसान नितान्त साधन-हीन अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं। इसलिए वे कचहरी में जाकर न तो अच्छे वकील कर सकते हैं और न तो गवाहों के ही लिए कुछ व्यय कर सकते हैं। इसके विरुद्ध ज़मींदारों के पास पर्याप्त धन होता है, प्रजा को दबाने की शक्ति होती है तथा पुलिस और अन्य अधिकारी सर्वदा उनका साथ देते हैं। इसलिए यद्यपि किसी अभियोग को प्रारम्भ करते समय गांव के किसानों में काफ़ी संघटन रहता है पर जैसे-जैसे मामला आगे बढ़ता है और दिन बीतते जाते हैं वैसे-वैसे जमींदार के दलाल दबाव डाल कर, धन का लालच देकर, पुलिस-द्वारा दबाव डलवा कर किसानों के गवाहों को फोड़ लेते हैं और इस प्रकार किसान अपने सच्चे मुकदमे को भी कचहरी में हार जाता है और कालान्तर में उसे लेने के देने पड़ जाते हैं। इसलिए इस प्रकार के कई अनुभवों के पश्चात् हम लोग किसानों के मामले कचहरी में जाते समय डरते रहते थे और जहां तक सम्भव होता था ऐसी परिस्थिति से बचने का प्रयत्न करते थे। जहां के किसान कुछ संघटित प्रतीत होते थे, वहां यदि ज़मींदार से समझौता नहीं हो पाता था तो उनके द्वारा छोटा-मोटा क्षणिक सत्याग्रह करा देना ही अधिक लाभ-प्रद होता था। किन्तु जिस स्थान पर किसानों में अच्छा संघटन नहीं देखते थे, वहां ज़मींदार समझाने बुझाने से जितनी सुविधाएँ दे सकता था, उतने ही पर किसानों को संतोष कर लेने की सलाह देते थे। इसके साथ ही साथ किसानों में मेल और संघटन पैदा करने का प्रयत्न भी करते थे। कभी-कभी किसानों को अड़ जाने की सलाह भी देते थे और एक मामले में विजय प्राप्त कर लेने पर भी दूसरे मामले में कभी कभी दब जाने को ही हितकर समझते थे।

परिस्थिति के अनुसार कार्य

ऐसा हम इसलिए करते थे कि विजय प्राप्त कर लेने पर जो शक्ति आती है, उसको स्थिर रखने के लिए कुछ समय की अपेक्षा होती है। इसके अतिरिक्त किसानों में इतनी शक्ति नहीं होती कि वे हर समय ज़मींदार से लड़ते रह सकें। ऐसी अवस्था में बहुत संभव है कुछ लोग थक कर और लालच में आकर ज़मींदार की ओर जा मिलें। इस प्रकार गाँव का संघटन टूट जाता है और उसमें फूट उत्पन्न हो जाती है।

हम लोग उस क्षेत्र में किसानों के झगड़ों को इस तरह सुलझाने की कोशिश करते थे, जिससे किसानों की न्यूनातिन्यून शक्ति के प्रयोग से काम चल जाय। जहाँतक सम्भव होता था, शान्ति से ही काम लेते थे।

इन उपर्युक्त कार्यों में हम लोग सर्वदा लगे ही रहते थे किन्तु इन्हीं कार्यों के प्रसंग में रह रह कर हमारे सारे मस्तिष्क में यह भावना उठा करती थी कि इस जमींदारी-प्रथा की समाज में क्या आवश्यकता है? सम्भव है, किसी युग-विशेष में इससे कोई सहूलियत की व्यवस्था होती रही हो अथवा यह शासन-व्यवस्था में एक मध्यस्थ एजेण्ट की तरह सहायक का काम देती रही हो किंवा समाज-संघटन का सफल नेतृत्व करती रही हो, किन्तु उस समय यह भी रहा होगा कि इन जमींदारों के प्रति भी सामाजिक बन्धन अत्यन्त दृढ़ और कठोर रहे होंगे और उनके लिए समाज-द्वारा निश्चित किये गये कार्यों की अवहेलना करना अत्यन्त कठिन रहा होगा। किन्तु आज जनता के साथ राष्ट्रीय शासन का सीधा सम्बन्ध हो गया है और सम्पूर्ण व्यवस्था केन्द्रीय शासन-द्वारा ही परिचालित होती है। इस प्रकार की व्यवस्था में जमींदार का कोई स्थान नहीं रह गया है। समाज में कोई भी श्रेणी कर्तव्य-हीन अवस्था में जड़वत् स्थिर नहीं रह सकती। वह या तो कोई सुकर्म करेगी अथवा कुकर्म ही। ऐसी परिस्थिति में जिस श्रेणी के लिए

आज ज़मींदार व्यर्थ है!

अपना कोई कर्तव्य ही नहीं रह जाता उसके लिए कुकर्म करने लगना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त इन ज़मींदारों की उत्पत्ति विदेशी लूट में सहायक के रूप में हुई थी इसलिए जब तक इनके भीतर प्राचीन संस्कृति का अवशेष रहा, तब तक इनकी प्रवृत्ति कुछ अच्छी रही। किन्तु धीरे-धीरे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लूट की शिक्षा ने उन्हें सर्वथा जालिम बना दिया और अन्त में उनका अत्याचार साम्राज्यवादी अत्याचार से भी आगे बढ़ गया। स्वभावतः ऐसा होना ही चाहिए था। शंकरजी के तेज और प्रताप के आश्रय में रहने वाले उनके शृंगीदल, भूत, भवानी, पिशाच और पिशाचिनियां लोगों को अधिक परेशान करती हैं। सूर्य का ताप शरीर को उतना नहीं जलाता जितना उसकी किरणों से तपा हुआ लोहा जलाता है। आज का जमींदार देहात की ग़रीब और मजदूर जनता के लिए शोषण और अत्याचार की मशीन बन गया है। हम लोगों ने अत्यन्त शान्ति और धैर्य के साथ तीन-चार वर्ष तक ज़मींदार और किसानों के झगड़ों का निपटारा कराया किन्तु इस प्रयत्न से अन्त में हमारे मस्तिष्क पर यही प्रभाव पड़ा कि ज़मींदारी-प्रथा समाज के लिए अत्यन्त व्यर्थ और हानि-प्रद संस्था है। जितने ही शीघ्र यह प्रथा समाप्त हो सके उतने ही शीघ्र देहात की समस्याओं को हल करने का मार्ग साफ़ हो जायगा। मेरी यह धारणा हो गई है कि ग्रामीण-समाज को सुखी और स्वावलम्बी बनाने के लिए यह परमावश्यक है कि ज़मीन की अधिकारी या तो पंचायत हो अथवा स्वयं वे व्यक्ति हों जो उत्पादन का कार्य करते हैं। मैं समझता हूँ कि प्राचीन भारत में यही व्यवस्था प्रचलित भी थी।

आख़िर ज़मींदार हैं ही कितने? युक्तप्रान्त में कुल साढ़े बारह लाख ज़मींदार हैं। इनमें भी लगभग दस लाख तो ऐसे ज़मींदार हैं जो केवल सौ रुपये वार्षिक तक मालगुज़ारी देते हैं। ये इतने ग़रीब हैं कि इनकी अवस्था किसानों से भी ख़राब है। उन्हें एक प्रकार का रैयतवारी किसान ही कहना अधिक संगत है। किन्तु चूँकि इनका

नाम ज़मींदार है, इसलिए चाहे इनके घरों में दोनों समय चूल्हा भले ही न जले किन्तु इनकी ऐंठ बादशाही ढंग की ही होती है। लखनऊ के नवाब घराने के लोगों के विषय में सुनता हूँ कि उनलोगों में से कई एक को सरकार की ओर से केवल आठ आने वार्षिक गुज़ारे के लिए मिलता है, किन्तु उनकी नवाबी ऐंठ में कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार जब हम छोटे-छोटे ज़मींदारों से अलग व्यक्तिगत रूप से बात-चीत करते हैं तो वे कहते हैं कि हम इस ज़मींदारी से तंग आ गये हैं। यदि पेट भर खाने को मिल जाय तो यह ज़मींदारी चूल्हे जाय। किन्तु अच्छी से अच्छी समाज-व्यवस्था में यदि उन्हें कोई स्थान नहीं मिलता तो वे बौखला से जाते हैं। हमने जहाँ तक इन लोगों का अध्ययन किया है, ये इसलिए नहीं घबराते कि इनकी ज़मींदारी चली जायगी, बल्कि इसलिए घबराते हैं कि आज उनकी यह छोटी-सी ज़मींदारी उनके लिए डूबते हुए को तिनके के समान है। वे यह जानते हैं कि यह तिनका उन्हें बचा नहीं सकता, फिर भी वे उसे छोड़ने का स्वप्न देखना भी सहन नहीं कर सकते। यदि डूबते हुए मनुष्य से यह कहा जाय कि तुम तिनके को छोड़ दो तो वह कभी उसे छोड़ने को तैयार नहीं होगा, किन्तु यदि उस के सामने कोई उचित आधार डाल दिया जाय तो वह तुरन्त तिनके को छोड़ कर उस आधार को पकड़ लेगा। वर्ना यदि बिना किसी प्रकार का अवलम्ब दिये ही उसका तिनका छीनने का प्रयत्न किया जाय तो वह छीनने वाले को काट खाने को उद्यत हो जायगा। जिस समय हम लोग 'ज़मींदारी का नाश हो' का नारा लगाते हैं, उस समय हमारा तात्पर्य ५०००) या अधिक वार्षिक मालगुजारी देने वाले केवल २२०० ज़मींदारों से ही होता है। हमारा यह नारा उनके कानों तक तो पहुँचता नहीं, क्योंकि उनकी नौका अँग्रेजी साम्राज्य की नींव के साथ भलीभाँति सम्बद्ध है। किन्तु प्रायः मुमूर्ष अवस्था को प्राप्त ये ज़मींदार नामधारी किसान हमारे उक्त नारे से घबड़ा कर पागल हो उठते हैं

और हमारे आन्दोलन के प्रवाह में गड़बड़ी पैदा कर देने के कारण बन जाते हैं। वही एक सम्प्रदाय है जो अत्यन्त ग़रीब हो जाने पर भी अपने प्राचीन संस्कार के कारण ग्रामीण जनता का मुखिया है। अतः ग्राम-सेवक को सावधानी से क़दम बढ़ाना चाहिए, जोश से काम नहीं चल सकता है। इसी उद्देश्य से हम ज़मींदारी प्रथा के अन्त के विषय में निश्चित धारणा रखते हुए भी ग्राम-सेवा का कार्य करते समय इसकी चर्चा नहीं करते हैं। मैं समझता हूँ कि यदि हम लोग ग्राम-उद्योग के द्वारा बेकार ग्रामीण जनता की आर्थिक समस्या हल करते रहेंगे और उसी के साथ-साथ ज़मींदारी प्रथा की अनुपयोगिता बताते रहेंगे तो इस कुप्रथा को समाप्त करना सरल हो जायगा। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि अन्त में क़ानून के ही द्वारा इस व्यवस्था को परिवर्तित किया जा सकता है किन्तु यदि वैधानिक परिवर्तन के पहले ही ग्रामोद्योग-द्वारा साढ़े बारह लाख ज़मींदारों में से साढ़े दस लाख ज़मींदारों में आत्म-विश्वास उत्पन्न कर उनका सहारा छूट जाने का डर हटा सकें तभी कानून भी पूरा कामयाब हो सकेगा, वर्ना केवल दिमाग़ी बहस. और क़ानून के दबाव से इसे करने की कोशिश करेंगे तो कभी पूर्ण सफल नहीं होंगे।

जमींदारी प्रथा के सम्बन्ध में मेरी इस राय को पढ़ कर तुम्हें आश्चर्य होगा और तुम कहोगी कि इन ज़मींदारों को भी तो सुधारा जा सकता है। सम्भव भी है कि शायद उनका सुधार हो जाय। क्योंकि मैं मनुष्य प्रकृति के सुधार पर आस्था रखता हूँ। किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि समाज के लिए अब इस संस्था की कोई आवश्यकता और उपयोगिता नहीं रही और अनुपयोगी अवस्था में कोई चीज़ स्थिर नहीं रह सकती। यह प्रकृति का अटल नियम है।

आशा है, वहाँ के सभी लोग सकुशल होंगे। मुझे तुमने जो किताब भेजने को कहा था वह अब तक नहीं मिली। नमस्कार।

---

[३८]

आपसी झगड़ों की समस्या

२२—१०—४१

आज भ्रातृद्वितीया है। स्वभावतः तुम लोगों की बात याद आती है। आज के दिन संसार की सब बहिनों की शुभ कामनाओं को लेकर हम लोग जीवन-संग्राम में आगे बढ़ते हैं। आज के दिन बहिनों से अलग रहने का मौका मुझको इस साल पहले-पहल हुआ है। इसलिए और भी सब की याद आ रही है। दिल चाहता है कि लिख डालूँ लेकिन पत्र तो एक ही लिख सकता हूँ। इसलिए इसी पत्र की मार्फत सब बहिनों को शुभ कामना भेज रहा हूँ।

अब चलो गाँव की बात शुरू की जाय। मैं तुमको किसी पत्र में पहिले लिख चुका था कि किसानों की शिकायतों पर झगड़ा मिटाने के साथ-साथ हमको गाँव वालों का आपसी झगड़े का भी निबटारा करना पड़ता था। ये झगड़े कई प्रकार के होते थे। मैं समझता हूँ कि उन झगड़ों का विवरण लिख कर तुम्हारा समय बरबाद करना बेकार ही होगा। मुझको क्या? मैं तो सैकड़ों पन्ने लिख डालूँ। क्योंकि जेल जीवन में बिना काम के रहना ही सबसे ज्यादा तकलीफ की बात है। लेकिन तुम लोगों के पास तो बहुत काम है। बेकार पत्र देखने का समय कहाँ? इसलिए मैं तुमको सिर्फ किन किन बातों पर झगड़ा देहात में होता है उसका अंदाज देते हुए पत्र समाप्त करने की कोशिश करूँगा। वैसे तो तरह तरह की लड़ाई रोज हुआ करती है और हमको उसका फैसला करना पड़ता है। सब तो मुझ को याद नहीं है। लेकिन जो झगड़े आम तौर पर हुआ करते हैं वे इस प्रकार हैं।

ज्यादातर जायदाद के बँटवारे पर झगड़ा होता है। लोग कहते हैं कि इस झगड़े की जड़ तुम्हारी जाति (स्त्री जाति) की माया

है। मुझे तो पता नहीं, तुम्हीं ठीक अंदाज़ कर सकती हो। झगड़ा कभी-कभी भयानक रूप ले लेता है। और जब भाई-भाई में दुश्मनी हो जाती है तो आजीवन किसी न किसी बहाने झगड़ा होता ही रहता है। बँटवारा का झगड़ा अगर कचहरी चला जाता है तो ज़मीन-जायदाद सारा परिवार एक दम नाश हो जाता है। इस नाश के बँटवारे के झगड़े करने में गांव भर के लोग शामिल रहते हैं। खास तौर से जो लोग पैसा उधार देते हैं वे तो किसी न किसी पक्ष के हितू बन ही जाते हैं और उसका खरा नाश कराके अपना काम बना लेते हैं। जो लोग उधार वगैहर नहीं भी देते हैं वे भी इस झगड़े को बढ़ाने में काफ़ी दिलचस्पी लेते हैं। उसमें से एक श्रेणी के लोग वे होते हैं जो हमेशा उस परिवार की हैसियत से ईर्षा करते रहते हैं। दूसरी श्रेणी उनकी है जो उस परिवार के पूर्वजों के पट्टीदार के वंश के हैं। तीसरी श्रेणी के वे हैं जो गांव के रूखे जीवन से ऊबे हुए रहते हैं और हमेशा कुछ न कुछ तमाशा ढूँढ़ते रहते हैं। स्त्रियां खास कर इस श्रेणी की होती हैं। अगर इत्तिफ़ाक से दो भाई आपस में सुलह से बँटवारा करने लगते हैं तो सारे गांव की ऐसी हालत होती है मानों गांव में कुछ अन्धेर हो रहा है। मैंने तुमको झगड़ों के विवरण की बाबत न लिखने का वादा किया था। लेकिन इस सिलसिले में मुझको एक मजेदार घटना याद आ गई और उसको लिखने का लोभ समाता नहीं। कहानी इस प्रकार है।

आश्रम के पास ही एक गाँव के एक जमींदार परिवार में तीन भाई मिल कर काफी सुख से रहते थे। उनमें से दो सगे भाई थे और एक चचेरा भाई। हम लोगों के रणीवाँ जाने के बाद से उस परिवार के बड़े भाई, जो सारे परिवार का सब काम संभालते थे, कांग्रेस के प्रति आकृष्ट होते गये और धीरे-धीरे गांधी जी के परम भक्त बन गये और जैसा कि मैं पहिले लिख चुका हूँ आस-पास के बहुत से लोगों के समान पुरानी रूढ़ियां छोड़ते गये। इनका इस प्रकार का आचरण

चचेरे भाई साहब को पसंद नहीं था और वह समय असमय काफी एतराज किया करते थे। समय-असमय पर बँटवारे की भी धमकी दिया करते थे। इसका एक तत्व और था। जायदाद के आधे के हिस्सेदार वह थे और आधे में ये दो भाई। शायद और भी कुछ अधिकार उस छोटे भाई को थे जिसको मैं ज्यादा नहीं जानता। आखिर बँटवारे का निश्चय हो ही गया। लेकिन बड़े भाई ने अपने को दबा कर भी इस ढंग से बँटवारा किया कि किसी तरह से झगड़ा न होने पावे। इस मामले ने सारे गांव तथा आस-पास के गांवों में तूफ़ान पैदा किया। सभी लोग इस बात से परीशान थे कि बिना झगड़ा किये, बिना किसी को बुलाये बँटवारा कैसे हो सकता है। शुरू में तो लोगों ने इधर-उधर कानाफूंसी करके अंट-शंट बातों को फैलाना शुरू किया जिससे भाइयों में गलतफ़हमी और संदेह पैदा हो सके। लेकिन उससे लोगों का कुछ काम नहीं निकला। फिर लोगों ने बड़े भाई से जो सब काम कर रहे थे, कहना शुरू किया : भला ऐसे भी कहीं बटवारा होता है। तुम तो अपने को बरबाद कर रहे हो। तुम तो कहते हो कि वे जौन मांगे तौन देई मुला यह तो समझे ना चाही कि तुम्हार भाई आटे, लरिका आटे। वे का करिहैं। भला ऐस कहीं होत है। वै तुम्हारा मूँड़ मांगै तौ कटाके दै दै हो का?" इत्यादि इत्यादि। लेकिन वे लोग उनको अपनी टेक से हिला नहीं सके। वे सब को एक ही जवाब देते थे "भइया एहिमा हमका फायदा वा।" या 'आखिर वे भी तो हमारे ही भाई हैं फिर हम तो अपनी समझ से न्यायपूर्वक ही बँटवारा कर रहे हैं।' कहीं किसी के दरवाजे पर दो-चार आदमी बैठ कर गपशप कर रहे हैं, इतने में कहीं उनके लड़के को जाते देख लिया तो झट एक दूसरे से कहने लगे—"अरे भइया, वै तो आज कांग्रेसी ह्वै गये; बिहान जेल जवइयाँ हैं। के जाने परौं साधू ह्वै जायँ लेकिन एह तरह एक लाग अपने बेटवा कै मूड़ काटे के चाही?"

दूसरों के घरों में आग लगाने वाले परोपकारी

इस तरह वे उनके लड़कों को बहकाने की कोशिश करते थे। मैं उन दिनों जब देहात जाता था तब लोगों को इसी तरह बातें करता हुआ पाता था। जब तुम रणीवां आई थीं तो तुमने देखा था कि पास के गांव वालों के साथ हम लोगों का सम्बन्ध पारिवारिक-सा हो गया था। हम लोग जब गांव में जाते थे तो निस्संकोच लोगों के घरों में चले जाते थे और वहां भी औरतों को इसी तरह की बातें करते देखते थे। एक दिन मैं एक घर के आंगन में जाकर बैठा तो वहां चार-पांच स्त्रियां बात-चीत कर रही थीं। वे सब मुझको बैठने के लिए चारपाई देकर स्वयं नीचे बैठ गईं। उसमें से एक स्त्री ने मुझसे कहा—"भइया एह साइत हमरे सब बहुत तकलीफ मां हईं। का बताईं अइसन सुखी घर चूर चूर होत नाहीं देखा जात। हमरे सब रोय रोय कै दिन काटित है।" इतने में दूसरी स्त्री बोली—"लेकिन भइया फलाना बाबू खूब किहिन। जौन जौन भइया कहत है सब हां करत जात हैं। एतनी भारी जायदाद बटत बाय कहीं चूँ नाहीं सुनाई देत बाटै। अरे भइया जायदाद बंटत मां जौन गति होँ जात है।" तीसरी ने कहा—"रहे द बहनी तू हूँ जवन मेहरारू बाटू। वे अस किहिन तो कौन बात कै लिहिन। तुहरे लोगन दुनिया भर कै बखान करत फिरत हऊ। वे करैं न त क्या करैं। सबमें जायदाद तो छोटे भाई की ही है। अपने तो कुल कर्जा में बूड़ल बाटैं। दिखावे खातिर वै बड़े दानी बनत हैं।" चौथी स्त्री—"चाहे जौन कहौ बहिनी, वै तो सब उठा के दै देत हवैं, रंचौ खियाल नाहीं करत हवैं कि आपन बेटवा का खइहै।"

इस तरह औरतें भी उनके घर की औरतों का दिमाग खराब कर रही थीं। आखिरकार लोगों ने कुछ न कुछ कह-कहकर घपला मचा ही दिया। सारा बँटवारा हो जाने पर एक छोटी सी बात लेकर उनका लड़का लड़ पड़ा और कहा कि मैं घर ही छोड़ कर चला जाऊंगा। उसके पिता ने उसको बहुत समझाया लेकिन उसने नहीं माना और सवेरे उठ कर चुपके से कहीं भाग गया।

उनके लड़के के चले जाने के बाद भी लोगों ने उन पर दबाव डाला। लेकिन वह अपने संकल्प पर अड़े रहे। उनके इस व्यवहार से दोनों भाइयों का फायदा रहा। बँटवारा हो जाने पर भी आपस में दुश्मनी नहीं हुई। मैं क्या बताऊँ? यह हाल उस गांव का है जहां पर हमारा सम्बन्ध इतना घनिष्ट है। दूसरे गांवों की हालत तो विचित्र ही है। इससे तुम देख सकती हो कि ऐसे मामले में झगड़ा न रहते हुए भी गांव वाले झगड़ा करा ही देते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि झगड़ा होने में दोनों फरीक़ के शरीर से जो कुछ झरेगा उसमें से कुछ न कुछ उन्हें भी मिल जायगा।

यह तो गांव के बँटवारा-सम्बन्धी झगड़े की बात रही लेकिन गांव के अन्दर ऐसी बहुत सी चीजें रहती हैं जो किसी एक व्यक्ति की निजी नहीं होतीं; जैसे सम्मिलित कुआं, बाग, तालाब और परती इत्यादि। इन चीज़ों के लिए प्रायः झगड़ा हुआ करता है और कभी कभी फौजदारी भी हो जाती है।

सामूहिक वस्तुओं के सम्बन्ध में झगड़े

बाग के फल का बँटवारा किस तरह से हो, लकड़ी कौन काटे, तालाबों और कुएँ के पानी से कौन अपना खेत पहले सींचे, परती में किसके जानवर चरें, तालाबों की मछली किस तरह बेंचे, ऐसी अनेक बातें झगड़े का कारण होती हैं। देहात में झगड़ा, मारपीट और मुकदमेबाजी का एक और बड़ा कारण होता है। तुमको मालूम है हमारी ओर बहुत घनी आबादी है और ज़मीन भी करीब करीब आखिरी इंच तक जुती हुई है। एक दूसरे के खेत के बीच में एक मेंड़ होती है। दोनों तरफ के किसान इस कोशिश में रहते हैं कि आधी मेंड़ अपने में कर लें और जोतते समय चुपके से थोड़ी-थोड़ी मेंड़ अपने खेत में मिला लेने की कोशिश करते रहते हैं। कभी-कभी टेढ़ी कुदाल से मेड़ के ऊपरी हिस्से को ठीक रखते हुए नीचे से भीतर भीतर खोद लेते हैं जिससे बरसात में पानी बरसने पर मेंड़ की मिट्टी गल

कर ऊपरी भाग भी खेत में शामिल हो जाय। इस प्रकार की चेष्टा से किसानों के बीच बड़ी-बड़ी फौजदारियाँ हो जाती हैं जिनके फलस्वरूप वे तबाह हो जाते हैं।

धन हड़पने की नीयत

परिवार की कोई स्त्री यदि विधवा हो गई तो उसकी सम्पत्ति को सब लोग लालच की दृष्टि से देखते हैं और परिवार का हर एक आदमी विधवा को धोखा देकर उसके जीते-जीते उसकी सम्पत्ति स्वयं ले लेने की कोशिश करता है जिससे पारस्परिक ईर्ष्या के कारण झगड़ा होता रहता है। छोटे-मोटे झगड़ों के बढ़ने से अलहदगी की नौबत आ जाती है और लोग अलग भी हो जाते हैं। तब भी विधवा की सम्पत्ति किसकी देख-रेख में चलेगी, इसी पर झगड़ा बढ़ जाता है।

गाँव के नाई, धोबी, चमार और खेत के मजदूर भी सबके काम के लिए होते हैं। इनसे कौन ज्यादे काम लेता है, कौन पहले काम ले, पट्टीदारों में इसकी भी नोंक-झोंक चलती रहती है और कभी-कभी मामला इतना बढ़ जाता है कि हम लोगों को फैसले के लिए जाना पड़ता है।

मजूरों को लेकर होने वाले झगड़े

इसी तरह से यदि दो पट्टीदारों का एक ही असामी हुआ तो लगान के अलावा उसकी जात से अन्य पचासों तरह के नाजायज फायदे उठाने के लिए झगड़ा चलता रहता है।

एक जगह तो हमको बहुत ही मजेदार अनुभव हुआ। इसकी कहानी बहुत ही रोचक है। तुम्हें मालूम है कि देहात में हर एक परिवार का एक पंडित निश्चित होता है। यहाँ तक की तीर्थ तक में भी सबके अपने-अपने पंडे होते हैं। जब मैं इधर ग्राम-सुधार का चेयरमैन था तो अपने दौरे के सिलसिले में एक गाँव में पहुँचा। मैंने सोचा था कि गाँव में सफाई आदि की बाबत कुछ बताऊँगा परन्तु जाते ही एक मामले का फैसला करना पड़ा। थोड़े ही दिन हुआ था, उस गाँव में एक परिवार के दो टुकड़े हो गये थे। उस दिन दोनों

परिवार में उनका पारिवारिक अनुष्ठान था। उस अनुष्ठान में पंडित से घर पर कथा सुनी जाती है और उन्हें सीधा और दक्षिणा दी जाती है। इत्तिफ़ाक से दोनों परिवार ने उस दिन अपने यहाँ पाट बाँचने के लिए पंडित को निमंत्रण दिया था। तमाशा यह कि कथा का शुभ मुहूर्त भी एक ही समय पड़ता था। मैंने देखा कि इस बात को लेकर गाँव भर में एक तूफ़ान सा मचा हुआ है कि पंडित किसके यहाँ कथा सुनायेगा। तमाशा यह कि दो पंडित से काम नहीं चल सकता। घर में पुरोहित तो एक आदमी है न? और उनके कथा बाँचने से ही फल प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसी तरह तीर्थ के पंडा के गांव में आने पर भी कभी-कभी आपस में लड़ाई हो जाती है।

इसी तरह नाबदान किधर से जायगा, छप्पर का पानी कहाँ गिरेगा, लोग कंडा कहां पाथेंगे, इत्यादि छोटी-छोटी बातों से बड़े-बड़े झगड़े हो जाते हैं।

प्रायः ऐसा भी होता है कि जब किसानों के घर भाई-भाई में अलहदगी हो जाती है तो भी जमींदार के खाते में उनकी जमीन अलग-अलग नहीं दर्ज होती। पुराना ही इन्दराज चलता रहता है। ऐसी हालत में कोई लगान देता है, कोई नहीं देता है। जमींदार किसी से सारा वसूल करता है, कोई एक दम बच जाता है। इसी तरह घपला चलता रहता है। जमींदार जान-बूझकर अपने खाते में इस तरह की धाँधली बनाये रखता है जिससे वह किसानों की लड़ाई में अधिक से अधिक फायदा उठा सके। छोटी कौमों में कोई स्त्री विधवा होकर नैहर चली जाय तो उसका बच्चा कहाँ रहेगा, इस पर बहुत बड़ा झगड़ा खड़ा हो जाता है।

कहाँ तक लिखा जाय? यदि तमाम बातों का वर्णन करूं तो उसका कहीं अन्त नहीं मिलेगा। जो कुछ मैंने लिखा है उसी से तुमको अनुभव हो जायगा कि गाँव में किस-किस किस्म के झगड़े

होते हैं और एक ग्राम-सेवक को भिन्न-भिन्न मुसीबतों का सामना करना पड़ता है।

झगड़े ऊँची जातियों में अधिक होते हैं

उन झगड़ों के सिलसिले में हमको एक खास बात देखने में आई कि ज्यादातर झगड़े ब्राह्मण क्षत्रियों में होते हैं। क्योंकि ये क़ौमें चाहे कितनी भी गरीब हो जायँ खेती का काम अपने हाथ से नहीं करतीं और बेकार बैठी रहती हैं। बेकार दिमाग शैतान का घर होता है। इसलिए हम इनके तात्कालिक झगड़े का फैसला तो करते थे क्योंकि हर एक काम के लिए यह जरूरी है कि इस किस्म के झगड़ों को तय करने में मदद करे। लेकिन इस बात को भी साथ-साथ सोचते रहे कि जब तक हम इस उच्च श्रेणी की बेकारी की समस्या हल नहीं कर सकेंगे तब तक गाँव में व्यवस्थित समाज कायम नहीं हो सकेगा। यह सत्य है कि किसानों और मज़दूरों की आर्थिक अवस्था इनकी अपेक्षा बहुत खराब है और उनकी आर्थिक परिस्थिति पर तुरन्त ध्यान देने की आवश्यकता है। लेकिन जब तक इन ऊपर वाले खुराफ़ाती दिमागों को कहीं लगा नहीं दिया जायगा तब तक बेकार पड़ी हुई बुद्धि खुराफात के साथ किसान और मज़दूरों को फँसा कर, तुम्हारी चेष्टा से उनमें जो कुछ सुधार होगा सब स्वाहा करती रहेगी।

सन् १९२३ में टांडा में काम करते समय देहात-सम्बन्धी अपना अनुभव लिखते हुए मैंने इस श्रेणी की बाबत जो लिखा था, याद होगा। पुराने ज़माने में इन लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। और आम तौर से बड़े घर इन्हीं जातियों के होते थे। इसलिए ये खुद न काम करके मज़दूरों से काम कराते थे। बहुत से काम न करने में अपने उच्च वंश की मर्य्यादा समझते हैं। लेकिन उनके पास शिक्षा और समाज-व्यवस्था का काम उन दिनों रहता था और उन-पर समाज की एक खास तौर की जिम्मेदारी होने से उनका दिमाग

हमेशा उसी में लगा रहता था। दूसरी बात यह थी कि उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी होने के कारण घर पर काफी काम होता था। जिसके पास बहुत बड़ा घर होगा, अनाज व सामान काफी होगा, जिसके दरवाजे पर गाय, बैल, भैंस की तादाद होगी उसके लिए इन सब चीजों का सावधानी से इन्तजाम करना ही एक बहुत बड़ा काम होता है। इसलिए खेती का काम अपने हाथ से न करने पर भी वे कतई बेकार नहीं रहते थे। लेकिन आज इस श्रेणी के लोगों के पास है क्या जिसका वे इन्तजाम करें? छोटी सी जगह में किसी कदर अनाज उबाल के खा कर दोनो वक्त पड़े रहने के सिवा और उनके पास काम ही क्या है। हालत तो ऐसी है लेकिन ये लोग अपने पूर्व पुरुषों-द्वारा छोड़े हुए कामों को करना अपने उच्च वंश की मान-हानि समझते हैं। अपने हाथ से काम करना कितना बुरा समझते हैं, इसकी एक मजेदार कहानी है। सुनो, एक दफा मैं अपने एक सूत-केन्द्र में गया हुआ था। इस गाँव में सब क्षत्रिय रहते थे। आश्रम के असर से सब गाँव में चरखा चलने लगा था और उनके घरों का पर्दा भी हट गया था। गाँव के लोग हमारे सिद्धान्त की ओर काफी बढ़े हुए थे। गाँव की औरतों को जब मालूम हुआ कि मैं वहाँ आया हूँ तो वे सब अपना-अपना सूत लेकर मुझको दिखाने के लिए आईं। इस गाँव में हम लोग एक चर्खा स्कूल चलाते थे जिसमें प्रति दिन एक घंटा ग्रामीण समस्याओं पर बौद्धिक क्लास लिया करते थे। मैंने उन बहिनों का सूत तो देखा मगर उनसे कहा—"बहिनो, इस बार मैं सूत देखने नहीं आया। इस बार मैं यह देखना चाहता हूँ कि तुम लोग अपने घर और अपने बच्चों को कितना साफ़ रखती हो। मैं तुम्हारे घर-घर जाकर देखना चाहता हूँ।" इससे वे बहुत खुश हुईं और मुझको देखने के लिए निमंत्रण दे गईं। उस दिन शाम हो गई थी इसलिए दूसरे दिन मैं खूब सुबह उठ कर उन लोगों का घर देखने गया। प्रत्येक घर के प्रत्येक हिस्से को देखने में

दो दिन पूरे लग गये। सफाई तो उनके घर की अच्छी ही थी और शायद मेरी वजह से खास तौर से कर रक्खी थी। लेकिन एक वात से मुझको वहुत आश्चर्य हुआ। मैंने देखा कि ये लोग चाहे जितने गरीव हों आटा के लिए औरतें चक्की नहीं चलातीं। पूछने पर मालूम हुआ कि इनके परिवार में चक्की की शपथ है।

खुराफात की जड़ बेकारी

इस तरह के वहुत से ऐसे काम हैं जिसके लिए इनकी विरादरी या परिवार में शपथ है। इनके घर के लोग कलकत्ता और वम्वई जाकर चमड़ा गोदाम के दरवान का काम करेंगे लेकिन घर पर हल, चक्की तथा चर्खा चलाने से इनकी इज्जत और धर्म का नाश हो जाता है। इन सव करतूतों से गाँव के उच्च वंशों के लोग बेकार बैठे-बैठे दिन-रात खुराफात की वातें सोचा करते हैं।

मैंने तुमको एक पत्र में लिखा था कि गाँव के इस श्रेणी के लोगों के प्रति मैं वहुत घृणा की भावना रखता था और रणीवां आने पर भी मेरी पूर्व धारणा कुछ-कुछ वनी ही रही। लेकिन चुनाव के वाद जमींदारों के अत्याचार से किसानों को वचाने और उन्हें सहूलियतें पहुँचाने के सिलसिले में कुछ दिनों तक देहाती झगड़ों का काम उठाया तो महसूस करने लगा कि ग्रामीण समस्याओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा और उच्च वर्णों में वेकारी की समस्या एक वहुत महत्व-पूर्ण स्थान दखल किये वैठी है और इसको हल किये विना ग्रामोत्थान की गाड़ी का आगे वढ़ना मुश्किल ही मालूम हुआ। लेकिन तत्काल मुझको इसका हल कुछ नहीं सूझा। हमारे पास चर्खा तो था ही किन्तु वह तो स्त्रियों के लिए था। पुरुषों को समय का उपयोग करने के लिए हम कोई कार्यक्रम नहीं दे सके। उस समय तो हम तात्कालिक झगड़ों को निवटा कर लोगों में मेल और सद्भावना पैदा करने की कोशिश करते रहे। लेकिन मुख्य प्रश्न पर हम जोरों से विचार करते रहे। तुमको मालूम है कि मैं जव किसी समस्या को

जटिल पाता हूं तो तब तक दिन-रात दिमाग उसी में लगा रहता है और मैं निश्चिन्त नहीं हो पाता। उन दिनों हमारी यही हालत थी। कुछ नौजवानों को बुनाई और लकड़ी का काम सिखाने लगे। लेकिन इसने पूरा सन्तोष नहीं मिलता था।

चिट्ठी आरंभ करते समय मैंने जल्दी खतम करने की सोची थी। लेकिन संक्षेप में लिखते-लिखते भी पत्र बहुत लम्बा हो गया है। इसके पढ़ने में समय तो लगेगा लेकिन ग्राम-सेवक की इन परम जटिल समस्याओं के सुलझाने की कठिनाइयों को तुम ठीक-ठीक समझ सकोगी। यह इतनी भारी समस्या है कि अगर और दो-चार दिन लिखता रहूं तो कोई हर्ज नहीं होगा। लेकिन फिलहाल मैं यहीं समाप्त करता हूं। जेल से निकल कर जब कभी मिलूंगा तब इस पर और अधिक बातें हो सकेंगी।

---

[३९]

पंचायत का संघटन

२५—१०—४१

अगस्त सन् १९३७ में कांग्रेस के लोगों ने मंत्रिपद स्वीकार किया। जिससे शुरू शुरू में पुलिस और ज़मींदार के आदमी कुछ घबड़ाये हुए से थे। इसलिए जमींदारों की ओर से किसानों पर अत्याचार कुछ कम हो गया। हमारा काम भी कुछ हल्का सा हो गया। लेकिन दूसरी तरफ से काम बढ़ भी गया। गाँव के आपसी झगड़े अब अधिक संख्या में हमारे पास आने लगे क्योंकि ग्रामीण जनता अब कांग्रेसी लोगों को विशेष अपनेपन की निगाह से देखने लगी। उस दिशा में काम इतना अधिक बढ़ गया कि वह हमारी

शक्ति से बाहर हो गया। अतः हमें इस काम को ठीक-ठीक ढङ्ग से व्यवस्थित करने की आवश्यकता पड़ गई। शुरू में अपना कार्यक्षेत्र करीब दो सौ गाँवों में परिमित कर दिया। फिर देहातों में स्थानीय पंचायतों का संघटन करना शुरू किया। पहले पहल हमने उन गाँवों में पंचायत कायम की जिनमें आपस के झगड़े नहीं थे। ये पंचायतें लोगों की राय से कायम हुईं। फिर धीरे-धीरे सभी गाँवों में झगड़े फैसला करने के लिए किसी न किसी रूप में पंचायत बन गई। पंचायतों के बनने से हम लोगों के काम में थोड़ी आसानी जरूर हुई क्योंकि अब हमारे पास किसी किस्म का मामला आने पर हम लोग उसे सरपंच के पास भेज देते थे। और जहाँ तक सम्भव होता था स्थानीय पंचायतों में ही मामला तय करने की कोशिश करते थे। पंचायत को खुद भी अपने ऊपर भरोसा नहीं था। यह स्वाभाविक भी था। सदियों से गाँवों में पंचायतों का रिवाज टूट गया इसलिए व्यवस्था करने की आदत और योग्यता लोगों में नहीं रह गई और न जनता में ही बिना कानून व पुलिस के दवाव के किसी को मानने की आदत रह गई। गाँवों में पंचायत का किसी प्रकार का संस्कार भी नहीं रह गया। सरकारी पंचायतों का, जो गाँवों में क़ायम थीं, विवरण तो मैं तुमको लिख ही चुका हूँ। उनकी मार्फत ग्रामीण समाज का कुछ भला करने की चेष्टा का मतलब भक्षक द्वारा रक्षा का प्रबन्ध करना था। अगर देहात में वाकई पंचायती व्यवस्था को लाना है तो रचनात्मक कार्यक्रम की मार्फत कुछ ऐसे लोगों को पैदा करना पड़ेगा जिनको लोग श्रद्धापूर्वक मानें। आज एकाएक सही पंचायत का संघटन करना एक तरह से असम्भव ही है। तुमको याद होगा कि किसी पत्र में मैंने लिखा था कि प्रत्येक गाँव में एक दो आदमी ऐसे हैं जो पुलिस और जमींदार के आदमी हैं। अधिकारी और पैसा साथ होने के कारण वे गाँव वालों को सताते और लूटते हैं। साम्राज्यशाही के शोषण और भ्रष्टाचार की असली जड़ यही लोग हैं। गाँव के सब लोग इनके

खिलाफ़ रहते हैं और इनसे डरते हैं। फिर भी अगर किसी गाँव में चुनने के लिए जाओ तो लोगों को इनके अलावा दूसरों को चुनने की हिम्मत नहीं पड़ती है। और गाँव वालों के खिलाफ होते हुए भी यही लोग पंच बन बैठते हैं। इसलिए हम लोगों को काफी मेहनत और सावधानी से पंचायत बनानी पड़ी। कहीं-कहीं तो परिस्थिति के कारण ऐसे ही खुराफाती लोगों को सरपंच रखना पड़ा। क्योंकि उनको अगर हम बाहर रखते तो और अधिक नुकसान पहुँचाते। इस तरह की पंचायतों के लिए यह जरूरी हो जाता था कि हम कड़ी निगाह रखते। प्रत्येक ग्राम-सेवक को पंचायत बनाते समय इस खास पहलू को सामने रखना जरूरी है। कोशिश हमेशा यही रहनी चाहिए कि साधारण लोगों में से ही पंच बनें और उनकी संघटित ताकत गाँव के पुराने अत्याचारी लोगों को दबा सके और धीरे-धीरे उनका दबदबा कम हो जाय।

पंचायतों का संघटन करते समय इधर के देहात की परिस्थिति का एक महत्वपूर्ण पहलू देखने को मिला। प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में कुछ ही लोग होते हैं जो विशेष बुद्धिमान् और मौलिक तथा रचनात्मक योग्यता के होते हैं। ऐसे लोग स्थानीय आबादी के स्वाभाविक नेता होते हैं और बाकी इनके पीछे चलते हैं। आज हमारे देहात की हालत इस तरह चौपट हो गई है कि इस क़िस्म का नेतृत्व करने लायक आदमियों के लिए बुद्धि और योग्यता चलाने का साधन नहीं रह गया है। पुश्तैनी तरीके से खेती करने के सिवाय कोई उद्योग, जिसमें मौलिक बुद्धि की जरूरत पड़ती हो, गाँव में नहीं रह गया। इसलिए गाँव की वह आबादी जो संसार में कुछ कर सकती है, गाँव से बाहर कलकत्ता, बम्बई आदि औद्योगिक केन्द्रों में चली जाती है क्योंकि उन्हीं स्थानों में उनकी बुद्धि और योग्यता के ग्राहक मिलते हैं। नतीजा यह होता है कि गाँव में किसी प्रकार की व्यवस्था या आन्दोलन करना चाहें तो सही नेतृत्व के अभाव से असफल होता रहता है।

देहात में बुद्धि का उपयोग करने के लिए केवल एक ही महकमा है जिसे साम्राज्यवादी और ताल्लुकेदारी नीति की दलाली कह सकते हैं। भला इनके नेतृत्व में तुम अपना कौन-सा आन्दोलन चला सकोगी? बल्कि यदि कहीं कुछ कर भी लोगी तो ये उसे नष्ट-भ्रष्ट करने की कोशिश करेंगे। आज हमारे देश की हर श्रेणी के लोग ग्राम-आन्दोलन की बात करते हैं। पर वह आन्दोलन आर्थिक हो या सामाजिक अथवा राजनैतिक, वह तभी चल सकेगा जब स्थानीय स्वाभाविक नेता-द्वारा संचालित हो। बाहर के साधन से यह काम चल नहीं सकता है। इसलिए ग्राम-सेवक के लिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसा कार्यक्रम ढूँढ़ निकाले जिसमें गाँव के कुशल, बुद्धिमान और योग्य व्यक्तियों को अपनी योग्यता तथा बुद्धि के विकास की सुविधा हो और वे गाँव में ही रुक जायँ।

मैं जब गाँव की आर्थिक कठिनाई के साथ-साथ बौद्धिक हीनता को देखता था तो कभी-कभी निराश-सा हो जाता था लेकिन निराश होने से काम कहाँ बनता है? इसलिए हम लोग अपने कार्यक्रम में लगे रहते हुए भी इस समस्या के समाधान की खोज में रहे। पंचायत की स्थापना, उसके द्वारा गाँव के झगड़ों का निवटारा करवाना और कुछ रचनात्मक कार्य में दिलचस्पी पैदा करना इस ओर एक क़दम था। इससे ग्रामवासियों की बुद्धि का विकास कुछ जरूर होता है। लेकिन खास लियाकत रखने वाले ग्राम के लोगों को गांव में तभी रोक सकेंगे जब उनकी बुद्धि के अनुपात से आर्थिक आमदनी का कोई उपाय ढूँढ़ निकालेंगे। साथ ही साथ गांवों में ऐसे कार्य्य की स्थापना हो सकेगी जिसे करने में ग्रामवासियों के अनुभव में विचित्रता होगी और उनकी मौलिक चिन्तना को अवसर मिलेगा।

गाँव में ही नेता पैदा करने होंगे

बुनियादी तालीम की व्याख्या में पूना में तुमने इस बात का ज़िक्र किया था कि बच्चों में नेतृत्व की योग्यता पैदा करना है। यह

ठीक है, लेकिन सामूहिक रूप में बच्चों का आन्दोलन चलाने वाला भी तो गाँव में होना चाहिये। मेरा तो अनुभव यह है, कि वे गाँव में होते हैं। हमारा काम उन्हें खोज निकालना है और उन्हें अपने स्थान पर कायम रखना है।

आज कल बाहर से जो लोग यहाँ मिलने आते हैं वे नज़रबन्दों के छूटने की गन्ध छोड़ जाते हैं। इसलिए यहाँ हलचल खूब रहती है। जहाँ देखो, वहीं छूटने की बात चलती है। लोग इस कदर व्याकुल हैं मानो इतने दिन में एक दम परेशान हो गये। मेरी समझ में नहीं आता कि इस किस्म की फौज लेकर बापू जी किस अलौकिक क्रान्ति का स्वप्न देख रहे हैं। खैर, देखना है, क्या होता है? अपने राम तो मस्त हैं। बाहर भी चरखा था, भीतर भी चरखा है। फरक ही क्या? तुम लोग आज-कल क्या करती हो। तालीमी संघ की प्रगति का क्या हाल है। कभी-कभी तो पत्र लिखती रहो। नमस्कार।

---

[४०]

स्वाभाविक नेतृत्व के विकास की चेष्टा

५—११—४१

कई दिन हुए; मैं पत्र न लिख सका। इधर मौसम बदलने के कारण, कई रोज़ से खाँसी, जुकाम, बुखार हो गया था। अब ठीक है।

आजकल जेल में खूब हलचल मची हुई है। छूटने की ख़बर जब से आने लगी है तब से लोगों के दिमाग़ में खलबली पड़ गई है। आज तो और भी तूफ़ान है। क्योंकि आज छः-सात व्यक्ति बिना शर्त छोड़ दिये गये। लोग यह उम्मीद लगाये बैठे हैं कि १२ तारीख को

केन्द्रीय असेम्बली में राजवन्दियों की मुक्ति का प्रस्ताव पेश होते ही सरकार सब को छोड़ देगी। क्योंकि अगर ऐसा न करेगी तो वह 'अरो' वगैरह की पोज़ीशन कैसे बचायेगो। इसलिए जिन लोगों ने जेल में नियमित कार्यक्रम बना लिया था, उनका भी सब कुछ घपले में पड़ गया है। सभी लोग आपस में बैठ कर इस वात की चर्चा करते रहते हैं कि छूट कर अपने स्थान तक किस प्रकार जायँगे; कोई कहता है कि मैं आगरा का ताज देख कर जाऊँगा; कोई एक दम घर पहुँच कर घर वालों को अचम्भे में डालना चाहता है। हमारी बैरिक में सिर्फ मुझे और एक आदमी को छोड़ कर वाकी सब कानपुर-वासी रहते हैं। वे तार देकर धूम से अपना स्वागत कराने की स्कीम बना रहे हैं। इस प्रकार सभी लोग कुछ न कुछ घर पहुँचने की योजना सोच रहे हैं। मैं ही एक अभागा हूँ कि घर जाने की कोई स्कीम नहीं बना रहा हूँ। लेकिन मुझको भी सन्तोष है कि अगर जल्दी छूटूँगा तो तुम लोगों से मुलाकात हो जायगी। फिर जेल के और अनुभव की वात-चीत हो सकेगी। अब अपने मुख्य विषय पर ही कुछ लिखूँ तो ठीक होगा।

कांग्रेस के मंत्रिपद ग्रहण करने से सरकार का रुख ग्राम-संघटन की ओर अधिक होना स्वाभाविक ही था। मैंने भी सोचा कि यह अवसर है, जिस समय मैं आठ-नौ साल से सोची हुई योजनाओं का प्रत्यक्ष प्रयोग कर सकूँगा। जिस केन्द्रीय आश्रम की कल्पना करके सन् १६२६ में मेरठ जिले के रास्ना गाँव में काम खोला गया था और जिसका विस्तृत रूप सोचकर इस जंगल में कुटिया बनाना शुरू किया था उस को साकार करना अब सम्भव-सा मालूम होने लगा। पिछले तीनसाल तक ग्राम सेवा-कार्य्यों का प्रयोग करते रहने से पहिले से और भी अधिक निश्चित योजनाओं की रूपरेखा मेरे मस्तिष्क में आने लगी थी। पिछले दिनों, जब हम लोग विस्तृत क्षेत्र में गांववालों के आपसी झगड़ों का फैसला करते रहे, उस वक्त हमने देख लिया था कि देहात

में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कहे जाने वाले लोगों की बेकारी ही अधिकतर झगड़ों की जड़ है।

स्वाभाविक नेतृत्व का अकाल

पंचायत के संघटन के सिलसिले में हमने देखा था कि गांव के जितने कुशल, योग्य और बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं वे सब गांव में अपने लायक काम न होने की वजह से गांव छोड़ कर बाहर चले जाते हैं। इसलिए हमारे सारे देहात में स्वाभाविक नेतृत्व का अकाल पड़ गया है। और यह तो सर्व-विदित है कि इस नेतृत्व के अभाव में गांव का कोई भी आन्दोलन ग्रामवासियों द्वारा स्वयं चलाना असम्भव हो जाता है। तुम तो अच्छी तरह समझती हो कि लोग बाहर-बाहर से जाकर व्यापक रूप से ग्राम-आन्दोलन नहीं चला सकते। इसलिए हमारे सामने दो समस्याएँ बहुत महत्व-पूर्ण हैं। प्रथम मध्यम वर्ग की बेकारी, दूसरे स्थानीय नेतृत्व का विकास। इन दोनों समस्याओं को हल करने के लिए एक ही तरीका सूझता था। वह था ग्रामोद्योग का प्रसार। ग्रामोद्योग में कुशल और योग्य नौजवानों के लिए बुद्धि-विकास करने का बहुत बड़ा क्षेत्र है। हमने सोचा, अगर पढ़े-लिखे और अच्छी भावना वाले नौजवानों को अपने यहां किसी न किसी ग्रामोद्योग का काम सिखाकर उनके घर पर उद्योग-केन्द्र खुलवा दें तो गांव की मध्यम श्रेणी की बेकारी की समस्या हल हो जायगी। और इसके जरिये गांव की बुद्धिजीवी श्रेणी को गांव में ही रोककर ग्राम-आन्दोलन के लिए स्वाभाविक नेतृत्व का विकास किया जा सकेगा। उससे गांव के आर्थिक, सामाजिक, संस्कृतिक और राजनैतिक संगठन का काम सहूलियत से हो सकेगा। यह सोचकर मैंने एक योजना बनाकर कांग्रेसी सरकार के सामने पेश की।

एक योजना

योजना की रूप-रेखा मैंने निम्नलिखित ढंग की बनाई थी। गांव के बीच आश्रम में एक ग्रामोद्योग विद्यालय की स्थापना करना जिसमें देहात के पढ़े-लिखे नौजवानों को नीचे लिखी दस्त-

कारियों की व्यावहारिक और व्यापारिक शिक्षा दी जाय। और साथ ही साथ ग्राम-आन्दोलन का सैद्धान्तिक परिचय कराकर ग्राम-सेवा की भावना पैदा की जाय :

१ कताई और बुनाई। २ काग़ज़ बनाना। ३ गांव के साधनों से साबुन बनाना। ४ लकड़ी और लोहे का काम। ५ चमड़ा पकाना, मरेग बनाना, मरे हुए जानवरों की हड्डी और मांस से खाद बनाना। ६ बांस-बेत आदि गांव के साधनों से किस्म किस्म के सामान बनाना। ७—चर्म कला (चमड़े का सामान बनाना)

मैंने अपनी कल्पना के मुताबिक यह समझा कि अगर दो साल हम आश्रम जीवन के साथ-साथ ऊपर लिखी हुई कलाओं की शिक्षा दे सकेंगे तो हम उनको पूरा-पूरा ग्राम-सेवक बना सकेंगे। योजना में मैंने यह भी लिखा कि विद्यार्थियों की ठीक-ठीक व्यापारिक शिक्षा देने के लिए यह ज़रूरी है कि आश्रम में प्रत्येक उद्योग के लिए एक कारखाना रक्खा जाय जिसमें ये चीज़ें बनें और बिकें।

जो विद्यार्थी विद्यालय में सीख लेंगे उनको घर पर काम शुरू करने के लिए सरकार से कुछ सहायता देने की भी मैंने प्रार्थना की। मेरी समझ में ग्रामोत्थान-कार्य्य का सबसे उत्तम ज़रिया इसी किस्म के ग्रामोद्योग-केन्द्र स्थापित करके उसी केन्द्र को हर प्रकार के कार्य्य-क्रम का मध्य विन्दु बनाना है। मुझको अभी भी विश्वास है कि जब विद्यालय के सीखे हुए नौजवान स्वतन्त्र-रूप से घर बैठे उद्योग चलाकर आमदनी करने लगेंगे तो हमारे सिद्धान्त के मुताबिक ग्राम-सेवा के काम में भी उनको उत्साह और दिलचस्पी रहेगी। केन्द्रीय आश्रम को उनके माल की खपत की व्यवस्था करनी होगी और ग्रामोत्थान-कार्य्य का मार्ग-प्रदर्शन करना होगा। इस प्रकार योजना बनाकर खर्च के लिए मैंने प्रार्थना-पत्र सरकार के पास भेज दिया।

ठीक इन्हीं दिनों सरकारी महकमों के लिए कांग्रेस मंत्रिमंडल के निर्देशानुसार ग्रामोद्योग-कार्य्य कैसे चलाया जाय, इसका विचार वे

लोग कर रहे थे। और उसके लिए कार्य्यकर्त्ता तैयार करने के लिए शिक्षा-केन्द्र खोलने की भी सोच रहे थे। लेकिन ग्रामीण वायुमण्डल में इस किस्म की शिक्षा देने का क्या जरिया होगा, यह उनकी समझ मे नहीं आ रहा था। उनके सामने हमारी इस योजना ने अन्धे की लकड़ी-जैसा काम किया। हमको बुलाकर इस विषय पर उन्होंने हमसे विशेष रूप से विचार-विनिमय किया। इसके बाद संयुक्तप्रान्तीय सरकार ने अपने महकमों के लिए कार्य्य-कर्त्ता शिक्षण की जरूरत को पूरा करते हुए हमारी योजना में कुछ हेर-फेर करके ग्रामोद्योग विद्यालय खोलने का आवश्यक धन मंजूर कर दिया। उन्होंने अपनी योजना में ७५ विद्यार्थियों के खाने का खर्च भी मंजूर किया।

सालों से सोची हुई कल्पना को व्यावहारिक रूप दे सकने की सम्भावना से मुझे बेहद खुशी हुई। हमारे साथी लोग भी अत्यधिक उत्साहित हो गये। और हम लोग चारों ओर से अपनी शक्ति बटोर कर विद्यालय को ठीक ढंग से स्थापित करने में लग गये। विद्यालय का उद्घाटन १८ नवम्बर सन् १९३८ को हो गया।

मैंने दो साल की शिक्षा की कल्पना की थी। शिक्षा का उद्देश्य था देहातों में ग्रामोद्योग की स्थापना करके ग्राम-संघटन का गढ़ कायम करना। लेकिन शुरू में हम इस ओर कदम नहीं उठा सके। प्रान्तीय सरकार को जल्दी से विभिन्न जिलों के देहात में उद्योग-धन्धा बढ़ाना था इसलिए शुरू में उन्होंने अपने लिए कार्य्य-कर्त्ता तैयार कर देने के मांग की और प्रान्त भर से नौजवानों को शिक्षा के लिए हमारे यहाँ भेजा। इस प्रकार पहिले दो साल सरकारी महकमों के लिए कार्य-कर्त्ता भेजने में हमारी शक्ति लग गई। साथ ही साथ हमें आश्रम के लिए भी खादी सेवक तैयार करके देना पड़ा। इस तरह हमें दो साल तक 'वस्त्र-स्वालम्बन' और 'ग्राम-संघटन' के काम को गौण रखते हुए विशेष रूप से उद्योग-विद्यालय का ही संघटन करना पड़ा। ग्राम-सेवा और ग्रामोत्थान की दिशा में स्थायी कार्यक्रम की ओर हमारा यह

पहिला कदम रखा।

आज यहीं पर अपनी कहानी खत्म करके तुमसे विदा ले रहा हूँ छूटने वाले जा रहे हैं। उनको विदा भी करना है। वहाँ के सब मित्रों से मेरा नमस्कार कहना।

---

[४१]

बेकारी और चर्खा

६—११—४१

पिछले पत्र में मैंने ग्रामोद्योग विद्यालय शुरू करने की बाबत लिखा था। उसको कायम करने में हमारी सारी शक्ति लगने के कारण चर्खे के काम में बिल्कुल ढिलाई आ गई थी। चर्खा के काम में ढिलाई का आरम्भ तो उसी समय हो गया था जब चुनाव के बाद गांव वालों पर जो खास तकलीफें आईं उन्हें दूर करने और उनकी समस्याओं को सुलझाने में हमें लग जाना पड़ा। धीरे-धीरे चर्खे की गति मन्द होती गई। विद्यालय का काम जब थोड़ा-बहुत ढरें पर आ गया तो हमने फिर से अपना ध्यान चर्खा-कार्य बढ़ाने की तरफ लगाया। इस काम के लिए हम देहात में चर्खा-विद्यालय खोलने लगे। यह विद्यालय एक गाँव में दो महीनों के लिए होता था और जब उस गाँव के लोग सीख जाते थे तब हम दूसरे गाँव चले जाते थे।

पिछले एक पत्र में मैंने लिखा था कि देहात के तमाम झगड़ों का कारण उच्च श्रेणी के लोगों की बेकारी है। हमें इस बात की चिन्ता थी कि उनकी बेकारी दूर करने के लिए कौन सा रास्ता अपनाया जाय। गाँव की भयंकर बेकारी की बाबत कौन नहीं जानता।

हिन्दुस्तान की आर्थिक समस्याओं की बाबत लिखते और बोलते समय, गाँव की बेकारी की लोग चर्चा करते हैं। सभी अर्थ-शास्त्री भारत के गाँव वालों की बेकारी का हिसाब लगाते गाँवों की बेकारी समय प्रायः खेती के मौसम का हिसाब जोड़कर आँकड़े बना दिया करते हैं। इस तरह प्रत्येक अर्थ-शास्त्री कुछ न कुछ अंक हमको बताते रहते हैं। उनमें परस्पर थोड़ा-बहुत फर्क जरूर रहता है लेकिन मूल में करीब-करीब सभी लोगों के अंक बराबर रहते हैं। कहीं खेत में एक फसल होती है, कहीं दो और किसी-किसी प्रदेश में तीन-तीन फसल तक हो जाती है। इसी के हिसाब से हमको बताया जाता है कि हिन्दुस्तान में देहात के लोगों की बेकारी कहीं वर्ष में ९ महीना, कहीं ६ महीना और कहीं तीन महीना है। हम लोग आम तौर से इस बेकारी की दलील देकर लोगों को समझाना चाहते हैं कि चर्खा ही देहात की बेकारी का समाधान है। और इसकी पुष्टि में चर्खा-संघ के अंक के ज़रिये यह बताते हैं कि हम कम से कम तीन साढ़े तीन लाख बेकारों को काम में लगा रहे हैं। बेकारी की बाबत ये अंक और चर्खे-द्वारा उसके समाधान की बाबत हमारी दलील इतनी सहज हो गई है कि इस विषय में और विचार करना हम जरूरी नहीं महसूस करते। पर अगर हम इसका थोड़ा-सा विश्लेषण करें कि कहाँ तक यह बात परिस्थिति से मेल खाती है तो हम यह देखेंगे कि इस प्रश्न पर अधिक विचार करने की आवश्यकता है। सारे हिन्दुस्तान की बाबत तो मैंने अध्ययन नहीं किया लेकिन जितने छोटे दायरे के देहात में मैंने देखा है, उसी के आधार पर आलोचना करने की कोशिश करूँगा।

आम तौर से बेकारी का जो अनुपात बताया जाता है वह काफी भयंकर है। लेकिन मैं समझता हूँ कि वास्तविक परिस्थिति इससे भी अधिक भयंकर है। आबादी का एक बहुत बड़ा भाग अपने को भलमनई कहता है और खेत में मेहनत नहीं करता। उनके लिए

तो साल में बारहों महीना बेकारी ही रहती है। इनके अलावा जिस श्रेणी के लोग काम करते भी हैं उनके लिए भी केवल खेती के मौसम के लिहाज से बेकारी का औसत लगाने से ठीक नहीं पड़ेगा।

तुम्हें मालूम है कि दिन प्रति दिन देहात की आबादी बढ़ती जा रही है और खेत दिन बदिन छोटे-छोटे हिस्सों में बँटते चले जा रहे हैं। नतीजा यह हुआ है कि प्रत्येक परिवार के लिए इतना खेत नहीं रह गया है कि वे सब के सब उस खेत में काम पा सकें। इस प्रकार प्रत्येक परिवार में कुछ ऐसे लोग हैं जिनका नाम १२ महीने की बेकारी की लिस्ट में दर्ज किया जा सकता है। ऐसे तो देखने में बेकार नहीं मालूम होते क्योंकि जिस परिवार में पाँच समर्थ आदमी हैं और उसके पास इतना ही खेत है कि तीन ही आदमी के काम करने के लिए काफी है तो भी पांचों उसमें लगे ही रहते हैं। इसकी सत्यता देखने के लिए यदि तुम उनमें से किसी को अपने यहां नौकरी दे दो तो देखोगी कि परिवार के बाकी लोग खेती का काम ख़ूब आसानी से पूरा कर लेते हैं। वैसे यदि तुम इस परिवार में जाकर पूछोगी तो पांचों आदमी कहेंगे कि उनके पास इतना काम है, कि उन्हें बिल्कुल फ़ुरसत नहीं है। मैंने जहां तक देखा है यदि इन दो किस्म के मनुष्यों की बेकारी जोड़ी जाय तो देहात के बालिग़ पुरुष की आबादी का कम से कम १/३ हिस्सा सम्पूर्ण बेकारी में चला जायगा। बेकारी का जो अंक आम तौर से कहा या लिखा जाता है उसके साथ यदि इस बेकारी का अंक भी जोड़ दिया जाय तो परिस्थिति कल्पनातीत उग्र हो जाती है। अब चलो, हम लोग चर्खा-द्वारा इस बेकारी को हल करने की बाबत जो कहा करते हैं उसे भी जरा नज़दीक से देखें।

चरखे के समाधान पर विचार

हम जब बेकारी की बात करते हैं। तब सामने किसानों की ही बेकारी रहती है। लेकिन जब हम समस्या की बात करते हैं तो वह केवल पुरुषों की ही समस्या होती है। जब हम चर्खे से समाधान

करने के लिए निकलते हैं तो जिन बेकारों की हम बात करते हैं उन्हें छूते तक नहीं और हमारे तीन लाख कातने वालों में ऊपर बताये हुए बेकारों में एक फी सदी भी नहीं होते। चर्खा तो केवल स्त्रियां चलाती हैं। और अगर तुम गहराई से देखो तो वे उतना बेकार नहीं रहती हैं। इसी सिलसिले में मुझे एक घटना याद आ गई। सन् १९३१ में मैं गिरधारी भाई के साथ दक्षिण भारत में खादी का आर्डर लेने के लिए निकला था। हमारे पास हर प्रकार के नमूने थे। उसमें ऊनी कपड़े का भी नमूना था। त्रिचनापल्ली भण्डार के व्यवस्थापक को जब गिरधारी भाई ने ऊनी कपड़े का सेट दिखलाना आरम्भ किया तो वे बहुत जोर से हँस पड़े। और कहने लगे मुझे यह क्यों दिखा रहे हैं? हमारे यहां तो सर्दी का मौसम होता ही नहीं। यहां तो केवल तीन मौसम हुआ करते हैं गर्मी, अधिक गर्मी, अत्यधिक गर्मी। इसी प्रकार हमारे देहात की किसान-स्त्रियों के लिए बेकारी का मौसम तो होता ही नहीं। उनके लिए तो सिर्फ दो ही मौसम होते हैं। एक कम भीड़ का, और दूसरा अधिक भीड़ का। अतः चर्खे के द्वारा हम देहाती जनता के लिए बहुत बड़ी आर्थिक समस्या का हल जरूर करते हैं। लेकिन गांव के सहायक धन्धे के रूप में उनकी बेकारी दूर नहीं करते अतः अगर हम चर्खे को सच्चे प्रकार का सहायक धन्धा बनाना चाहते हैं तो हमको पुरुषों से भी चर्खा चलवाना होगा। इससे सिर्फ आर्थिक लाभ होगा, यह बात नहीं बल्कि गांव के खाली आदमी के धन्धे में लगे रहने के कारण गांव के सारे खुराफात खतम हो जायँगे और समाज में एक शान्तिपूर्ण व्यवस्था कायम होगी।

हम लोग गांव में जब चर्खा स्कूल चलाते थे, तो इस बात की कोशिश करते थे कि गांव के खाली नौजवान भी चर्खा सीखें और उसे चलावें। इसमें ज्यादा सफल नहीं हो सके। ग्रामीण बेकारी को हल करने के लिए पुरुषों का चर्खा चलाना नितान्त जरूरी है, इस बात पर उतना महत्व उस समय नहीं देते थे जितना आज देते हैं।

इसलिए जब गांव के नौजवानों ने हमारे स्कूल में कातना सीख कर काम को जारी नहीं रक्खा तो उस ओर हम लोगों ने विशेष रूप से परिश्रम नहीं किया और ग्रामोद्योग की मार्फ़त ही हम इस समस्या को हल करने का विचार करते रहे। बाद को जब हम इस समस्या पर अधिक गहराई से विचार करने लगे तो मुझको ऐसा लगा कि हम चाहे जितना ग्रामोद्योग का काम फैलायें वह आज गांव की वर्तमान परिस्थिति में विशेष लाभ-प्रद नहीं होगा। बल्कि खाली वक्त के लिए चर्खा ही उपयोगी हो सकता है। मैं समझता हूँ कि चर्खा संघ को भी इस ओर ध्यान देना चाहिए। मैं जब अपने साथी खादी कार्यकर्त्ताओं से इस विषय में बातचीत करता हूँ तो वे कहते हैं कि इसकी मज़दूरी पुरुषों को आकर्षित करने लायक नहीं है। मैंने देखा है कि गांव के पुरुष कभी-कभी खाली बैठे रस्सी बटने-जैसे बहुत से काम करते हैं जिसकी मजदूरी चर्खे से ज्यादा नहीं पड़ती है। इसलिए पुरुषों का चर्खा न चलाने का कारण थोड़ी मज़दूरी नहीं है। बल्कि परम्परा से चर्खा चलाना स्त्रियों का काम होने के कारण पुरुषों में यह संस्कार बैठ गया है कि यह स्त्रियों का ही काम है, पुरुषों का नहीं और तुमको मालूम है कि लोग संस्कार के विरुद्ध जल्दी कोई काम नहीं करना चाहते। इसलिए वे इस काम को उठाते नहीं। लेकिन मैं समझता हूँ कि कोशिश करने से पुरुष भी चर्खे को अपना लेंगे। वस्तुतः हम लोगों ने अब तक इस ओर गम्भीरता के साथ कोशिश नहीं की। रहा संस्कार का सवाल, वह तो थोड़े दिनों में खतम हो सकती है जब हम लोग शुरू में कत्तिनों को धुनाई सिखाना चाहते थे तो धुनाई और ताँत छूने में कत्तिनों का तीव्र विरोध था। परन्तु हम उस काम को लाज़िमी समझते थे। इसीलिए हमने किसी न किसी रूप में उनके विरोध को खतम कर के उनमें धुनाई का रिवाज डाल ही दिया। इस तरह अगर हम ऊपर बताई हुई बातों का गम्भीरतापूर्वक विचार करके यह निश्चय कर लें

चर्खे की उपयोगिता

कि पुरुषों से चर्खा चलवाना ही है तो उनके दिमाग़ का परम्परागत संस्कार हमारे कार्य में बहुत ज्यादा अड़चन नहीं डालेगा। जेल में फ़ुरसत पाकर इस विषय में मैं जितना भी विचार करता हूँ उतना ही मेरा विश्वास इस पर दृढ़ होता जा रहा है।

हाँ, मैं चर्खा स्कूल की बात कर रहा था। बीच में प्रसङ्ग-वश साधारण बेकारी की बात छिड़ गई और मैं बहक कर काफ़ी दूर चला गया। लेकिन यह भी हमारे गाँव की समस्याओं में से एक बड़ी समस्या है। इसलिए इतना बहकना भी शायद बेकार न होगा। इस तरह चर्खा विद्यालय खोल कर हम को दो लाभ हुए :

१—काफ़ी देहाती परिवारों के साथ हमारा सम्बन्ध हो गया। और इससे साधारण ग्राम संघटन कार्य में हमको बहुत मदद मिली।

२—चर्खे की संख्या काफ़ी बढ़ गई और सूत भी काफी तरक्की कर गया।

गांव के लोगों में सम्बन्ध बढ़ने से और लोगों में उत्साह पैदा होने से हम लोगों ने जो गांव की पंचायतें कायम की थीं वे भी जाग्रत होने लगीं। मैं समझता हूँ कि आज मैं काफी लिख गया और मैंने जो कुछ अपने अनुभव की सूचना इस पत्र में लिखी है वह आम ख्याल से परे है। मुमकिन है, मेरा अध्ययन संकीर्ण हो इसलिए तुम इस पर विचार करके अपनी राय जरूर लिखना। मैं स्वस्थ हूँ। आशा है, तुम लोग भी स्वस्थ होंगे। सब को नमस्कार ॥

---

[४२]

रात्रि-पाठशालाओं का संघटन

ता० ६—११—४१

तीन दिन कोई पत्र न लिख सका। जेल में आजकल जो हल्ला-गुल्ला चल रहा है वह मैं लिख ही चुका हूँ। अखबार के सम्वाद-

दाताओं ने तो अनुमानों की भरमार कर रक्खी है। सभी का ऐसा ढंग है कि मानों उनकी पहुँच खास वायसराय के दरबार तक है। जेल में भी लोग अनुमान लगा रहे हैं कि किस सम्वाददाता की पहुँच कहाँ तक है। और उसी हिसाब से छूटने की बाबत वे जो कुछ बता रहे हैं उसकी कीमत लगा रहे हैं। इधर बापू जी के वक्तव्य ने लोगों को काफी परीशान कर रक्खा है। लोग कहते हैं कि राजबन्दियों को सरकार छोड़ रही है गाँधी जी ख्वाह-मख्वाह क्यों बीच में कूद पड़े। कुछ लोग कहते हैं कि गाँधी जी ने बहुत अच्छा किया। राजबन्दियों को छोड़ कर मुल्क में किसी किस्म की राजनीतिक सहूलियत पैदा किये बिना सरकार कांग्रेस से क्या उम्मीद कर सकती है। लेकिन चूँकि अखबार के सम्वाददाता छूटने की ही खबर को अभी पुष्ट करते जा रहे हैं इसलिए गाँधी जी के वक्तव्य ने लोगों के उत्साह को किसी किस्म से कम नहीं होने दिया। स्वभावतः मैं भी इस गप-शप में शामिल रहता हूँ। इसलिए मेरे कार्यक्रम में भी गड़बड़ी पड़ रही है और पत्र लिखने में भी ढिलाई हो रही है। लेकिन मैं समझता हूँ कि अभी मैं काफी दिनों तक जेल में रहूँगा और ग्राम-सेवा की कहानी सारी लिख सकूँगा।

हाँ, मैंने पहिले पत्र में लिखा था कि हम लोगों ने फिर से चर्खे के प्रचार में ध्यान लगाना शुरू किया। और धीरे-धीरे आस-पास के करीब सभी गाँवों में कुछ-कुछ चर्खे चलवा दिये। चर्खा चलाने के सिलसिले में हमने देखा कि पंचायत-द्वारा हमारे साथ उनका सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण वे हमारे काम में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं। इससे हमें ज्यादा उत्साह मिला। और हम दूसरे रचनात्मक कार्य्यक्रम को देहात में चालू करने की बात सोचने लगे।

शुरू में जब हम रणीवाँ आये थे तब किस प्रकार रात्रि-पाठशाला द्वारा शिक्षा का कार्यक्रम हमने शुरू किया, वह मैं पहले ही लिख चुका हूँ। उस काम को हम लोगों ने गौण रूप से बराबर जारी रक्खा

साथ-साथ उद्योग और शिक्षा की आवश्यकता

था। इधर जब किसानों से विस्तृत रूप में घनिष्ठता होने लगी तब से शिक्षा के अभाव में उनकी बेबसी की हालत को हम लोग अधिक महसूस करने लगे। हमने देख लिया कि केवल ग्रामोद्योग से देहाती जीवन सुधर नहीं सकता है; उद्योग और शिक्षा को साथ ही साथ चलाना है। मैं जितना उद्योग और शिक्षा के काम करता जाता हूँ उतना ही मेरा विश्वास इस विषय में दृढ़ होता जाता है। जब मैं सरकारी ग्राम-सुधार के महकमा के चार्ज में था तब हमने स्काउट मास्टरों का एक शिक्षण-शिविर खोला था। एक दिन मैं ग्रामोत्थान कार्य के लिए गाँवों में उनका क्या कर्तव्य होगा, इसकी बाबत कुछ बातें बता रहा था। बाद को जब मैंने उनको प्रश्न पूछने को कहा तो उनमें से एक भाई ने हमसे पूछा कि ग्रामसुधार के लिए पहले ग्रामोद्योग की आवश्यकता है या शिक्षा की? उनको भली-भाँति समझाने के लिए मैंने उनसे पूछा—"तुम यह बताओ कि भात बनाने के लिए पहले चावल की जरूरत पड़ती है या पानी की।" प्रश्न सुनकर लोग हँस पड़े लेकिन मेरा मतलब समझ गये। सचमुच मैं समझता हूँ कि ग्रामसुधार के लिए उद्योग और शिक्षण दोनों साथ-साथ चलने चाहिएँ। अतः उद्योग विद्यालय की स्थापना के साथ-साथ गाँव की शिक्षा के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ लेकिन सवाल यह था कि हम शुरू कैसे करें। शिक्षा-प्रसार करने के लिए तो काफी धन की आवश्यकता है। बाहर से धन लाकर एकाध पाठ-शाला चलाई जा सकती है। लेकिन व्यापक रूप से काम कैसे चले? अतः हम लोगों ने यह काम पंचायतों के द्वारा ही चलाने का निश्चय किया। इससे दो फ़ायदे थे। प्रथम स्कूल की व्यवस्था करने में उनके लिए स्थायी कार्यक्रम हो जाता है। इससे उनमें धीरे धीरे व्यवस्था-शक्ति बढ़ेगी और ग्रामीण समस्याओं के प्रति दिलचस्पी होगी। कई पुश्तों से प्राचीन ग्राम-संस्थाओं के टूट जाने से गाँव वालों में अब

सम्मिलित कार्य करने का संस्कार ही नहीं रह गया । इसलिए हमको पंचायत कायम करने में काफी कठिनाई पड़ती थी । अतः रचनात्मक काम के जरिये हम पंचों में खोये हुए संस्कारों को फिर से स्थापित कर सकेंगे । दूसरा फायदा यह था कि अगर हम शिक्षा का काम स्थानीय साधन और व्यवस्था-द्वारा चला सकें तो गाँव में स्वावलम्बी व्यवस्था का सूत्रपात हो जायगा । गाँव वालों के सामने जब हमने इस प्रस्ताव को पेश किया तो वे सहर्ष इस ओर कदम उठाने के लिए तैयार हो गये लेकिन वे विद्यालय का एकदम से सारा खर्चा सँभालने में असमर्थ थे । हम लोगों ने उनसे बीच का समझौता कर लिया ।

गाँव के साधनों से शिक्षा

गांव के लोग दिन में स्कूल में नहीं पढ़ सकते । सब लोग या तो मवेशी चराते हैं या घास छीलते हैं या खेती में काम करते हैं । इसलिए गांव में व्यापक रूप से रात्रिपाठशाला ही चल सकती है । अतः हम लोगों ने गाव वालों से निम्न प्रकार का प्रस्ताव किया ।

१. गांव में जो लोग कुछ पढ़े-लिखे हैं और घर में दिन में गृहस्थी का काम करते हैं, वे रात में फुरसत के समय रात्रि-पाठशाला में पढ़ा दें ।

२. विद्यार्थियों के पढ़ने का मकान, बैठने का आसन औरलालटेन तथा उसके तेल का इन्तजाम पंचायत करे ।

३. शिक्षक के कुछ परितोषिक का इन्तजाम आश्रम कर देगा । शुरू में हम लोगों ने शिक्षक का परितोषिक २) मासिक रक्खा था फिर शिक्षा विभाग से कुछ सहायता मिल जाने के कारण दो की जगह तीन रुपया कर दिया था । हमने यह सोचा था कि कुछ साल चलाने के बाद पंचायत का संघटन अधिक मजबूत होने पर विद्यालय को सम्पूर्ण जिम्मेदारी भी गांव के लोग अपने ऊपर ले सकेंगे और आश्रम अपना साधन दूसरे क्षेत्र में विद्यालयों की संख्या बढ़ाने में लगा सकेगा ।

इस प्रकार हम आश्रम के चारों तरफ़ २५ रात्रि-पाठशालाएँ

कायम कर सके। पाठशालाओं के कायम होने से शिक्षा का प्रसार तो होता रहा, साथ साथ लड़कों में संध्या समय का तमाखू पीना, एक दूसरे को गाली देना भी कम होने लगा। गाँव में लड़के आपस में इतनी गन्दी गन्दी गाली देते हैं और वे गालियाँ उन के माँ-बाप किस प्रकार सिखाते हैं, इसका जिक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ।

पाठशालाओं का प्रभाव

इसलिए गाली देने के कुटेव को सुधारना भी ग्राम-सेवक का एक खास काम है। पढ़ने में फँसे रहने के कारण गाली-गालौज तो हो ही नहीं सकती थी पर उसके अलावा भी हम लोग जब गाँव में जाते थे तो लड़कों से पूछा करते थे कि किसने कितनी गाली दी। शिक्षकों से भी पूछते थे। इस तरह उस ओर विशेष ध्यान देने से कुछ फायदा ही रहा। ग्राम-सेवक अगर अपना प्रोग्राम चलाते हुए इस प्रकार गाली के खिलाफ प्रचार करते रहें तो मेरे ख्याल से इस दिशा में काफ़ी सुधार हो सकता है। वैसे पाठशाला का कार्यक्रम इस काम के लिए तो सर्वोत्तम है ही। मैं जब रात को पाठशालाओं में जाता था तो मुझको एक बात जानने की बड़ी उत्सुकता रहती थी। मैं प्रत्येक बच्चे से खूब बातें किया करता था। उनसे पूछना कि वे दिन में क्या काम करते हैं। मुझको मालूम हुआ कि उनमें ६० फीसदी गोरू चराते हैं। जिससे पूछूँ "तू दिन भर काव करते हो रे"। जवाब मिलता है—"गारू चराइत हय।" पूछता हूँ—"कय ठो गोरू?" तो जवाब मिलता है "एक ठो या दुइ ठो।" ताज्जुब होता है एक ठो या दुइ ठो मवेशी चराने के लिए एक एक बच्चा! इस प्रकार बच्चों का समय कितना चौपट होता है, इसका हिसाब कौन रखता है। अगर एक या दो आदमी गाँव भर के मवेशी चराने का काम कर लें तो गांव के सब बच्चे शिक्षा के लिए खाली हो जायँ। लेकिन इन बातों की व्यवस्था ही टूट गई है। देखने में यह समस्या छोटी है लेकिन राष्ट्र को कुछ करना है तो इस समस्या को महत्त्व देना ही है। ग्राम-

सेवक के लिए पंचायत की मार्फत इसे भी हल करना चाहिए। मैं अभी तक इस दिशा में कुछ कर नहीं सका। लेकिन पंचायत की व्यवस्था कुछ ढंग पर आ जाने से इस ओर ध्यान देने का विचार है ही। सब बातें तो एक साथ हो भी नहीं सकतीं।

---

[४३]

प्रौढ़-शिक्षा का प्रयोग

१२—११—४१

उस दिन मैंने रात्रि पाठशाला के जरिये किस प्रकार ग्रामीण-शिक्षा के प्रश्न को हल करने की कोशिश हम करते रहे, इसकी बाबत कुछ प्रकाश डाला था। समय न होने के कारण उस दिन मैं पूरा-पूरा नहीं लिख सका था इसलिए आज फिर उसी विषय पर लिखने बैठा हूँ।

गाँव में पाठशाला खुल जाने से ग्रामीण-जीवन में एक नई जागृति पैदा होने लगी। स्कूल के विद्यार्थी रात्रि को पढ़ते थे; राष्ट्रीय गान सीखते थे और कभी-कभी राष्ट्रीय आन्दोलन की बातें भी करते थे। इससे गाँव में शान्ति और चहल-पहल बनी रहती थी। जो लोग स्कूल में पढ़ते थे। उनमें प्रति दिन एक साथ उठने-बैठने के कारण मित्रता और सद्भावना पैदा होती दिखाई देती थी। इन लोगों ने दिन में भी, फुरसत पाने पर, आपस में तरह-तरह के खेल-कूद भी करना शुरू किया था। इस प्रकार रात्रि पाठशाला खोलने से अक्षर-ज्ञान के अलावा गांव में कई प्रकार का जीवन बनने लगा।

हमारी रात्रि-पाठशालाओं में दो प्रकार के विभाग थे। एक बच्चों का, दूसरा प्रौढ़ विभाग। बच्चों को तो हम सीधे तरीके का अक्षरज्ञान कराके आगे बढ़ते थे। लेकिन हम लोगों ने देखा कि बच्चों के साथ अगर बड़ी उम्र के लोगों को भी पढ़ाते हैं तो एक तो उसमें बहुत देरी होती है और फिर प्रौढ़ लोग बच्चों के साथ-साथ

चलने में ज्यादा दिलचस्पी नहीं लेते हैं। इससे हमारे सामने एक नई समस्या खड़ी हो गई कि हम प्रौढ़ों को किस पद्धति से शिक्षा दें। जब मैं उन दिनों रात्रि-पाठशालाओं में जाया करता था तो बच्चों और प्रौढ़ों का एक साथ पढ़ना कुछ अस्वाभाविक-सा लगता था। लेकिन न तो मुझको इस विषय का अनुभव ही था और न मैंने कभी इस पर गम्भीर विचार ही किया था। इसलिए तात्कालिक समाधान न मिलने के कारण मैंने उनको उसी तरह चलने दिया और इस विषय पर गम्भीर विचार करने लगा। ठीक इन्हीं दिनों कांग्रेसी सरकार ने शिक्षा प्रसार-विभाग खोल कर प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में बहुत जोरों से कार्य्य करना शुरू किया। सरकार ने शिक्षा-विशारदों के परामर्श से कुछ ऐसी पुस्तकें तैयार कराईं जिनसे बड़ी उम्र के लोगों को जल्दी पढ़ाया जा सके। मैंने जैसे ही इस बात को सुना, लखनऊ जाकर शिक्षा-प्रसार आफिसर से मिला और इस योजना की बाबत आलोचना की। साथ ही विभाग से खर्चे का भी कुछ इन्तज़ाम कर लिया। शिक्षा प्रसार-आफिसर ने विभाग से विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए किताबें भी मुफ़्त में दे दीं। यद्यपि शिक्षा प्रसार की पुस्तकें मुझको बहुत अधिक पसन्द नहीं आईं फिर भी हमारी समस्याएँ किसी न किसी प्रकार हल हो जाने से मैं उस चिन्ता से कुछ मुक्त अवश्य हो गया। बाद को "शान्तिपुर प्रौढ़ शिक्षा योजना" का कुछ चार्ट और साहित्य देखा। इस योजना के

प्रौढ़ शिक्षा का आरम्भ

रचयिता श्री मांडे साहब गत बीस वर्षों से प्रौढ़-शिक्षा-पद्धति का प्रयोग कर रहे थे। उन्होंने युरोप और अमेरिका के विभिन्न प्रदेशों में घूम कर प्रौढ़ शिक्षा की बाबत अध्ययन भी किया था। कांग्रेस के पद ग्रहण करने से उनको हर प्रकार की सहूलियत मिली और उन्होंने गोरखपूर में प्रौढ़-शिक्षा के शिक्षकों के लिए विद्यालय खोल दिया। जब मुझको विद्यालय खुलने का समाचार मालूम हुआ तो मैंने आश्रम के भाई धनराजपुरी (जो कि देहात में रात्रि-पाठशालाओं

का संघटन कर रहे थे) को गोरखपुर माण्डे साहब के विद्यालय में शिक्षा पाने के लिए भेज दिया और वे तीन माह में वहाँ की सब पद्धतियों की जानकारी हासिल कर के लौट आये। भाई धनराज ने उसी के साथ स्काउटिंग की शिक्षा ले ली, यह अच्छा ही हुआ। मैंने देखा कि उनकी स्काउटिंग की शिक्षा भी हमारे काम में सहायक होगी। मैंने पहिले एक पत्र में लिखा था कि केवल अक्षर-ज्ञान से ही शिक्षा का काम पूरा हो जाता है, इस पर मैंने कभी विश्वास नहीं किया। शिक्षा के साथ सफ़ाई और व्यवस्था के साथ रहना, घर और गाँव को साफ़ रखना, सम्मिलित जीवन व्यतीत करना, स्वावलम्बन की वृत्ति रखना और आपस में मेल और सहयोग करना अगर हम नहीं कर सकते हैं तो केवल अक्षर-ज्ञान कर के उनके जीवन में क्या परिवर्तन ला सकते हैं? अतः धनराजपुरी के स्काउटिंग के ज्ञान का हम लोगों ने फायदा उठाने की कोशिश की। सब से पहिले हम रात्रि-पाठशाला के शिक्षकों को ही शिक्षा देने में लग गये। वे रात्रि को पाठशाला में पढ़ाते थे, और दिन को १० बजे से ४ बजे तक आश्रम में आकर प्रौढ़-शिक्षक और स्काउटिंग की शिक्षा लेने लगे। उनको हम माण्डे साहब की पद्धति के अलावा गाँव की समस्याओं के विषय पर भी शिक्षा देते रहे। स्काउटिंग और देहाती गाना भी सिखाते थे। तीन मास शिक्षा पाने के बाद खेत काटने और बोने का मौसम आ जाने से शिक्षकों को दिन में फ़ुरसत नहीं मिलती थी और हमने भी शिक्षा-केन्द्र बन्द कर दिया। हाँ, मैं एक बात लिखना भूल गया। हमने उनको कातने-धुनने की भी शिक्षा दे दी थी और स्वावलम्बी बनने के लिए सप्ताह में २००० गज सूत कातना भी अनिवार्य कर दिया था।

स्काउटिंग का आरम्भ

इस प्रकार रात्रि-पाठशालाओं को हम धीरे-धीरे अधिक संगठित और व्यवस्थित करने लगे और इस केन्द्र की मार्फत गाँव की दूसरी

समस्याओं को हल करने की योजनाएँ बनाने लगे। इस दिशा में सफलता भी मिलने लगी।

जब रात्रि-पाठशाला के शिक्षकों ने प्रौढ़ शिक्षा के तरीकों को समझ लिया तब विविध प्रकार की ग्राम-समस्याओं के अध्ययन से उनका दृष्टिकोण विस्तृत हुआ तथा उनका बौद्धिक विकास भी काफी हुआ। तब वे पाठशालाओं को अधिक योग्यता और उत्साह के साथ चलाने लगे। फिर भी हमारी दृष्टि में उनमें बहुत कुछ कमी रह गई थी। खास कर व्यवस्थित जीवन पालन करने के प्रति उनको हमने बाद में भी उदासीन ही पाया। जब तक शिक्षक खुद इन बातों का पालन नहीं करेगा तब तक वह पाठशाला के विद्यार्थियों को क्या बतायेगा? हम लोग भी तीन महीना की ट्रेनिंग में इस दिशा में उसके अन्दर खास संस्कार पैदा करने में असमर्थ रहे। अतः मैंने यह जरूरी समझा कि शिक्षकों को २४ घंटा अपने शिविर में रख कर कुछ दिन शिक्षा दी जाय।

खेती के काम की भीड़ खतम हो जाने के बाद हम लोग शिक्षण-शिविर खोलने का अच्छा मौका जान कर उस ओर विचार करने लगे। मैंने तुमको पहिले लिखा था कि हमारी ग्राम-सेवा का हर एक कार्यक्रम ग्रामवासियों को स्वावलम्बी समाज-रचना की ओर ले जाने का होना चाहिए। इसलिए मुझको हमेशा चिन्ता रहती थी कि हम जो कुछ काम करें उसका रूप ऐसा हो कि वह हमारे ग्राम-संगठन के आखिरी उद्देश्य में किसी न किसी अंश में सहायक हो। अगर हम बाहर से कुछ आर्थिक सहूलियतें पैदा भी कर दें या बाहर से संघटन करने के लिए सेवकों को भेजें तो उसका भी ऐसा रूप होना चाहिए कि गाँव के ऊपर यह प्रभाव पड़ता रहे कि हमारी यह मदद अस्थायी है और अन्त में सारी व्यवस्था उनको ही करनी है। इसी दृष्टिकोण को सामने रख कर मैंने शिक्षा-शिविर

स्वावलम्बी समाज-रचना का लक्ष्य

आश्रम में ही खोला और शिविर का प्रबन्ध दो-तीन गाँव की पंचायतों के जिम्मे रक्खा। यह लिखने में मुझको खुशी है कि ग्राम-पंचायतों ने इस जिम्मेदारी को खूबी से निभाया। गाँव के पास एक विस्तृत मैदान में जब मैं शिक्षण शिविर को देखता था तो खुश हो जाता था। दूर से ऐसा लगता था मानो सिपाहियों की छावनी पड़ी है। शिविर बनाने का सारा सामान भी उन लोगों ने इकट्ठा किया था। शिविर को रात्रि पाठशाला के सेवकों ने अपने हाथ से अपनी कल्पनानुसार ही बनाया था। इसका प्लैन और बनावट इतने सुन्दर ढंग की थी कि संयुक्त प्रान्त के स्काउट आर्गनाइज़र श्रीयुत् डी० एल० आनन्द राव जब रणीवाँ आये और उन्होंने इस शिविर को देखा तो उनको बहुत आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा कि अगर मैं स्वयं भी इस शिविर को बनाता तो इससे बेहतर नहीं बना सकता था। कला की दृष्टि से भी शिविर बहुत सुन्दर था। यह ठीक है कि इन लोगों ने जब पहिले आश्रम में तीन महीने की शिक्षा पाई थी तो मैं उनको सजावट की कला की बाबत भी कुछ बताता था। लेकिन वह शिक्षा भी तीन ही महीने की थी। गाँव के किसान का, घर के नौजवानों के दृष्टिकोण का केवल तीन महीने की ही ट्रेनिंग से इतना विकास हो सकता है कि अगर तुम उसको देखती तो शिक्षा-द्वारा गाँव के लोगों को कितनी जल्दी बदला जा सकता है, इसकी अन्दाज कर सकतीं। गांव के लोग अपने को बदलना ही नहीं चाहते हैं, वे अपने गन्दे और रुढ़िपूर्ण जीवन में पड़े रहना चाहते हैं, ऐसी बात करना कुछ लोगों का फैशन-सा हो गया है। लेकिन मेरा अनुभव तो दूसरा ही है। गाँव के लोग जितनी जल्दी अपने विचार और ढंग बदल सकते हैं, उतना शहर के पढ़े-लिखे लोग नहीं। एक साधारण सी बात तो सभी जानते होंगे कि एक शहरी पढ़ा-लिखा आदमी जब गाँव में जाता है तो परीशान हो जाता है। मैंने तो उनको एक दिन में घबड़ाते हुए देखा है।

गाँव के लोग शहरी वातावरण में कुछ असुविधा ज़रूर अनुभव करते हैं, लेकिन हम लोग जैसे गाँव के वातावरण से घबराते हैं वैसे वे घबड़ाते या परीशान नहीं होते। बात तो कुछ और ही है। हम गाँव में जाते हैं; उनकी बातों को अश्रद्धा से देखते हैं; उनके तरीकों के प्रति नाक-भौं सिकोड़ते हैं और उपदेशक वृत्ति से उनको कहने लगते हैं—"तुम्हारी यह बात ख़राब है, वह बात खराब है तुमको वैसा करना चाहिए, तुमको ऐसा करना चाहिए।" और यह सब कहकर वापस चले आते हैं। तमाशा यह है कि उनकी ज़िन्दगी की तब्दीलियों की बाबत जो उपदेश करते हैं उसका अगर विश्लेषण करके देखा जाय तो मालूम होगा कि हमारे अपने जीवन के तरीके की नकल उनके जीवन के सुधार में विशेष सहायक नहीं होगी। यही कारण है कि वे हमारे बताये हुए तरीके से बदलना नहीं चाहते हैं।

सेवक-शिक्षण-शिविर ढाई महीने तक रक्खा गया। उसमें स्काउटिंग, चर्खा, झोला बेल्ट आदि का बुनना, अनुशासन, सफ़ाई और सहयोग से रहना इत्यादि बातों की शिक्षा दी गई। जो आदत शिविर में डाली गई, उसको कायम रखने के लिए हम लोग उनके घरों में पहुँचा करते थे क्योंकि अगर शिक्षक के जीवन तथा रहन सहन में स्थायी परिवर्तन हो सका तो रात्रि-पाठशाला के शिक्षार्थियों के जीवन में भी उसका असर पड़े बिना नहीं रह सकेगा।

इस प्रकार रात्रिपाठशाला और स्काउटिंग की मार्फ़त ग्राम-सेवा और संघटन की दिशा में एक कदम और बढ़ सके। धीरे-धीरे हम लोगों ने रात्रिपाठशाला के शिक्षकों को ग्रामोद्योग की किसी न किसी दस्तकारी में शिक्षा लेने के लिए प्रोत्साहित किया और उनमें आधे से अधिक नौजवान दिन में ग्रामोद्योग विद्यालय में आकर शिक्षा भी लेने लगे। उद्योग की मार्फ़त ग्राम-संगठन की कल्पना की बाबत मैं पहिले ही लिख चुका हूँ। उस दिशा में हमने क्या-क्या प्रयोग किया और व्यावहारिक रूप से किस तरह उस दिशा में आगे बढ़ने का प्रयत्न

किया इसकी बाबत भविष्य में फिर कभी लिखूँगा। आज समय अधिक हो गया इसलिए पत्र यहीं समाप्त करता हूँ। नमस्कार।

---

[४४]

सरकार की सहायता का असर

१६—११—४१

इधर कई दिनों से पत्र नहीं लिख सका। इसका कारण वही है—छूटने की हलचल।

आज सुबह का दृश्य खास तौर से देखने लायक था क्योंकि आज के अखबार में होम मेम्बर साहब का एलान निकलने वाला था। बहुत सवेरे से हर एक बैरिक के लोग इस आशा से बैठे हुए थे कि अभी खबर मिलेगी कि सब लोग कल-परसों तक छूट जायँगे। अखबार आते ही ऐसी छीना-झपटी हुई कि वह दृश्य देखने ही लायक था। लेकिन पंद्रह मिनट के अन्दर सारी बैरिकों में ऐसा सन्नाटा छा गया कि मानों किसी ने सम्मोहन फूँक दिया हो। मैक्सवेल साहब का बयान सुनकर जल्दी छूटने से लोग एकदम निराश हो गये। मैंने भी इस शांति का मौका पाकर पत्र लिखना शुरू कर दिया।

पिछले पत्र में मैंने रात्रिपाठशाला का संघटन और शिक्षकों की शिक्षा के लिए शिक्षण-शिविर खोलने की बाबत लिखा था। मेरा विचार था कि शिविर के खतम हो जाने के बाद शिक्षकों के प्रति ध्यान देकर उनके घर का पहिले सुधार करूँगा, फिर धीरे-धीरे विद्यालय के दूसरे घरों का सुधार होता जायगा। क्योंकि मुझको भय था कि अगर शिक्षकों के घर के प्रति हम खास ध्यान नहीं देते हैं तो शिविर में रह कर वे जो कुछ सफाई, अनुशासन, व्यवस्था, सहयोग और कला की शिक्षा पा चुके हैं घर के वायुमण्डल में सब कुछ भूल जायँगे। लेकिन

एक महीने में ही पकड़ा गया। मेरे पकड़ जाने के कारण वह काम हो नहीं सका। भाई धनराज पुरी जितना कर सकते थे उतना चलाते रहे। पाठशाला का भी काम चलता रहा।

देहात के संघटन की बाबत मैं करीब करीब सब कुछ लिख चुका। वैसे तो पंचायतों की मार्फत गांव के कुँओं की मरम्मत करना, सड़कें ठीक कराना आदि छोटे छोटे बहुत से काम साथ-साथ होते ही रहे। परन्तु निश्चित योजना के अनुसार अब तक हम रात्रिपाठशाला के ज़रिये शिक्षा कार्यक्रम तक ही पहुँच पाये हैं। उद्योग केन्द्र की मार्फत ग्राम सेवा योजना का सूत्रपात तो हो गया था। लेकिन वह योजना अभी तक ठीक-ठीक अपने स्वरूप पर नहीं पहुँची। इसकी बाबत मैं फिर लिखूँगा। आज पिछले दो वर्ष में केन्द्रीय आश्रम की किस प्रकार प्रगति हुई उस पर कुछ लिखना चाहता हूँ।

सम्पूर्ण ग्रामोद्योग विद्यालय की स्थापना

वैसे तो कताई-धुनाई बुनाई और लकड़ी का कार्य सिखाने का कार्य-क्रम साल डेढ़ साल से चल रहा था और धीरे-धीरे काग़ज का काम भी थोड़ा-बहुत शुरु हो गया था। लेकिन कांग्रेस के पद ग्रहण करने पर ग्रामोद्योग विद्यालय की सम्पूर्ण योजना के लिए समूचा धन मिल गया। १८ नवम्बर सन् ३८ को हमने सम्पूर्ण ग्रामोद्योग विद्यालय कायम कर दिया। इससे हमारी योजना को जल्दी से अच्छी प्रगति मिल गई। जो काम हम पाँच-छः साल में कर सकते थे वह एक ही साल में हो गया। सन् ३८ के नवम्बर से लेकर सन् ३९ के आखिर तक आश्रम में एक विराट चहल-पहल होती रही। हम एक जंगल में पड़े हुए थे। जितने लोग थे उनके रहने के लिए मुश्किल से काफी जगह थी। एकाएक ७५ विद्यार्थी, शिक्षक और दूसरे कार्यकर्त्ता मिलाकर आश्रम की आबादी सवा सौ के करीब हो गई। इतने लोगों का निवास-स्थान, उद्योग के सब विभागों के लिए मकान, औज़ार और कच्चे माल की व्यवस्था सब कुछ इसी वर्ष के

अन्दर करनी थी। शहर होता तो काम कुछ आसान हो जाता। लेकिन रणीवां कितना अन्दर का गाँव है, इसे तुमने देख ही लिया है। इसलिए यह सारी व्यवस्था करने में हमारे सभी कार्यकर्त्ताओं को रातदिन एक कर देना पड़ा। साथ ही कार्यकर्त्ता शिक्षण का काम भी जारी रखना था। आश्रम के खादी विभाग से और सरकारी विभागों से कार्यकर्त्ताओं की माँग हमेशा बनी रहती थी। कोई विद्यार्थी अगर थोड़ा बहुत काम चलाने लायक काम सीख लेता था तो तकाजा के कारण उसे कच्ची हालत में ही भेज देना पड़ता था और खाली जगह नये विद्यार्थियों को भरना पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में हम आश्रम की किसी किस्म की भीतरी व्यवस्था नहीं कर पाते थे। बल्कि पहले की व्यवस्था और नियमित आश्रम जीवन में भी गड़बड़ी पैदा हो गई। इसी कारण विविध विषयों की शिक्षा के लिए भी हम कोई निश्चित पाठ्यक्रम ठिकाने से नहीं बना सके।

परिस्थिति को देखते हुए रोज़ कामचलाऊ पाठ्यक्रम बना के उन को शिक्षा देते रहे। ऐसी दिशा में आश्रम की व्यवस्था और आश्रम-जीवन में बहुत कुछ ढिलाई आ गई। लेकिन ऐसी परिस्थिति में ऐसा होना अनिवार्य समझ कर मैंने विद्यालय को काममात्र बनाने में ही सारी शक्ति लगा दी क्योंकि मुझको विश्वास था कि अगर सरकारी मदद का फायदा लेकर विद्यालय को अपने मन-मुताबिक बना लें तो फिर इन गड़बड़ियों को छः महीना या साल भर में ठीक कर लूँगा; लेकिन अगर हम परिस्थिति का फ़ायदा नहीं उठाते हैं तो मुझको अपनी कल्पित योजना का सूत्रपात करने में ही वर्षों लग जायँगे। सरकारी साधन एक साथ मिल जाने से और जल्दी से बहुत ज्यादे काम कर लेने का बोझ पड़ जाने से एक नुकसान और हुआ। उसने हमें ख़र्चे के मामले में कुछ लापरवाह कर दिया। अगर हम धीरे-धीरे चल पाते तो समय जरूर लगता पर लोगों में सस्ते में काम

कठिनाइयाँ और त्रुटियाँ

चलाने की आदत बनी रहती चाहे वे काम सरकारी पैसे से क्यों न करते लेकिन एक दम से इतने काम की व्यवस्था करने में उस ओर सावधान होना सम्भव नहीं हो सका। खर्चे के इस उदार तरीके ने हमारे काम में कुछ दूसरी खराबियाँ भी पहुँचाईं।

मैंने तुमको किसी पत्र में लिखा था कि अगर हमको व्यापक रूप से ग्राम-सेवा का काम करना है तो हम हमेशा बाहर के साधन से नहीं कर सकते, बल्कि ग्रामीण जनता को उनकी शक्ति और साधन का परिचय कराकर उन्हीं से अपना संघटन कराना है। चर्खा, ग्रामोद्योग, खेती की उन्नति के तरीके बताकर उनके साधनों के बढ़ाने का प्रयत्न हम ज़रूर करते रहेंगे परन्तु हमको उनका सारा संघटन उनके ही साधन से और उन्हीं से कराना है। बापू जी कहते हैं कि यदि हमने ठीक भावना से चर्खा चला लिया और भारत के सात लाख ग्रामों में रचनात्मक कार्य पूरा कर लिया तो बिना सत्याग्रह के ही हमको स्वराज्य मिल जायगा। क्योंकि बापू जी के रामराज्य का आशय समाज की शासनहीन और शांतिमय व्यवस्था से ही तो है। अगर हमारी ग्राम-सेवा व ग्राम-संघटन इसी आदर्श की ओर ले जाने का ही लक्ष्य रखता है, तो हमारा कोई भी कार्यक्रम होगा वह ग्रामवासी को सर्वांगीण स्वावलम्बन की ओर ही ले जाने की दिशा में होना चाहिए। अगर बाहर से किसी किस्म की मदद होती है तो उस मदद के साथ हमारा यह दृष्टिकोण सदा जाग्रत रहना चाहिए कि ये बाहरी सहायताएँ आज की असहाय परिस्थिति में अस्थायी व्यवस्था हैं। एकाएक इतने बड़े पैमाने पर सरकारी मदद से आश्रम के ही संघटन को देखकर गरीब ग्रामवासियों का चकाचौंध होना स्वाभाविक था। स्वावलम्बन की दिशा में हम उनके अन्दर अब तक जो कुछ भी भावना पैदा कर पाये थे उसमें ढिलाई दिखाई देने लगी और अब वे हर बात में सहायता की अपेक्षा करने लगे। श्रद्धा तो वे अब भी करते थे। लेकिन श्रद्धा में अब पहले जैसा सात्विक प्रेम-भाव न

होकर उसमें राजसिक सम्मान की वृत्ति आने लगी। कुछ तो कांग्रेस का मंत्रिपद होने से यह हुआ और अगर आश्रम के विद्यालय को सरकारी धन नहीं मिलता, तो भी होता लेकिन बहुत अंश में तो पैसे की सहूलियत और हमारी उदारता से खर्च करने के कारण हुआ, ऐसा कहना होगा।

इस प्रकार एक ओर अगर हम अपनी कल्पित योजना की दिशा में आगे बढ़े तो इष्ट भावना की दिशा में कुछ पीछे भी हटे, लेकिन मैंने देखा कि कुल मीज़ान में हम आगे ही रहे। क्योंकि दूसरे वर्ष से हम परिस्थिति सुधारने में लगे तो वह धीरे-धीरे सुधरती ही गई।

दूसरे साल की बात दूसरे दिन लिखूँगा। आज अब विदाई लेता हूँ।

---

[४५]

योजना को सही दिशा में

२०—११—४१

मालूम नहीं, कल का पत्र पढ़कर तुम पर क्या प्रभाव पड़ा, क्योंकि आम तौर से जो मित्र हमारे काम से सहानुभूति रखते हैं वे इस प्रकार की परिस्थिति से घबड़ाते हैं। कहते हैं, तुमने सरकारी मदद लेकर यह क्या मुसीबत मोल ली। इस विराट रूप ने तुम्हारे असली मकसद को ही ख़त्म कर दिया। तुम अपनी चीज़ भी खो बैठे। शायद तुमको भी ऐसा ख्याल हो। लेकिन क्या ग्रामोद्योग विद्यालय की स्थापना करने से हम अपनी योजना या लक्ष्य से अलग हो गये? या उसे किसी प्रकार का नुकसान पहुँचा? ऊपरी ढंग से तो यह जरूर मालूम होता है कि हम पीछे हटे। तात्कालिक हानि अवश्य कुछ दिखाई पड़ती है लेकिन हकीकत यह है कि जहाँ हम

एक दिशा में एक कदम पीछे हटे, तहाँ दूसरी दिशा में कई कदम आगे बढ़े। तो क्या इस किस्म की तूफानी परिस्थिति से संस्था को कभी नुकसान नहीं होता ? हाँ, ऐसी संस्था को नुकसान जरूर पहुँचता है, जिसके सामने योजना और लक्ष्य स्थिर और साफ नहीं होता है। लेकिन जिसके सामने अपना दृष्टिकोण साफ रहता है वह चाहे जितनी इमदाद सरकार से ले या दूसरी अनुकूल परिस्थितियों का फायदा उठाकर अपने कदम की रफ्तार तेज कर दे वह उस कदम को अपनी योजना के अनुसार ही रक्खेगा। संभव है, अनुकूल परिस्थिति के उत्साह में वह कुछ जरूरत से ज्यादे तेज चल दे और उसके अंगों में थकावट आ जाय लेकिन वह दिशाभ्रष्ट नहीं होगा। वैसी हालत में किञ्चित् विश्राम से ही सब ठीक हो जायगा। लेकिन अनुकूल परिस्थिति से जितना वह अधिक आगे बढ़ गया वह उसके लिए स्थायी लाभ ही होगा और लक्ष्य पर पहुँचना आसान हो जायगा। एक दृष्टि से देखा जाय तो इस परिस्थिति से फायदा ही हुआ। एकाएक आर्थिक सहूलियत के मिल जाने के कारण खर्च करने का हमने जो ढंग रक्खा है उससे आश्रम जीवन पर और ग्रामीण जनता के दृष्टिकोण पर जो असर पड़ा उसका ठीक-ठीक अध्ययन हमने कर लिया और उसको दूर करने की आवश्यकता भी हम अनुभव कर रहे हैं। सेवकों के लिए विभिन्न परिस्थितियों में किस तरीके से चलना चाहिये उसकी एक बहुत बड़ी शिक्षा भी हमें मिल गई। भविष्य में इस अनुभव से लाभ उठाकर ऐसी परिस्थिति में सावधानी से अपने को सँभाल कर हम चल सकेंगे। वास्तविक व्यक्ति, संस्था और समाज जब तक परिस्थिति के उतार-चढ़ाव के बीच से नहीं गुजरता है, जब तक उसको बाढ़ और आंधी का सामना नहीं करना पड़ता तब तक उनके अन्दर न तो मज़बूत जीवन ही आ सकता है और न वे किसी किस्म की प्रगति ही कर सकते हैं। घेरे के अन्दर रहकर कोई आगे नहीं बढ़ सकता। मेरा तो स्थिर विश्वास है कि अगर हमारा लक्ष्य और योजना निश्चित है तो ऐसी

परिस्थितियों से लाभ ही होता है। स्थायी-हानि की तो मुझको कोई गुंजाइश नहीं दिखाई देती।

इसलिए मेरे पिछले पत्र की बताई हुई परिस्थिति को देखकर मेरे तमाम मित्रों के घवड़ा जाने पर भी मैं घबड़ाया नहीं। हाँ, परिस्थिति को फिर से अपने ढर्रे पर लाया जाय, इसकी चिन्ता मुझको हमेशा रही और दूसरे साल मैंने अपना ध्यान इसी ओर लगाना शुरू किया। इस काम के लिए मुझको खास सहूलियत भी थी। यद्यपि मैं अपनी निजी धारणा और अनुभव के अनुसार ही अपनी योजना बनाता था और उसका प्रयोग करता था फिर भी यह गांधी आश्रम का ही एक हिस्सा था। इसलिए बिगाड़ने के लिए चाहे मैं अकेला ही था लेकिन सुधारने के लिए तो हम कई साथी थे। और इस दिशा में हमको सम्पूर्ण-रूप से मदद मिलती रही।

इस प्रकार हमने सन् ४० के साल भर में विद्यालय का निश्चित पाठ्य-क्रम ठीक कर लिया। हिसाब-किताब का तरीका भी सँभाल लिया और साधारण व्यवस्था भी ढर्रे पर आ गई। आश्रम जीवन सम्पूर्णरूप से सन्तोषजनक तो नहीं हो सका लेकिन सन् ३६ की परिस्थिति को हमने सँभाल ही लिया। गांव के लोगों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होने लगा। हमने किस प्रकार पंचायतों का संघटन किया, चर्खे का प्रचार किया और पंचायत की मार्फत रात्रि-पाठशाला, शिक्षण-शिविर आदि का संगठन करके ग्रामीण जनता में स्वावलम्बन की भावना पैदा करने की कोशिश की, इसकी बाबत पहिले पत्रों में लिख ही चुका हूँ।

सन् ४० में हमने अपनी ग्राम-संघटन की योजना के लिए एक दूसरा क़दम भी उठा लिया। आश्रम के चारों ओर के देहातों में से

एक पग और

दर्जा ४ तथा मिडिल पास नौजवानों को काग़ज़ बनाना सिखाकर अपने-अपने गाँव में उद्योग-केन्द्र की स्थापना के उद्देश्य से हमने आश्रम के विद्यालय

में उन्हें भरती कर लिया। बाद को सन् ४१ के जनवरी महीने में हमने उन नौजवानों से उद्योग-केन्द्र उनके ग्रामों में खुलवा दिये। इस प्रकार सन् ४० के खतम होते-होते सन् ३६ में एकाएक भीड़ होने के कारण जो गड़बड़ी पैदा हो गई थी उसे हमने बहुत कुछ सँभाल लिया। साथ ही अपनी अन्तिम योजना के अनुसार देहातों में उद्योग केन्द्र-स्थापना की शिक्षा में एक क़दम आगे बढ़ सके। अब हमारे सामने अगले साल के लिए नीचे लिखी हुई समस्याओं का हल करना बाकी रह गया :—

१—विद्यालय को स्वावलम्बी कैसे बनाया जाय जिससे बिना बाहरी सहायता के भी काम चलता रहे।

२—ग्रामोत्थान के काम में पंचायतों को स्वावलम्बी बनाना और जिन नौजवानों से हम उद्योग-केन्द्र खुलवा रहे थे उनको ग्रामोत्थान कार्य्य में दिलचस्पी दिलाकर पंचायतों को सहायता पहुँचाना।

३—आश्रम-आदर्श और जीवन में सुधार करना।

इन दिनों मैं सरकारी ग्राम-सुधार के काम से छुट्टी पर गया था। इसलिए मैंने ऊपर लिखी हुई तीन समस्याओं को हल करने में अपना ध्यान लगा दिया। मैं आशा करता था कि साल भर में इस दिशा में कामयाबी हासिल कर सकूंगा। सन् ३८ के नवम्बर में जब ग्राम-उद्योग विद्यालय की स्थापना कर रहा था तो मैं मित्रों से कह रहा था कि यह भी मेरी एक पंचवर्षीय योजना है क्योंकि मैं समझता था कि तीन साल में विद्यालय का रूप ठीक हो जाने पर बाकी दो साल में ग्रामोद्योग-केन्द्रों की मार्फत ग्राम-संघटन का कार्य्य चलाने में समर्थ हो सकूंगा लेकिन इस साल अप्रैल में ही मैं नजरबन्द होकर यहाँ चला आया और वह काम करने का मौका नहीं मिला। मैं जेल आ गया लेकिन एक संस्था का अंग होने से वह काम तो चलता ही रहा। अब आश्रम की ओर से विचित्र भाई रणीवाँ का काम चला रहे हैं।

हमारे इस साल के काम में एक सुविधा और मिल गई। सरकार ने अब मदद देने से इनकार कर दिया। जो स्वावलम्बन और आश्रम जीवन में आदर्श की भावना को ठीक करने में हम अभी लगे ही थे उस ओर चलने में यह सरकारी इमदाद निकल जाने से लाभ ही हुआ। आश्रमवासी जो काम साल दो साल में कर पाते वह काम अब फौरन होने लगा। गांव के लोग भी अब ज्यादा मुस्तैदी से आत्म-निर्भरता की ओर जा रहे हैं। इसकी खबर मुझको जेल में मिल रही है। अतः तीसरे साल का काम भी अब पूरा ही होना चाहता है। जिस समय हम ग्रामोद्योग की ओर बढ़ रहे थे उस समय सरकारी इमदाद ने हमारी गति तेज कर दी थी और आज जब हमने अपने आदर्श को ढंग पर लाना शुरू किया तो इमदाद बंद करके सरकार ने हमारे काम को फिर से तेज कर दिया। अब देखना है, आगे के दो साल में हमारी योजना अपने स्थान पर पहुँचती है या नहीं। सब ईश्वर के हाथ है।

आश्रम के इस उतार-चढ़ाव से यह स्पष्ट होता है कि ग्राम-सेवा की तात्कालिक कठिनाई से घबड़ाना नहीं चाहिए। केवल यह देखना चाहिए कि अपने लक्ष्य की ओर अपना रुख स्थिर है या नहीं। सब परिस्थितियों से लाभ उठाना चाहिए और अपने उद्देश्य और आदर्श को कायम रखते हुए जिस प्रकार भी मिल सके मदद और सहयोग लेना चाहिए।

चलो, अब आश्रम की कहानी खतम हो गई। जेल में बैठकर आगे का कार्यक्रम सोचता रहता हूँ। पिछली गलतियों और परि-स्थितियों पर विचार कर रहा हूँ, और जो कुछ समझ में आता है विचित्र भाई और कर्ण भाई को लिखता रहता हूँ। तुम्हारे पास तो मैंने सारा महाभारत ही लिख डाला। अब बहुत हो गया। पत्र यहीं समाप्त करता हूँ। नमस्कार।

---

[४६]

स्त्री-जाति और समाज

२५—११—४१

उस दिन जो पत्र मैंने लिखा था उसमें आश्रम की बाबत मेरे जेल आने तक की सभी बातें आ गई हैं, यह सोचकर ४-५ दिन तक फिर मैंने कुछ नहीं लिखा। आज एकाएक याद आया कि एक बात तो लिखी ही नहीं। वैसे तो सरकारी ग्राम-सुधार महकमा की मार्फत मैंने दो साल तक फ़ैज़ाबाद जिला में काम करने में जो कुछ अनुभव किय उन्हें फिर कभी लिखने की सोच रहा था। लेकिन आश्रम से ग्राम-सेवा करने में स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में भी मैंने कुछ काम किया था। उसकी बाबत आज लिखकर ग्राम सुधार महकमा की कहानी भविष्य के लिए छोड़ देता हूँ। स्त्रियों की कहानी ही भूल गया, इससे तुमको बुरा लगता होगा, लेकिन उधर का सिलसिला ही ऐसा था कि इसका ज़िक्र बीच में कहीं आता ही नहीं था।

जब मैं सन् १९२३ में टाँडा के देहात में घूमता था उन दिनों चमारों और कुर्मियों की स्त्रियों की बाबत में जो कुछ अध्ययन कर सका था, वह तुमको लिख ही चुका हूँ। जब हम रणीवाँ आये तो हम लोगों का सम्बन्ध मध्यम श्रेणी के परिवारों से हुआ। रणीवाँ गाँव के लोगों का सम्बन्ध तो घर के जैसा हो गया था। धीरे-धीरे दूसरे गाँवों के लोगों से सम्बन्ध बढ़ता ही गया। मेरे होम्योपैथिक इलाज की बाबत काफ़ी दूर तक शोहरत हो गई थी। इलाज के लिए लोग आश्रम में भीड़ लगाये रहते थे। प्रति दिन ५० से ७५ तक रोगियों की संख्या हो जाती थी। जो लोग हमसे इलाज कराने आते थे, उनमें ज्यादातर स्त्री और बाल रोग के रोगी होते थे। स्त्री रोगियों में प्रायः सभी उच्च श्रेणी की थीं। इसलिए इनके इलाज के वास्ते हर प्रकार के लोगों के घरों के अन्दर के हिस्सों में जाना पड़ता था।

इलाज के सिलसिले से और फ़िर बाद को चर्खा विद्यालय के जरिये स्त्रियों से हम लोगों का परिचय काफी हो गया।

टाँडा के इलाके के कुर्मियों की स्त्रियों की शारीरिक और नैतिक स्फूर्तियों को देखकर, उनकी घर-गृहस्थी के मामले में भीतरी और बाहरी दिलचस्पी तथा पुरुषों से प्रत्येक काम में सहयोग की वृत्तियों को देखकर देहाती स्त्रियों के प्रति मेरी जो भावना थी, रणीवाँ के आस-पास की उच्च श्रेणियों की स्त्रियों से मिलकर उसमें अन्तर जरूर पड़ गया। स्त्री जाति इतनी काहिल होती है, इसका अन्दाज मुझको पहिले नहीं था। इनमें न तो कुर्मियों—जैसी शारीरिक शक्ति है और न नैतिक बल ही। इनके घरों में सफाई की कमी दिखलाई देती है। अगर किसी घर में एक ही स्त्री है और वह स्त्री ऊँचे और नीचे काफी उम्र वाली है, तो उसके घर में सफाई भी वर्ग की स्त्रियाँ देखने को मिलती है और परिश्रम की भावना भी दिखाई देती है। परन्तु ऐसे घर बहुत कम हैं। जिस घर में ज्यादा स्त्रियाँ हैं और खास तौर पर अगर वे कम उम्र वाली हैं तो काहिली और गन्दगी का कुछ हिसाब नहीं। इनका मानसिक विकास भी कुछ नहीं के बराबर है। टाँडा में कुर्मियों की स्त्रियाँ जब मुझसे बात करती थीं तो बहुत सी बाहरी बातें पूछा करती थीं। गाँधी बाबा कहाँ हैं और "स्वराज्य कब होत बा" इत्यादि प्रश्न करती थीं लेकिन ऊँची जातियों में जो लोग पढ़े-लिखे हैं, जो कांग्रेस में भी हैं उनकी स्त्रियाँ भी इन बातों से बिल्कुल शून्य हैं। मैंने देखा कि पर्दा के अन्दर एक आँगन के घेरे में रहकर वे इतनी संकीर्ण हो गई हैं कि वे समाज का एक अंग हैं, यह भी पता नहीं चलता है। पुरुषों के काम-काज में तो वे बिल्कुल सहायक होती नहीं और न पुरुष लोग ही अपने कार्यक्रम के बारे में उनको दिलचस्पी दिलाते हैं। नतीजा यह होता है कि वे सदा काहिली और शौकीनी में ही डूबी रहती हैं। शृंगार और शौकीनी से इतना प्रेम हो गया है कि अपने बच्चों के

प्रति भी विशेष ध्यान नहीं दे पातीं। इस श्रेणी में मैंने देखा है। कि माताएँ सुबह उठ कर छोटे बच्चों को बिना शौचादि कराये बड़े बच्चों के कन्धे पर लाद कर बाहर कर देती हैं। फिर निश्चिन्त होकर अपने कमरे में शीशा तेल आदि शृंगार के साधन निकाल कर घण्टा भर अपने सजाने में लगेंगी। चाहे बच्चों के नाक और आँख के कीचड़ में मक्खियाँ भिन-भिन करती रहें लेकिन माता का साज-बाज पूरा होना जरूरी है। इस काहिली और विलास के कारण चारों ओर, घर-घर अनीति और दुर्नीति फैल गई। इस भीषण दुर्नीति का खास कारण एक और है। वह है भयंकर सामाजिक अनमेल-विवाह। ब्राह्मण और क्षत्रियों में, खास तौर से ब्राह्मणों में १६-१७ और कभी २०-२० साल की लड़कियों से १०, १२, १४ साल के लड़कों से विवाह सम्बन्ध कर दिया जाता है। ऐसी हालत में विवाह के बाद लड़कियों के लिए नीति की मर्यादा कायम रखना मुश्किल हो जाता है और जब परम्परा से ऐसी प्रथा चलती है तो समाज में इस भयंकर दुर्नीति को आम बात समझ कर लोग कुछ ख्याल भी नहीं करते हैं। धीरे-धीरे आज रोग इतना व्यापक हो गया है कि यह समाज की नस-नस में घुस गया है। हम लोग जब बराबर इसके विरुद्ध प्रचार करते हैं तो लोग महसूस करते हैं, गलती भी मानते हैं लेकिन व्यवहार में वही करते हैं जो होता रहा है।

विलास और पतन की ओर

इस प्रकार उच्च वर्ण के समाज में हर प्रकार की खराबियाँ पहुँच जाने से सारी जनता में लड़ाई-झगड़े की प्रवृत्ति घर कर गई है।

मैं पहिले पत्रों में लिख चुका हूँ कि देहातों में स्त्रियाँ ही संसार और समाज की व्यवस्थापिका होती हैं। जिस घर में स्त्रियाँ बेकार होती हैं उस घर में चाहे जितनी आमदनी हो वह उजड़ जाता है और जिस घर की स्त्री सुगृहिणी होती है वह घर चाहे जितना गरीब हो बन जाता

गृहलक्ष्मी से चण्डिका

है। तभी तो हमारे देश में लोगों ने नारी जाति को देवी कहा है, घर की स्त्री को गृहलक्ष्मी कहा है लेकिन आज तो वे देवियाँ और गृहलक्ष्मियाँ घर उजाड़ने वाली भवानी माई हो रही हैं।

स्त्रियों की यह भयावह स्थिति देख कर मैं परीशान होता था। स्त्रियों में शिक्षा होनी चाहिये, इत्यादि बातों पर मैं हमेशा जोर देता था। आश्रम में हमारे साथी लोग जब अपनी स्त्रियों को लाते थे तो मैं हमेशा कोशिश करता था कि वे कुछ सीख लें; कुछ काम कर सकें। यह ठीक है कि मैं कभी सफल नहीं हो सका। हमारे साथी इसमें सहयोग नहीं देते थे। इसके खिलाफ रहते थे। लेकिन मैं न कभी निराश होता था और न कभी कोशिश से चूकता था। मेरे साथी आज तक इस मामले में मुझसे सहमत नहीं हो सके। बहुत से मित्र तो कहते हैं—"इस मामले में तुम विलायती ख्याल रखते हो। हमारा भारतीय समाज, विशेषतया हिन्दू समाज, इस बात को नहीं पसन्द कर सकता।" लेकिन भाई, मैं न कभी विलायत गया, न कभी विलायती साहित्य ही पढ़ा। मैं तो जानता हूँ कि हमारे भारत में स्त्रियों को सहधर्मिणी भी कहते हैं। मैं तो यही जानता हूँ कि भारत-भूमि में बिना पत्नी के कोई यज्ञ नहीं हो सकता। मैं तो गुरुदेव ने चित्रांगदा की ज़बानी भारतीय स्त्री का जो आदर्श सुनाया उसी को मानता हूँ। इसी भारत-रमणी ने तो कहा था—

पूजा कर राखींबे माथाय से ओ आमि,
नइ; अवहेला करि पूषिया राखिबे
पीछे, से-ओ आमि नइ। यदि पार्श्वे राखि,
मोरे संकट रे पथे दुसह चिन्तार।
यदि आज्ञा दाओ, यदि अनुमति करो,
कठिन व्रत रे तव सहाय हईते,
यदि सुखे दुखे मोरे करो सहचरी.
आमार पाइबे परिचय।"

यह तो भारत-रमणी का परिचय है। लेकिन जब आश्रम-जैसी युगावतार की क्रान्तिवाणी प्रसार करने वाली क्रान्तिकारी संस्था के लोगों की स्त्रियों को "कठिन व्रत रे सहाय हइते" योग्य-शिक्षा की बात करना हास्यास्पद होता है तो तुम साधारण जनता से क्या उम्मीद कर सकती हो। आश्रम में मैं हमेशा स्त्री-सुधार की बात करता था, आदर्श का ख्याल करके। लेकिन जब गांव की मध्यम श्रेणी की हालत देखी तो स्तम्भित हो गया। मेरी समझ में नहीं आया कि अगर स्त्री समाज ऐसा ही रहा तो ग्रामोत्थान होगा किधर से? क्योंकि मैं इस बात का कायल था ही कि बिना स्त्रियों के उठे कोई सामाजिक जीवन बन नहीं सकता है। अतः मैं इस बात की चिन्ता में लगा रहा कि किस प्रकार इनकी शिक्षा का इन्तजाम किया जाय लेकिन तत्काल कोई उपाय न देख कर इस दिशा में साधारण प्रचार से ही सन्तोष करना था।

बाद में जब मैंने ग्राम-सुधार महकमा की जिम्मेदारी ली तो इस ओर कुछ व्यावहारिक प्रयोग करने की सुविधा मिल गई थी। और मैंने एक दम मौका से फायदा उठा कर इस दिशा में व्यापक प्रयोग के लिए कदम उठा लिया था।

ग्राम-सुधार महकमा के जरिये स्त्री-सुधार का काम करने में भी मित्रों के संस्कार की कठिनाई का सामना करना पड़ा। लेकिन ईश्वर की कृपा से कुछ असली प्रयोग इस दिशा में हो ही गया। इसकी भी कहानी काफी लम्बी-चौड़ी है। आज शुरू करूँगा तो खतम नहीं होगी। अतः यह कहानी आज यहाँ ही इति करता हूँ।

[४७]

स्त्री-सुधार की ओर

६—११—४१

परसों मैंने एक पत्र स्त्रियों की बावत लिखा था। मैं जब स्त्रियों की बात सोचता था और कुछ नहीं कर पाता था तो कभी-कभी निराश हो जाता था। इन दिनों कांग्रेसी सरकार की ओर से ग्रामसुधार महकमा खुला लेकिन साल भर तक कुछ निश्चित कार्यक्रम नहीं बन सका। फ़ैज़ाबाद जिले की ज़िम्मेदारी मेरे ऊपर पड़ी, इसकी बाबत मैं पहिले ही लिख चुका हूँ। साल भर जब प्रान्तीय सरकार कार्यक्रम तय करती रही तब तक मैं भी अपने मन में योजना बना रहा था। मैंने उस समय क्या-क्या सोचा और क्या-क्या करने का मौका मुझे मिला, यह मैं बाद में लिखूँगा। आज तो केवल स्त्रियों की बावत ही लिखूँगा।

सन् ३८ के शुरू में मुझको जब ग्रामसुधार का काम मिला तो एक दम ख्याल आया कि अब मौका है कि अपनी योजना का प्रयोग शुरू कर दूँ। लेकिन व्यावहारिक रूप क्या होगा, इसकी कल्पना ठीक ठीक नहीं कर सका। एक बार कुछ स्त्री संघटनकर्त्रियाँ भर्ती करने की योजना बनाकर सरकार के पास भेजने की सोची लेकिन मुझको उसमें खतरा ही मालूम हुआ। एक तो बाहर से कोई अच्छे घर की स्त्री अकेली गाँव में जाकर रहने लिए तैयार नहीं होगी और जो तैयार होगी उसकी योग्यता और दृष्टिकोण हमारे मतलब के काम करने लायक नहीं होगा। फिर मुझको कोई निश्चित योजना नहीं दिखाई दी लेकिन मैं विचार करता गया। इन्हीं दिनों आश्रम में सूत-सुधार के लिए जोरों से कत्तिन स्कूल खोला गया। चर्खा संघ ने कत्तिनों की मजदूरी बढ़ाकर तीन आने कर दी। अधिक मजदूरी देने से यह जरूरी हो गया कि सूत की किस्म सुधरे। फैजाबाद जिले में

अकबरपुर में आश्रम का एक बड़ा उत्पत्ति-केन्द्र है। पहले पहल तो मुझ को अकबरपुर से ही गाँव का परिचय मिला। इस केन्द्र के सूत सुधारने की जिम्मेदारी मेरे ऊपर पड़ी। मेरे दिमाग़ में स्त्री-सुधार आन्दोलन चलाने की चिन्ता थी ही। मैं इन स्त्रियों से बातें करता था जिसमें देश-दुनियाँ की बातें ही अधिक होती थीं। मैंने सोचा, जब हम तीन आने मजदूरी देते हैं तो उनका बाकायदा कैम्प क्यों न कर दें। उनके एक जगह बैठकर कातने पर हम उनको एक साथ बहुत कुछ शिक्षा दे सकेंगे अतः मैंने उनके लिए परिश्रमालय चलाने की योजना बनाई।

इस ज़िले की कत्तिनों में तो मैं सन् १९२३ से ही काम करता था लेकिन इस दृष्टिकोण से कभी अध्ययन करने की कोशिश मैंने नहीं की। उन दिनों इस लायक मुझमें न तो योग्यता ही थी और न इस दिशा में सोचने लायक अनुभव ही था। इस बार जो मैंने ६-७ माह में उनसे घनिष्ठता के साथ परिचय किया तो देखा कि पढ़ी-लिखी न होने पर भी उनमें धारणा शक्ति बहुत है। वे बहुत जल्दी

स्त्रियों की असीम संभावनाएँ

बातों को समझ सकती हैं। वैसे तो लड़कों से लड़कियाँ अधिक तेज होती हैं इसका अनुभव मुझको पहले ही था। लेकिन बड़ी स्त्रियों का बौद्धिक विकास बहुत आसानी से किया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो गया। कत्तिनें ठेठ ग्रामीण किसान के घर की होती हैं। अगर उनमें इतनी सम्भावनाएँ हैं तो देहात की किसी भी श्रेणी की स्त्रियों को शिक्षा दी जा सकती है।

मैंने संभावनाओं को तो देख लिया। कत्तिन विद्यालय एक या डेढ़ माह तक ही चलता था। यह कोई स्थायी व्यवस्था नहीं थी। इन स्कूलों की मार्फत कुछ स्थायी नतीजा निकलने की गुंजाइश नहीं दिखाई देती थी। अतः मैं स्त्री-सुधार आन्दोलन को व्यावहारिक रूप में लाने के विचार में लगा रहा। तीन आने मज़दूरी होने से और कांग्रेस

मंत्रिमंडल हो जाने से चर्खे का प्रचार और संख्या भी खूब बढ़ने लगी। जिन क्षेत्रों में चर्खा नहीं चलता था उन क्षेत्रों में चर्खा-केन्द्र खोलने लगे। अकबरपुर से पूर्व बिड़हड़ परगना की बाबत कभी मैंने तुमको लिखा था। उस इलाके में मुबारकपुर हमारा सूत-केन्द्र था। उन दिनों मैं नये क्षेत्रों में चर्खा-प्रचार के लिए दौरा किया करता था। वस्त्र-स्वावलम्बन के विषय में सब जगह चर्चा करता था। साथ ही सूत न बेचकर खादी लेने के लिए खूब ज़ोर देता था।

एक दिन मैंने वहाँ के लोगों से कहा कि आप के यहाँ के इतने नौजवान बेकार पड़े हैं। आप क्यों न इनको बुनाई सिखा दें और उनसे अपना सूत बुनवायें। इस बात से वे सब उत्साहित हुए। और कहने लगे कि आप यहाँ बुनाई विद्यालय खोल दीजिए तो हम अपने लड़कों को बुनाई सिखा लेंगे। मैंने उनसे कहा विलायत वाले तो सब इन्तज़ाम कर ही रहे हैं। आप स्वराज्य के चक्कर में क्यों पड़े। विद्यालय का प्रबन्ध भी तो आप ही को करना है। आज एक विद्यालय के इन्तज़ाम से घबड़ाते हैं तो सारे मुल्क का इन्तज़ाम कैसे करोगे। इतनी बातें बताकर मैंने बापू जी की स्वावलम्बिनी समाज-रचना का आदर्श समझाया। इससे वे कुछ करने के लिए तैयार हो गये। उसी ग्राम के एक नौजवान साधु होकर गाँव के बाहर कुटीर बनाकर रहते थे। उन्होंने जिम्मेदारी भी ले ली। बहुत बहस के बाद यह तय हुआ कि वे विद्यालय के मकान आदि बनवायें। तात्पर्य यह कि सारी व्यवस्था वे ही करें। यदि १६ विद्यार्थी हो जायँ तो हम आश्रम से करघा और शिक्षक दे देंगे। इन लोगों ने बहुत उत्साह दिखलाया। एक बहुत बड़ा मकान बनवाया ७० फुट लम्बी कोठी, दोनों ओर दो कोठरी और सामने उसारा। लोगों ने विद्यालय के लिए जमीन भी काफी छोड़ दी। लोग गरीब थे लेकिन मेहनत करके १००।१५० गाँव से सामान और अनाज माँग कर इस इमारत को बना डाला। बाद को यह व्यवस्था नहीं चल सकी। वे समझते थे कि बुनाई जल्दी आ जायगी।

लेकिन उसमें तो साल भर लगता है। इसलिए साल भर के बाद विद्यालय चल नहीं सका। मैं गया तो शिक्षक वापस लेने के लिए वहाँ। वे इनकार तो कर नहीं सकते थे। लेकिन वहाँ के लोग कहने लगे—"हम लोगों ने इसको कायम करने में बहुत प्रयत्न किया है। आप कोई ऐसा काम बताइए जिसे हम लोग चला सकें और यह स्थान भी कायम रहे।"

उन दिनों मेरे दिमाग़ में स्त्री-सुधार आन्दोलन कैसे शुरू किया जाय, इसी का विचार चलता था। मैंने एकाएक कह दिया कि—"आप यहाँ अगर स्त्री-सुधार केन्द्र बना दें तो मैं अपना समय आपको दे सकूँगा। फिर मैंने उनको देहात की स्त्रियों की वर्तमान और भूत-कालिक हालत बताकर कहा कि बिना इनके सुधरे और बिना इनके उठे देश उठ नहीं सकता। स्त्रियों के बिना सामाजिक जीवन नहीं बन सकता और सामाजिक जीवन से ही राष्ट्रीय जीवन बनता है। वहां उस ग्राम तथा उसके आस-पास ग्राम के खास-खास कुछ लोग थे जिनके लिए पर्दा खतम करना एक महापाप था और उनके गले उतरना मुश्किल लेकिन धीरे-धीरे वे इसके सिद्धान्त को मानने लगे। अब आया निश्चित योजना का सवाल। मैंने दूसरे दिन सवेरे खास-खास लोगों से सभा करने को कहा और सबके साथ विचार करके मै अपना प्रस्ताव रक्खूँगा, ऐसा कहा। क्योंकि मैं समझता था कि स्त्रियों के प्रोग्राम की सफलता के लिए अधिक लोगों की सम्मति की जरूरत है। उस दिन उसी गांव में टिक गया। रात्रि को इसी चिन्ता में रहा कि यह काम कैसे हो सकता है? स्त्रियाँ तो पहले आवेंगी नहीं। अतः पहले लड़कियों को लेकर ही काम शुरू करना है। तुमको याद होगा, मैंने रास्ना में स्त्री-शिक्षा के लिए प्रयत्न किया था। उस समय वहां श्री गुलबदन बहिन रहती थीं। उसने विद्यालय खुलवा दिया था। लेकिन यहां अध्यापिका कहां से आवेगी, इत्यादि बातें सोच रहा

स्त्रियों के बिना सामाजिक जीवन संभव नहीं

था। इस प्रकार विचार करते हुए मेरे ख्याल में यह बात आई कि यदि गांव की बहुओं में से ऐसी कोई मिल जाय, जो दर्जा ३-४ तक पढ़ी हो तो उसी को शिक्षा देकर उसी ग्राम में स्त्री-सुधार केन्द्र खोला जाय तभी यह योजना चल सकती है। गांव की बहू घर पर रहने से ५-७ रुपया मासिक पारितोषिक से संतोष भी करेगी। और घर ही पर रहने के कारण उस स्त्री के संरक्षण की चिन्ता हमको नहीं रहेगी। फिर क्रमशः उसी स्त्री का बौद्धिक विकास करके उस ग्राम के स्त्री सुधार आन्दोलन की संचालिका उसे बनाया जा सकेगा। इतने दिनों से जिस समस्या के समाधान की चिन्ता से मैं परीशान रहता था उसका हल एकाएक हो जाने से, साथ ही उसके प्रयोग के लिए एक क्षेत्र भी मिल जाने से मुझको बहुत शांति मिली और मैं सो गया।

सुबह उठकर मैंने स्वामी यमुनानन्द से अपना विचार प्रकट किया और उनसे पूछा कि ऐसी कोई स्त्री वहां है या नहीं। स्वामी जी ने सोचकर बताने के लिए कहा। जब सब लोग इकट्ठा हुए तो मैंने उनसे अपना प्रस्ताव किया। इससे सब निराश हो गये और कहने लगे—"अध्यापिका का इन्तज़ाम आप करें।" मैंने उनसे अपना सारा विचार बताया। स्थानीय स्त्रियों की मार्फत ही यह काम हो सकता है, इस बात पर जोर दिया। गांव की बहुओं को बाहर आने की सम्भावना की बाबत वे सोच भी नहीं सकते थे। उधर अधिकतर उच्च वर्ण के लोग ही रहते हैं। पर्दे का संस्कार इनमें इतना घुस गया था कि उनके लिए इस प्रकार का विचार करना भी सम्भव नहीं था, फिर भी इस पर विचार करने का उन्होंने वादा किया। मैंने यमुनानन्द जी से ऐसी स्त्री की खोज करके मुझको खबर देने को कहा और कहा कि अगर स्त्री मिल जाय और इस काम को करे तो मैं आश्रम से ५) मासिक पुरस्कार मंजूर कर दूँगा।

१०-१५ दिन में स्वामी जी का पत्र आया कि उस गांव की एक बहू दर्जा ४ पास है जो उस काम के लिए तैयार है। उसमें ५) के

के बजाय ७) पुरस्कार मंजूर करने की भी प्रार्थना थी। मैंने ७) मंजूर करके उस गांव में लड़कियों का विद्यालय खोलकर गांव की स्त्री-सुधार योजना के प्रयोग का श्रीगणेश कर दिया।

स्त्रियों की समस्या के समाधान का एक छोर और उसके प्रयोग का मौका मिल जाने से मैं इस प्रश्न पर जोरों से विचार करने लगा। मैंने सोचा कि इस तरह लड़कियों से शुरू करके स्त्रियों तक पहुँच सकेंगे। गांव के पर्दे की यह हालत थी कि जिस बहिन को हमने काम में लगा दिया था वह मुश्किल से अपने को पर्दे में ढक कर विद्यालय में हाजिर हो जाती थी। मैं जब कभी स्कूल जाता था तो वह घूँघट काढ़ कर एक कोने की ओर मुँह करके बैठ जाती थी। मैं लड़कियों से बात करके ही पाठशाला के काम की प्रगति देख लौट आया करता था। धीरे-धीरे वहां की अध्यापिका श्रीमती धर्मराजी बहिन विद्यालय की बाबत मुझसे बातें भी करने लगीं। बाद को उस गांव की स्त्रियों में कुछ दिलचस्पी आने लगी। एक बार जब मैंने उस गांव में स्त्रियों की सभा की तो बहुत सी स्त्रियां आ गईं। इस तरह मैंने इस बात को देख लिया कि अगर हम लड़कियों के स्कूल से अपना कार्यक्रम शुरू करें तो धीरे-धीरे पर्दे वाली स्त्रियों तक पहुँच सकेंगे। इसमें समय ज़रूर लगेगा, मगर तरीका यही है। इस प्रकार स्त्री-सुधार की दिशा में मैंने अपना प्रयोग जारी कर दिया। अब आज और नहीं लिखूंगा। नमस्कार।

---

[४८]

ग्राम-सेविका-शिक्षा योजना

२०—११—४१

पिछले पत्र में मैंने स्त्री-शिक्षा की बाबत लिखा था। आज भी उसी विषय पर लिखने बैठा हूं। अपनी योजना के व्यावहारिक प्रयोग के

साथ-साथ मैं इस बात पर विचार करता रहा कि ग्राम-सुधार महकमा का फायदा उठाकर हम देहात में किस प्रकार स्त्री-सुधार आन्दोलन चला सकेंगे। कैसे और कहां से शुरू करें, किस प्रणाली से आगे बढ़ें, गांव की बहुओं को हम इकट्ठा कर सकेंगे या नहीं, उनकी शिक्षा का कैसे प्रवन्ध करेंगे, संगठन का क्या रूप होगा, इत्यादि प्रश्नों पर दिन-रात विचार करता रहा। आखिर अपने मन में एक काम-चलाऊ योजना बना डाली। वह इस प्रकार थी।

१. जिस तरह बहिन धर्मराजी देवी को हमने खोज निकाला उसी तरह भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के देहातों से दर्जा ३-४ पास प्रतिष्ठित घर की बहुओं को खोज निकाल कर उनको काम करने को राजी करना।

२. स्त्रियों को ग्रामसुधार महकमा की तरफ से तीन साल की शिक्षा नीचे लिखे अनुसार देना :—

क—पहिले-पहल एक केन्द्रीय शिक्षण-शिविर खोलकर उनको तीन महीने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा देना। इन तीन महीनों में उनकी पर्दे में रहने की शर्म हट जायगी। बाहरी दुनियां की बाबत कुछ जानकारी हो जाने से उनके अन्दर हिम्मत और आत्म-विश्वास पैदा होगा। बहुत अर्से से पढ़ना-लिखना छूट जाने के कारण जो भूल गई हैं दोहरा लेंगी। कताई धुनाई का साधारण ज्ञान भी हो जायगा। यानी तीन महीने में हम उनको एक साधारण रूप से ग्राम-सेविका बनने की ओर उनकी मनोवृत्ति बना लेंगे। उसके बाद नौ महीना अपने गांव के कार्यक्षेत्र में शिक्षा देना। इस नौ महीना में एक पाठशाला चलाना जिसमें गांव की लड़कियाँ तो पढ़ेंगी ही साथ ही जहाँ तक सम्भव होगा गाँव की बहुओं को भी शिक्षा दी जाय और ग्राम-सेविका को आगे पढ़ाने के लिए एक अध्यापक निश्चय कर दिया जाय जिससे जो लोग दर्जा ४ पास नहीं हैं वे दर्जा ४ पास करके लोअर मिडिल की तैयारी कर सकें और दर्जा ४ पास वालियाँ सीधे तैयारी करें। ग्राम-सेविका के लिए विद्यालय के साथ

एक छोटा-सा पुस्तकालय तथा एक साप्ताहिक पत्र का इन्तज़ाम करके देश और दुनियाँ के विषय में साधारण दृष्टिकोण का विकास किया जाय।

ख—नौ महीना के बाद फिर तीन महीने के लिए उनको केन्द्रीय शिक्षण-शिविर में बुला लिया जाय जिसमें देश और समाज का साधारण ज्ञान, देहात की स्त्रियों में क्या-क्या सुधार करना है, बच्चों को कैसे रक्खा जाय, इत्यादि विषयों की जानकारी कराई जाय। साथ ही चर्खा और दूसरी उपयोगी दस्तकारी के साथ देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों का बोध कराया जाय, जिससे उनका मनोभावना स्वाभावतः समाज-सेवा की ओर झुक सके।

ग—पिछले साल की तरह इस साल भी ९ माह घर पर रहकर उसी ग्राम का केन्द्र चलाना। इस साल लड़कियों के साथ-साथ अधिक तादाद में बहुओं को लाने की चेष्टा करना। गाँव के घरों की सफाई व चर्खा का कार्यक्रम। साथ-साथ उनमें जो लोअर मिडिल पास कर गईं उन्हें मिडिल को तैयारी और बाकी को लोअर मिडिल पास कराना।

घ—तीसरे साल भी ३ माह शिविर की शिक्षा और ९ माह कार्यक्षेत्र की शिक्षा देकर उनकी योग्यता निम्न प्रकार कर देने का भरोसा मुझको था।

१—मिडिल तक की योग्यता। २—चर्खा और घरेलू जरूरी धन्धे जैसे सिलाई, बुनाई। ३—देश और दुनियाँ का साधारण ज्ञान। ४—ग्रामीण समस्याओं का ज्ञान। ५—बच्चों के पालन और प्रसूति-विज्ञान की जानकारी।

तीन वर्ष में उनके अपने जीवन और दृष्टिकोण में इतना परिवर्तन करना सम्भव है कि हमारी कल्पना के अनुसार उनकी मार्फत स्त्री-सुधार की सेविका जिम्मेदारी उठा सके, इसका मुझे विश्वास था। इस तीन साल के प्रचार और व्यावहारिक सेवा से उस क्षेत्रमें

इतना वायुमण्डल पैदा करना मुश्किल नहीं था, जिससे प्रायः सभी स्त्रियां हमारे कार्यक्रम में भाग ले सकें। उस समय कार्यक्रम की क्या रूप-रेखा होगी, इसका निर्णय करना बेकार था क्योंकि इतनी तैयारी ही एक कार्यक्रम था। बाद में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहेगा। वैसे तो शिक्षाक्रम के जिस ढाँचे की मैंने कल्पना की थी, उसमें भी अनुभव से परिवर्तन होता ही रहता है।

इस प्रकार अपनी योजना की बाबत मन में साफ़ साफ़ रूप-रेखा बनाकर खर्चे के लिए ग्राम-सुधार आफिस से मैंने बातें कीं। मैंने सोचा था कि अगर उधर से कुछ उत्साह मिले तो मैं अपने महकमा के मंत्री श्री टि० एन० कौल आई० सी० एस की सलाह से योजना को एक निर्दिष्ट साकार रूप देकर सरकार को भेज दूँगा। लेकिन महकमा से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। स्त्रियों के कामं के नाम से वे अलग ही रहना चाहते थे। इस खतरे की जिम्मेदारी नहीं लेना चाहते थे। वे दूसरे स्थानों में स्त्रियों को काम कराने के प्रयत्न में विफल हो चुके थे इसलिए इसकी सफलता पर उन्हें भरोसा नहीं था। अतः महकमा के प्रांतीय दफ़्तर ने कुछ मदद मिलने की मुझको कोई आशा नहीं दी।

जिले में मैंने विभाग के मंत्री और इन्सपेक्टर को अपना विचार बताया। उनको यह योजना पसन्द आई। मि० कौल तो बहुत ज्यादा उत्साहित हुए। मैंने उनसे कहा कि प्रान्त से कोई मदद नहीं मिलेगी लेकिन हमारे जिले की शिक्षा के लिए जो मंजूरी है उसमें स्त्री या पुरुष थोड़े ही लिखा है? इसलिए जिला-समिति तो इसको सिर्फ स्त्री-शिक्षा में ही खर्च कर सकती है। फिर भी मि० कौल ने एक योजना बनाकर सरकार को भेज दी। मैं पहले ही रुख देख आया था; उधर से कोई आशाजनक जवाब नहीं आया। फिर हम लोग शिक्षा कोष से मासिक वृत्ति देकर शिविर में स्त्रियों को लाकर पहले ३ माह की शिक्षा दे ही सकते हैं, ऐसा विचार किया। शिविर-खर्च के

लिए शहर में कुछ चन्दा लेना भी निश्चय किया और उसके लिए समिति भी बना ली। समिति बनने पर और चन्दे का काम शुरू होने से जिले भर में योजना की बाबत सब लोग जान गये। इस शिविर में शरीक होने के लिए देहाती भाइयों के नाम एक अपील छपवा कर बटवाई भी गई।

उन दिनों मुझको बहुत मेहनत करनी पड़ी। शहर में मित्रों को समझाना, उनकी आलोचनाओं का जवाब देना इत्यादि से लेकर देहातों में लोगों को समझा कर शिविर में उनकी बहू-बेटियो को भेजने के लिए राज़ी करना आदि सभी काम करना पड़ता था। मि० कौल और इन्सपेक्टर भी इसके लिए कल्पनातीत परिश्रम करने लगे। इन दिनों किस प्रकार के एतराजों का सामना करना पड़ा वह भी काफी मनोरंजक कहानी है। उसे मैं दूसरे पत्र में लिखूँगा। इस समय अब लिखने की तबीयत नहीं करती है।

आज हमारे बैरक मे भी दो आदमी छूटे। इसलिए इस वक्त बैरक की शान्ति भंग हो रही है। बैरक के बुजुर्ग कानपुर के पुराने नेता श्री नारायण अरोड़ा आज छूट रहे हैं। उन्होंने बैरक की शोभा बढ़ा रखी थी। रात को गांधीवाद और गांधी-सिद्धान्त की किताबें पढ़कर व्याख्या करते थे। कल से वह काम मुझको ही करना होगा। इसलिए भी उनका छूटना मेरे लिए एक बोझा होगा।

इस बार जेल आने पर मेरा श्री मैथिलीशरण गुप्त और अरोड़ा जी से घनिष्ट परिचय हुआ इसलिए अरोड़ा जी के छूटने से खुशी भी है, दुःख भी। खैर, यह सब तो होता ही रहेगा। कभी तो हम लोग भी इसी तरह छूटेंगे। आना जाना लगा ही रहेगा।

---

[४६]

खतरे की शंका

२८—११—४१

कल स्त्री-सुधार योजना के विषय में लिख रहा था। बीच में कुछ लोगों के छूटने की खबर से पत्र समाप्त कर दिया था। इधर प्रति दिन छूटना जारी है। आज विचित्र भाई का एक पत्र आया है। वे लोग मेरा इन्तजार कर रहे हैं। उन्हें आम रिहाई की उम्मीद है।

जो हो अभी एक-डेढ़ माह तो लग ही जायँगे। तब तक शायद मैं अपनी ग्राम-सेवा के प्रयोग की कहानी खतम कर डालूंगा।

मैंने जब ५० स्त्री-सुधार केन्द्र खोलने का इरादा किया तो मेरे मित्र समुदाय में एक बहुत बड़ी हलचल मच गई। अधिकांश लोग सिद्धान्त से तो मेरी योजना ठीक समझते थे लेकिन अब इसमें खतरा समझते थे। उनका कहना था कि गाँव के लोग भला अपने घर की स्त्रियों को कहाँ भेजने लगे? फिर आप लड़कियों को नहीं बुलाते हैं, बहुओं को आप इस योजना के लिए लेना चाहते हैं, यह तो और भी कठिन है। स्त्रियों के शिविर खोलेंगे, उसमें बड़ी बड़ी बदनामियाँ होंगी। गाँव के भले घर से तो कोई भेजेगा ही नहीं। जो लोग आवेंगे उनसे आप क्या काम लेंगे। इत्यादि सबसे अधिक एत-

आपत्तियाँ

राज़ लोगों का यही था कि इससे व्यभिचार की वृद्धि होगी। गाँव से परदा हट जायगा तो और अनर्थ हो जायगा। भला पिटरौल और आग कहीं एक साथ रखना चाहिए। यह तो तुमको मालूम ही है कि जब कभी स्त्रियों के संगठन के सम्बन्ध में बात की जाती है तो लोग घबरा जाते हैं। यदि स्त्रियों को समाज में पुरुषों के साथ कार्य-क्षेत्र में भाग लेने का औसर दिया जायगा तो उनके विचार में समाज में एक प्रकार का सार्वजनिक व्यभिचार फैल जायगा। साथ ही वे युरोपीय समाज के साथ तुलना भी

करने लग जाते हैं। मालूम नहीं, युरोपीय समाज की नैतिक स्थिति कैसी है। उसका हमें ज्ञान है ही नहीं। मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि मेरे जितने मित्रों ने युरोप में भ्रमण किया है और युरोपीय समाज का अध्ययन किया है, वे कहते हैं कि युरोपीय समाज के लोग अपने यहाँ के सामाजिक क्रिया-निषेधों की मर्यादाओं का उतना उल्लंघन नहीं करते हैं जितना हमारे देश में आज के लोग करते हैं। लेकिन हमको युरोप के समाज के बारे में झगड़ा करने से क्या फायदा। जिस चीज़ का मैंने प्रत्यक्ष अध्ययन नहीं किया है उसके विषय में कह ही क्या सकता हूँ। हाँ, मैंने अवध के देहाती समाज को देखा है। चलो,

ग्रामीण समाज की तीन श्रेणियाँ

उस समाज की स्थिति का विश्लेषण करके देखा जाय कि हमारे मित्रों की धारणा किस हद तक सही है और समाज में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की वास्तविक स्थिति क्या है। ग्रामीण समाज में तीन श्रेणी के लोग रहते हैं (१) ब्राह्मण क्षत्री कायस्थ बनियाँ आदि उच्च श्रेणी के कहलाने वाले (२) कुरमी अहीर काछी आदि किसान जातियाँ जो खेती में मेहनत करके अपना गुजर करती हैं (३) चमार केवट पासी आदि मजदूर श्रेणी के लोग जो खेती और दूसरे धंधों में औरों के लिए परिश्रम करके गुजरा करते हैं।

इन तीनों में प्रथम श्रेणी के लोगों में स्त्रियों को घेरे में अलग रखने का रिवाज है। उनके स्त्री-पुरुष एक क्षेत्र में काम नहीं करते हैं। लेकिन आम स्त्री पुरुषों के सम्बन्धों में दुर्नीति की खोज की जाय तो इन्हीं में इसकी अधिकता देखने को मिलेगी। दरअसल अलग-अलग रहने से ही उनके चित्त में विकार पैदा होता है।

प्रथम श्रेणी में दुर्नीति

दूसरी और तीसरी श्रेणी में निधड़क स्त्री-पुरुष एक साथ कन्धे से कन्धा मिला कर खेत में काम करते हैं। सभी ढोते समय शरीर से सटाकर बोझा एक सिर से दूसरे सिर पर रखते हैं लेकिन उनमें तो विकार पैदा नहीं होता। टाँडा

के देहातों में घूमने के समय चमारों की प्रवृत्ति का जो अनुभव मैंने बताया था वह भी तो उच्च श्रेणी के लोगों के सम्पर्क के कारण है। अन्यथा बाद में मैंने कितने ही चमारों को देखा है कि जो स्वतंत्र रूप से खेती करते हैं। उनके यहाँ तो वातावरण निर्मल ही रहता है।

हमारे यहाँ लोगों में एक अजीब मनोभावना पैदा हो जाती है। जब कभी हम ऐसा समाज देखना चाहते हैं जिसमें पर्दा नहीं है या जहाँ स्त्री पुरुष सभी साथ साथ चलते हैं तो निगाह दूसरी ओर ही जाती है। ऐसे लोग भूल जाते हैं कि भारतीय समाज की ८० फीसदी आबादी किसान और मजदूरों की है। उनमें पर्दा नहीं है; वे स्त्री पुरुष हर एक क्षेत्र में साथ-साथ काम करते हैं। यदि उनमें स्वदेशी दृष्टि होती तो अपने देश की इस ८० फीसदी आबादी की ओर देखते और फिर उनको मालूम होता कि ऐसे समाजों में जहाँ स्त्रियाँ स्वतन्त्र हैं वहाँ की नैतिक स्थिति भी ऊँची है। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि इनमें दुर्घटनाएँ नहीं होतीं। ऐसी दुर्घटनाएँ हर समाज और हर देश में थोड़ी-बहुत होती हैं और होती रहेंगी। लेकिन जब हम इनकी स्थिति की उस उच्च श्रेणी के समाज की स्थिति से, जहाँ स्त्री-पुरुष अलग घेरों में हैं और जहाँ स्त्रियाँ बचपन से सहस्र निषेधों की आड़ में रहती हैं, तुलना करते हैं तो बन्द समाज से खुले समाज को कहीं ऊँचा पाते हैं। फिर अगर किसी भी समाज की नैतिक दुर्घटनाओं का गहराई से निरीक्षण किया जाय तो मालूम हो जायगा कि उनमें आधी से ज्यादा असहनीय गरीबी के कारण या उच्च श्रेणी के लोगों के सम्पर्क के कारण हैं। हम जब शहर के लोगों को यह परिस्थिति बताते हैं तो लोग स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि उनके सामने तो किसान और मजदूर का आदर्श शहर के घरों में काम करने वाले कहार कहारिन आदि और मंडियों में घूमने वाले मजदूर मजदूरिन ही होते हैं। लेकिन मैं तो ग्रामीण समाज की बात कर रहा था। वहाँ की वास्तविकता का जब हम अध्ययन करते हैं तो स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के आदर्श की

बाबत मित्रों की जो धारणा देखते हैं असलियत उसकी ठीक उलटी पाते हैं।

हाँ, मैं कहाँ से कहाँ चला गया। अपने कार्यक्रम की कथा बताते बताते देहात की बहस में पड़ गया। लेकिन यह भी देहाती स्थिति की बाबत अध्ययन था इसलिए यह हमारे विषय के बाहर नहीं है। और तुम्हारा समय वृथा नहीं खर्च होगा।

शुभारंभ प्रायः एक-डेढ़ माह दौड़-धूप करके, मित्रों के एतराजों को सम्हाल कर और देहात के लोगों को विश्वास दिला कर मैंने ५० बहिनों का एक शिक्षण-शिविर ४ नवम्बर सन् १६३६ को फैजाबाद में खोल दिया। मैं ने कोशिश की थी कि सिर्फ गाँव की बहुओं को ही अपनी योजना में लिया जाय पर अविवाहित बहिनों को भी बुला लिया। प्रथम चेष्टा की दृष्टि से यह कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं थी। देहात को भले घर के लोगों ने पुरानी रूढ़ि तोड़ कर १६ से २५ साल उम्र की बहिनों को हमारे यहाँ विश्वास करके भेज दिया। यही एक बड़ी क्रान्ति थी। बहुत से मित्र तो इस बात पर ही आश्चर्य करते थे कि लोगों ने भेज कैसे दिया।

इस प्रकार जिस योजना पर पिछले २ साल से विचार हो रहा था उसका सूत्रपात व्यवहार के रूप में हो गया।

---

[५०]

ग्राम सेविका-शिक्षा-शिविर

२६—११—४१

दिसम्बर आ गया। अब जाड़ा बहुत जोरों से पड़ रहा है। जाड़े के मारे मैं रोज सिकुड़ता जा रहा हूँ। आगरा की सर्दी मशहूर है।

इधर जेल में जाड़े के कपड़े के लिए जेल अधिकारियों की रोज भिक-भिक लगी रहती है।

लेकिन मेरा जुकाम, बुख़ार आदि सब ठीक हो गया। अब खूब स्वस्थ हूँ। काम में भी अब खूब दिलचस्पी हो रही है। रात को कथा बांचने का काम अरोड़ाजी के न होने से मैंने ही ले लिया। एक फ़ायदा इसमें भी है। हिन्दी पढ़ने का अभ्यास हो जायगा।

कल के पत्र में मैंने महिला-शिविर के उद्‌घाटन की बात बताई थी। पहले दिन जब स्त्रियां आईं तो वहाँ मि० कौल और दूसरे मित्र मौजूद थे। सामने आई हुई बहिनों के घूंघट और उनके साथ बच्चों को देख कर लोग घबड़ा गये। मि० कौल तो बड़े ही परीशान हो गये। मौज में कहने लगे—"भाई जी, यह क्या बात है? इन लोगों को क्या ट्रेनिंग देंगे? ये बच्चे तो और भी भयानक हैं। इनको हटाइये। नियम कर दीजिए कि बच्चे वाली चली जायँ।" इत्यादि। लोगों की घबराहट और परीशानी देख कर मुझको थोड़ा मज़ा आता था; मैं मुसकरा कर कहता था—"सब ठीक हो जायगा।" भला बताओ, स्त्रियों का काम करने चले हैं और झमेला भी न हो? विवाहिता बहुएँ भी हों और बच्चे न हों, यह कैसे चल सकेगा? वे बच्चों को कहाँ फेंक देंगी? मान लो, हम एक बार खोज-खोज कर ऐसी स्त्रियों के सुधार के लिए शिक्षा-शिविर खोलना चाहते हों और काम की योजना बनाना चाहते हों तो बच्चों के साथ ही प्रोग्राम सोचना होगा; बच्चों को अलग कर वह नहीं हो सकता। वे घर जाकर भी अगर कुछ करेंगी तो बच्चों को सम्हालते हुए ही न करेंगी; फिर बच्चों को सँभालना, बच्चों का पालना, छोटी-मोटी बीमारियों में क्या करना चाहिये, जन्म से ही उनकी शिक्षा कैसी होनी चाहिए, ये सब बातें तो स्त्री-शिक्षा का प्रधान अंग हैं। इन बातों को छोड़ कर स्त्री-शिक्षा की क्या कल्पना कर सकते हैं। मैं जानता हूँ कि जितनी स्त्रियों की संस्थाएँ

प्रथम दृश्य

होती हैं उनमें बच्चे वाली स्त्रियों के लिए प्रवेश निषेध होता है। लेकिन यह प्रवृत्ति बिल्कुल ग़लत है। मेरी निश्चित राय है कि स्त्री-संस्था की कल्पना के साथ शिशु-विभाग की भी धारणा रखना जरूरी है। जो लोग बच्चों का झमेला उठाने से घबड़ाते हैं उनको स्त्री-संस्था के आयोजन का ख्याल ही छोड़ देना चाहिए। उन्हें कन्या पाठशाला मे ही संतोप करना चाहिए। लेकिन ऐसे सन्तोप से हमारे गाँव की समस्या हल नहीं होती।' इसलिए लोगों की घबराहट होते हुए भी बच्चों का हमने स्वागत ही किया और शिक्षा शिविर के साथ-साथ एक शिशुपालन-शिविर भी खोल दिया, जहाँ दिन भर बच्चे रहते थे। तीन स्त्रियों की पारी प्रतिदिन उनकी देखभाल के लिए बाँध दी। मेरी चाची एक सप्ताह आकर उनको दिनचर्या बता गई। शिशु-मंगल और प्रसूतिगृह के काम में लोग मदद भी करते रहे। इससे माताओं को शिशुपालन की व्यावहारिक शिक्षा भी मिलती रही। शुरू-शुरू से बच्चों को एक घेरे में रखना ठीक था लेकिन जल्दी ही बच्चों में बाकी अनुशासन आ गया। इस इन्तज़ाम से जो लोग शुरू में परीशान थे उन्हें भी खूब सन्तोप हुआ और वे दिलचस्पी लेने लगे।

बच्चों के बिना स्त्री-शिक्षण व्यर्थ है

शिविर खोलने में मेरे सामने एक और कठिनाई थी। मेरे साथ काम करने वाली कोई बहिन नहीं थी। तो फिर काम कैसे चलेगा? जब कोई नहीं थी तो भी मैं आगे बढ़ा। मैंने सोचा, मैं खुद ही चलाऊँगा। लेकिन स्त्री-शिविर बिना स्त्री के कैसे चले? यह सब सोच कर कर्ण की स्त्री सुशीला को ही वहाँ का इन्चार्ज बना दिया। बाद को प्रान्तीय स्काउट कमिश्नर मिस सुशीला आगा ने ३-४ माह का समय हमें दे दिया था। सुचेता और आचार्य युगल-किशोर की स्त्री श्री शान्ति बहिन ने भी एक-एक माह का समय उसमें दिया था। इस तरह कमर बाँध कर अगर कोई अच्छा काम शुरू

शुभ काम को ईश्वर बढ़ाता है

किया जाय तो ईश्वर सारा इन्तज़ाम धीरे-धीरे कर देता है। "सारी सुविधा जुटाकर ही काम शुरू करेंगे" वाली प्रवृत्ति मेरी समझ में कभी नहीं आई। इस तरह नया क्रान्तिकारी कार्यक्रम तो हो ही नहीं सकता। फिर तो "न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेंगी।" सेवकों को अपनी योजना के औचित्य और व्यावहारिकता पर विश्वास होना चाहिए। अपने पर भरोसा होना चाहिए। फिर तो शुभ काम शुरू ही करना चाहिए; बाकी सामग्री व साधन धीरे-धीरे मिलता जाता है। इस सिद्धान्त पर मेरा दृढ़ विश्वास था। हुआ भी वही। बिना किसी स्त्री के होते हुए भी शिविर खोलने का ख़तरा उठा लिया; फिर स्त्रियाँ मिलती गईं।

४ माह शिविर में निम्नलिखित विषयों की शिक्षा दी गई।

१—हिन्दी, हिसाब, इतिहास, भूगोल। २—चर्खा का व्यावहारिक और औद्योगिक ज्ञान। ३—शिशुपालन व प्रसूति-विज्ञान। ४—देश-दुनिया के साधारण ज्ञान। ५—स्काउटिंग। ६—राष्ट्रीय गाना। ७—गाँव की मामूली समस्याएँ।

४ माह के बाद इन स्त्रियों के जीवन में, दृष्टिकार्य में, बुद्धि में इतना परिवर्तन हुआ कि अवाक् होना पड़ता था। परिवर्तन तो कल्पनातीत था। यह उनके लिए एक दृष्टान्त था जो कहते हैं कि गाँव वाले बदलना नहीं चाहते हैं। पर्दे की झेंप तो तीन दिन में ही ख़तम हो गई थी। जो लोग पहले दिन उनको देख गये थे वे एक-डेढ़ माह बाद देख कर विश्वास नहीं करते थे कि ये वही स्त्रियाँ हैं। डेढ़ माह बाद दादा (आचार्य कृपलानी) शिविर में आये थे। उन्होंने लड़कियों को देखा, उनसे बातें कीं, उनसे सवाल पूछ कर जवाब देने को क्लास भी लिया। मैंने दादा से पूछा कि आपने कैसा स्टैंडर्ड पाया। दादा ने कहा बहुत ठीक। "There are as many intelligent and dull girls as you will find in such a group in towns" ("यहाँ

भी उतनी ही चतुर और उतनी ही भोली लड़कियाँ हैं जितनी किसी भी नगर के ऐसे समूह में मिल सकती हैं।") ख्याल रहे, ये दादा के शब्द हैं। तुमको मालूम है कि इन मामलों में दादा का मान कितना ऊँचा है। उनका मान इतना ऊँचा हुआ करता है कि हमारे समाज की स्थिति को देखते हुए कभी-कभी व्यावहारिकता का दायरा भी पार हो जाता है। खैर, मेरे कहने का मतलब यह है कि अगर हम थोड़ी सी कोशिश करें तो देहात की स्त्रियों के जीवन में इतना परिवर्तन हो सकता है कि उसकी कल्पना करना मुश्किल है। कैम्प के नतीजों को देख कर इस दिशा की सम्भावनाओं पर मेरा इतना विश्वास हो गया कि हमारी कत्तिनों में भी ऐसा होना सम्भव है, इसकी भी कल्पना करने लगा। बाद को इस दिशा में मैंने जो कुछ प्रयत्न किया था उसकी कहानी फिर कभी लिखूंगा।

चार माह शिविर के शिक्षा-क्रम के साथ-साथ एक काम मैंने और किया। सुचेता और शान्ति बहिन ने १ माह का समय मुझे दे दिया था। मैंने उनके रहने का फायदा उठा कर देहातों में हमारी योजना के पक्ष में प्रचार करने की बात सोची। इसके लिए मैंने प्रतिदिन दिन को १ बजे से ४ बजे तक का गाँव का कार्यक्रम रखा। एक दिन सुचेता जाती थी और एक दिन शान्ति बहिन।

अनुकूल वातावरण के लिए प्रचार

जिन ग्रामों की स्त्रियाँ कैम्प में आई थीं और जहाँ सुधार-केन्द्र खोलना था उन-उन गांवों में विराट सभा का आयोजन करते थे। कोशिश करते थे कि स्त्री और पुरुष दोनों आवें और वे काफी तादाद में आते भी थे। सुचेता और शान्ति बहिन सभाओं में स्त्री-सुधार की बाबत भाषण देती थीं और फिर बाद को स्त्रियों से बात-चीत करती थीं। इस कार्यक्रम से देहाती वायुमंडल काफी हमारे पक्ष में होता गया। सुचेता तो उसी गाँव की जो बहू हमारे शिविर में थी उसे साथ ले जाकर उससे गाना गवाती थी। एक गाँव में उसके ससुर मुझसे कहने

लगे :—"भाई जी, मैंने तो आज ही अपनी बहू की सूरत देखी। तुम लोगों के लिए यह बहुत बड़ी बात नहीं मालूम होती है क्योंकि तुम महाराष्ट्र के वायुमंडल में काम करते हो लेकिन अयोध्या के इलाके के लिए यह बहुत बड़ी क्रान्ति है।"

इस तरह ईश्वर की कृपा से चार माह में शिविर का काम समाप्त करके बहिनों को घर भेज दिया। शिविर ख़तम हो जाने पर मेरे एक मित्र ने, जो स्कूलों के इंसपेक्टर थे, कहा—"मि० मजूमदार, कैम्प की सफलता की बाबत तो बहुत से लोग बहुत तरह की बातें कर रहे हैं। लेकिन एक बात के लिए मैं आप को बधाई देता हूँ। वह यह है कि चार माह में किसी किस्म की समालोचना का मौका नहीं आया।"

बस, आज और नहीं लिखूँगा।

---

[५१]

सेविकाओं की व्यावहारिक शिक्षा

३०—११—४१

बहिनों को शिविर की शिक्षा के बाद फिर ६ माह के लिए कार्यक्षेत्र की व्यावहारिक शिक्षा की योजना के मुताबिक कार्यक्रम बनाने की समस्या सामने आ गई। शुरू में तो गांव के लोगों में हमारे कार्यक्रम के प्रति सहानुभूति पैदा करना था। विशेषकर गांव की स्त्रियों की प्रवृत्ति में कुछ परिवर्तन लाना था। मैंने सुचेता से कहा और वह समय देने को राजी हो गई। फिर स्त्री-सुधार केन्द्रों का उद्घाटन समारोह के साथ करने लगे। सुचेता इसके लिए काफ़ी मेहनत करती थी। उद्घाटन के बाद घर-घर जाकर स्त्रियों से बातें करती थी। सुचेता के घरों में घूमने से मुझको मदद मिली और स्त्रियों में कम से कम इसके विरुद्ध भावना दूर होती रही।

सुधार-केन्द्र में शुरू में लड़कियों के विद्यालय से ही आरम्भ करना है, यह मैं पहले ही बता चुका हूँ। वहाँ पढ़ाई और तकली की व्यवस्था की। ग्राम-सेविका के लिए पहले साल गांव का कोई काम करने का कार्यक्रम नहीं रखा। तीन साल की योजना में प्रथम वर्ष इसकी कल्पना भी नहीं थी। इस बार हम सिर्फ इस पर जोर देते थे कि वे नियमित जीवन व्यतीत करें। अपने घर साफ रखें और अपने बच्चों को सफाई से रखें। हां, गांव की बहुओं को विद्यालय में लाने की कोशिश करें, इसका ध्यान मैं हमेशा रखता था। ग्राम-सेविकाओं से विद्यालय की पढ़ाई और कताई का लेखा रखने और मासिक रिपोर्ट तैयार करने का भी अभ्यास कराता था। प्रत्येक केन्द्र में १०-१२ किताबें, १ मासिक और १ साप्ताहिक पत्र का भी प्रबन्ध हो गया। सुधार-केन्द्र की सेविका इधर विद्यालय चलाने का काम करती थी और साथ ही अपनी परीक्षा के लिए तैयारी करती थी। हर एक के लिए एक अध्यापक का इन्तजाम योजना के हिसाब से किया गया।

जिले में ५० शिक्षा-केन्द्र खोलने से और उसके लिए प्रचार करने से एक फायदा और हुआ। देहातों में आम तौर से लड़कियों को पढ़ाने के प्रति लोगों की रुझान होने लगी। और मैं देखता था कि बहुत से गाँवों मे लोग अपनी छोटी लड़कियों को जिला बोर्ड के प्राइमरी स्कूलों में अधिक तादाद में भर्ती करते थे।

इस तरह ६ माह का भी कार्यक्रम पूरा होता गया। सब लोगों ने कक्षा ४ की परीक्षा भी दे दी और २७ बहिनें लोअर मिडिल की परीक्षा की तैयारी करने लगीं।

यद्यपि प्रधानतः सुधार-केन्द्र में लड़कियाँ ही शिक्षा लेती थीं फिर भी बहुत से केन्द्रों में २-४ बहुएँ भी पढ़ने लगीं। यह ठाकुरों का गाँव था। फिर भी उन्होंने पर्दा न रखने का निश्चय कर लिया। पहले ही साल के नतीजे को देखकर मुझको विश्वास हो गया कि तीन साल में जब हम ग्राम-सेविकाओं की तैयारी पूरी कर लेंगे तो सुधार-केन्द्र

की सम्पूर्ण योजना का काम शुरू हो जायगा तो गाँव की तमाम स्त्रियों में इतना मानसिक परिवर्तन हो सकेगा कि वे सब हमारी योजना में भाग लेने लगेंगी।

६ माह का कार्यक्रम समाप्त करके दूसरे साल की शिविर-शिक्षा का इन्तजाम कर ही रहा था कि कांग्रेस के आदेशानुसार हम लोग ग्राम-सुधार महकमा से अलग हो गये। इस साल तो मेरा काम आसान हो गया था। जिले की स्त्री-सुधार योजना के पहले साल के नतीजे को देख कर प्रान्तीय सरकार ने इसको जारी रखना स्वीकार कर लिया और तमाम खर्च के लिए मंजूरी दे दी। केवल इतना ही नहीं किया बल्कि इस योजना को ४८ जिलों में धीरे-धीरे फैलाने के लिए ग्राम-सेविका शिक्षा-शिविर को स्थायी भी बना दिया। यह जरूर है कि मेरे अलग हो जाने से सरकार ने इस योजना का रूप बदल दिया। मेरी योजना उनको समझाना भी मुश्किल था क्योंकि वे ग्रामीण मनोवृत्ति से कुछ नहीं करते। सरकारी महकमा में जिस प्रकार काम होता है वह तो तुमको मालूम ही है। लेकिन योजना का ढांचा तो वही रखा। योजना स्थायी होने से कुछ फायदा तो हो ही गया। गांव की स्त्रियों में दृष्टि का विकास तो होगा ही इसलिए भी मुझे संतोष है कि मेरा मतलब कुछ तो हल हो गया।

अब सरकार भी चेती

इस तरह ग्राम-सुधार महकमा के साधनों का फायदा उठाकर बहुत दिनों के स्वप्न को कुछ साकार रूप देने की कोशिश की। इससे आगे के लिए मुझको अनुभव भी बहुत मिला। भविष्य में अगर कभी स्त्रियों का काम करना होगा तो इस अनुभव से लाभ होगा।

---

[५२]

स्त्री-शिक्षा का आधार--चर्खा

१—१२—४१

कल ग्राम-सुधार स्त्री-शिक्षा शिविर का नतीजा बताते समय मैंने तुमको लिखा था कि मुझको ऐसा लगा कि अगर कत्तिनों को किसी तरह ज्यादा समय तक शिक्षा दे सकें तो उनके जीवन में हम अमूल्य परिवर्तन ला सकते हैं। यह ठीक है कि कैम्प में एक तो जो स्त्रियां आईं थीं वे सब अच्छे घर की लड़कियां थीं, फिर दर्जा २, ३, ४ तक पढ़ी भी थीं। कत्तिनें ठेठ किसान हैं। और वे पढ़ी-लिखी हैं। मैं पहिले ही लिख चुका हूँ कि अच्छे घर की स्त्रियाँ चाहे थोड़ी पढ़ी भी हों लेकिन पर्दा के कारण बाहरी साधारण ज्ञान उनमें कम होता है। बुद्धि तो उनमें ज्यादा होती है लेकिन अनुभव कम। एक-एक माह के लिए जो सूत-सुधार विद्यालय खोला गया था उसके द्वारा उनकी समझ और धारणा शक्ति का अन्दाज़ा मुझको मिल गया था। इसलिए स्त्री-सुधार केन्द्र का सब अनुष्ठान समाप्त होते ही इसका प्रयोग करने का विचार हुआ। इस काम के वास्ते गोसाईंगंज से आधे मील की दूरी पर एक ग्राम पसन्द किया गया। यह सिर्फ किसानों का ही ग्राम है। यहाँ हम लोगों ने पंचायत क़ायम की थी। वह सफलता के साथ चल रही थी इसलिए भी वहाँ प्रयोग करना आसान हो

आशातीत सफलता

गया था। वहां एक सेवक को रख दिया। गांव की ३०-३५ स्त्रियां प्रतिदिन सात घण्टे के लिए स्कूल में आती थीं। १ घंटा प्रतिदिन अक्षरज्ञान और हिसाब पढ़ाया जाता था; और समय धुनाई और कताई। प्रयोग के वास्ते मैंने तीन माह तक विद्यालय चलाया। सप्ताह में एक दिन बौद्धिक क्लास में साधारण विषयों की बातें बता दी जाती थीं। बीच-बीच में मैं भी वहां जाकर कत्तिनों को इधर-उधर की बातें बतलाता था। कर्ण भाई भी प्रायः जाते थे।

केवल ३ माह में ही उनके दृष्टिकोण में कल्पनातीत परिवर्तन दिखाई देने लगा। बाबा राघवदास एक बार हमारे यहां आये थे। उनको उस गांव में ले गया था। स्त्रियों से बात करके वे पूछने लगे—"वाकई ये अनपढ़ किसान हैं?" एक बार हमारे प्रान्तपति श्री पालीवाल जी उस गांव में गये थे। उन स्त्रियों को देखकर वे आश्चर्य करने लगे।

इसी तरह इल्तफ़ातगंज के पास एक गांव में प्रयोग किया। वहां दूर होने के कारण मैं ज्यादा नहीं जा सका। वहां के कार्यकर्ता का स्टैंडर्ड भी अच्छा नहीं था। फिर भी वहां का नतीजा अच्छा ही रहा। ३-४ गांवों में तीन-तीन माह के प्रयोग से कत्तिनों के जीवन में परिवर्तन की सम्भावनाओं का पता लग गया। और मैं जिस बात की कल्पना करता था उस पर विश्वास हो गया। यह अप्रैल, मई, जून की बात थी। अगस्त ६ में आश्रम की सालाना बैठक होती थी। उसमें ६-७ योग्य कार्यकर्त्ताओं को फिर से कताई धुनाई की शास्त्रीय शिक्षा देकर विशेष रूप से कताई विद्यालय खोलने के लिए तय हुआ। तदनुसार ६-७ कार्यकर्ताओं को रणीवां भेजा गया। उनको ३ ४ माह चर्खे की व्यावहारिक, यांत्रिक और सैद्धान्तिक शिक्षा देकर अकबरपुर के पास १२ गांवों में कत्तिन विद्यालय खोल दिया। वहां अपनी योजनानुसार १ घंटा बौद्धिक क्लास भी रख दिया गया। दो माह में ही उनमें परिवर्तन देखने को मिला। लेकिन मैंने देखा कि कार्यकर्ताओं की तैयारी पूरी नहीं हुई और मार्च का महीना हो जाने से २ माह के लिए कत्तिनों को फसल काटने की छुट्टी भी देनी चाहिए थी इसलिए कार्यकर्ताओं को फिर से शिक्षा देने के लिए रणीवां बुला लिया। वे रणीवां आये और मैं गिरफ्तार होकर जेल चला आया। जेल में जाकर इस प्रश्न पर विचार करता रहा। ६ माह विचार करने से मुझको एक निश्चित योजना की रूप-रेखा स्पष्ट होने लगी। कानपुर खादी मंडल के व्यवस्थापक श्रीरामनाथ टंडन यहां मेरे साथ रहते हैं। उनसे अपनी

योजना की बाबत विचार-विनिमय किया। फिर हम लोगों ने अपनी कल्पना को लिख डाला। पूज्य बापू जी को भी इसके बाबत एक पत्र में लिखा। बापू जी ने उस पत्र को नवम्बर के खादी जगत् में प्रकाशित करके सब प्रान्तों के खादी कार्यकर्ताओं की राय मांगी है। अगर चर्खा संघ इस योजना को मान ले और व्यवहार में लाये तो ग्रामीण समाज में क्रान्ति हो जायगी। स्त्री सुधार के लिए कोई दूसरी योजना बनाने की जरूरत नहीं होगी। तुम लोगों को काम के लिए अनन्त कार्यक्षेत्र मिल जायगा।

इधर आज से फिर लोग छूटने का अनुमान लगा रहे हैं। ४ तारीख को वाइसराय की कमेटी में तय होगा। अब सब छूटेंगे। मैं सोचता हूँ कि अभी छूट जाऊँगा तो यह ग्राम-सेवा की कहानी ख़तम नहीं होगी। लेकिन क्या हर्ज है? जितना ही हो जाय उतना ही बहुत है। किस तरह ग्राम-सेवक को ग्राम-समस्याओं को समझ-समझ कर चलना है, उसकी बाबत तो सब कह चुके हैं। जेल से अगर छूटा तो श्री निकेतन के काम का अध्ययन करना चाहता हूँ। तुम इन्तज़ाम कर देना। बस, अब आज ख़तम करता हूँ।

---

[५३]

खादी-सेवकों की स्त्रियाँ

२—१२—४१

कल जो अनुमान छूटने के मुतल्लिक चल रहा था वह आज फिर जोर से चलने लगा। यह सब देखकर मैं आज फिर लिखने बैठा। अब समय बहुत कम मिलता है। बातों बातों में ही वक्त कट जाता है। अतः ज्यादा भूमिका न बांध कर अपने विषय पर आता हूँ।

पहले ही लिख चुका हूँ कि ग्राम-सुधार शिक्षा केन्द्र के पक्ष में वायुमंडल पैदा करने के लिए मैं देहातों में जाकर प्रचार करता था।

उन लोगों के सामने आजकल की स्त्रियों की हालत और अनमेल विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों की तीव्र आलोचना करता था। भारत की प्राचीन स्त्रियों के आदर्श की बाबत बताता था। कत्तिन-स्कूलों में कत्तिनों को भी इसी प्रकार बताता था। लेकिन इस प्रकार के प्रचार में मुझको एक बहुत भारी अड़चन पड़ी। फैजाबाद जिले के बहुत नौजवान हमारे आश्रम के कार्यकर्त्ता हैं। दुर्भाग्य से उनकी स्त्रियाँ बहुत पिछड़ी हुई हैं। सुधार-केन्द्र की स्त्रियों, यहां तक कि कत्तिन स्कूल की स्त्रियों का दृष्टिकोण भी उनसे उन्नत था। कार्यकर्त्ताओं की स्त्रियों की हालत यहां तक खराब है कि वे नियमित चर्खा भी नहीं चलातीं और खादी नहीं पहनती हैं। ऐसी हालत में जब कभी मैं ऐसे गांव में पहुँच जाता था जहाँ हमारे कार्यकर्त्ता का घर हो तो मैं बहुत धर्म-संकट में पड़ जाता था। मैं प्रचार करता था कि स्त्रियां पर्दा न रखें, चर्खा चलायें, खादी ही पहनें। और हमारे अपने साथियों की स्त्रियां घूँघट काढ़कर घर में ...सी रहें, चर्खा न चलायें, खादी न पहनें। और हम इन्हीं कार्यकर्त्ताओं की मार्फत अपना कार्यक्रम चलाना चाहते हैं; अपने

यह विषम स्थिति!

सिद्धान्तों को साकार रूप देना चाहते हैं! किसी-किसी गांव में जब लोग इस विषय पर मुझसे सवाल भी करते थे तो मुझको झेंपना पड़ता था। इस परिस्थिति को देखकर मेरी आत्मा को बहुत कष्ट होता था। मैं सोचने लगा, ऐसी हालत में हम क्या ग्राम-उत्थान का काम करेंगे। अगर हम अपने साथियों में ही कोई भावना पैदा नहीं कर सके तो संसार को क्या बता सकते हैं। आश्रम के कार्यकर्त्ताओं की स्त्रियां अपने पतियों के साथ कार्यक्रम में भाग नहीं लेतीं, इसकी ग्लानि तो मुझमें थी ही। इसकी बाबत तो तुमको मैं पहले ही लिख चुका हूँ। लेकिन इस बार के दौरे ने तो मुझको परीशान कर दिया। मैंने महसूस किया कि ग्रामसेवकों की स्त्रियों की शिक्षा तो पहले होनी चाहिए। उसके बाद ही कोई कार्य-

क्रम गांव में चलाया जा सकता है। लेकिन उस समय मेरे सामने कोई रास्ता नहीं था। और न इसके लिए कोई साधन ही था, न मौक़ा था। इसलिए इस बात को मन ही मन छोड़ा और रणीवां आश्रम मे जो बहिनें रहती थीं, उनकी व्यवस्था करके मैंने संतोष किया। अकबरपुर में भी जिन-जिन कार्यकर्त्ताओं को राजी कर सका उनकी स्त्रियों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित, करने लगा। मेरे साथियों की राय इस मामले में मेरे साथ न होने से विशेष उत्साह तो नहीं था। लेकिन इस ओर कुछ न कुछ चेष्टा मैंने जारी ही रखी।

ग्राम-सुधार की मार्फत जो स्त्री-सुधार की योजना शुरू की थी उसके प्रथम वर्ष के शिविर के ख़तम होते ही मैं तुमसे, सुचेता से और जिससे भी मुलाकात होती थी किसी बहिन को इस काम को उठाने के वास्ते कहता था। दूसरे साल के शिविर के लिए एक योग्य बहिन की आवश्यकता थी। पहली बार तो प्रयोग मात्र था। स्त्रियों को बुलाकर किसी तरह काम चालू कर दिया गया। मैं खुद भी वहां बैठ गया। ऐसा तो स्थायी रूप से हो नहीं सकता था। इसलिए मुझको स्थायी इन्तजाम करना था। तुमको याद होगा, तुमसे कितनी ही बार कहा होगा। आखिर मिस इटीरा की बाबत खबर मिली और सरला बहिन की मार्फत उनसे बात करके तय किया। वे राजी भी हो गईं। उन्होंने लिखा था—नवम्बर के प्रथम सप्ताह में आने की कोशिश करेंगी। अक्टूबर में प्रान्तीय सरकार ने शिविर को सीधे अपने निरीक्षण में चलाने का निश्चय किया। वे मेरा असर उन स्त्रियों पर नहीं चाहते थे क्योंकि हम लोग तो उनमें राष्ट्रीय भावना ही पैदा करेंगे। जब मैं कैम्प की जिम्मेदारी से अलग हो गया तो मिस इटीरा को लिख दिया कि अब न आयें। मुझसे भूल हुई थी कि मैंने तार नहीं भेजा। मिस इटीरा मेरा खत पाने से पहले ही वहां से चल दी थीं और ४ नवम्बर को आश्रम में हाज़िर हो गईं।

मिस इटीरा जब आ गईं तो मैंने उनको बहुत ही सादे जीवन

वाली पाया और मन में सोचा, आश्रम के कार्यकर्त्ताओं की स्त्रियों के लिए शिक्षा-विभाग खोल दिया जाय। मैंने उनसे योग्य व्यवस्था- अपना प्रस्ताव किया। उन्होंने रहकर देखने को पिका का अभाव कहा। कुछ कार्यकर्त्ताओं की स्त्रियों को बुलाकर मैंने आश्रम में महिला-विभाग खोल दिया। मिस इटीरा ज्यादा दिन नहीं रह सकीं; फिर अपनी काकी (सुचेना की मां) को बुलाकर चलाता रहा। सोचा था, तुम लोग कोई इन्तजाम कर दोगी। मृदुला वहिन को बुलाकर दिखाया। उन्होंने भी किसी वहिन को तलाशने की कोशिश करने को कहा। फिर मैं गिरफ़ार हो गया और ५-६ माह वाद उसे वन्द कर देना पड़ा। अव देखो, कव वाहर निकलते हैं और कव मौका मिलता है। चाहे जो हो मुझको तो ऐसा लगता है कि जव तक कार्यकर्त्ता खुद अपने आदर्श की ओर नहीं चलेंगे तव तक हम अपना आदर्श दूसरों को क्या वता सकते हैं। और इस वात में हम अशक्य इसलिए हैं कि हमारे साथी अपनी स्त्रियों को साथ लेने की चेष्टा तक नहीं करते।

वाहर निकल कर फिर तुम लोगों को तंग करूँगा। यह तो तुम्हारी जाति का काम है। लेकिन तुम लोगों में जो योग्य हैं वे तो पुरुषों के समान होने के आन्दोलन में व्याख्यान देकर और प्रवन्ध लिखकर अपना सारा समय व्यतीत कर देती हैं, चाहे स्त्री समाज अन्धकार में पड़ा रहे। ख़ैर, यह सव झगड़ा तो निकलने पर ही होगा। फिल-हाल तो मैं जेल में हूँ और आश्रम का स्त्री-शिक्षा विभाग वन्द है।

मैं जव से आगरा जेल में आया तभी से तुमको पत्र लिखता रहा। मैंने आश्रम में शुरू से ग्राम-सम्वन्धी जो कुछ सोचा, देखा और किया सव कुछ जहां तक याद कर सका लिख दिया। इसके अलावा मैंने सरकारी ग्राम-सुधार का काम दो साल किया। उससे भी काफी अनुभव हुआ। उसकी वावत भी लिखने की कोशिश करूँगा। स्त्री-सुधार सभा के अनुभव तो वता ही चुका हूँ लेकिन वह तो आश्रम-

कार्य के सिलसिले से ही था। केवल सरकारी साधनों का इस्तेमाल करके अपनी कल्पना के अनुसार प्रयोग कर लिया। अब मैं दूसरे पत्रों में सीधे सरकारी तरीके से ग्राम-सुधार की कहानी लिखने का प्रयत्न करूँगा।

---

[५४]

सरकारी ग्राम-सुधार

३—१२—४१

कल के पत्र में आश्रम की ग्राम-सेवा की बात खत्म हो गई थी। वादा के मुताबिक आज सरकारी तरीके से सरकारी महकमा की मार्फत ग्राम-सुधार के अनुभव लिखने बैठा हूँ। सरकारी महकमा में एक कठिनाई यह है कि उसमें परिस्थिति के अनुसार अपनी कल्पना को पूरा करने का मौका नहीं होता। दूसरी बात यह कि उनका कार्यक्रम किसी निश्चित आदेशानुसार ग्रामीण समाज को संघटित करने की दिशा में नहीं होना है। उनके कार्यक्रम अलग-अलग धुन लिये होते हैं। गाँव के लोगों को कुछ सहायता पहुँचाने का ही लक्ष्य उनके सामने होता है। मुझको प्रान्त भर के लिए बनाये हुए निश्चित कार्यक्रम को लेकर चलना पड़ता था। उसे मैं अपनी धारणा के अनुसार मोड़ने का प्रयत्न तो करता था। फिर भी बहुत हद तक कार्यक्रम अलग-अलग ही होता था।

मुझको जब जिला ग्राम-सुधार संघ के अध्यक्ष पद की जिम्मेदारी सरकार की ओर से मिली तो सबसे पहले पुरानी सरकार की योजनाओं का अध्ययन किया। फैज़ाबाद में अयोध्या के राजा के कोर्ट आव् वार्ड्स की ओर से कुछ ग्राम-सुधार का काम होता था। सरकारी ग्राम-सुधार भी उसी के साथ शामिल कर दिया गया था। मैंने देखा,

जो सुधार हुआ है उसमें अक्षरशः ग्राम-सुधार ही हुआ है। न तो ग्राम-वासी-सुधार की कोई चेष्टा की गई थी और न ग्राम-समाज-सुधार की कोशिश थी। वहाँ विभाग के सेवकों में ही जाति-भेद था। सुधार अफ़सर, इन्सपेक्टर, आर्गनाइज़र आदि जातियां अलग-अलग थीं और उसी हिसाब से आपस में व्यवहार था। जैसा कि मैं शुरू में ही लिख चुका हूँ शहर के लोग ग्राम-सुधार उसी को कहते हैं जिससे गांव वालों को वे चीज़ें मिल जायँ जिनके बिना शहर वालों को तकलीफ होती है। यानी पक्की गलियां हो जायँ, ओसारा पक्का हो जाय, सीमेन्ट का फ़र्श हो जाय, बड़े-बड़े खिड़कीदार कमरे हों। अगर हो सके तो बिजली की रोशनी और रेडियो हो जाय।

मैंने ऊपर कहा है कि वे ग्राम-वासियों का सुधार नहीं करते। मेरी इस किस्म बातों से कुछ सुधार-आफ़ीसर नाराज़ हो जाते थे। "क्या आप समझते हैं, हममें इतनी भी अक्ल नहीं कि हम यह न जानते हों कि उनका अज्ञान ही सारे कष्ट का मूल है। हम उसका भी इन्तज़ाम करते हैं।" हां, ठीक है वे यह भी करते हैं। वे मैजिक लैंटर्न से बताते हैं, मक्खियाँ क्या-क्या बीमारी फैलाती हैं; हैज़ा से बचने के क्या-क्या उपाय हैं इत्यादि और उनका प्रतीकार ऐसा बताते हैं कि ग्रामवासी ग्रामीण साधन से पा नहीं सकते हैं। वे सफाई की बात भी करते हैं लेकिन अपने खेमे की सफ़ाई रखने में इतने खर्च का नमूना दिखाते हैं कि देहाती स्वभावतः यही कहते हैं कि सफाई रखने के लिए इतना तूल-कलाम अगर करना है तो परमात्मा ने हमको साफ रहने के लिए पैदा ही नहीं किया। यह भी अमीरों के अनेक विलासों में एक विलास ही है।

हाँ, वे समाज-सुधार भी करते हैं। व्याख्यान और पर्चों-द्वारा यह बताते हैं कि "तुम बड़े बेवकूफ़ हो। ठीक से रहना नहीं जानते तुममें जात-पांत का भेद है। तुम विवाह श्राद्ध आदि अनुष्ठानों में फिज़ूल खर्च करते हो; तुम चमार धोबियों का नाच कराते हो; होली

उपदेशों की भरमार

खेलते हो; तुम बेकार जेवर बना कर सोना-चाँदी घर में फँसा कर रखते हो। इस तरह तुमको महाजन के चंगुल में फँसकर कर्जा में डूबना पड़ता है। तुम्हारे बच्चे मूर्ख रहते और गोरू चराते हैं। घास छीलते हैं, पढ़ते नहीं। इसीलिए तुम बरबाद हो गये। अतः तुमको चाहिए, घर पर किसी किस्म के बेकार आनन्दोत्सव न मनाकर मुँह लटकाकर १२ माह बैठे रहो। जितना भी सोने चांदी के जेवर हैं बेचकर रुपया को-आपरेटिव बैंक में रख दो। ज़रूरत पर महाजन के पास न जाकर सरकारी समिति से उधार लो। बच्चे गोरू न चरावें, मवेशी खूँटा में बांधे रहो। घास बिना उनका काम चल जायगा। बच्चों को सरकार ने जो हर गाँव मे निराकार स्कूल खोल रखा है उसमें भर्ती कर दो। इत्यादि उपदेशों की भरमार से गाँव वालों का दम घुटने लगता है। अगर कुछ लोगों ने सुनने कोशिश की तो वे दूसरे के चंगुल में फँसे जिसका नाम सरकारी शोषण है।

यानी उनका दृष्टिकोण ऊपर-ऊपर से गांव में कुछ सजावट लाता था। जिससे यह प्रचार हो सके कि सरकार भी ग्राम-सुधार कर रही है। परोक्ष रूप से सरकार इन विभागों की मार्फत ग्रामवासियों को केवल अपने हाथ में रखने का उद्देश्य पूरा करती है।

कांग्रेस मन्त्रिमंडल ने जब ग्राम-सुधार का काम काम करना शुरू किया तो सुधार की नीयत तो उन्होंने बदल दी लेकिन तरीका पुराना ही रखा। उनकी नीयत गांव वालों को वाकई मदद करने की थी लेकिन उच्च श्रेणी के सदियों के संस्कार के अनुसार उनमें भी दया की वृत्ति थी। बेचारे गाँव वालों का कुछ भला करना था। नीयत होने पर भी अनुभव न होने से समस्या की जड़ पर वे नहीं पहुँच पाये।

वही पुराने तरीके

समस्याओं का अध्ययन करने का साधन भी तो उनके पास पुराने सरकारी कमीशनों की रिपोर्ट और युरोप के प्रयोगों का विवरण ही था। अतः जिस

प्रकार सन् १६२१ में हमने सारे देश में कांग्रेस की ओर से राष्ट्रीय शिक्षा की संस्थाएँ खोली थीं जिनमें शिक्षा-पद्धति तो वही पुराने तरीके की नकल थी, सिर्फ़ राष्ट्रीयता की सफेदी कर दी गई थी, उसी प्रकार कांग्रेस सरकार ने ग्राम-सुधार के काम में पुराने तरीके की नक़ल करके उसमें अपनी शुद्ध नीयत का पोचाड़ा मात्र लगा दिया।

शुरू के ७-८ माह तक तो कोई ख़ास कार्य-क्रम ही नहीं मिला; साधारण प्रचार ही चलता था। आख़िर प्रचार तुम कितने दिन चला सकते हो। कुछ ठोस काम तो चाहिए ही। आख़िर जब कार्यक्रम आया तो वह इस प्रकार था :—

१—गाँव में पंचायत घर बनाना। २—गांव के कुओं की मरम्मत कराना। ३—गली सड़क ठीक करना। ४—पंचायत कायम करना। ५—रात्रि पाठशाला और दूसरी शिक्षा का प्रबन्ध करना। ६—खेती का सुधार करना।

हर एक काम के लिए थोड़ा-थोड़ा रुपया भी मंजूर हुआ। काम चलाने के लिए प्रत्येक जिला बोर्ड के निर्वाचन क्षेत्र को क्षेत्र मानकर सर्किल खोल दी गई। इस तरह फ़ैज़ाबाद ज़िले में २७ सर्किलें हो गई थीं।

पहले तो इतने अधिक विस्तृत सर्किल में इतने अधिक प्रकार का सुधार देखकर ही मैं घबड़ा गया। फिर जब उसके लिए मंजूर रक़म देखी तो मैंने समझा कि यह भी ऊपरी-ऊपरी कुछ भला करने का कार्य-क्रम है। अतः मैंने इसके लिए बहुत दिमाग़ ख़र्च करने की जरूरत नहीं समझी। मैंने केवल यही निश्चय किया जो कुछ भी कार्य-क्रम ऊपर से आये उसे जोर से चला दिया जाय जिससे सरकारी साधन गांव वालों के लिए ज्यादा से ज्यादा लाभदायक हों।

शुरू में पंचायत घर पर जोर दिया गया। मैंने भी उस पर ज़ोर देकर करीब २५-३० पंचायत घर बनवाये। इस काम में हमारे मंत्री श्री महेन्द्रसिंह रनधवा आई० सी० एस बहुत उत्साही थे। जिस तरीके

का पंचायत घर बन रहा था उसके साथ मैं बहुत सहमत नहीं था। लेकिन मैंने पहले ही देख लिया था कि कांग्रेस मंत्रिमंडल भी पुराने महकमों के तरीके से चल रहा है और उल्टे रास्ते जा रहा है। अतः मैंने अपने मंत्री पर ही ज्यादातर बात छोड़ दी थी। मैं तो पंचायत घर के पक्ष में था ही। मैं चाहता ही हूँ कि अगर साधन जुटाया जा सके तो प्रत्येक गाँव में कोई सार्वजनिक स्थान हो, नहीं तो सामाजिक जीवन नहीं बन सकता है। लेकिन शुरू में पंचायत घर नहीं बनाना चाहिए। पहले पंच बनें, फिर पंचायत और उसके बाद ही पंचायत घर बने। जब तक पंच नहीं बनेंगे तब तक पंचायत भी नहीं बन सकती है। पंचायत की बाबत् मैं अपना अनुभव और राय बता ही चुका हूँ। गाँव में जो लोग पंच बनने लायक हैं, वे कैसे हों यह सब लिख ही चुका हूँ। अतः अगर गाँव को आगे बढ़ाना है तो पहले पंचों की खोज निकालना होगा और उसके लिए पहले कोई रचनात्मक ठोस काम शुरू कर देना चाहिए। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि हरेक गांव में ऐसे कुछ लोग होते हैं जो अवसर पाने से सार्वजनिक काम में दिलचस्पी लेते हैं। किसी गांव में पाठशाला, पुस्तकालय, औषधालय आदि खोल कर देखो; २-४ आदमी ऐसे निकल आते हैं जो उत्साह से अपना तन, मन, धन उस काम में लगा देते हैं। लेकिन आज के साम्राज्यशाही शोषण के दलाल सत्तात्मक ग्रामसमाज में उनके लिए अपने सद्गुणों के विकास का कोई अवसर नहीं है। अतः सार्वजनिक जीवन में इनका कोई स्थान नहीं है। इसलिए सब से पहले जरूरी है कि ऐसे रचनात्मक कार्य को शुरू करना जिसको करने से इस तरह का सत्तात्मक लाभ नहीं होता है। ऐसा करने से हम गांव के ईमानदार और लोक-हितैषी वृत्ति वाले समूह के व्यक्तित्व को ग्रामीण जनता के सामने प्रतिष्ठित कर सकेंगे। और इनके प्रधानतः साधारण लोगों में से होने के कारण इन पर

पहले पंच या पंचायतघर?

जनता का विश्वास पैदा होगा। पिछले एक पत्र में हमने लिखा था
कि हम जब तक गाँव में स्वाभाविक नेतृत्व कायम नहीं कर सकेंगे
तब तक एकाएक पंचायत कायम करके उसके हाथ में सत्ता छोड़ देने
से जनता को उन्हीं के हाथ में छोड़ देना होगा जो लोग अब तक
उसका उत्पीड़न करके स्वार्थ-साधन करते थे और शोषक वर्ग के
एजेंट के रूप से गाँव में फैले हुए हैं। अतः सही पंचायत कायम
करने के लिए पहले पंचों के व्यक्तित्व का विकास करना है।
इस तरह पंचायत की स्थापना होने पर ही पंचायत घर को
बात सोचनी चाहिए। फिर पंचायत घर उसी
शहरी दृष्टिकोण स्थान पर कायम करना चाहिए जहां इस
वाले अधिकारी प्रकार पंचायत की मार्फ़त शिक्षालय, पुस्त-
कालय आदि किसी क़िस्म की स्थायी संस्था का संग-
ठन हो गया हो। फिर उसी संस्था का काम चलाने के लिए ही घर
बनाना चाहिए जिसकी बनावट इस तरह की हो कि उसी इमारत से
पंचायत घर का भी काम चल जाय। लेकिन मुश्किल तो यह है सर-
कारी अधिकारी, चाहे वे कांग्रेसी क्यों न हों, शहरी दृष्टिकोण रखते हैं।
इसलिए कार्य-क्रम भी ग्रामीण समस्या की दृष्टि से उल्टा ही होता है।

लेकिन तुमको तो मालूम ही है, मैं कोई चीज़ आधे दिल से नहीं
करता हूँ। जो काम करना है उसे डटकर करना चाहिए। आख़िर
पंचायत घर बनने में फ़ायदा ही था। लोगों में जोश होता है। विभाग
के प्रति कुछ विश्वास भी होता है और पंचायत घर के लिए कुछ
सामान जुटाना और उसके बनाने की व्यवस्था करने में कुछ त्याग की
भावना और कार्य-कुशलता तो पैदा होती ही है। इसलिए जब सुधार-
मंत्री श्री काटजू साहब का आग्रह और हमारे मंत्री श्री रन्धवा के
असीम उत्साह को देखा तो मैंने भी अपनी सारी शक्ति इसको सफल
बनाने में लगा दी। श्री रन्धवा ने इसके लिए इतनी अधिक मेहनत की
थी कि जो देखता था वही आश्चर्य करता था। पंचायत घरों के कारण

इस ज़िले का ग्राम-सुधार कार्य प्रान्त-भर में मशहूर हो गया। तुमको मैं यहां पर कह देना चाहता हूँ कि पंचायत घर तो बनाया और बाद को उन्हें उपयोगी बनाने की कोशिश भी की लेकिन पंचायत घर के मामले में ऊपर-लिखे मुताबिक मेरी राय अभी भी कायम है। अनुभव ने भी इसकी पुष्टि की। क्योंकि जहां ठीक-ठीक पंचायत क़ायम हो सकी वहां तो घर कुछ उपयोगी है, बाक़ी स्थानों पर बेकार पड़ा है।

पंचायत घर के साथ-साथ दूसरा कार्य-क्रम भी उसी तरह चलता रहा जैसा कि महकमे में चलता है। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि कार्यक्रम के तरीकों को देखकर मुझको बहुत उत्साह नहीं हुआ था। और रणीवां आश्रम को भी बनाना था इसलिए दफ़्तरी ढंग से ही अपना समय साल भर तक महकमा के काम में देता था। क्योंकि मैं समझता था कि इस ओर सर पटकने पर भी गांव के जीवन का संगठन कायम करने की सम्भावना कम है। मुझको यह भी कहा गया था कि प्रान्त से जो कार्य-क्रम आता है उसमें हेर-फेर भी नहीं हो सकता है। इसलिए भी उसमें कुछ नई बात सोचने की गुंजायश नहीं थी।

बाद को जब स्त्री-सुधार के लिए विचार करते-करते उसी सरकारी कानून के भीतर से अपने विचार के अनुसार काम चलाने की सम्भावना देखी तो उस ओर भी मैं अपना ध्यान देने लगा। आज बस। आगे की बात कल लिखूँगा।

---

[५५]

कोआपरेटिव सोसाइटी

४—१२—४१

कल पंचायत घर और पंचायती संगठन की बाबत कुछ बताया था। आज मैं कोआपरेटिव सोसायटियों (सहकारी समितियों) की बाबत

कुछ अनुभव बताना चाहता हूं। ग्राम-सुधार काम के वास्ते सरकार का अलग महकमा बना हुआ है। महकमों के साथ सम्बन्ध होने से मैंने समझा कि इन कामों में भी दिलचस्पी लेना अच्छा ही है। इन महकमों की जिम्मेदारी तो मेरे पर नहीं थी लेकिन मैं हमेशा इनका अध्ययन करता था और जहां सम्भव होता था मदद करता था।

जब पहले गांव में काम करता था तो देखता था गांव वालों की तकलीफों में कर्ज की मद ही ज्यादा दुःख देने वाली होती है। २-४ आदमी कर्ज देकर सबको बांधे हुए हैं। कोई किसान ऐसा नहीं जो महाजन के हाथ में बँधा न हो। यह समस्या इतनी व्यापक है कि गांव के कर्ज की बाबत कुछ विस्तार से विचार किया जाय तो कोई हर्ज न होगा। सबसे पहले यह देखा जाय कि जो कर्ज होता है उसे किसान चाहें तो रोक सकता है या उसकी परिस्थिति ही ऐसी है कि वह उससे बच नहीं सकता। आजकल अर्थशास्त्र के पंडितों का एक प्रकार का फैशन हो गया है कि वे किसानों की फिजूलखर्ची की बात कहकर कर्ज में उनके डूबने के खिलाफ आलोचना करते हैं। विवाह, जनेऊ, त्यौहार आदि अनुष्ठानों में शक्ति से ज्यादा खर्च करने पर उनको कोसते हैं और उनको उपदेश देते हैं। लेकिन वे चाहते क्या हैं? क्या गांव के लोग गले में रस्सी बांधकर अपने को दरख्तों से टांग लें। दरख्त भी तो गरीबी के मारे खतम हो रहे हैं। आखिर गांव वालों की जिन्दगी में है क्या? किसान का सारा जीवन नीरस और रूखा है। चाहे गर्मी हो, चाहे सर्दी वही एक ही तरह का सुबह उठना, हल-बैल लेकर खेत में जाना। १२ माह वही चबैन, वही मकुनी बाजरा की रोटी दाल। कोई विभिन्नता नहीं, कोई तब्दीली नहीं। आँख मूँदकर घानी के बैल जैसा छोटे से दायरे में जिन्दगी भर घूमना ही उनके लिए रह गया है। हम लोग ७-८ माह से यहां नजरबन्द हैं। यहां किस्म-किस्म के कार्यक्रम हैं। खेल,

आजीवन कारा-वास-सा नीरस जीवन

कूद ही जीवन का उद्देश्य है, आदर्श है। फिर भी ७-८ माह में लोग ऊब गये दीखते हैं। छूटने की कहीं से गन्ध मात्र आ जाय तो लोग बावले हो उठते हैं मानो आसमान से चांद टूटकर गिर रहा है। गांव के किसान तो आजीवन कारावास भोग रहे हैं, सो भी सी० क्लास का। ऐसे दुस्सह और नीरस जीवन में कभी एक आध बार कोई शुभ अवसर आता है तो कुछ खुशी मनाना, कुछ प्रमोद करना, स्वजन कुटुम्ब से भेंट मुलाक़ात करना उनके लिए स्वाभाविक और अपरिहार्य होता है। गांव भर की नीरसता के बीच वही एक-आध मौका होता है जब आबालवृद्धवनिता थोड़ा हँस लेते हैं, थोड़ा खुश हो लेते हैं। अगर अर्थशास्त्र के पंडित समाज-सुधार के लिए इनको भी बन्द कराकर उनको पत्थर की मूर्त्ति बना देना चाहते हैं, उनको ममी बनाना चाहते हैं तो परमात्मा उनकी बुद्धि उन्हीं तक रखे। मेरी समझ में यह बात आती नहीं। भला उन उपदेशकों से पूछो ऐसी परिस्थिति में अगर पड़ते तो वे क्या करते। २।१ दिन के लिए भी अपने आराम के साधन बांधकर ही गांव पहुँचते हैं। फिर भी 'मोनोटोनस' (नीरस) कहकर ग्रामीण वायुमंडल से भाग आते हैं। इनकी ज़बान से यह उपदेश शोभा नहीं देता है। यह ठीक है, उनको फ़िज़ूल खर्च से बचाना चाहिए। लेकिन वह काम आलोचना करने से नहीं होगा और न उपदेश देने से ही होगा। उसके लिए चाहिए कि लोग गांव में जाकर बैठें और अनुष्ठानों का ऐसा तरीक़ा बतावें कि खर्च भी कम हो और विनोद भी पूरा हो जाय।

यही बात जेवर की भी है। अगर जेवर वृत्ति न होती तो २०० साल से जिस तरह सर्वतोमुखी शोषण चल रहा है उसमें अब तक जो कुछ भी हाड़-मांस इन किसानों के शरीर में क़ायम है वह भी स्वाहा हो जाता।

किसानों की एक और बात बताकर वे हँसते और नाक सिकोड़ते हैं। मैंने बहुत से उद्धारकों को देखा है। अवध में मौरूसी हक़ जमीन

जीवन की कठोर वास्तविकताएँ

पर नहीं है, यह मैं पहले ही लिख चुका हूँ। बाप के मरने के ५ साल बाद, और कितने ही पहले से किसान को खेती से बेदखल होने पर नज़राना देकर जमीन लेते हैं। जो लोग बेदखल भी नहीं होते हैं उनके पास खेत इतना कम होता है कि जब कहीं कोई भी खेत खाली होता है तो नज़राना लेकर टूट पड़ते हैं। इस चढ़ा-ऊपरी में उनको बहुत ज्यादा रुपया देना पड़ता है। जिन्दा रहने के एक मात्र साधन को प्राप्त करने के लिए चाहे जितने सूद पर चाहे जितना पैसा दे देने में न बेवकूफी है और न लापरवाही। जिसको आज ही जिन्दा रहने की समस्या को हल करना है वह भविष्य की बात नहीं सोच सकता; उसमें किसी क़िस्म की भावना का अवशेष नहीं रह जाता है। भीषण दुर्भिक्ष में माता-द्वारा बच्चा भून कर खा जाने की कहानी भी तो इतिहास ही बताता है। भूखे और बेकार लोगों द्वारा सड़क के कूड़े की टंकी में से पड़ा अखाद्य खाकर मौत का सामना करने की कथा भी तो सुनने में आती है!

ग्रामीण उद्योग-धन्धों के खिलाफ़ आलोचना करने वाले पश्चिमी अर्थशास्त्र के पंडित जब कहते हैं कि किसान जमीन के वास्ते टूट पड़ते हैं और उसे बेवकूफी और लापरवाही कहते हैं तो समझ में नहीं आता उनकी बुद्धि को हम क्या कहें। गाँव का पंचायती समाज टूट जाने से लड़ाई-झगड़ा के कारण अदालत में मामला ले जाना पड़ता है, उसके लिए भी कर्ज़ा बढ़ जाता है। सम्मिलित परिवार टूट जाने से छोटा-छोटा परिवार हो गया, इस प्रकार उनके साधन कम हो जाते हैं इसलिए भी वह कर्ज में फँसता है। अतः जब मैं देहातों में काम करता था और किसानों को कर्ज़े की असम्भव स्थिति में देखता था और उनके कारणों का अध्ययन करता था तो मालूम होता था कि कर्ज़ का कारण किसानों की बेकसी और बेबसी है और आज की स्थिति में वह अनिवार्य है। इसलिए इस समस्या के हल पर मैंने कभी गम्भीर

विधायक तरीका

विचार ही नहीं किया था। क्योंकि व्यक्तिगत रूप से एक ग्राम-सेवक ग्रामवासी को इस दिशा में कुछ मदद नहीं कर सकता। अपनी शक्ति-भर आनन्दोत्सवों में सही ढङ्ग पर खर्च करने के नवीन तरीके बताकर, खेती से अधिक पैदा करने का तरीका बताकर, गांव में मेल व सद्भाव पैदा करके, मुकद्दमेबाजी कम करा कर और सहायक धन्धों से कुछ आमदनी का जरिया बताकर भविष्य के लिए किंचित् सहूलियत पैदा करके ही हम कर्ज का भार बढ़ने से रोक सकते हैं। लेकिन इस दिशा में प्रत्यक्ष रूप से कुछ संयोजित चेष्टा करना ग्राम-सेवक के लिए बेकार ही है।

मैं समझता हूं, इस सिलसिले में गांव के महाजनों और दूसरे उधार देने वालों के तरीकों को भी देख लें तो अच्छा होगा। महाजनों की कर्ज-नीति को बाबत सभी लोग जानते हैं। उसपर अधिक कहना बेकार है। वैसे तो किसान के कर्ज का इतिहास अंग्रेजी राज्य के साथ ही शुरू हुआ है। लेकिन गौर करने पर मालूम होगा कि पिछली

चालों का फंदा कैसे कसा गया?

लड़ाई के बाद ही ज्यादा कर्ज बढ़ा है और महाजनों ने अधिक व्यापार किया है। मैंने ऊपर कहा है कि कर्ज किसानों की बेकसी के कारण ही होता गया। लेकिन बहुत-सा कर्ज तो महाजनों के कारण हुआ है। यह तो सब को मालूम है कि पिछली लड़ाई के दिनों में जिनके पास पैसे थे उन्होंने खूब पैसा पैदा किया। लड़ाई ख़तम हो जाने से लड़ाई के समान की मांग बन्द हो गई तो बहुत सी पूँजी जो लड़ाई के कारण दूनी तिगुनी हो गई थी सब ख़ाली हो गई। इन पूँजीपतियों ने जब रुपया लगाने का बाहर कोई ज़रिया नहीं देखा तो गांव में उधार देने में लगाना शुरू किया। फिर क्या था उनके दलाल भी नियुक्त हो गये। इन दिनों अनाज महँगा तो था ही इसलिए ज़मीन से आमदनी भी बहुत थी। जहाँ कहीं ज़मीन खाली हुई कि महाजन के दलाल, लोगों को ज़मीन लेने का

क़ायदा बताने के लिए तैयार। ये लोग गांव में बैठकर लोगों को उकसाकर ज़मीन ख़रीदने को चढ़ा देते थे और रुपया दिला देने का भी जिम्मा ले लेते थे। वे तो बिल्कुल हितू बन बैठते थे। कहते थे—"भला तुम्हारे परिवार से हमने इतनी मदद पाई है। तुम्हारा दादा न होता तो अब तक हम सब भीख मांगते फिरते और मैं इतना भी न करूँ कि दौड़-धूप करके इतने रुपये का इन्तज़ाम कर दूँ।" इसी तरह के शुभाकांक्षी लोग किसान को नज़राना देकर ज़मीन लेने के लिए क़र्ज़ा का इन्तज़ाम करके असीम त्याग और सेवा का प्रदर्शन करते रहे।

किसी के घर कोई अनुष्ठान हो तो फ़ौरन उसके ये हितैषी हाज़िर। भला उनके रहते हुए परिवार की नाक कट सकती है? कदापि नहीं। इस प्रकार परिवार की नाक बचाने वाले प्रत्येक गांव में मौजूद हैं। इन पारिवारिक प्रतिष्ठा क़ायम रखने वालों के मारे कई जगह मुझको हार खानी पड़ी है। मैंने तो कम ख़र्च करने को राजी करा लिया लेकिन उनके हिताकांक्षी लोग कहां मानने वाले। इस प्रकार नाक कटने से बचाने वाले लोग सैकड़ों परिवारों की नाक बचाकर गला घोंट कर अपना व्यापार चलाते रहे। इस दिशा में ग्राम-सेवक व्यक्तिगत रूप से उचित सलाह देकर ग्रामवासी को कुछ क़र्ज़ से बचा सकते हैं।

ये महाजन सूद भी कस कर लेते हैं। मैंने हिसाब करके देखा तो मालूम हुआ कि अगर महाजन किसी को २५) क़र्ज़ दे तो १० साल में ५००) पावना हो जाता है। एक सज्जन, जो समाज में एक ज़िम्मेदारी लिये हुए हैं, कहते थे कि मैंने ५०) क़र्ज़ देकर २०००) का दावा किया है। और वे इसमें बहुत गर्व करते हैं। गांव में लेन-देन के सैकड़ों तरीक़े हैं। उन सब का बयान करने लगूँ तो पत्र समाप्त ही न हो। इतना ही समझ लो कि जब मैं रणीवां के चारों ओर के गांव के क़र्ज़ की बाबत अध्ययन करने लगा था तो उसको इतना विशाल

पाया और मुझको समस्या इतनी अगम-अथाह मालूम हुई कि मैंने इस दिशा में विचार करना ही छोड़ दिया था; समाधान सोचना तो दूर की बात थी।

जब कांग्रेस मन्त्रिमंडल हुआ और ग्राम-सुधार महकमे की ज़िम्मेदारी ली तो मुझको ऐसा ख्याल हुआ कि शायद कोआपरेटिव विभाग की मार्फ़त इस दिशा में कुछ सहूलियत पैदा की जा सके। वैसे तो मेरा विश्वास हो गया था कि पिछले कर्ज़े के लिए अगर सरकार कुछ कर सकती है तो वह केवल एक ही तरीक़ा है। उसे रद्द कर देना और किसानों को कर्ज़ से बरी कर देना। परिस्थिति इतनी जटिल है कि इसका दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। लेकिन मुझको ऐसा लगा कि भविष्य की समस्या का शायद सहकारिता-द्वारा दूसरा हल हो सके। अतएव मैं इस विभाग की कार्यपद्धति और कार्यक्रम को देखने लगा। उनके कर्मचारियों से तो परिचय हो ही गया था। उनसे विचार-विनिमय करता रहा और गाँव में जो सोसाइटियाँ बनी हैं उनका अध्ययन करता रहा।

जब मैंने इसके कार्यक्रम और संगठन की रूपरेखा देखी तो मेरी सारी उम्मीदों पर पानी फिर गया। सहकारी बैंक एक केन्द्रीय संगठन होता है जो कहने के लिए प्रतिनिधिमूलक है। लेकिन सरकारी विभाग के कर्मचारी ही बैंक वालों पर हावी होते हैं। देहातों में सोसाइटियां खोली जाती हैं; उसकी पंचायतें बनती हैं। वे भी वही होते हैं जिनका विवरण मैं कई पत्रों में लिख चुका हूँ। यूनियन का प्रधान सरकारी अफ़सर होता है और तीन सदस्य उसके असर से बाहर से लिये जाते हैं। पंच लोग भी उन्हीं के आदमी होते हैं। जिला बैंक सोसाइटी को कर्ज देता है। और सोसाइटी मेम्बरों को देती है। बैंक सीधे भी कर्ज़ देता है। बैक ६% सूद लेता है और सोसाइटी १५% तक लेती है। फिर इसकी जमानत रूप में फसल बंधक

नागनाथ हटे तो साँपनाथ आये!

रखनी पड़ती है। फसल हो जाने पर पंचायत फसल कब्ज़े में कर लेती है और बेंच कर अपना पैसा ले लेती है। फसल जिसके हाथ बेंची जाती है वे भी इन्हीं पंच के भाई-बन्द होते हैं। जिसको वे चाहे जिस भाव से बेंच दें। जो लोग फ़सल बंधक नहीं रखते और दूसरी चीज़ों की ज़मानत पर कर्ज़ लेते हैं उनसे इतने अमानुषिक तरीक़े से वसूल किया जाता है कि लोग त्राहि-त्राहि करते हैं।[1]

मैंने जहाँ तक देखा है कि जिस इलाक़े में सोसाइटी खुली हुई है वहाँ पहले से ज्यादा कर्ज लोगों पर हो गया है। वसूली के तरीके और पंचों के स्वार्थ के कारण लोग बरबाद हो जाते हैं। फिर जिसके पास ज़मानत के लिए कुछ है ही नहीं उनको तो कोआपरेटिव से कुछ कर्ज मिलता ही नहीं। इसलिए जिस क्षेत्र में कोआपरेटिव होगई है वहाँ के साधनहीन किसान और पिस जाते हैं। स्थानीय महाजनी प्रथा नष्ट हो जाने से और बिना ज़मानत के कोआपरेटिव से कर्जा न मिलने के कारण उनकी तो मौत ही है। जहाँ-जहाँ भी सोसाइटी कायम है वहाँ-वहाँ लोग इसके ख़िलाफ़ हैं, यह मैंने कई जिलों में देखा है। अब तुम कहोगी कि सोसाइटी छोड़ क्यों नहीं देते। वह भी तो मजबूरी है। सोसाइटी के कारण स्थानीय महाजनी संस्था टूट जाती है और कानून ऐसा बना है कि जो लोग सोसाइटी से कर्ज़ लेते हैं उनको महाजन क़र्ज़ देने से घबड़ाता है क्योंकि क़ानूनन कर्जदार की सम्पत्ति पर पहले सोसाइटी का हक़ होता है फिर दूसरे कर्जदार का। ऐसी हालत में कौन महाजन बेवक़ूफ़ होगा कि वहाँ अपनी रक़म फँसायेगा? फिर

---

[1] क़र्ज़ देने का एक खास तरीका है उसे "ज़िंज़िराबन्द" कहते हैं। यानी अगर १ गाँव के १० आदमी कर्ज़ लेना चाहते हैं तो हर एक के कर्ज़ा अदा करने के लिए दसों आदमी सम्मिलित रूप से ज़िम्मेदार होते हैं। अर्थात् अगर एक ने नहीं अदा किया और उसके पास लेने को कुछ बाकी नहीं रहा तो शेष सब से या उनमें से किसी एक से वसूल कर लेंगे।

सोसाइटी का सेक्रेटरी ऐसा आदमी होता है कि गाँव वाले दूसरे पचासों तरीकों से उससे बँधे रहते हैं। वह सबको फँसाये रखता है।

कोआपरेटिव का तरीका और उसके कागजी ढंग अर्थशास्त्री के कान में चाहे जितना मधुर लगें मैं समझता हूँ जब तक कोआपरेटिव इस किस्म की है तब तक उसके फेर में पड़ना एक महाजन को खतम करके दूसरे अधिक ताकतवर और बेरहम महाजन की प्रतीक्षा करना है। गाँव के छोटे महाजन व्यक्ति होते हैं। गाँव वालों से उन का सम्बन्ध होता है; वे छूट देते हैं, मोहलत देते हैं; कर्जदार के कष्ट को भी देखते हैं। लेकिन आज की कोआपरेटिव तो एक सरकारी मशीन है। अगर उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ न होता तो भी एक बात थी। केन्द्रीय बैंक में बड़े बड़े डाइरेक्टरों का सोलह आना स्वार्थ भरा है। इसे गाँव के जुलाहों को तोड़कर मिल खड़ा करने की बात जैसी ही समझो।

अतएव मैंने देखा कि कोआपरेटिव के ज़रिये कर्ज की समस्या हल करना उसको और जटिल बनाना है; साथ ही साम्राज्यशाही सरकार होने से ग्रामवासी को अपने घर के महाजन के हाथ से निकाल कर बड़े शोषण की मशीन की ओर ढकेल देना है। मैंने यह भी देखा कि हमारे गुलामी को कस के जकड़ने के लिए जैसे ताल्लुक़ेदार, बड़े ज़मींदार, सरकारी पंचायत आदि ज़रिया हैं उसी तरह यह भी दूसरा ज़रिया बना है। यह तो और भी मजबूरी पैदा करने वाली है क्योंकि इसके ज़रिये किसानों की आर्थिक लगाम अपने हाथ में रखते हैं। जनता की राय के ख़िलाफ़ इन सोसाइटियों को धमकाकर लड़ाई का चन्दा इकट्ठा करते हुए मैंने अपनी आँखों देखा है।

कांग्रेसी सरकार कोआपरेटिव विभाग की माफ़त किसान का गल्ला आदि बेचने का प्रबन्ध करना चाहती थी। कुछ काम शुरू भी किया लेकिन वह भी वही बड़े-बड़े महाजनों द्वारा, जो कोआपरेटिव बैंक के डाइरेक्टर हैं। इसमें भी उसी गुट की स्वार्थ-सिद्धि होती रही।

अगर सचमुच ग्रामीण जनता को कोई भी सरकार सही फायदा

पहुँचाना चाहती है तो मैंने पिछले पत्र में जिस क्रम से पंचायतों का संगठन करने की बात कही है उसी प्रकार पंचायतें कायम करके उनको मज़बूत बनाकर स्वावलम्बी व्यवस्था की ओर चलाना चाहिए। फिर सब काम पंचायतों की माफ़र्त हो सकेगा और ऐसी पंचायत ही सही कोआपरेटिव हो सकती है। तब तक यह सब विभाग बन्द कर देना चाहिए। क्या हर्ज है, अगर देहातों के सार्वजनिक वृत्ति वाले व्यक्तियों को खोजकर पंचायतों को कायम करके उनको व्यवस्थित करने में ५-७ साल लग जायँ ? राष्ट्र-निर्माण का काम तो छू मन्तर जादू नहीं है कि रात भर में हो जायगा। फिर गांव के महाजनों को अनुशासन में लाकर भी क़र्ज़ की समस्या आसानी से हल हो सकती है। उस समय पंचायत उचित सलाह देकर एक ओर ख़र्च कम करने की कोशिश करेगी, दूसरी ओर खेती-सुधार और सहायक धन्धों से आमदनी बढ़ाने की कोशिश करके गांव वालों के कर्ज का बोझ कम करने का प्रयत्न करेगी।[1]

सही तरीका

वस्तुतः महाजन भी इतने बिगड़ गये हैं और सूद ज़्यादा लेते हैं इसलिए कि वे देखते हैं क़र्ज़ लेने वाले इतने गर्ज़मन्द हैं कि वे जो भी शर्त रखेंगे झक मारकर मानना पड़ेगा। फिर पंचायत का संगठन मज़बूत होने से महाजन की रक़म डूबने का अन्देशा कम होने पर वे खुद ही सूद कम लेंगे। आज तो जो रकम डूब जाती है उसको भी जोड़कर सूद का हिसाब होता है। मुझको बहुत से महाजन कहते हैं आप कोआपरेटिव जैसी वसूली की गारंटी करा दीजिए हम ६ % सूद पर अपना काम चला लेंगे। उनका कहना सही है। क्योंकि बहुत से बड़े किसान हैं जिनको महाजन से कम सूद पर क़र्जा मिल

---

[1] सरकार की ओर से पंचायतों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए विशेषज्ञों का इन्तज़ाम करना काफ़ी है।

जाता है। उनको इसलिए मिलता है कि समय पर वसूली की गारंटी रहती है। लोग कहते हैं ऐसे सार्वजनिक वृत्ति वाले व्यक्ति कहां मिलेंगे। यह भय बेकार है। जैसा कि मैं पहले ही लिख चुका हूँ ऐसे आदमी देहातों में फैले हुए हैं। लेकिन प्रोत्साहन और अवसर के बिना वे दबे पड़े हैं। सही तरीके से अग्रसर होने से उन्हें खोज निकालना मुश्किल नहीं है।

गांव के कर्ज और सरकारी कोआपरेटिव की बाबत मैंने जो कुछ देखा है सब इस पत्र में लिख दिया। मुमकिन है, साहित्य में अंकों की कहानी दूसरी हो। लेकिन आंख की देखी हुई स्थिति तो ऐसी ही है।

आज बहुत लिखा। आज सरकार की ओर से राजनैतिक कैदियों को छोड़ने का एलान हो गया। मुझको डर लगा कि कहीं फट से छोड़ न दिये जायँ। इसलिए अपना अनुभव सारा बताने की जल्दी के मारे इतना लिख डाला।

---

[५६]

खेती का महकमा

५—१२—४१

कल गांव के कर्ज की हालत और सरकारी महकमा से उसके हल की जो चेष्टा है, उसकी बाबत लिख ही चुका हूं। आज कुछ खेती-सुधार के मुतल्लिक लिखूंगा। इस दिशा में तो मुझको भी कुछ करने का अवसर मिला था। सच पूछो तो खेती की हालत से ही गांव वालों की स्थिति जानी जा सकती है। शुरू में जब मैंने ग्राम-सुधार का काम हाथ में लिया तो पहले खेती की हालत का अध्ययन किया। को-आपरेटिव की तरह खेती के लिए भी सरकार की ओर से खेती महकमा अलग था। लेकिन यह महकमा केवल सरकारी ही है। कोआपरेटिव बैंक की तरह किसी

पैसे वाली श्रेणी के स्वार्थ से जुड़ा हुआ नहीं है। इसलिए इस विभाग से मेरा सहयोग अधिक था। मैं जब कोआपरेटिव में दिलचस्पी लेने लगा तो देखता था कि वहाँ के कर्मचारी कोशिश करते थे कि मैं उसमें घुस न सकूं। उनके ढंग से मालूम पड़ता था कि अपनी बातों को मुझसे छिपाना चाहते हैं। लेकिन खेती महकमा में ऐसी बात नहीं थी। उसमें केवल महकमावाला दोष था। वे अपने को किसान का सेवक नहीं समझते बल्कि अफसर के रूप में रहते हैं। दूसरी बात यह है कि वे बहुत ही सुस्त और लाल फीता वाली मनोवृत्ति रखते हैं। खेती के काम के लिए जब तक ग्रामीण मनोवृत्ति न हो तब तक उनकी सारी सलाह किसानों के लिए अव्यावहारिक हो जाती है। फिर भी मैं इस विभाग से कुछ लाभ उठा सका था।

आर्यनायकम जब रणीवां आये थे तो यहाँ की खेती को देखकर बहुत खुश हो रहे थे कि यहाँ की ज़मीन बहुत उपजाऊ है। सचमुच अवध का ज़मीन इतनी अच्छी है कि यहाँ वैसे ही अच्छी खेती हो जाती है। फिर भी लोग भूखे हैं। इसका कारण जमीन अच्छी होते हुए भी पैदावार ठीक से न होना है।

पहले जमाने के सम्मिलित परिवार खतम हो जाने से रोज-रोज खेतों का टुकड़ा होता जा रहा है। नतीजा यह हो गया है कि खेती इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में फैली हुई है कि किसान अपने मौजूदा साधनों से पूरा पैदा नहीं कर सकता है। कुछ इतने छोटे टुकड़े हमने देखे हैं जिनकी नाप २० × ३० इंच बल्कि इससे भी कम है। बहुत से टुकड़े इतने छोटे हैं कि बैल हल चलाते समय घूम भी नहीं सकते हैं। फिर एक किसान की जमीन १०-१५ टुकड़े में इतनी दूर दूर है कि हल और बैल लेकर एक टुकड़े से दूसरे टुकड़े घूमने में ही सारा दिन कट जाता है। कभी-कभी तो एक आध टुकड़े १ या २ मील

जमीन के असंख्य दूरी पर भी होते हैं। इस तरह किसानों के पास जो

टुकड़े जमीन है उसको जोतने में शक्ति और सामर्थ्य घटता

ही चला जाता है। इस प्रकार ठीक रूप से सेवा न होने से ज़मीन भी दिन ब दिन ख़राब होती जाती है।

हमारे गाँवों में जगल ख़तम हो जाने से गोबर जलाने का रिवाज है और इस कारण खाद कम होने की बात सभी जानते हैं। लेकिन अवध के इलाके की हालत "मोटाई मा राधे तप्त और पाता।" अवध की ज़मीन इतनी अधिक जुत गई है कि इधर गाँव में मवेशी नहीं मिलते हैं। जो २—४ गायें हैं भी, बकरी-जैसी छोटी-छोटी होती हैं। सो भी विरले ही मिलेंगी। बैल भी बहुत कम मिलते हैं। बहुत से लोगों के खेत छोटे टुकड़ों में चारों ओर इस प्रकार बँटे हैं कि बैल रखने की ज़रूरत भी नहीं होती। मवेशी कम होने से न तो खेत की जुताई ठीक से होती है और न गोबर ही मिलता है

खाद का अभाव

इसलिए मैंने कहा था कि यहाँ तो गोबर होता ही नहीं, फिर जलाने न जलाने की बात भी क्या सोचें। फिर भी जितना होता है वह जला ही डालते हैं। जिस क्षेत्र में चरागाह हैं वहाँ अगर गोबर जला भी देते हैं तो भी जून से सितम्बर तक चार माह में कुछ तो खाद हो ही जाती है। लेकिन यहाँ चार माह में क्या मिलेगा जिससे जमीन को खूराक पहुँच सके।

इस जिले के किसानों की तीसरी कठिनाई पानी की है। जहाँ १० हाथ दूर पानी निकलता है, जहां दो-दो तीन तीन फलाँग पर तालाब हो वहां पानी का कष्ट हो, यह वाकई आश्चर्य की बात है। लेकिन जिस देश में भगवान रामचन्द्र जी खुद राज कर रहे थे वहां सभी बातें आश्चर्य की होनी चाहिएँ। मैंने देखा इस जिले में पहले ज़माने में तालाबों की भरमार थी। लेकिन सब के सब सदियों की लापरवाही के कारण बिल्कुल भठ गये हैं। बरसात में उनमें थोड़ा पानी हो जाता है। लेकिन अक्तूबर खतम होते होते

सिंचाई की कठिनाई

सब पानी ख़तम हो जाता है। कुओं से पानी भरना जिले में काफ़ी आसान है क्योंकि यहां पानी

नज़दीक मिलता है। देखने में आता है कि यहाँ सिंचाई के कुएँ भी बहुत थे। लेकिन ग़रीबी और जहालत के कारण आधे से ज्यादा मरम्मत बिना बेकार हो गये हैं। ग़रीबी के कारण साधन न जुटने से कुओं की मरम्मत नहीं हो पाती है। लेकिन जब खेत बँटता जाता है और एक ही कुएँ से कई पट्टीदार सींचते हैं तो कौन मरम्मत करेगा, तय नहीं हो पाता है। इस तरह असंख्य कुएँ ख़तम हो गये हैं।

इसी तरह कुछ गरीबी के कारण और कुछ ग्राम-व्यवस्था के अभाव से लापरवाही के कारण सदियों से जिले में तालाब व कुएँ होते हुए भी आज किसान पानी बिना तरसते रहते हैं।

ऊपर की बातों से तुम देख सकती हो कि किसानों को खेती के काम में तीन महा संकट पड़े हुए हैं:—

१—थोड़ी ज़मीन का भी छोटे-छोटे टुकड़ों में दूर-दूर बँटा रहना।

२—खाद का सम्पूर्ण अभाव।

३—पानी की बिल्कुल कमी।

मैं जहाँ तक देख सका और विचार कर सका उसके अनुसार मैं समझता हूँ कि कोई भी राष्ट्रीय सरकार खेती की दिशा में सबसे पहले इन तीन समस्याओं को हल करे। बाकी बातें फिर होंगी। कल के पत्र में मैंने तुमको लिखा था कि सरकारी महकमा में ऊपरी और दिखावटी काम बहुत होता है। और हरेक समस्या को हल करने के लिए युरोप और अमेरिका के तरीकों की नक़ल करने की प्रवृत्ति होती है। मैंने एक पत्र में यह भी लिखा था कि कांग्रेसी सरकार भी उसी तरीके से चलना पसन्द करती थी; नीयत की शुद्धता की पालिश अवश्य लगा देती थी। अतः पहले सरकारी योजनाएँ कागज़ पर ही होती थीं और अब उनका अमल कुछ और होता दिखाई देने लगा। ग्राम-वासी के लिए सरकारी महकमे पहले निराकार परब्रह्म के रूप में थे; आज उनको साकार रूप दिखाई देने लगा। लेकिन रूप-रेखा वही पुरानी ही थी।

सुधरे बीज और सुधरे औज़ार

मैंने देखा कि महकमा वाले दो चीजों पर मुख्य रूप से जोर देते थे; सुधरे हुए बीज और खेती के लिए सुधरे हुए औजार का इस्तेमाल। सुधरा हुआ बीज कुछ अंश तक फ़ायदा पहुँचा सकता है। गेहूँ के बीज तो फयदा देते थे लेकिन अधिकांश बीज तो स्थानीय रूप से ख़रीद कर सवाई पर देने की प्रवृत्ति थी। इस पर कुछ मतभेद होते हुए भी हम थोड़ी देर के लिए यह मानने को तैयार हैं कि सुधरे हुए बीज से किसान का फायदा है और वाक़ई मैं मानता हूँ कि फ़स्ल की नस्ल सुधारने की जरूरत है। लेकिन आज समस्या इस बात की नहीं कि हमारे किसान की फ़सल घटिया दर्जे की है। आज की समस्या तो ऊपर बताये हुए तीन संकट की ही है। सरकार की सारी शक्ति उसी में लगनी चाहिए। अपने साधन फुटकर बातों में, पश्चिमी नक़ल में, खर्च कर अपव्यय नहीं करना चाहिए। लेकिन जैसा कि मैंने बताया है ऊपरी बातों पर विचार करके बीज और औजार को ही प्राधान्य दिया जाता है।

उक्त औजार भी गौर से देखा जाय तो बेकार ही हैं। अव्वल तो वे इतनी कीमत के होते हैं कि साधारण किसान गृहस्थ उन्हें इस्तेमाल नहीं कर पाते। कुछ खुशहाल गृहस्थ कभी-कभी महकमा के प्रचार से २—१ चीज़ें ख़रीद लेते हैं। लेकिन मैंने देखा है कि उनके यहां इन चीजों का इस्तेमाल नहीं होता है। फिर ये उन्नत औज़ार हमारे लिए किस हद तक मुफ़ीद हैं, इसका भी विचार होना चाहिए। इस पर भी खेती महकमा के विशेषज्ञों में मतभेद है। लेकिन मैं उस पर नहीं जाना चाहता हूँ। हमारे प्रान्त में हर साल करीब सब शहरों में नुमाइश हुआ करती है। उनमें खेती वाले उन्नत औज़ारों को दिखाते हैं और किसानों को समझाते हैं, इनको इस्तेमाल करो। लेकिन किसानों को विशेषज्ञों की बातें समझ में नहीं आती। मैं सरकार के कृषि के डिप्टी डाइरेक्टर से आलोचना कर रहा था।

वे कहते हैं कि इस ज़िले के किसानों के पास इतनी ज़मीन नहीं कि वे उनको आर्थिक दृष्टि से लाभदायक ('इकानोमिक होल्डिंग') कह सकें। दूसरी बात यह कि उनके पास खाद-पानी काफ़ी नहीं है। साथ ही यह भी कह डालते हैं कि किसान इतने सुस्त हैं कि किसी किस्म की उन्नति करना ही नहीं चाहते हैं। कहते हैं कि उन्नत औज़ार इनको इस्तेमाल करना चाहिए। चलो, इन्हीं बातों की परीक्षा की जाय।

अगर गांव वालों के पास इतनी ज़मीन नहीं है जिससे परिवार को खिला सकें और १ हल और १ जोड़ा बैल का पूरा काम देख सकें; अगर इतनी ज़मीन नहीं है कि ज़मीन की आमदनी से सारे परिवार को खाने को हो जाय तो उन्नत औज़ार के लिए और उसको चलाने लायक उन्नत बैल के लिए साधन कहां से लावेंगे। मान लो, खेती के महकमे के लोग कहीं से कुबेर का धन-भंडार पा जावें और सब को उन्नत औज़ार और बैल मुफ्त दे दें। फिर जब छोटे हल-बैल के लिए ही ज़मीन काफ़ी नहीं है तो बड़े बैल और उन्नत औज़ार को पूरा काम देने के लिए कहां से लावें और जब उनकी खेती परिवार भर की ही ख़ूराक पैदा नहीं कर सकती तो बड़े बैल की बढ़ती ख़ूराक कहां से लावेंगे।

हवाई बातें

दूसरी बात खाद पानी काफी नहीं है। यह भी खेती के विशेषज्ञ बताते हैं कि गहरी जोताई होने से नीचे की मिट्टी ऊपर आ जाती है और ज़मीन की नमी भी जल्दी सूख जाती है। यह सब लोग समझ सकते हैं कि गहरी जुताई में जब नीचे तक जमीन उल्टी पुल्टी होती रहेगी तो जितनी गहराई तक खाद पहुँचे उतनी खाद चाहिए और नमी सूख जाने से सिंचाई भी ज्यादा होनी चाहिए। और इन्हीं दो बातों के संकट का ख़ास तौर पर इस ज़िले के किसानों को सामना करना पड़ता है। अतः ज़मीन को ऊपर ऊपर जोत कर, जमीन की स्वाभाविक नमी का फायदा उठा कर और थोड़ी खाद डाल कर,

अपनी जो कुछ भी फ़सल पैदा कर लेते हैं, गहरी जुताई करके खाद-पानी-विना उससे भी हाथ धोना पड़ेगा।

लोग बहस में कहते हैं कि हम तो मस्ते से सस्ते हल देते हैं। यह ठीक है कि वे जो मेस्टन हल देते हैं, उसका दूसरे वैज्ञानिक हलों से कम दाम है। लेकिन एक तो उसका दाम (८-१० रुपया) भी अवध के किसानों के लिए ज्यादा है। फिर मेस्टन हल सिर्फ़ बरसात की पोली ज़मीन पर ही चल सकता है। इसलिए मेस्टन हल हो जाने से देशी हल से छुट्टी नहीं मिलती। उनको दोनों हल रखना पड़ता है। इसका मतलब और ख़र्चा। मैंने देखा है कि ये हल जल्द टूट जाते हैं और टूटने पर मामूली लोहार बना भी नहीं सकते। ऊपर की बातों से तुम्हारी समझ में आ जायेगा कि किसान जो इन औजारों को नहीं इस्तेमाल करना चाहते, इसका मतलब यह नहीं है कि वे बड़े दकियानूसी हैं। मैंने खूब देखा है कि किसान चाहे जितना बेवकूफ़ हो खेती के मुतल्लिक अपने फ़ायदे की बातें झट समझ जाता है। वे इन चीजों से उदासीन इसलिए हैं कि वे ठीक समझ जाते हैं कि इन औज़ारों को इस्तेमाल करने के लिए योग्य परिस्थिति नहीं है। इसी तरह कुछ उन्नत बीज भी फायदा कर सकता है। लेकिन वह आज की समस्या नहीं है।

किसान अपने लाभ को खूब समझता है!

मेरे कहने का मतलब यह न समझना कि मैं इन चीजों को बेकार समझता हूँ। इनसे अच्छी खेती हो सकती है, इससे कौन इनकार कर सकता है? लेकिन जिन बातों की सब से पहले आवश्यकता है उनको पहले करना चाहिए। तात्कालिक समस्या को, जिसके बिना मौजूदा तरीक़े से भी ठीक-ठीक पैदावार नहीं होती है, हल करके उन्नति के लिए परिस्थिति पैदा करने के बाद इन बातों को सोचना चाहिए। इस तरह पश्चिमी देशों की नकल से शक्ति व साधन का अपव्यय होगा।

मैं जब ये बातें महकमा वालों से कहता हूँ तो वे नाराज़ हो जाते हैं। वे कहते हैं कि आप लोग ऊपर-ऊपर से देख कर इसी तरह राय कायम कर के सारी उन्नति पर पानी फेर देते हैं। वे अपने अंकों से साबित करते हैं कि पिछले तीन साल में किस प्रकार इन औज़ारों की बिक्री बढ़ी है। अगर किसान इसमें फायदा न देखते तो पैसा खर्च करके क्यों लेते? इसकी भी रामकहानी सुनो। गांव में इन औज़ारों को ऊँचे किसान और जमींदार ही लेते हैं। वे दो कारणों से इनको खरीदते हैं। १—कुछ लोग ऐसे हैं जो सरकारी कर्मचारियों से मेल-मिलाप पैदा करके नाना प्रकार का फ़ायदा उठाते हैं। वे सरकारी कर्मचारी की नज़र में पड़ने का एक साधन समझ कर खरीदते हैं ताकि उनका नाम नोट हो जावे। २—कृषि वाले गांव में अपने आदमी-द्वारा इन औजारों के इस्तेमाल का प्रदर्शन करते हैं। पहले साल न ज़मीन की नमी खतम होती है, न स्वाभाविक उपजाऊपन सूखता है। इससे नतीजा अच्छा ही दीखता है। फिर औज़ार टूट जाने पर महकमा वाले उस गाँव के लोहार पर तो भरोसा करते नहीं। सिर्फ इस नतीजा को देखकर भी बहुत से खुशहाल किसान इसे खरीद लेते हैं। लेकिन मैंने देहातों में सैकड़ों घरों में देखा है कि इस किस्म के औजार कूड़ाखाने या भूसा घर के कोने या ऐसे ही स्थानों में पड़े रहते हैं और उनमें जंग लगता रहता है। कुछ तो इस्तेमाल बिना और टूट जाने पर मरम्मत बिना। इस-लिए इनके अंकों पर मुझको कोई भरोसा नहीं होता। मैं तो अपनी आंख-देखी और अनुभव पर ज्यादा भरोसा करता हूँ। ये आँकड़े भी बड़ी खतरनाक वस्तु हैं। आजकल हम लोग इन आँकड़ों के गुलाम बनते जा रहे हैं। दादा को मैंने कई जगह व्याख्यानों में शब्दों की गुलामी की बाबत कहते सुना है। उसी तरह यह अंक की गुलामी भी आधुनिक शिक्षित लोगों को अन्धा बना रही है। तुम लोग बुनि-यादी तालीम में अंकों पर बहुत ज्यादा जोर देते हो। देखना, इसकी

अति न हो जाय। नहीं तो फार्म के म्यानों को देखते देखते खाली आँख से परिस्थिति को देखने की दृष्टि-शक्ति ही खतम हो जायगी। फिर तो 'लेग्वा की धांधली' ही दिमागी दुनियाँ पर राज करती रहेगी।

इस तरह जब मैंने देखा कि इन बातों से कुछ तात्कालिक समस्या हल नहीं होती है तो मैं फिर ऊपर बताई तीन संकट की समस्या पर विचार करने और उनको हल करने की कोशिश करने लगा।

इस प्रयत्न में मुझको क्या-क्या अनुभव हुए, कहाँ कुछ कर सके, कहाँ-कहाँ बिल्कुल असफल हुए इत्यादि बातों पर कल लिखूँगा। आज कुछ देर भी हो गई और मेरी तबीयत भी कुछ ठीक नहीं है। इसलिए यहीं खतम करता हूँ।

---

[५७]

खेती की समस्याएँ

७—१२—४१

कल मैं इस सम्बन्ध में कोई पत्र नहीं लिख सका क्योंकि एक तो कल और दो पत्र लिखने पड़े। फिर घर से मेरे बड़े भाई साहब का मृत्यु-संवाद आ जाने से भी तबीयत कुछ सुस्त थी। लेकिन अब रोज न लिखने पर भी कोई हर्ज न होगा। लोग इतने धीरे-धीरे छोड़े जा रहे हैं कि छूटने में महीनों लग जायँगे। फिर धीरे-धीरे लिखने पर भी मेरी यह कहानी खतम हो ही जायगी।

हाँ, मैं परसों खेती महकमा के काम-सम्बन्धी अपना अनुभव लिख रहा था। सरकारी महकमों का काम ऐसा होता ही है; वे ग्रामीण वृत्ति से किसी चीज को नहीं देखते हैं। इसलिए हमेशा उल्टे रास्ते चलते हैं। ग्रामवासियों के शरीर की पुष्टि के लिए जब ये सुधार करना चाहते हैं तो "विटामिन चार्ट" छपवा कर बांटते हैं। भूल

जाते हैं कि आज विटामिन की समस्या नहीं है। समस्या तो पत्थर
से ही सही, किसी तरह पेट का गड्ढा भरने की
राधा के नाचने के हैं। अतएव अगर कोई सरकार वाकई खेती का
लिए नौ मन तेल सुधार करना चाहती है तो पहले इस बात का पता
का इन्तज़ार लगाना चाहिए कि गांव के किसान जिस तरीके से
अब तक खेती करते थे उस तरीके से ही पूरा पूरा
ढंग से करने में परिस्थिति के कारण क्या-क्या कठिनाई है या किन-किन बातों की कमी है। सरकार उन्हीं को पूरा कर दे। आज भी हमारे किसान खेती के तरीकों को अच्छी तरह जानते हैं। इस असम्भव परिस्थिति में भी वे जितना पैदा कर लेते हैं, मैं दावे से कह सकता हूँ आधुनिक खेती विशेषज्ञ उस परिस्थिति में हरगिज उतना नहीं पैदा कर सकते। फिर तुम किसको ज्यादा कुशल खेतिहर कहोगी? साधनहीन दशा में पैदावार में जो लोग दुनियाँ के बहुत से उन्नत मुल्कों का मुकाबला कर लेते हैं उनको, या जो लोग राधा के नाचने के लिए ९ मन तेल के इन्तज़ार में बैठे रहते हैं उनको? फिर इसका भी कोई निश्चय नहीं कि राधा नाचकर जितना अधिक पैदा करेगी उसकी कीमत ९ मन तेल की कीमत के बराबर हो सकेगी या नहीं।

इस प्रकार मैं विचार कर ही रहा था कि कांग्रेसी सरकार ने "चकबन्दी" का कानून-पास किया। मैंने समझा अब उसकी जड़ पर जाना सम्भव होगा। स्थानीय अधिकारी की मदद से मैंने यह काम करने की कोशिश की। कानून ऐसा था कि किसानों को राजी करके चकबन्दी की जाय। अतः मैं जहाँ-जहाँ जाता था इस बात की कोशिश करता रहा कि किसान तैयार हो जायँ तो मैं अधिकारी से मिलकर इसे कराने का यत्न करूँ। लेकिन मैंने देखा कि यह काम एक प्रकार से असम्भव है। मुझको इस बात में पूरी असफलता मिली। दरअसल आज की परिस्थिति में चकबन्दी हो ही नहीं सकती।

मैंने पिछले पत्र में लिखा था कि प्राचीन सम्मिलित परिवार के बंट जाने से खेती टुकड़ा-टुकड़ा होकर बँट गई है। इस बटवारे में तुम एक तरफ से आधा हिस्सा एक भाई को और दूसरी तरफ से आधा हिस्सा दूसरे भाई को नहीं दे सकती हो। उसमें हर प्रकार की जमीन को बांटना होगा। कुछ ऊंची जमीन है तो कुछ नीची। फिर कुछ जमीन इतनी नीची है कि सिर्फ जड़हन धान ही हो सकता है। कुछ जमीन मटियार होती है, कुछ दूमट जिसमें अलग फसलें अच्छी पैदा हो सकती हैं। कुछ जमीन गांव से दूर और कुछ नजदीक। इस दृष्टि से भी जमीन की कीमत में फर्क पड़ जाता है। फिर यह भी देखा जाता है कौन जमीन पानी के पास है, जंगली जानवर की पहुँच पर है या पेड़ों के छाँह में है; इत्यादि। इन्हीं बातों का ध्यान रखकर बँटवारा होता है। किसान जो लगान पर ज़मीन लेता है बँटवारा के पीछे वह भी इसी किस्म की हर तरह की ज़मीन से थोड़ा-भी एक तत्व है थोड़ा लेता है। अतः जो टुकड़ा टुकड़ा ज़मीन दूर दूर फैली हुई है वह ख्वामख्वाह गांव वालों की बेवकूफी के कारण हो गई है, ऐसी बात नहीं है। इसके पीछे एक निश्चित तत्व है; एक नियम है जो कम वैज्ञानिक नहीं है। हमारे यहाँ खेती बरसात के भरोसे होती है और यह प्रकृति देवी की ख़ामख़याली पर निर्भर है। कभी अतिवृष्टि, कभी अनावृष्टि। कभी कम बारिश, कभी कुछ ज्यादा। यह तो हमेशा लगा ही रहता है। हर क़िस्म की ज़मीन और हर किस्म की खेती होने के कारण ही इस किस्म की दैवी दुर्घटनाओं का सामना हमारे किसान कर लेते हैं। क्योंकि ये दुर्घटनाएँ हमेशा एक ही किस्म की नहीं होती हैं। इसलिए कभी कुछ ज़मीन फेल करती है, तो दूसरी ज़मीन कुछ दे देती है। इस तरह उनको हर परिस्थिति में कुछ औसत पैदावार मिल जाती है। हरेक किसान को हर किस्म की खेती से एक और फायदा है। यहां किसानों के पास इतनी ज़मीन नहीं है कि वे काफी परती छोड़कर ज़मीन बनाते रहें। इसलिए

वे हरसाल हेर-फेर करके अपना खेत बोते हैं। इसके लिए हर प्रकार की कुछ कुछ ज़मीन उनके पास होना ज़रूरी है।

मैं जब इस दिशा में कोशिश करता था तो टुकड़ा खेती के नुक-सान की बावत लोग मुझसे सहमत होते थे। उनको मालूम है कि एक चक की खेती कम ख़र्च से हो सकती है। लेकिन ऊपर बताये कारणों से वे चकबन्दी करने में असमर्थ थे। मैंने भी देखा कि जब-तक एक आदमी का थोड़ा खेत है जो कि 'विशेषज्ञों' की भाषा में में आर्थिक दृष्टि से लाभदायक ('इकानोमिक होल्डिंग') नहीं है तब तक वे इस तरह थोड़ी-थोड़ी ज़मीन हर किस्म के खेत से लेकर अपने देहाती विज्ञान से थोड़ा-बहुत लाभदायक बना लेते हैं। इसे विज्ञान के विशेषज्ञ लोग समझ नहीं सकते हैं।

ज़मीन की चकबन्दी की दिशा में मैंने जो कुछ प्रयत्न किया उस से मैंने देखा कि इसके लिए समय और शक्ति ख़र्च करना बेकार है।

दो ही उपाय

इस जिले में एक चक की खेती तभी हो सकेगी जब प्राचीन सम्मिलित परिवार प्रथा चल सके या गाँव के कुछ परिवार मिल कर खेती करें यानी खेतों के मामले में वे एक परिवार हो जायँ। इस समस्या के हल करने का कोई दूसरा रास्ता मेरी समझ में नहीं आया।

किसानों के जिन तीन संकटों के बारे में मैंने लिखा था उसमें से एक संकट का हाल तो मैं ऊपर लिख ही चुका। अब खाद की बात आती है। खाद बढ़ाने के लिए महकमा वाले जो तरीका बताते हैं वह मौजूदा हालत में भी व्यावहारिक मालूम हुआ। मैंने पहले ही कहा था कि आर्थिक परिस्थिति के कारण और चारा के लिए काफी ज़मीन न होने से इधर लोग मवेशी रख नहीं सकते हैं। इसलिए गोबर बहुत कम होता है। तिस पर भी लोग गोबर जला देते हैं। अतः जो कुछ खाद के लिए बचता है वह नहीं के बराबर ही है। लेकिन जब कि सारा जंगल कटकर खतम हो चुका है तो यह कहना कि "गोबर न जलाओ"

बिल्कुल बेकार है। आखिर जब लकड़ी है ही नहीं तो वे क्या करें। इस विकट समस्या को हल करने के लिए महकमा वाले दो बातों पर ज़ोर देते हैं और ठीक ही करते हैं। एक जितना गोबर वे खाद के लिए छोड़ते हैं उसको वैज्ञानिक रूप से गड्ढा खोदकर व्यवस्था के साथ सड़ायें। इधर खाद के लिए जो घूर खोदते हैं उससे खाद का हिस्सा खराब हो जाता है; कभी-कभी तो खेत के पास वैसे ही ढेर लगा देते हैं। खाद का गड्ढा बहुत बड़ा नहीं खोदना चाहिए। छोटे गड्ढे खोदकर जल्दी भर जाने के बाद उसे मिट्टी से बन्द कर देना चाहिए। फिर उसके चारों ओर एक मेड़ होनी चाहिए कि उसमें वर्षा का पानी बहकर न जा सके। वे लोग मवेशी का पेशाब भी इकट्ठा करके घर में डालने की हिदायत करते हैं। ये सब बातें ऐसे हैं कि ग्राम-समस्या पर विचार करने वाले सबों को मालूम है और तुम भी जानती हो इसलिए इस पर अधिक लिखना बेकार है। मैं जब देहातों में जाता था तो इन चीज़ों के लिए लोगों पर ज़ोर देता था। मुझे ज्यादा दिलचस्पी उन चीज़ों से थी जिनको महकमा वाले 'कम्पोस्ट' कहते हैं। इसको वनस्पति खाद भी कह सकते हैं। हरे और सूखे पत्ते और गांव के जंगल, गन्दगी, झाड़ू का कूड़ा सब इसमें काम आ जाता है। इन चीज़ों का ढेर लगाकर सड़ाया जाता है और बीच-बीच में उन्हें उल्टा-पुल्टा कर देना पड़ता है ताकि सब समान रूप से सड़ जाय। इस चीज़ के लिए मैं ख़ास तौर से कोशिश करता रहा। और काफ़ी कामयाब भी रहा। इस काम में मुझको दिलचस्पी इसलिए भी रही कि इसमें "एक पंथ दो काज" हो जाता है। जो कहावत है "आम के आम गुठली के दाम" उसी के अनुरूप यह भी खाद की खाद और गांव की सफ़ाई है। गांव वालों को अगर हम कहेंगे कि गांव की सफ़ाई करो तो वे नहीं करेंगे। चाहे हम ख़ुद उनके गांव साफ़ करते रहें तो भी वे नहीं करेंगे। गांव में बहुत से अच्छे संस्कार ख़तम हो चुके हैं। लेकिन

दूसरी बातों की कुछ न कुछ दबी हुई सोर पकड़ने को मिल जाती है जिसकी मार्फत आज बढ़ सकते हैं। लेकिन सफ़ाई के मामले में कहीं कुछ भग्नावशेष की गन्ध भी नहीं मिलती है। यानी हमारे गांव में सफ़ाई की वृत्ति या तो कभी थी ही नहीं या इस संस्कार का इस तरह ख़ातमा हो गया है कि किसान के दिल में आज किसी तरह का सुर निकालना सम्भव नहीं। वह तार ही नहीं तो स्वर क्या निकलेगा। इसलिए सफाई का संस्कार डालने के लिए किसी दूसरे रास्ते से ही घुसना पड़ेगा। हम लोग जब शुरू में रणीवां आये थे तो सफ़ाई की बाबत् अपना अनुभव क्या था, लिख चुका हूँ। उस समय मैंने बाहरी सफ़ाई त्यौहार, अनुष्ठान आदि की मार्फत ही करने की बात कही थी। साबुन का उद्योग चला कर सफ़ाई की समस्या हल करने का जो प्रयत्न करते थे उसकी बाबत् भी मैं लिख चुका हूँ। उसी प्रकार जब मैंने देखा कि हम खाद बढ़ाने के लिए 'कम्पोस्ट' की बातें करते हैं और यह किसानों को झट समझ में आ जाती है तो इस काम को गांव की सफ़ाई की समस्या हल करने का एक बहुत भारी साधन समझ कर मैं इस पर जुट गया। साधारणतया ग्राम-सेवा के काम में सफ़ाई का काम बहुत महत्व का है लेकिन ग्राम-सेवक के प्रति मेरा नम्र निवेदन है कि गांव में पहुँचते ही गांव की सफाई के लिए तूल-कलाम न शुरू कर दें बल्कि अपने आप सफ़ाई से रह कर अध्ययन करें कि कौन सा कार्य-क्रम गांव वालों को तात्कालिक लाभ देने वाला ऐसा है जिसकी मार्फत सफ़ाई हो सकती है। उसी को करने लग जायँ। हां, मैं अपने विषय से बहक रहा हूँ लेकिन वनस्पति खाद बनाने के सिलसिले में इतनी सफ़ाई की बात आ ही जाती है। वनस्पति की खाद का रिवाज चल जाने से एक फायदा और हो सकता है। देहातों में आदमी की टट्टी को गड्ढे में डालकर खाद बनाने के प्रयोग की बात भी मैंने सोची थी। पहले मैंने आश्रम में ही प्रयोग करने की कोशिश की। लेकिन दुर्भाग्य से कोशिश करने पर भी मैं आश्रमवासियों द्वारा इसे करा न सका।

जब आश्रमवासियों के साथ ही मैं असफल रहा तो गाँव के लोगों से क्या करा सकेंगे। इसलिए इसको शुरू ही नहीं किया। इस बात से मुझको बहुत शर्म और दुःख है। लेकिन हमारा चरित्र ही ऐसा है! पता नहीं, कब ठीक होगा।

सब से ज्यादा तकलीफ़ पानी की है। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि जितने तालाब थे वे सब के सब भट गये हैं और कुओं में से अधिकांश ख़तम हो चुके हैं। अब सवाल यह था कि इस समस्या का हल कैसे किया जाय। सरकार की ओर से इस मद में हमको जो ख़र्च करने को मिला था वह भी इतना अपर्याप्त था कि उससे एक कुएँ भर की मदद नहीं हो सकती थी। संसार में सभी चिन्ताशील लोगों का एकमात्र कथन है कि नहर से ही पानी की समस्या हल हो सकती है। यह बात ठीक है लेकिन यह सर्वकाल और सर्वदेश के लिए सही है या नहीं, इस पर विचार होना चाहिए। इत्तफ़ाक से जब हम लोग ग्राम-सुधार-सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करते रहे उसी समय हमारे ज़िले में नहर का महकमा खुल गया और उससे किसानों को खूब पानी मिलने लगा। मुझे भी नहर की बातों को देखने का मौका मिल गया। मैं महकमा के लोगों से परिचय करके इसके बारे में जानकारी हासिल करने लगा। नहर ज़िले के बहुत थोड़े ही हिस्से में आई हुई है। लेकिन उतने इलाके के किसानों को पानी का फ़ायदा खूब मिला। पानी की इफरात देख कर किसान नाच रहे थे। मैं जब उन देहातों में घूमता था तो खेतों को बिल्कुल हरा पाता था। लेकिन साल भर बाद ही लोगों में असंतोष दिखाई देने लगा। एक तो लोगों को समय से पानी नहीं मिलता था। फिर जैसा कि स्वाभाविक था जो लोग बड़े किसान थे, बड़े जमींदार थे और सरकारी कर्मचारियों से मेल-जोल रखते थे उनके यहां पानी पहले जाता था। यह शिकायत तो शुरू से ही थी। और महकमा की व्यवस्था ठीक करके दूर की

पानी की समस्या

जा सकती थी। लेकिन इफ़रात पानी होने से खूब पानी खेत में भर रखते थे इससे खेत बहुत ठण्डे हो गये। पानी काफी होने से फसल देखने में काफी ताज़ी मालूम होने लगी। इससे गोड़ाई के प्रति लोग उदासीन रहने लगे। जो लोग खेती के बारे में जरा भी ज्ञान रखते हैं वे जानते हैं कि अगर ठिकाने से गोड़ाई करके पपड़ी फोड़ न दी जाय तो जमीन के नीचे की सतह पर न हवा पहुँच सकती है और न रोशनी। इससे नीचे की सतह ख़राब हो जाती है। ज़मीन के नीचे हवा और रोशनी न पहुँचने से फसल की जड़ नीचे नहीं जाती है क्योंकि उसको तो जिधर आसानी पड़ेगी उधर जायगी। जड़ ऊपर ऊपर होने से एक नुकसान यह होता है कि जब ऊपर की सतह सूख जाय तो फिर से पानी से तर न करो तो पौधा जिन्दा नहीं रहता है। फिर वह पानी जरूरत से ज्यादा माँगता है और ज़मीन अधिक ठंडी हो जाती है। नतीजा यह होता है कि ज़मीन से गर्मी निकल जाने से अन्त में रबी की फसल खराब हो जाती है। सरकार पानी का दाम प्रति बीघा के हिसाब से लेती है; पानी की तादाद पर लगान नहीं लेती है इसलिए भी किसान पानी लेने में अन्धाधुंधी करते हैं।

पानी की इफरात के कारण एक और नुकसान होता है। पानी खेत से कट कर या बाहर फूट कर इधर-उधर फैल जाने पर किसान

पानी के इफ़रात से हानि

परवाह नहीं करते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि जितनी जगह इधर-उधर नीची है सब भर जाती है और सड़ती रहती है। वैसे तो सभी नीची जगहें नहर की वजह से हमेशा नम रहती हैं और उनमें काई जमती रहती है क्योंकि नहर के पानी की सतह उन ज़मीनों से ऊँची होने के कारण पानी का सोता नीची ज़मीन पर ख़ामख़ाह पहुँचता है। इस तरह नहर के पानी के सोते के कारण और खेत और बाहर के पानी के फैलने से नहर के पास के देहातों के आस-पास तमाम जगह सड़ती रहती है और गाँव का स्वास्थ्य ख़राब होता है।

पानी की निकासी रुकने से हानि

नहर की वजह से देहातों का स्वास्थ्य ख़राब होने का एक दूसरा कारण भी है। नहर के हो जाने से वर्षा के पानी को जो निकास के स्वाभाविक रास्ते होते हैं, रुक जाते हैं। यह ठीक है, नहरवालों ने जहाँ तक सम्भव हो सका पानी के निकास की नालियाँ बना दी हैं, लेकिन फिर भी पहले-जैसी स्वतन्त्रता से पानी नहीं निकल पाता है। इससे भी वर्षा का पानी जहाँ-तहाँ रुक कर ज़मीन ख़राब करता है और स्वास्थ्य का भी नाश होता है। जहाँ वर्षा बहुत कम होती है, आब-हवा काफ़ी खुश्क है, वहाँ यह पानी तो सूख भी जा सकता है लेकिन वर्षा-प्रधान देश में तो यह समस्या काफ़ी गम्भीर होती है। क्योंकि वर्षा जहाँ ज़्यादा होगी वहाँ पानी के निकास की स्वतन्त्रता अधिक चाहिए। वैसे रेलवे आदि से पानी का निकास रुकता ही था लेकिन नहर हो जाने से स्थिति और भयंकर हो गई।

एक और ख़तरा

मैं जब महकमा वालों से बात करता हूँ तो वे इन बातों को मानते हैं। वे तो इससे भी ज़्यादा नुकसान की बात करते हैं। उनका कहना है कि जिस इलाके में रेह ज़्यादा है उस इलाके में नहर से पानी में घुलकर तमाम ज़मीन में फैल जाती है। जिन इलाकों में अधिक दिन से नहर चल रही है उन क्षेत्रों में इसका दुष्परिणाम दिखाई देने लगा है, यह तो थोड़ी जानकारी रखने वाला भी जानता है। इस तरह फ़ैज़ाबाद ज़िले में भी जब कुछ दिन नहर रह जायगी तो कहीं सारी ज़मीन चावल ही चावल के लिए न रह जाय। क्योंकि चारो ओर से नमी ही नमी इकट्ठा होने से खेती में गर्मी रह ही न जायगी और इस कारण गेहूँ के लिए खेत ख़राब हो जायेगा। फिर रेह वाली जमीन हो जाने से, धान के अलावा और कौन फसल रह जायगी। और यह सबको मालूम है कि अवध में बहुत अधिक रेह है।

पानी की बाबत भी मैंने सैकड़ों किसानों से पूछा है। वे सब कहते

हैं कि नहर से कुएँ का पानी खेती के लिए ज्यादा फायदे का है। तालाब का पानी कुएँ के मुकाबले में उतना अच्छा नहीं होता है लेकिन नहर से वह भी अच्छा है, ऐसा सभी किसान कहते हैं। मैं जब पूछता हूँ कि फिर आप लोग कुएँ से क्यों नहीं सींचते हैं तो जवाब में वे कहते हैं एक तो नहर उनके सिर पर आ पड़ी है। दूसरे इतने कुएँ और तालाब अब रह भी तो नहीं गये।

क्या नहर सस्ती है?

यह कहा जाता है कि नहर सस्ती पड़ती है। आदमी कुओं से या तालाब से सींचेंगे तो वह महँगा पड़ेगा। यह बात मेरी समझ में नहीं आती है। मैंने पहले ही कहा था कि प्रत्येक परिवार में इतने आदमी हैं और ज़मीन इतनी कम है कि सब के लिए पूरा काम नहीं मिलता है। यह बात मैंने उस हालत में कही थी जब लोग कुएँ या तालाब के पानी से खेती करते हैं। यानी नहर से सिंचाई होने पर और लोग खाली हो जायँगे। वे लोग भी तो घर बैठे खायँगे। इसलिए सस्ता और मँहगा जाँच करने के लिए पानी के लगान को ही सिर्फ थोड़े देखना है; उस लगान में उनकी खुराक भी जोड़ दो, जो लोग नहर की वजह से बेकार हो जाते हैं। फिर तो नहर सस्ती भी नहीं पड़ेगी। ख़ास कर उस ज़िले में जहाँ ८-१० हाथ पर पानी मिलता हो।

मैंने जहाँ तक नहरी इलाकों में दौरा करके, क़िसानों से बात करके और नहर के विज्ञान की जानकारी रखने वालों से आलोचना करके देखा है उससे तो यही समझा कि नहर उन स्थानों के लिए मुफीद हो सकती है जहाँ पानी की सतह बहुत नीची हो, वायुमंडल खूब सूखा हो जिससे स्वास्थ्य खराब न हो सके, ज़मीन इतनी हो कि आबादी को ज़मीन में काफी काम हो और जहाँ वर्षा कम होती हो। लेकिन फैजाबाद जैसे जिले में, जहाँ पानी इतना नजदीक है, जहाँ आबादी इतनी है कि अगर बाल्टी भर भरकर भी सिंचाई करें तो भी

सबको काम न मिले, जहां वर्षा इतनी अधिक हो कि पानी के स्वतन्त्रता के साथ निकास की पूरी गुंजाइश लाज़मी हो और जहां रेह वाला ऊसर इतना हो, नहर फैलाना बेकार है। इससे तो सरकार अगर पुराने तालाब और कुओं का पुनरुद्धार करने में किसानों की मदद कर दे, कुओं की खुदाई में इमदाद दे दे तो ज्यादा फ़ायदा पहुंच सकेगा।

इन बातों को सोचकर मैं अपने ग्राम-सुधार महकमा में कुछ थोड़ा सा जो साधन था उसी के द्वारा तालाबों और कुओं के पुनरुद्धार के प्रयोग में लग गया।

प्रान्तीय सरकार ने ज़िले में ३०-४० कुओं की 'बोरिंग' करने का साधन दिया था। उनका तरीका यह था कि प्रत्येक सर्किल में २-१ कुआ बनवा दिया जाय। पानी के लिए कुछ और खर्च करने की मंज़ूरी थी जो गाव के कुओं की जगत बनाने की मदद देने के काम में आती थी। इतने कम साधन से किसी किस्म के प्रयोग करने की गुंजाइश नहीं थी। मैं चाहता था एक छोटे से क्षेत्र में १००-१५० कुओं में 'बोरिंग' करने की मदद दे सके और उस इलाके में जितने तालाब हो उन्हें खोदवाने का इन्तज़ाम हो सके। उस समय कांग्रेस का मन्त्रि-मंडल पद त्याग कर चुका था। इसलिए मन्त्रियों से कहकर कुछ मदद लेने की भी आशा नहीं थी। वैसे तो पिछले कुओं की 'बोरिंग' साल मे ही मैं इसका प्रयोग करने की सोच रहा था। लेकिन पिछले साल तो स्त्री-सुधार योजना को सफल बनाने की धुन थी। इसलिए इस दिशा में न कोई निश्चित योजना हो बना सका और न कोई काम ही शुरु कर सका। लेकिन मैं समझता था कि यह काम काफी खर्च का है इसलिए साल भर पहले से ही हमको जिले का जो पैसा मिलता था उसमें से बचाना शुरु किया था। इस साल भी मैंने कुएँ की जगत् का और 'बोरिंग' का सब रुपया इस प्रयोग में लगा देने की सोची। मैं इस बारे में कुछ

प्रयोग करने की सोच ही रहा था कि मि० मार्श, जो प्रान्तीय सरकार के ग्राम सुधार महकमा से अर्गनाइज़र थे, फैजाबाद स्त्री-शिक्षा का काम देखने आये। उनको मैंने अपने प्रयोग की बावत कहा। वे सहमत हो गये। लेकिन साल का आख़िरी समय आ जाने से कोई ख़ास मदद नहीं कर सके। फिर भी दूसरे जिलों से, जहां का 'बोरिंग' का काम ठीक से नहीं हो रहा था, ग्रांट का पैसा फैजाबाद के लिए दे देने का आदेश दे दिया। मैंने २० गांव घूम कर करीब ८०-६० कुओं की 'बोरिंग' की। 'बोरिंग हो जाने से उधर के किसान बहुत खुश हुए। वे कहने लगे कि नहर वालों से वे अच्छे रहे। मैं चाहता था कि पूस-माघ के महीनों में, जब किसान खाली रहते हैं, गांव वालों की मार्फत पुनरुद्धार कर सकूँ। लेकिन वह हो नहीं सका। २-१ जगह कोशिश की लेकिन एक तो अभी पंचायतों का संगठन इतना व्यवस्थित नहीं हो सका था फिर तालाब ख़ास व्यक्ति की सम्पत्ति होने से लोग उसके लिए मेहनत करने को तैयार नहीं थे।

कुओं के काम में चौड़े क्षेत्र में सफलता देखकर मैंने दूसरे साल के लिए उसी क्षेत्र में ५०० कुएँ 'बोर' करने की योजना बनाई। उस साल के प्रयोग के लिए प्रान्त से मदद मिल जाने से साल भर पहले जो रुपया मैंने बचा रखा था वह बच गया। उस साल का सारा रुपया भी बच गया और नये साल में 'बोरिंग' के प्रयोग के लिए हमारे ज़िले को विशेष रकम मिली थी और कुओं की जगत् वाला रुपया तो नये साल में भी मिला। इस तरह १५००) हमारे पास हो गया।

जिस इलाके में पिछले साल कुओं में बोरिंग का काम किया गया था उस इलाके में लोगों से बातचीत करने पर मालूम हुआ कि वे सब इसको बहुत उत्साह के साथ करना चाहते हैं। वे तो यहाँ तक तैयार हैं कि अगर सरकारी तकावी मिल जाय तो सामान और मज़दूरी अपनी

ओर से दे सकते हैं। वैसी हालत में हमारे पास जो साधन था उससे ५०० कुएँ ठीक हो सकते थे। इसकी योजना भी मैंने अपने कर्मचारियों को समझा दी। दिसम्बर से काम शुरू होना था लेकिन नवम्बर में ही कांग्रेस के लोगों ने ग्राम-सुधार से इस्तीफा दे दिया। फिर तो यह काम ज़िला मजिस्ट्रेट के हाथ में वही पुराने अधिकारी ढंग से गाव में कुछ लोगों की कुछ मदद करने वाली नीति से चलने लगा।

थोड़े समय में पानी-सम्बन्धी समस्या पर मैं जितना गौर कर सका उससे मेरी राय में अगर सरकार वाकई किसानों की मदद करना चाहती है तो उन क्षेत्रों में, जहां नहर बिना काम नहीं चल सकता है, नहर बनावे लेकिन मैंने जैसी स्थिति फैज़ाबाद के लिए पहले बताई है वैसी स्थिति वाले इलाकों में तो अगर विस्तृत रूप से नीचे-लिखे मुताबिक मदद किसानों को कर दे तो नहर की अपेक्षा उनको अधिक फायदा होगा।

एक योजना

१. जितने कुएँ ख़राब हो गये हों उनको ठीक करने और ज़रूरत पड़े तो उनमें बोरिंग करने में किसानों की मदद करना।

२. पंचायतों को व्यवस्थित करके उनके ज़रिये जितने तालाब हैं उनका पुनरुद्धार करना। इसके लिए सरकारी इमदाद देना।

३. बहुत-सी छिछली नीची ज़मीन देहातों में पड़ी रहती है जिसमें न खेती हो सकती है और न वह इतनी गहरी है कि पानी कुछ दिन ठहर सके। हमारे ज़िले में इसे ताल कहते हैं। इस किस्म की ज़मीन बहुत विस्तृत होती है। कभी कभी ५०० से १००० बीघे तक होती है। इनको सरकार को मुआवज़ा देकर ले लेना चाहिए। उनके बीच में खोद कर बड़े बड़े तालाब बना दे और चारों ओर जो जमीन निकल आवे उसे चरागाह बना दे। सरकार चाहे तो ऐसे पब्लिक चरागाह में मवेशी चराने की फीस लेने का अधिकार रखे और उसके जरिए चरागाह और तालाब का इन्तज़ाम करे। इसमें पानी का

और मवेशी चराने का दोनों काम हो सकता है। अभी ये ज़मीनें बेकार पड़ी रहती हैं।

आज मैंने बहुत लिखा। कल की न लिखने की कसर पूरी कर दी। आज मैंने बहुत सी ऐसी बातें लिखी हैं जो चालू बातों के खिलाफ हैं। मुमकिन है, विशेषज्ञ के लिए ये बातें बिल्कुल बेवकूफी की हों। लेकिन मैंने जो कुछ देखा और उस पर से जो कुछ राय कायम की उसी को लिख दिया। आज दिन भर लिखता ही रहा। अतः अब थक गया हूँ।

---

[५८]

सुधार महकमा का काम

९—१२—४१

कल फिर कुछ नहीं लिख सका। कल के अख़बार में जापानी लड़ाई शुरू होने की ख़बर निकली थी। इससे जेल भर में तूफान था। इधर जेल में ज़ोरों की अफ़वाह उड़ रही थी कि देवली के साम्यवादी लोगों ने लड़ाई में सरकार की मदद करने का निश्चय किया है। यहां के साम्यवादियों में भी हलचल रही। चारों ओर आलोचना ही चल रही है। अब कांग्रेस क्या करेगी। कोई कुछ कोई कुछ कहता है। इस तरह जेल भी आज कल विवाद सभा हो रहा है। अच्छा है, सप्ताह भर ऐसा ही रहेगा। समय कटेगा, पता ही नहीं लगेगा। मैं भी उसी गोल में पड़ गया इससे कल कुछ नहीं लिख सका।

इधर के कुछ पत्रों में सहकारिता और खेती-महकमा के सम्बन्ध में मैंने क्या-क्या अनुभव किया था उसे बताने की कोशिश की। आज ग्राम सुधार महकमा ख़ास के ज़रिये क्या-क्या काम कर सका उसकी बाबत कुछ लिखने की चेष्टा करूंगा। मैंने पहले ही लिखा था कि

महकमा में अपने मतलव की ज्यादा नहीं कर सकते। प्रोग्राम ऊपर से आता है फिर भी कुछ अपने मतलव की वातें तो निकाल ही लेता था। ग्राम-सुधार के महकमा से केवल पांच ही वातें कर सकते थे।

१ पंचायत घर। २ कुआँ आदि की मरम्मत। ३ गली कूचा तथा गाँव में जाने का रास्ता ठीक करना। ४ शिक्षा। ५ स्काउटिंग।

पंचायत घर के और कुओं की वावत जो कुछ किया या सोचा सब पिछले पत्र में कह दिया। गांव के कुओं की जगत और रास्ता वगैरह वनाने के काम में मैं अपना समय या शक्ति नहीं लगाता था। वह काम सेक्रेटरी और इन्सपेक्टर पर छोड़ दिया था। मैं सिर्फ शिक्षा पर ही विचार करता रहा। अपने साथी काम करने वालों से मैं कहा करता था—"अगर आदमी वन जायँगे तो कुआँ सड़क वे खुद वना लेंगे। लेकिन आदमी न वनेंगे तो तुम लोग जो कुआँ वनवाओगे वे उसकी ईंट निकाल कर चूल्हा या नावदान वना लेंगे। और सड़क जो वना दोगे उसे खोद डालेंगे।

तुमको पहिले ही लिखा था कि ग्राम-सुधार के लिए स्त्रियों का सुधार पहले होना चाहिए, ऐसा मैं समझता हूँ। इसलिए किस तरह शिक्षा का पैसा स्त्री सुधार-शिक्षा में लगा दिया था और ५० सुधार के केन्द्र खोल दिये थे इसका विस्तृत विवरण भी लिख चुका हूँ। स्त्री-सुधार व शिक्षा-केन्द्रों को स्थापित करते ही मैंने अपना ध्यान पुरुषों की शिक्षा और स्काउटिंग पर लगाया।

प्रौढ़ शिक्षा का जो सरकारी कार्यक्रम था उसके अनुसार प्रत्येक सर्किल के कुछ पढ़े-लिखे नौजवानों को ३) से ५) मासिक देकर रात्रि-पाठशाला खुलवाना था। मैंने पहले ही तुमको लिखा था कि स्त्री-शिक्षा केन्द्र खोलने के लिए इन सबको वन्द करा दिया था। अब प्रान्तीय सरकार के स्त्री-सुधार का काम मंजूर कर लेने से प्रौढ़ शिक्षा वाला साधन खाली हो गया था। इधर महकमे की ओर से ग्रामीण स्काउटों का संगठन करने के लिए प्रत्येक जिले के लिए एक स्काउट

अर्गनाइजर मिल गया। यह तो तुमको मालूम ही है कि सरकारी काम दिखावटी होते हैं। एक स्काउट आर्गनाइज़र ज़िले भर घूम कर कुछ क़वायद करा दे इतना काफ़ी था। मैंने सोचा प्रौढ़ शिक्षा और स्काउटिंग को मिलाकर अगर हम योजना वनाते हैं तभी तो यह काम स्थायी रूप से चल सकेगा। गाँव के लोग इतने लापरवाह हो गये हैं कि विना स्थायी केन्द्र वनाये उनके जीवन में कोई स्थायी परिवर्तन नहीं आवेगा अतः मैंने तय कि कुछ लड़कों को ३।४ रुपया मदद करके गाँव में सिर्फ रात्रि पाठशाला चलाने के वजाय एक सर्किल में एक योग्य कार्यकर्त्ता पूरे समय के लिए ले लिया जाय और वह रात को प्रौढ़ पाठशाला चलावे और दिन को स्काउट-संगठन करे। जो जिला अर्गनाइज़र सरकार की ओर से मिला है वह इनके काम का निरीक्षण करे।

प्रौढ़ शिक्षा और स्काउटिंग

इस प्रकार पूरे समय के लिए कार्यकर्त्ता का इन्तज़ाम हो जाने से मैंने २।३ केन्द्र के लिए २३ नौजवान भर्ती कर लिये और रणीवां में ढाई माह के लिए ग्राम-सेवक शिक्षा-शिविर खोल दिया। इसका कार्यक्रम वही था जो आश्रम की ओर से प्रौढ़-शिक्षक-शिविर में था। उनको चर्खा, ग्राम-समस्या और स्काउटिंग की शिक्षा भी दी जाती थी। उनसे सिर्फ तीन काम लेने का विचार थाः—

१ चर्खे का प्रचार। २ प्रौढ़ शिक्षा। ३ गाँव की सफाई। इसके अलावा परिस्थिति को देखकर दूसरा काम देने का विचार किया था। इसी दृष्टि से शिक्षा दी गई।

इन २३ शिक्षकों ने अपने-अपने सर्किल में जाकर ठीक उसी किस्म का एक-एक स्काउट-शिक्षा-शिविर खोला। इन शिविरों के लिए कोई सरकारी मदद नहीं मिली थी। सारे खर्च का भार स्थायी पंचायतों ने उठाया। इन शिविरों में ११ शिक्षक प्रति शिविर के हिसाव से शिक्षक की शिक्षा हुई। इस प्रकार २३ सर्किलों में १५३ शिक्षा-केन्द्र खुल

सके। इन केन्द्रों से गाँव की जनता के सुधार-काम में बहुत उत्साह दिखाई देने लगा।

प्रान्त के ग्राम-सुधार अफ़सर जब ज़िले में आये तो स्काउटों की भरमार देखकर कहने लगे कि इतने स्काउट कहां से आये? मैंने उन्हें अपनी योजना समझाई। उन्होंने पूछा इतनी वर्दी कहां से आवेगी। मैंने कहा कि मैं तो सबको चर्खा सिखा रहा हूं और ३ पूनी प्रति सप्ताह कातने की प्रतिज्ञा लेना नियम में रखा है। इसी से वर्दी हो जायगी। उन्होंने इसको बहुत पसन्द किया और सारे प्रान्त के लिए इसे चला दिया। जब प्रान्त भर के लिए शिक्षा शिविरों का इन्तज़ाम हुआ तो मैंने इनका फ़ायदा उठाकर दुबारा केन्द्रीय शिविर खोल करके सफ़िल शिक्षकों को फिर से बुला लिया। इससे उनकी शिक्षा और अच्छी हो गई।

इस बार शिविर में एक और बात का प्रयोग करने की कोशिश की। मुझको मौजूदा स्काउटिंग का तरीका पसन्द नहीं था। वह सब दिखावटीपन से भरा था। इससे गांव के किसानों की सुस्ती तो थोड़ी ज़रूर हटती है, लेकिन उनके जीवन में बहुत लाभ नहीं होता था। इसलिए कवायद में खेती की जितनी क्रियाएँ होती हैं, उनकी शिक्षा कवायद रूप से देने की विधि निकालना शुरू किया। इस तरह फावड़ा-ड्रिल, खुरपा ड्रिल, चर्खा ड्रिल आदि की शिक्षा देकर ग्रामीण स्काउटिंग को किसान-लायक बनाने का प्रयोग करता रहा।

मेरा विचार था कि इसी योजना की मार्फ़त गांव के किसानों के जीवन को संगठित करने की कोशिश करूँगा। लेकिन इसी समय हम लोग महकमा से अलग हो गये।

आश्रम, सरकारी महकमा और ग्राम-सेवा की मार्फ़त जो कुछ प्रयोग में अनुभव हुआ सब कुछ इतने दिनों में कह डाला। मुमकिन है, इसमें कुछ नतीजा देश के और हिस्सों के लिहाज से गलत हो। मेरी राय भी शायद दोषपूर्ण हो क्योंकि मेरा अनुभव प्रायः एक ही

ज़िले का है। मैंने सिर्फ गांव में जो कुछ देखा, सोचा और किया उसी को लिखकर अपना वादा पूरा किया। फिर जेल से बाहर जाकर अगर कुछ काम करने को मिला तो और ज्यादा अनुभव होगा। तब तो ज़्यानी भी बता सकूँगा।

अब यहीं खतम करता हूँ। नमस्कार।

---

[५६]

ग्राम-सेवा की वृत्ति और सेवक की जिन्दगी

१०—१२—४१

कल के पत्र में मेरी ग्राम-सेवा की कहानी खतम हुई। तुमने देखा होगा, शुरू से ही गांव के काम में मेरी रुचि थी। रणीवाँ में जिस प्रकार योजना का सूत्रपात हुआ उसकी कुछ कल्पना १६१६ में हुई। फिर कुछ रास्ना में प्रयोग करने का प्रयास हुआ। बाद में सन् १६३५ से १६४१ यानी ६ साल तक लगातार इस दिशा में प्रयोग करते रहे। सरकारी साधन की भी सहायता मिली; तब जाकर योजना का साकार रूप दिखाई देने लगा। इससे समझ सकती हो, गाँव में कुछ करने के लिए कितने धैर्य्य की ज़रूरत पड़ती है। प्रायः ग्राम-सेवक इसी से घबड़ा कर भागते हैं। सरकारी ग्राम-सुधार भी दो साल तक करने को मिला। पहले-तो मैं कुछ उदासीन था इसलिए कि उसमें हो ही क्या सकेगा, फिर उधर ध्यान दिया। स्त्री शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा व स्काउटिंग की मार्फ़त सुधार करने की कल्पना का प्रयोग व आयो-जन कर रहा था। कुछ खेती की व कर्ज की समस्या पर भी अध्ययन कर रहा था। २-३ साल तो अध्ययन, विचार, प्रयोग और आयो-जन में ही लगता है, फिर कुछ ठोस काम का रूप मालूम होता है

लेकिन उद्योग पूरा नहीं होने पाया कि यवनिका पतन हो गया और महकमा का दृष्टिकोण ही वदल गया। इसलिए मेहनत तो बहुत की लेकिन किसी किस्म के स्थायी रूप का सूत्रपात ही नहीं हो सका। लेकिन महकमा के काम से मुझको निजी फायदा वहुत हुआ। ग्रामीण समस्या का अध्ययन और अनुभव जितना इन दो सालों में हो सका उतना कोई भी किताव पढ़ने से न होता।

अव तो ८ माह हो गये; जेल में बैठा हूँ। इससे भी फायदा हुआ। एकान्त में बैठकर विचार करने का मौका मिला। पिछले २० साल की कहानी तुमको लिखने के वहाने उनको स्मरण करना पड़ा। पिछली ग़लतियों पर भी ग़ौर कर सका; इससे भविष्य में फायदा ही होगा। देहातों की वास्तविक समस्या पर जितना भी विचार किया जाय उतना थोड़ा है। यह समस्या इतनी जटिल है कि कभी-कभी दिमाग खराव हो जाता है। ग्राम-समस्या हल करने का काम कितने महत्व का है, इसको कहना ही वेकार है। सरकारी, गैर-सरकारी सभी दल वाले इस वात पर ज़ोर देते हैं कि ग्राम में जाकर ग्रामीण जनता को उठाओ। आज इसके सिवाय देश में कोई दूसरी आवाज सुनने को नहीं मिलती है।

जव से मैं जेल आया हूँ और नये-नये लोगों से परिचय हुआ है, तो प्रायः सभी लोग पूछते हैं कि गांव में काम करने के लिए कोई स्कीम वताइए। दरअसल यह वताना मुश्किल ही है। प्रत्येक देश, प्रत्येक काल के लिए तो ग्राम-सेवक को खुद ही परिस्थिति देख कर स्कीम तय करनी होगी। हमको सिर्फ़ इतना देखना है कि हमें किस वृत्ति से काम करना है और ग्राम-सेवक की तैयारी कैसी होनी चाहिए।

अव तक सरकारी, गैर-सरकारी जितना भी ग्राम-सुधार का काम हुआ है उनको देखा जाय तो उसमें प्रधानतः तीन वृत्तियाँ पाई जाती हैं:—

१—दया-वृत्ति। २—उपदेशक वृत्ति। ३—सेवा-वृत्ति।

१—आजकल जहाँ कहीं ग्राम-सुधार का काम होता है अधिकतर, ग्राम-सेवकों की प्रथम प्रकार की वृत्ति होती है। हम अपनी परिस्थिति को देखते हैं और गाँव वालों की परिस्थिति से तुलना करते हैं। फिर देखते हैं कि गाँव के लोग बहुत ग़रीब हैं। उनके पास रहने का घर नहीं है; जो है वह टूटा फूटा है। उनके पास पहिनने का कपड़ा नहीं है। गाँव में जाने के लिए कीचड़ पर से चलना पड़ता है; वे उसे बनवा नहीं सकते। उनके कुएँ टूटे हुए हैं। बेचारे गाँव वाले नंगे, भूखे, गन्दे और साधनहीन हैं। अतः इनकी कुछ मदद करनी ही चाहिए। उनमें कुछ दवा बाँटनी चाहिए। कुछ मदद उनकी सड़क बनाकर करनी चाहिए। कुछ कुओं की मरम्मत द्वारा करनी चाहिए। वे गन्दे रहते हैं, उनको कुछ साबुन देना चाहिए। उनके बच्चों को कुछ कपड़े देना चाहिए। कहीं से पैसा लाकर स्कूल खोलना चाहिए।

दयावृत्ति से सेवा

इसके पीछे उदारचेता लोगों की करुणा व दया की भावना है। दान देना दया की वृत्ति है। दान देने वाले उनको छोटे, दीन व हीन समझते हैं और उन पर दया करते हैं। शहर के पढ़े-लिखे मध्यम श्रेणी के लोग संभ्रान्त श्रेणी के लोग, जिनके हृदय कुछ कोमल हैं, उच्च श्रेणी से निकले हुए राष्ट्रीय सेवक और सरकारी महकमा के कर्मचारियों में इस किस्म की वृत्ति पाई जाती है। लेकिन ऐसी दया और करुणा वृत्ति को पूरा करने के लिए ये लोग साधन लाते कहाँ से हैं? जो लोग अपने को शिक्षित भद्र श्रेणी के कहते हैं उनके पास जो कुछ साधन है वह मिला है डाक्टरी की आमदनी से, वकालत से, सरकारी नौकरी से, या तिजारत से। यह आमदनी आती है उसी गाँव के बेचारे लोगों से, ज़मींदार की आमदनी है उन्हीं की लगान से। राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता के पास है उसी पब्लिक के चन्दे से और सरकारी मुहकमा का धन भी उन्हीं से है। फिर यह मेहरबानी किस पर? किसका धन किसको करुणापूर्वक दान देना है? १०००) की हैसियत

के आदमी से पूरा हज़ार रुपया छीन लेने के बाद जब वह भूखों मरे तो ५) मदद करने की उदारता कैसी? अगर कोई किसी को खूब बेंत मार कर सारे शरीर में घाव पैदा कर दे, फिर उसको ठेले पर लाद कर अस्पताल भेज दे और यह कह कर अपने को सन्तोष दे कि हमने उस दुखी शरीर पर मरहम पट्टी का इन्तज़ाम कर दिया है तो उसकी इस उदारता को तुम क्या कहोगे? हमारे ग्राम सेवकों को इस प्रकार के दम्भ से अपने को बचाना है और अपना दृष्टिकोण साफ़ रखना है। ग्राम-सेवक को समझना चाहिए कि गांव के लोग दीन हो सकते हैं, हीन नहीं। यह सही है कि वे इतने बेबस हो गये हैं कि इस अपमान को महसूस नहीं करते। तुम्हारा दान पाकर तुमको आशीर्वाद करते हैं। कुछ अर्से पहले सड़क, रेलगाड़ी और अस्पताल पाकर अंग्रेज़ी सरकार को भी 'माई बाप' कहते थे। लेकिन यह आशीर्वाद, यह माई बापपना तभी तक है जब तक वे इस अपमान को महसूस न करें। इस वृत्ति से देने वाले और लेने वाले दोनों का नैतिक पतन होता है। देने वालों का बड़प्पन के दम्भ से और लेने वालों का बेबसी की हीनता से। हमारे राष्ट्रीय सेवकों में अधिकतर लोग इसी वृत्ति के असर में रहते हैं क्योंकि वे उच्च श्रेणी-प्रधान समाज के संस्कार के अधीन रहते हैं। ऐसे समाज में भी अपना स्थान, मर्यादा की मोह, छोड़ नहीं पाते हैं। मैंने यह भी देखा है बहुत से ख़ास ग्राम-सेवक, जिन्होंने अपना जीवन सेवा के लिए अर्पण कर दिया है, अपने पूर्व पुरुष के उच्चकुलीन बड़प्पन के संस्कार के वशीभूत होकर अनजान में इस कृपा-वृत्ति के असर में आ जाते हैं।

ग्राम-सुधार की समस्याओं को सोचने वाले कुछ बुद्धिजीवी लोग होते हैं। वे समझते हैं, गांव वाले जाहिल अपढ़ तो हैं ही, उनके पास बुद्धि कहां से हो। वे बेवक़ूफ़ हैं और नासमझी के कारण तकलीफ़ भोगते हैं। अतः उनको अच्छी ज़िन्दगी का ज्ञान कराना चाहिए। उनके घरों में रोशनदान नहीं होता है; रोशनदान का

फायदा बताना चाहिए। संतुलित भोजन किसे कहते हैं, उन्हें मालूम नहीं। सफ़ाई किसे कहते हैं, गन्दा रहने से क्या-क्या नुकसान होता है, मक्खियाँ कितनी भयानक चीज़ हैं, रोग के जीवाणु कैसे फैलते हैं, रोगों का प्रतीकार किस तरह हो सकता है, बच्चों को कैसे रखना चाहिए, प्रसूता को किस तरह रहना चाहिए; गाँव वालों को इन बातों की जानकारी कराने के लिए बड़े-बड़े पोस्टर बनाना चाहिए; पर्चे छपवा कर बँटवाना चाहिए; मैजिक लैंटर्न का खेल दिखाना चाहिए; सिनेमा बनवाना चाहिए और गाँव-गाँव प्रचार करना चाहिए। वे भूल जाते हैं कि गाँव वाले साधनहीनता के कारण कितने मजबूर हैं। इसी प्रकार की वृत्ति वाली बहुत सी समितियां हैं। ऐसी वृत्ति को मैं उपदेशक वृत्ति कहता हूँ।

उपदेशक वृत्ति वाली सेवा

तीसरी वृत्ति है गाँव में ग्रामवासी जैसा बसना, उनकी सेवा करना, उनकी शक्ति का परिचय करना, अपने आचरण से बताना कि परिश्रम से क्या क्या हो सकता है। हनुमान जी के अन्दर ताक़त थी; वे भूल गये थे। उनको याद दिला कर ही उनसे विराट काम लिया गया था, कन्धे पर चढ़कर नहीं। फिर हनुमान जी को कौन कन्धे पर चढ़ाता? अगर कोई चढ़ाने का दुस्साहस भी करता तो कन्धा टूट जाता। उसी तरह ग्राम-वासी की अन्तर्निहित शक्ति सुप्त है। उसी को जाग्रत करके उनके विस्तृत सामर्थ्य की याद दिला कर ही योग्य सामग्री का उत्पादन करना है। उनको उनके अधिकार समझाकर, उत्साह को बाहर जाने न देकर अपने भोग में लाने का साहस दिलाना है। बाहरी साधनों पर भरोसा न कर स्वावलम्बी भावना पैदा करनी है। कोई चाहे कि बाहरी साधन से यानी कन्धे पर चढ़कर ग्रामीण समस्या की दरिया पार करा देंगे तो वह उस विराट बोझ को सह नहीं सकेगा, कन्धा टूट जायगा। इस प्रकार ग्राम-वासी के साथ मिल कर उसकी शक्ति का

वास्तविक सेवा-वृत्ति

परिचय करा कर उन्हें स्वावलम्बी बनाने में मदद करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

इस प्रकार की सेवा करने वालों को अपना जीवन भी नियमित करना होगा। उनको अपना चरित्र हमेशा ही माँजते रहना होगा। सेवा भी तो एक कला ही है। कुशल कलाकार हमेशा अपना औज़ार घिस कर तेज रखेगा, उसे शुद्ध रखेगा और सजावट ठीक रखेगा। सेवक का जीवन ही अपनी कला का औज़ार है; उसे तेज़ रखना होगा, साफ़ रखना होगा, व्यवस्थित रखना होगा।

सेवक का जीवन ही उसकी कला की तूलिका है

दूसरी बात यह देखनी होगी कि उस पर कोई दूसरे रंग का शेष तो नहीं रह गया है। ललित कला का कारीगर अपने चित्र-पट को जिस रंग से चाहता है वह अपनी तूलिका सिर्फ़ उसी रंग से रँगता है। अगर उसके ब्रश में दूसरा रंग रह जाता है तो चित्रपट ही बदरंग हो जायगा। सेवक समाज को जिस आदर्श से रँगना चाहते हैं अपने जीवन पर भी सिर्फ़ उसी रंग को चढ़ाना होगा। नहीं तो वह जो कुछ करेगा बदरंग होगा। साथ ही उनको दारिद्र्य व्रत भी ग्रहण करना होगा। अपने निजी ख़र्च और सार्वजनिक धन का ख़र्च करने में बहुत ही मितव्ययी होना है। हमारे नवीन राष्ट्रीय सेवक इस वृत्ति को पसन्द नहीं करते। वे कुछ ठाट-बाट की सजावट पसन्द करते हैं। अगर वे ठाट-बाट से न रहें तो आजकल सजावट-पसन्द समाज में लोग उनको पीछे ढकेल देंगे, उनको ऐसा डर हमेशा लगा रहता है। सार्वजनिक धन को भी उदारता से ख़र्च करते हैं। उसका कारण कुछ अपनी पैतृक उच्च श्रेणी वाली दया का संस्कार है जो परोक्ष रूप से उनके आचरण पर असर डालता है। दूसरा कारण लोक-प्रियता का मोह है। उनके तमाम व्यवहारों को देखकर यह मालूम होता है कि वे किसी रईस के कर्मचारी हैं, ग़रीब जनता के नौकर नहीं। सेवा वृत्ति से ग्राम-सेवा करने वालों को समझना चाहिए कि हम कंगाल बेकस

मैनेजर हैं। उनके मालिक भूखे, नंगे जन हैं। हम उनके नौकर होकर उनसे शान से कैसे रहें? यह तो सभी जानते हैं कि जिनका नौकर मालिक से ऊँची हैसियत से रहता है वह मालिक का दिवाला जरूर निकाल देगा। अतः अगर सेवक पैतृक संस्कार के कारण, शारीरिक असमर्थता के कारण कुछ विषय में समझौता करता है तो उसे मजबूरी और कमजोरी समझें। कमजोरी से समझौता तो जहां तक सम्भव है कम से कम होना चाहिए। ग्राम सेवक को गांव वालों को बेवकूफ़, गन्दे कहकर नाक नहीं सिकोड़नी चाहिए। उनकी श्रद्धा से सेवा करनी चाहिए। जिसे हम बड़ा समझ कर श्रद्धा नहीं कर सकते हैं उसकी सेवा कैसे करेंगे। ग्राम-सेवक सदियों की सड़ी हुई नमी के कारण बदबूदार कमरों को अपना कमरा समझता है। तेल पसीना और मिट्टी के लेप वाली बदबूदार चारपाई पर अपना समझ कर बैठता है। नाक से सर्दी बहती हुई आंख में कीचड़ चपके हुए मुख-मंडल पर मक्खी भिनभिनाती हुई, ऐसे बच्चों को अपने बच्चे समझ कर प्यार करना होगा। घृणा का कोई स्थान नहीं।

आप एक कंगाल मालिक के सेवक हैं

ग्राम-सेवक को इसी तरह सेवा-वृत्ति से और चारित्रिक तैयारी के साथ गांव में जाना चाहिए। उनके लिए कोई बनी-बनाई स्कीम नहीं है। वह तो ग्राम में जाकर ही मालूम होगी। तुमको बिहार भूकम्प का हाल मालूम ही है। आरियन दा और तुम जाने वाले थे; शायद तुम नहीं जा सकीं। लेकिन बातें तो मालूम ही हैं। भूकम्प से जब सारा प्रान्त विध्वंस हो गया था तो चारों ओर से कर्मी लोग दौड़ पड़े थे। उन्होंने कोई प्लान नहीं सोचा, स्कीम नहीं सोची; वे सिर्फ दौड़ पड़े। वहां जाकर विशाल विध्वंस को देखकर लोग किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये थे। क्या करें, कहां से और कैसे शुरू करें, समझ नहीं पा रहे थे। उसी समय मौके पर पं० जवाहरलाल जी आये और फौरन फावड़ा लेकर खोदने लगे। "सोचना क्या? खोदो?" की आवाज़ प्रतिध्वनित

हुई। सहस्र खन्ती, सहस्र फावड़े चलने लगे। क्या करना है, पहले से कैसे सोचते? किसको मालूम किस स्तूप के नीचे कौन सम्पत्ति, कौन प्राणी दबा पड़ा है। पुनर्गठन तो तभी हो सकता था जब मलबा हट जाता और दबी हुई सम्पत्ति बाहर निकलती।

कुसंस्कारों के मलबे के नीचे मानवता दबी पड़ी है

सदियों की अवहेलना से, लूट और शोषण के प्रहार से हमारे ग्रामीण समाज की प्राचीन विधि व्यवस्थाएँ और आर्थिक, धार्मिक नैतिक व व्यावहारिक संस्कारों की इमारत का चकना-चूर हो गया। और उस ध्वंसावशेष के ढेरों के नीचे मालूम नहीं कौन सी सम्पत्ति, कौन-सी मानवता दबी पड़ी है। अगर आज ग्रामीण समाज का ध्वंस से उद्धार करना है; समाज की पुनर्स्थापना करनी है तो सेवकों को दौड़ पड़ना होगा और जवाहरलाल की वह आवाज़ "सोचना क्या? खोदो!" के अनुसार खोदना शुरू करना होगा और जब प्राचीन व्यवस्था का ध्वंसावशेष और कुसंस्कारों का मलबा हट जायगा, भीतर से प्राचीन व्यवस्था और संस्कृति की सम्पत्ति निकल आवेगी, तभी ग्राम-समाज का पुनर्गठन व रचना हो सकेगी।

ग्रामीण जीवन की प्राचीन अग्नि, प्राचीन चरित्र की ज्योति सदियों से राख और धूल के नीचे दब जाने पर आज चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई दे रहा है। लेकिन ग्राम-सेवक को निराश नहीं होना है। भीतर की आग की गर्मी राख और धूल भेद करके आज भी ऊपर दिखाई देती है। सेवक को इस अन्धकार में प्रकाश डालना है। वह बाहर से टार्च ले जाकर,

यहाँ की आग से यहाँ के दीप जलाओ

बिजली की बत्ती ले जाकर नहीं, बड़प्पन और शिक्षा के दम्भ से ध्वंस स्तूप पर पैर रखकर नहीं होगा; उस पर पैर रखने से जल जाना पड़ेगा, बल्कि नम्रता से झुककर, धीरे से सम्हाल कर फूतकार से राख उड़ाकर, नीचे की आग जगाना है। राख उड़ने से सेवक का

सारा शरीर गन्दा हो जायगा, आंखें भर उठेंगी। उससे घवड़ाना नहीं है। उसी ढेर के नीचे से जो आग निकलेगी उसके सहारे उसी भूमि की मिट्टी का दीप जलाकर समाज के आगे-पीछे कोने-कोने में दीपावली करनी है। देखना है कि वह रोशनी कला की व्यवस्था के साथ रखी गई है या नहीं। जिससे सुन्दर मालूम हो, इस तरह तथा धैर्य और सावधानी से आड़ में सजाकर यों रखना है कि आज की पश्चिमी अव्यवस्थित और तीव्र वायु से बुझ न जाय।

ग्राम-सेवा के प्रयोग में जो कुछ देखा, मन में जो कुछ कल्पना थी, धारणा थी सब तुमको सुना दी। मालूम नहीं यह करुण कहानी तुमको कैसी लगेगी। शायद इससे कुछ मतलब निकल आये। आज आखिरी पत्र है। इसके बाद फिर मुलाकात पर ही बात होगी। वहां जितने भाई-बहिन हैं सबको मेरा प्रेमपूर्ण नमस्कार कहना। मीतू का क्या हाल है। उसे बहुत-बहुत प्यार कहना।

तुम्हारा

धीरेन्द्र।

समग्र ग्राम-सेवा की ओर
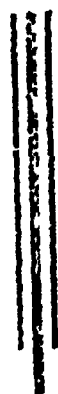
श्री धीरेन्द्रनाथ मजूमदार

भाग २

[विवेचन, निष्कर्ष और योजनाएँ]

[१]

चीन का ग्रामोद्योग आन्दोलन और गांधीजी की विचारधारा

नैनी सेंट्रल जेल
२६ अक्टूबर १९४३

न जाने कितने दिन बाद आज तुम्हें फिर पत्र लिखने बैठा हूँ। मार्च सन् १९४२ के शुरू में पटना में आख़िरी मुलाक़ात हुई थी। उसके बाद हालांकि डेढ़ साल ही बीता है किन्तु मालूम होता है कि एक युग बीत गया। इस बीच न मालूम कितनी बातें हो गईं। क्या क्या बवंडर मुल्क में उठे, उनका कोई हिसाब नहीं। चंपारन से पटना तक रास्ते में न जाने कितनी योजनाएँ हम लोगों ने बनाईं थीं। स्त्री-शिक्षा-योजना की बात सुनकर तो तुम कितनी खुश हुई थीं और अपना समय देने के लिए भी तैयार हो गई थीं। तुमने ऐसी आशा भी दिलाई थी कि वासन्तीदेवी आकर उसकी ज़िम्मेदारी ले लेंगी। रामदेव भाई भी कितने उत्साहित थे। सारा इन्तज़ाम करने के लिए तैयार हो गये थे। उसके बाद डेढ़ साल तक न तो तुमसे मुलाक़ात ही हो सकी और न कोई पत्र-व्यवहार ही हुआ। इसके लिए समय कहाँ मिला? मैं भी वृहत् कार्यक्रम में फँस गया और तुम भी नई-नई योजनाओं में मशगूल रहीं। मैं चाहता था कि मैंने जो योजनाएँ आगरा सेंट्रलजेल में बैठकर बनाई थीं, उनका प्रयोग जल्दी से हो सके। साल भर जेल में रहने से काम में जो कमी आ गई थी उसको पूरा करना था। देश में वस्त्र-समस्या जटिल हो जाने के कारण आश्रम पर भी काफी बोझ पड़ गया था। इन कारणों से तुमसे संपर्क न रख सका।

"अपने मन कछु और है, कर्ता के कछु और।"

फिर ग्रामोउद्योग-संघ की १४ अगस्त की बैठक में शामिल होने के लिए मैं वर्धा आने ही वाला था और सोचा था कि उक्त अवसर पर दो-चार दिन तुम लोगों के स्नेहपूर्ण आतिथ्य का सुयोग मिलेगा। उस समय के लिए बहुत सी बातें सोच रक्खी थीं; किन्तु "मेरे मन कछु और है, कर्ता के कछु और।" इस बीच में ९ अगस्त के सरकारी अमल ने देश भर में क्रांति मचा दी। फिर कौन किससे मिलता? उस समय पता नहीं चल रहा था कि कौन कहाँ है? कौन पकड़ा गया और कौन बचा? ९ अगस्त को रणीवाँ आश्रम पर पुलीस ने छापा मारा। सारा आश्रम ज़ब्त करके कर्ण तथा ३० अन्य साथी नज़रबन्द कर दिये गये। मैं उस समय मेरठ में था इसलिए उस दिन गिरफ्तार नहीं हुआ। फिर मैं केन्द्रों में दौरा करता रहा। बलिया, गाज़ीपुर आदि ज़िलों में दमन की पराकाष्ठा थी। फिर भी मैंने कुछ काम करने की चेष्टा की। जब तक बाहर रहा तब तक यह कोशिश करता रहा कि इस प्रान्त के लिबरल नेता एक रिलीफ़ कमेटी बनावें। मेरी धारणा थी कि मनुष्यता के नाते राजनीति से कोई सम्बन्ध रक्खे बिना भी यह काम हो सकता है। इसी उद्देश्य से मैं सेवा-समिति के संचालकों से मिला। हरी जी (श्री हृदयनाथ कुँजरू) से भी मिला। लेकिन उन्हें राजी न कर सका। फिर अपने से जो थोड़ा-बहुत हो सके वही करने की चेष्टा करने लगा। लेकिन कुछ ख़ास काम कर सकने के पहले ही १७ अक्टूबर को गिरफ़्तार कर लिया गया। इलाहाबाद से दिल्ली जा रहा था; स्टेशन पर ही पकड़ लिया गया। तब से नैनी सेंट्रल जेल में हूँ। शुरू के ६ महीने तो बाहर से कोई संपर्क रखने की ही इजाज़त नहीं थी। लिखने का सामान भी नहीं रख सकता था। बहुत इंतज़ारी के बाद महीने में एक पत्र लिखने की इजाज़त मिली। पहले तो घर पर, आश्रम वालों को और दादा को ज़रूरी पत्र लिखने थे। उन्हीं में ५-६ पत्रों की बारी ख़तम हो गई अब इस मास यह ख़त तुम्हें लिख रहा हूँ।

यहाँ का जीवन अच्छा ही है। पढ़ने का वायुमंडल खूब है। अधिक समय पढ़ने में ही बीतता है। मैं भी पढ़ने में काफ़ी समय लगा रहा हूँ। लेकिन मनचाहे विषय पर किताबें नहीं मिलतीं। अभिप्राय यह कि मुझे ग्राम-समस्या पर किताबें चाहिए थीं सो मिल नहीं रही हैं। अतः साधारण राजनीतिक किताबें ही पढ़ रहा हूँ। इससे समय का दुरुपयोग नहीं हो रहा है। लेकिन अपने काम की दृष्टि से सदुपयोग भी नहीं हो रहा है। मेरठ को लिखा था; लेकिन वहाँ भी कोई ऐसा आदमी नहीं है जो पुस्तकें भेज सके। विचित्र भाई, रामधारी आदि सभी तो नजरबन्द हैं। क्या इस मामले में तुम कुछ मदद कर सकोगी? कम से कम शिक्षा-सम्बन्धी कुछ किताबें तो भेज सकती हो। और मुल्कों में इस पर क्या-क्या प्रयोग हुए हैं, इस विषय पर किताबें मिल सकें तो बहुत लाभ होगा। सब जगहों का हाल मालूम होने से, उस पर कुछ विचार करके कम से कम तुम लोगों की कुछ थोड़ी-बहुत मदद ही कर सकूँगा। इस दिशा में थोड़ी चेष्टा करना।

चीन की उद्योग समितियाँ और हमारी दशा

अब तक जितनी किताबें पढ़ी हैं, उनमें एक किताब अवश्य मेरे काम की थी। वह चीन के औद्योगिक सहयोग के सम्बन्ध में थी। उसे पढ़ते समय मुझे ऐसा मालूम होता था जैसे कोई हमारी ही परिस्थिति में यह सब काम कर रहा है। हमारे सामने जो समस्या है, वही चीन वालों के सामने भी है। वही पूँजी का अभाव, आबादी की अधिकता और उस पर लड़ाई की परिस्थितियों से उत्पन्न कठिनाइयाँ।

वास्तव में चीन के लोग कमाल कर रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में युरोप का कोई भी मुल्क हताश हो जाता। छोटे-छोटे गृह-उद्योगों से आवश्यक सामान उपलब्ध हो सकेगा, ऐसा विचार-मात्र ही उन्हें असंभव मालूम पड़ता। चीन के लिए बड़े पैमाने में गृह-उद्योग चलाना कोई नई बात नहीं थी। वहाँ दस्तकारी का काम प्राचीन काल से चल

ही रहा था। कारीगर भी मौजूद थे। केवल संघटन की आवश्यकता थी। लड़ाई के जोश में वह संघटन भी संभव हो गया। फिर भी इतने कम समय में और इतने बड़े पैमाने पर संघटन कर लेना आसान काम नहीं था। क्योंकि जहाँ एक तरफ़ उनके यहाँ प्राचीन काल से दस्तकारी का संस्कार रहा; विभिन्न दस्तकारियों के कारीगर मौजूद रहे और लड़ाई के कारण माल की आवश्यकता बढ़ी वहाँ जनता में आत्म-संघटन का कोई परंपरागत भाव नहीं था। सैकड़ों वर्षों से होते आने वाले गृह-विवाद के कारण समाज में किसी प्रकार का संघटन नहीं रह गया था। देहाती जनता स्वार्थी तथा ईर्ष्यालु हो गई थी। ऐसी जनता में जितना भी संघटन हुआ, वह आश्चर्य की ही बात है। जब मैं वहाँ की योजनाओं और संघटन के सम्बन्ध में पढ़ रहा था तो ऐसा लगता था कि अपने यहाँ भी लोग उसी प्रकार का संघटन क्यों नहीं करते हैं? जो परिस्थिति चीन की है वही तो हमारी भी है। हाँ, इतना फ़र्क ज़रूर है कि वहाँ अपनी सरकार है; यहाँ विदेशी। लेकिन वहाँ भी जो सहयोग समितियाँ संघटित हुई हैं वे सरकार की ओर से नहीं हुई हैं; गैर-सरकारी लोगों ने ही उन्हें स्थापित किया। सरकारी मदद बाद में मिली। फिर अपने यहां इस किस्म का काम क्यों नहीं हो पाता है? अगर हम चाहते हैं कि हम भी इस प्रकार का कुछ काम कर सकें तो हमको इस न कर सकने का कारण ढूँढ़ निकालना होगा। जवाहरलाल जी भी चीन से लौटने के बाद ग्राम-उद्योग तथा गृह-उद्योग के लिए काफ़ी ज़ोर दे रहे हैं। जवाहरलाल के इस ओर ध्यान देने के बाद जो लोग पहले इन बातों को महज़ पागलपन समझते थे, अब इनके पक्ष में सोचने लगे हैं। फिर भी अपने यहां यह विचार तक ही सीमित रहा। तुम तो अपने काम से विभिन्न प्रान्तों में दौरा करती हो; सरकारी तथा गैरसरकारी सभी लोगों के संपर्क में आती हो; क्या तुम बता सकती हो कि इसका कारण क्या है? लोग कहेंगे कि हमारे यहां गुलामी है इसलिए हम कुछ नहीं कर पाते हैं। यह सही है कि

हमारे सभी कष्टों की जड़ गुलामी है, लेकिन केवल यह कह देने से ही तो हमारी जिम्मेदारी खत्म नहीं हो जाती। इस तरह तो हम गुलामी हटाने की चेष्टा भी नहीं कर सकेंगे।

गहराई से विचार करने पर और अपने अनुभव से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी असमर्थता का प्रधान कारण कार्यकर्ताओं की कमी है। दो साल पहले आगरा सेंट्रल जेल से मैंने तुम्हें लिखा था कि हमारे यहां के पढ़े लिखे नौजवान देहात में जाना और रहना पसन्द नहीं करते। मैंने उसका कारण भी बताया था। हम अपने यहां जब कोई स्थायी काम करना चाहते हैं तो योग्य कार्यकर्ताओं के अभाव से उसे नहीं कर पाते। चीन के औद्योगिक सहयोग के इतिहास और उसके कार्यक्रम को देखो तो मालूम होगा कि किस तरह सैकड़ों विज्ञान के विशेषज्ञ अपने आराम तथा अपनी आर्थिक सुविधाओं को त्याग कर, ग़रीबी का जीवन अपना कर औद्योगिक सहयोग-समितियों की स्थापना करने और उनका संचालन करने में अपना अमूल्य जीवन उत्सर्ग किये हुए हैं। अपने यहां इस प्रकार से दारिद्र्य व्रत ग्रहण कर जीवन को स्थायी कार्यक्रम में उत्सर्ग कर देने की रुचि लोगों में नहीं है। कदाचित् हमारे नौजवान चीनी नौजवानों की तरह राष्ट्रोत्थान के लिए व्याकुल नहीं हैं। लड़ाई ने उनकी आशावादिता को इतना ऊँचा उठा दिया है कि इस अनिवार्य आवश्यकता से हट कर उनका ध्यान और आगे की बातों पर चला गया है। इस तरह अपने यहां लोगों को इसका अवसर ही नहीं मिलता। तुम कहोगी, और यह सच भी है कि गत बीस सालों में हमारे यहां बहुत अधिक राष्ट्रीय चेतना पैदा हुई है। इस बीस साल के अर्से में बापू के नेतृत्व में नौजवानों ने तीन बार देशमाता के चरणों पर अपने जीवन उत्सर्ग किये। अभी, इसी आन्दोलन में ही, ९ अगस्त को भारत के नेताओं की गिरफ़्तारी के साथ ही देश

कार्यकर्ताओं का अभाव हमारी दुर्दशा का कारण है

के नौजवान विद्रोही हो गये। सैकड़ों और हज़ारों की संख्या में वहादुर नौजवानों ने खड़े होकर छाती पर गोलियाँ खाईं। हज़ारों नौजवानों ने लंबे अर्से तक सड़ने के लिए जेल जाना स्वीकार किया। इस किस्म के आत्म-वलिदान का यह उदाहरण भारत की गुलामी के इतिहास में अभूतपूर्व था। यह सब सही है। और आन्दोलन-काल में दो ढाई माह तक वाहर रह कर मैंने इन वातों को अपनी आँखों देखा है। फिर भी भारतवर्ष के इस विस्तृत क्षेत्र में ग्राम-उद्योग और ग्राम-उत्थान-सम्वन्धी काम के लिए कार्यकर्ताओं की समस्या जहाँ की तहाँ ही रह जाती है। क्षणिक जोश में नौजवान गोली से शहीद आग में कूद पड़ते हैं, वंदूकों के सामने सीना तान होने वाले हैं पर देते हैं। सालों जेलों में हँसते-हँसते सड़ते हैं। जिंदा शहीद नहीं लेकिन किसी स्थायी काम में आजीवन कष्ट सहने को तैयार नहीं होते। गोली के सामने आत्म-वलिदान करके शहीद हो जाते हैं लेकिन वापू की भाषा में जिंदा शहीद नहीं वन पाते। यदि कुछ नौजवानों के दिल में इस प्रकार जिंदा शहीद वनने की उमंग उठती भी है तो वे अपने शहरी संस्कार तथा रहन-सहन के तर्ज को नहीं छोड़ पाते। इसके अलावा हमारे पढ़े-लिखे नौजवानों में अपनी सभ्यता और संस्कृति में कमी आ जाने का भय कूट-कूटकर भरा हुआ है। वे जल्दी ही देहाती जीवन से ऊव जाते हैं। अतः चीन की गृह-उद्योग-समितियों के विवरण पढ़ते समय मुझे कुछ तकलीफ भी महसूस होती थी। पढ़ते समय मैं यह सोचता रहता था कि हाय! हम ऐसा क्यों नहीं कर पाते!

मेरी इन वातों से शायद तुम्हें बुरा लग रहा होगा। तुम सोचती होगी कि यह कैसा आदमी है! इतने वलिदान से भी यह संतुष्ट नहीं है। किन्तु ऐसी वात नहीं। जब मैं देखता था कि हज़ारों की तादाद में विश्व-विद्यालय के नौजवान गोलियों की परवाह न करके जुलूस में वढ़ जाते हैं तो मैं सिर्फ अवाक् ही नहीं रह जाता था वल्कि इनके

प्रति मेरे मन में असीम श्रद्धा उत्पन्न होती थी। सोचता था कि शायद मैं ऐसा नहीं कर सकता। मेरा कहना तो केवल इतना ही है कि भारत के साढ़े छः लाख गाँवों को पुनर्गठित करने के लिए जिस प्रकार के बलिदान की आवश्यकता है उसका हमारे यहाँ अभाव है। इस प्रकार के साधन में हम आज चीन से कोसों पीछे हैं।

इन बातों को सोचकर मुझे परीशानी होती है; लेकिन तुम्हें मालूम ही है कि मैं जन्म से ही आशावादी हूँ। जहाँ अपने पिछले अनुभव से योग्य और भावनाशील कार्यकर्ताओं के अभाव के कारण परीशानी रहती है वहाँ यह सोचकर कि इस बार के राष्ट्रीय आन्दोलन में नौजवानों ने जिस अद्भुत जोश तथा आत्म-बलिदान का परिचय दिया है उसके कारण स्थिर और स्थायी तरीके से राष्ट्रोत्थान के कार्य में लगने के लिए कम से कम भविष्य में नौजवानों की कमी न रहेगी, दिल को तसल्ली होती है। इतना विराट् बलिदान व्यर्थ तो जा ही नहीं सकता। अगर मेरी यह आशा, जिसके लिए शक की गुञ्जाइश कम है, ठीक निकली, तो भविष्य में हम देहात में जिन उद्योग-समितियों आदि का संघटन कर सकेंगे, उनकी बुनियाद कदाचित् चीन से अधिक मज़बूत और टिकाऊ होगी, क्योंकि जहां कुछ मामलों में चीन हमसे कोसों आगे है, वहां कुछ और विषयों में हमारा दृष्टिकोण चीनियों से बहुत अधिक साफ़ है।

चीन की उद्योग-सहयोग-समितियों के विस्तार तथा सफलता को देख कर हमें आश्चर्य होता है। वहां के नौजवानों का जोश देख कर कदाचित् हमें थोड़ी ईर्ष्या भी होती है; लेकिन जब हम उनकी कार्य-शैली तथा कार्यक्रम के बुनियादी सिद्धांतों को देखते हैं तो उनके सारे कार्यक्रम के लिए कुछ डर भी लगता है।

जब से डाक्टर सनयातसेन के नेतृत्व में राष्ट्रीय चेतना का आविर्भाव हुआ, तभी से चीन में उद्योगों का विकास होने लगा। लेकिन उस विकास का स्वरूप युरोप और अमेरिका के अनुसार हो

रहा है। चीन के लिए ऐसा करना स्वाभाविक था। उसके पड़ोस में ही जापान ने यूरोप की नकल करके इतनी उन्नति कर ली थी कि उनके लिए दूसरी बात सोचना आसान न था। चीन को अमेरिका से काफ़ी मदद मिलने के कारण उस पर अमेरिकन असर पड़ना भी स्वाभाविक ही था।

अतः जब चीन की राष्ट्र-चेतना ने उसे सर्वतोमुखी विकास की ओर बढ़ाना आरंभ किया तो आर्थिक स्वावलंबन की ओर सब से पहले ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। नतीजा यह हुआ कि चीन में थोड़े ही दिनों में काफ़ी कल-कारखाने बन गये। इसी बीच चीन पर जापान का हमला हुआ। फिर तो लड़ाई के कारण चीन को तेज़ी से स्वावलंबन की ओर बढ़ना पड़ा और चार-पांच साल में इस दिशा में जितनी अलौकिक उन्नति हुई, उसका हाल मैं तुम लोगों को क्या बताऊँ? इसका तुमने मुझसे अधिक अध्ययन किया है। लड़ाई के कारण किस तरह उनके कारख़ाने जापानी बमों का निशाना बनते रहे और किस तरह ध्वंस के कारण उन कारख़ानों को अनेक कठिनाइयों के बावजूद असाधारण तेज़ी से सुदूर पश्चिमी प्रान्तों में हटना पड़ा, इसकी कहानी किसे मालूम नहीं? ऐसे आपत्तिकाल में चीन को अपने पुराने ग्रामोद्योग की बात याद आई। उसने देखा कि अगर इस समय गांव-गांव में सहयोग-समितियों-द्वारा गृह-उद्योगों का संघटन किया जाय तो बेकार जनता को काम में लगाया जा सकता है और हवाई हमले से बचा कर, छोटी-छोटी झोपड़ियों में बांट कर युद्ध के संकट-काल के लिए इतने विस्तृत क्षेत्र में उत्पत्ति का काम हो सकता है कि जनता के पोषण के साथ ही ज़रूरत पड़ने पर इन छोटे कारख़ानों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से हटाया भी जा सकता है। इन बातों का हाल भी तुम्हें मुझसे अधिक मालूम होगा, अतः इस पत्र में उसका ज़िक्र करना निरर्थक है। हमारे देश में जो लोग चर्खे और ग्रामोद्योग की खिल्ली उड़ाते हैं, उनसे कहो

कि वे चीन की ओर नज़र डालें। यदि ग्रामोद्योग न होता तो आज के समरकालीन महा-संकट के समय उनकी क्या दशा होती? यह ग्राम-उद्योग ही आज उनका सहारा हो रहा है। इस घटना से मानव-समाज समझ ले कि ग्रामोद्योग से उसका क्या सम्बन्ध है। समय पर काम आने वाला ही सच्चा मित्र होता है। आज की परवशता में उन्हीं छोटे-छोटे उद्योगों ने साथ दिया।

चीन के ग्रामोद्योग की सफलता का हमारे देश के लोगों पर जो असर पड़ा, चीन से लौटकर जिस तरह जवाहरलाल जी ग्रामोद्योगों के प्रसार के पक्षपाती हो गये, वह तुम्हें मालूम ही है। तुम्हें आश्चर्य भी होता होगा कि जब मैं जानता ही हूँ कि तुम्हें ये सब बातें मालूम हैं तो फिर बेकार इतना लिख कर समय, कागज़ और दिमाग़ क्यों खर्च कर रहा हूँ? बात यह है कि जेल में समय की क्या कमी? काग़ज़ लगता ही कितना है? और दिमाग़? वह अपने पास कोई उत्तम कोटि का होता तो बचाने का भी प्रयत्न करता। जब इतने अर्से के बाद लिखने बैठा हूँ तो सम्हाल कर कहाँ तक लिखूँ? जो भी बात दिमाग़ में आती है लिख डालता हूँ। तुम लोग हो काम-काजी; लंबे पत्र से शायद उकता जाती होगी। लेकिन यहाँ जेल में पत्र जितना ही लंबा लिखा जाय उतना ही अच्छा क्योंकि उतना ही समय कटता है। खैर!

यह ठीक है कि चीन में जो कुछ हो रहा है, उसका हाल हम सब को मालूम है और भारत के लिए वर्तमान चीन एक महान शिक्षा-भूमि बन गया है। फिर भी मैं कह रहा था कि मुझे वहां के इस कार्यक्रम के भविष्य के संबंध में आशंका हो रही है। कारण यह है कि चीन की इन सारी चेष्टाओं के पीछे जो प्रेरणा है वह है लड़ाई की मजबूरी, साधन-हीनता के साथ चरम अभाव की व्याकुलता और उस व्याकुलता से उद्भूत ग्राम-उद्योग की व्यवस्था। उस प्रेरणा के पीछे ग्राम-उद्योग की बुनियाद पर भावी समाज-व्यवस्था की कोई निश्चित विचार-

धारा नहीं मालूम पड़ती। अतः मुझे इन ग्राम-उद्योग संघटनों के स्थायित्व में काफी शक मालूम होता है। मुझे ऐसा लगता है कि जिस तरह अतताथी के हवाई हमलों से बड़े-बड़े केन्द्रित कारखाने ध्वस्त हो जाते हैं, उसी तरह जब यह लड़ाई का ज़माना समाप्त हो जायगा और फिर पश्चिमी केन्द्रीय उद्योगवाद का हमला चीन की जनता की बुद्धि और मन पर होगा तो यह मजबूरी से संभूत ग्राम-व्यवस्था उसके सामने टिक न सकेगी। जब आज का सारा संगठन विशेषतया इँग्लैंण्ड और अमेरिका की मदद से चल रहा है तो शान्ति के बाद के संगठन में भी चीन पर उनका असर पड़ना अवश्यंभावी है। अगर चीन के विचार में युरोप का केन्द्रीय उद्योगवाद घर कर गया, जिसकी मुझे पूरी आशंका है, तो फिर चीन के सामने दूसरी समस्या भी खड़ी हो सकती है।

चीनी ग्रामोद्योगों के पीछे किसी निश्चित विचार-धारा का अभाव

केन्द्रित उद्योग के आधार पर आर्थिक योजना की सफलता के लिए चीन को शुरू में ही अधिक धन की आवश्यकता होगी। यह धन आज चीन के पास मौजूद नहीं हैं, अतः स्वभावतः चीन मित्रता के नाते अमेरिका और इंग्लैंड से क़र्ज लेने के लिए विवश हो जायगा। इंग्लैंड और अमेरिका-जैसे साम्राज्यवादी देश ऐसे अवसर पर कब चूकने वाले हैं? वे तो चीन के राष्ट्र-निर्माण के काम में तन-मन-धन से लग ही जायँगे और चीन ने जहाँ एक बार पश्चिमी मित्रों के क़र्ज़ की पूँजी से मशीनों-द्वारा आर्थिक संघटन आरंभ किया वहीं उसको उस क़र्ज़ के दलदल में इतना फँस जाना पड़ेगा कि फिर उससे अपने को मुक्त करना आसान न रह जायगा। अमेरिका और इंग्लैंड आदि पूँजीपति देशों को भविष्य में सैनिक साम्राज्य के बजाय इस प्रकार का आर्थिक-साम्राज्य ही अधिक इष्ट होगा, क्योंकि अब सैनिक साम्राज्यवाद पुराना और

आर्थिक साम्राज्यवाद से अधिक झंझट की चीज़ हो गया है। सैनिक साम्राज्यवाद में जहाँ लाभ के साथ-साथ राज्य-व्यवस्था की ज़िम्मेदारी उठानी पड़ती थी वहां नये किस्म के आर्थिक साम्राज्यवाद में केवल लाभ ही लाभ रहेगा। मुझे ऐसा लगता है कि जिस तरह पुराने ज़माने में जब इंग्लैंड को गुलाम मज़दूर से आज़ाद मज़दूर सस्ता मालूम होने लगा, तो उसने बड़े ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों के नाम पर गुलाम-प्रथा हटानी शुरू की, उसी प्रकार भविष्य में सैनिक साम्राज्य से आर्थिक साम्राज्य सस्ता पड़ने पर 'आत्म-निर्णय' का नारा इंग्लैंड और अमेरिका की ज़ुबान पर सदा विराजमान रहेगा। चीन के भी इसी नारे के माया-जाल में फँसने का मुझे डर है। इसलिए जहां चीन के जोश, उसके सैकड़ों नौजवानों के व्यक्तिगत त्याग, उसकी कार्य-पद्धति और उद्यमशीलता आदि बातों को देखकर हम भारत-वासियों को लाभ उठाना चाहिए, वहां उसके खतरों पर भी ग़ौर करना चाहिए।

बापू की विचार-धारा

तुम कहोगी कि भारत भी तो वही ग्राम-उद्योग चलाने की चेष्टा कर रहा है; यहां भी तो लड़ाई के बाद वही परिस्थिति आ सकती है जो चीन में आयेगी फिर भारत में और चीन में फ़र्क़ क्या है? वह फ़र्क़ यह है कि भारत में ग्रामोद्योग का जो क्रम चला उसकी बुनियादी प्रेरणा लड़ाई की मजबूरी नहीं थी। उसका सूत्रपात लड़ाई के बहुत पहले बापू जी ने इस देश में किया। उनके चर्खे और ग्रामोद्योग के पीछे एक विशिष्ट विचार-धारा है। उसके पीछे ग्राम-स्वावलम्बन के आधार पर भावी समाज-व्यवस्था की निश्चित योजना है। हमारे उन देशवासियों से जिनमें चीन की औद्योगिक सहयोग-व्यवस्था से हमारी चर्खे और ग्रामोद्योग की चेष्टा की तुलना करने का आजकल रिवाज सा हो गया है, मेरा नम्र-निवेदन है कि वे ज़रा गहराई से इस अन्तर पर भी विचार करें। और हमारे चर्खे और ग्राम-उद्योगों की

मूलभूत बापू जी की विचार-धारा को शान्ति-पूर्वक समझने की कोशिश करें।

बापू जी ने तो अपने विचारों का स्पष्टीकरण उसी समय कर दिया था, जब उन्होंने "हिन्द-स्वराज्य" नाम की पुस्तक लिखी थी। फिर उन्होंने भारत में "हिन्द-स्वराज्य" का व्यावहारिक रूप प्रकट किया। भारत की आजादी के लिए अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन चलाया। उस आन्दोलन का केन्द्र-बिन्दु चर्खा रक्खा। तब से २५ वर्ष हो गये, चर्खे की रट लगाते वे कभी नहीं थकते; क्योंकि बापू के लिए स्वराज्य की चेष्टा संसार में सत्य और अहिंसा की राज्य-व्यवस्था कायम करने की चेष्टा मात्र है। येन केन प्रकारेण अंग्रेज़ चले जायँ और हम आज़ाद हो जायँ; यह उनका ध्येय नहीं है। वे तो देश को गुलामी के बंधन से मुक्त करके भारत में और भारत के द्वारा संसार भर में उस शान्ति-मय तथा अहिंसात्मक समाज की स्थापना करना चाहते हैं जिसका वे स्वप्न देखते हैं और उसकी स्थापना वे चर्खे और ग्रामोद्योग के द्वारा ही करना चाहते हैं। फलतः उनके लिए चर्खा और ग्रामोद्योग जहां आज जन-साधारण को स्वराज्य आन्दोलन के लिए जाग्रत और संघटित करने के मूल साधन हैं, वहाँ वे उस समाज की स्थापना के भी साधन हैं जो हिंसा और शोषण से मुक्त होकर मानवता के वास्तविक कल्याण और उसकी सच्ची स्वतंत्रता का प्रवर्तक और परिपोषक हो। इसी कारण और इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर, उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप भारतीय राष्ट्र-ध्वजा पर चर्खे का चित्र अंकित किया गया है, जो इस बात का प्रदर्शक है कि भारत उस नई समाज-व्यवस्था की स्थापना के प्रयत्न में संलग्न है।

संसार आज जिस पूंजीवाद की आग में जल रहा है बापू का चर्खा उसी के विरुद्ध मौलिक विद्रोह का प्रतीक है। युरोप में मानव की स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व का सिद्धान्त उदीयमान हुआ। और उनके आधार पर लोकतंत्र की कल्पना की गई। लोकतंत्र में व्यक्ति-

मात्र की स्वतंत्रता और समानता स्वीकार की गई और केन्द्रीय गुट, दल या वर्ग की प्रभुता, शासन तथा हित के स्थान पर समाज के अधिक से अधिक लोगों के हित को नैतिक आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। लोकतंत्र के सिद्धान्त का यह उदय अहिंसा परक वृत्ति का ही प्रदर्शन था। मानव-सभ्यता के इतिहास को देखने से यह मालूम होता है कि मनुष्य समाज आरम्भ से ही हिंसा और अशान्ति के स्थान पर शान्ति और संतुलन की प्रतिष्ठा की चेष्टा करता रहा है। इस चेष्टा के सिलसिले में भिन्न-भिन्न देशों ने अपनी

मानव प्रगति के भौगोलिक स्थिति, काल और परिस्थिति के अनुसार मूल में अहिंसा है विभिन्न प्रकार के प्रयोग किये। उन्हीं प्रयोगों के फल-स्वरूप समाज ने शासन-सत्ता की कल्पना जन-

तंत्र के रूप में की और जीवन-सम्बन्धी समस्त प्रश्नों के निवटारे के लिए सिर फोड़ने में नहीं वल्कि सिर गिनने और पारस्परिक हित-सामंजस्य में मानवता की प्रगति समझी क्योंकि सभ्यता के इतिहास में हिंसा और पशुबल के स्थान पर मनुष्य के नैतिक और नैसर्गिक अधिकारों की स्थापना को न्याय्य माना गया है।

मानव-इतिहास के आदि काल में जब मनुष्य-जीवन में कोई संगठन या व्यवस्था नहीं थी और संसार में मत्स्य-न्याय का ही बोल-वाला था तब स्वभावतः हिंसा तथा बर्बरता के कारण मनुष्य-जीवन की अनिश्चितता से परीशान होकर 'सरदार प्रथा' तथा राज-संस्था की स्थापना की गई होगी। यह व्यवस्था भी शांतिमय समाज-व्यवस्था के प्रयास रूप में ही रही होगी। इससे मनुष्य को कुछ शान्ति भी मिली होगी। फिर समाज ने व्यवस्था के नाम पर

शासन सत्ता का शासन किसी केन्द्रीय तंत्र या व्यक्ति के हाथ में केन्द्रीकरण और सौंप दिया होगा। इस प्रकार संसार में केन्द्र-वाद

विकेन्द्रीकरण की सृष्टि हुई। मनुष्य स्वभावतः ही शान्तिप्रिय जीव है। केन्द्र-व्यवस्था को शृंखला को देख कर वह

निश्चिन्त हुआ। शासक वर्ग इस निश्चिन्तता का फ़ायदा उठाने लगे और क्रमशः यह केन्द्रवाद, शासन-क्षेत्र की पुंजीभूत शक्ति के द्वारा आगे बढ़ कर आर्थिक क्षेत्र में भी फैल गया और आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद की सृष्टि हुई। फिर तो केन्द्र-वाद पूँजीवाद के रूप में मनुष्य की सारी आवश्यकताओं के लिए केन्द्रीय वर्ग का मुहताज हो गया। नतीजा यह हुआ कि मनुष्य स्वतन्त्र नहीं रह गया। फलतः मनुष्य ने हिंसा, अशान्ति और अनिश्चितता से बचने के लिए केन्द्र-व्यवस्था की रचना की थी। वही व्यवस्था वर्ग-शासन और पूँजीवाद के रूप में मनुष्य को फिर से हिंसा और शोषण का शिकार बनाने का साधन हो गई! मानव-समाज ने इस बात को देखा और तब उसने लोकतन्त्र के आविष्कार से शासन-सत्ता को विकेन्द्रित करके व्यवस्थित स्वतंत्रता को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। शासन-सत्ता के विकेन्द्रित होने के साथ ही आर्थिक क्षेत्र में स्वावलम्बन तथा स्वतंत्रता का कायम होना सहज तथा स्वाभाविक ही था; लेकिन दुर्भाग्य-वश ऐसा नहीं हो सका।

जिस समय जनतंत्र के रूप में अहिंसात्मक वृत्ति का क्रमिक-विकास हो रहा था, कि उसी समय भौतिक विज्ञान की कृपा से वाष्प-यंत्र का आविष्कार हुआ। इस आविष्कार ने उत्पत्ति के तरीके और साधनों में अकल्पित परिवर्तन कर दिया। युरोप में औद्योगिक क्रान्ति हुई और पूँजीवाद ने अपनी नींव मज़बूत कर ली। अब तक केन्द्रवाद ने जिस पूंजीवाद की सृष्टि की थी उसकी सत्ता केवल व्यवस्था पर ही सीमित थी; उत्पादन के साधन फिर भी बहुत-कुछ उत्पादक के हाथ में थे। अगर वही उत्पत्ति का तरीका उसी तरह बना रहता तो जनतंत्र के वायु-मंडल के विकास के साथ-साथ उत्पादक वर्ग अपने-अपने साधन और कला के द्वारा स्वावलम्बन के आधार पर स्वतंत्र हो जाता। लेकिन वाष्प-यंत्र के आविष्कार के साथ-साथ पूँजीवाद को उत्पत्ति

उत्पादन के साधनों पर पूँजीवाद का प्रभुत्व

के साधनों को इस प्रकार केन्द्रीभूत करने का मौका मिला कि क्रमशः उसने उत्पादकों को उत्पादन के साधन और कला के स्वामित्व से वंचित कर दिया और जिस प्रकार शासन-सत्ता-द्वारा जनता का निःशस्त्रीकरण हो जाने से जन-समूह को सत्ता के चंगुल में बुरी तरह फँस जाना पड़ता है उसी तरह साधन और कला के अधिकार से वञ्चित होकर जनता के लिए केन्द्रित सत्ता से छुटकारा पाना कठिन हो गया। फिर तो सारी व्यवस्था ज़ोरों से उस केन्द्रीकरण की ओर बढ़ने लगी और जनतंत्र की कल्पना कल्पना-मात्र ही रह गई। उत्पादन के केन्द्रीकरण ने यह आवश्यक कर दिया कि समाज की सारी शक्ति केन्द्रित की जाय; क्योंकि जब समस्त जन-समूह अपने जीवन-धारण की आवश्यकताओं के लिए किसी केन्द्रित व्यवस्था के मुहताज होते हैं तो स्वभावतः समाज उसी केन्द्र का पूर्ण रूप से आश्रित हो जाता है। परिणाम यह हुआ कि लोकतंत्र के रूप में जिस मानव-स्वतंत्रता ने जन्म ग्रहण किया था उसकी प्रगति कुंठित हो गई। वर्ग की प्रभुता वर्ग-शासन और वर्ग-हित मुख्य हो गया जिस की स्थापना और रक्षा के लिए पशुबल आवश्यक हो गया। सारी शक्ति, सारे वैभव और उनकी प्राप्ति के साधनों का एक वर्ग के हाथ में केन्द्रित होना, सार्वजनिक और सामूहिक स्वतंत्रता और अधिकार के निर्दलन में ही संभव था।

इस तरह मनुष्य-समाज की सभ्यता के विकास का इतिहास बहुत कुछ उत्पादन के तरीके का इतिहास है। उत्पादन की पद्धतियों में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ समाज के संघटन में परिवर्तन होता रहा। यही कारण है कि जैसे-जैसे समाज की उत्पादन की प्रणाली में केन्द्रीकरण होता गया वैसे-वैसे शासन की व्यवस्था में भी केन्द्रीकरण होता गया और क्रमशः सारे समाजतन्त्र के केन्द्रित हो जाने से आज संसार भर में तानाशाही का बोलबाला हो गया है। बापू जी ने मानव-समाज की इस गति को देखा, उन्होंने देखा कि शासन-तंत्र

जितना ही केन्द्रित हो रहा है उतना ही समाज का जीवन भी केन्द्रीभूत होता जा रहा है और मनुष्य की स्वतंत्रता का यह लोप तथा उसके निर्दलन एवं शोषण की यह मात्रा-वृद्धि उसी केंद्रीकरण का प्रतिफल है। ऐसी स्थिति प्रकृति-विरुद्ध होने के कारण उसे स्थायी बनाये रखने में अधिकाधिक हिंसा और पशुबल का आश्रय लिया जाने लगा। इस दशा से मनुष्य का उद्धार करने के लिए बापू जी ने यही उपाय सोचा कि जिस मूल से यह अनर्थ का सिलसिला जारी हुआ है और इसमें वृद्धि होती गई है उसी का सर्वथा निराकरण कर दिया जाय। जिस दानव ने आकर जनतंत्र को शैशवावस्था में ही गला घोंट कर मार दिया उस दानव का नाश हुए बिना स्वतंत्रता की स्थापना होना असंभव है। वाष्य-यंत्र की उत्पादन-प्रणाली से उद्भूत केन्द्रीकरण को विघटित किये बिना शासन-तंत्र की केन्द्रीभूत शक्ति न हटेगी और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक न हिंसा का लोप होगा, न मनुष्य शोषण तथा पराधीनता से मुक्त होगा। फलतः यह आवश्यक है कि उत्पादन की पद्धति का विकेन्द्रीकरण किया जाय और उसके आधार पर ऐसे स्वावलम्बी समाज की रचना की जाय जिससे उत्पादन के साधन उत्पादक के हाथ में रहें और उत्पन्न पदार्थ उत्पादक की संपत्ति हो। न प्रणाली केन्द्रित हो और न सारी संपत्ति थोड़े से लोगों के हाथ में पड़ कर पूंजीवादी शोषण जारी रखे। मनुष्य अपने जीवन की आवश्यक वस्तुओं के लिए यथासंभव किसी के परवश न होकर स्वतंत्र रहे। ऐसे विकेन्द्रित आर्थिक समाज में वर्गों के हित परिवर्तित हो जायँगे। फलतः न केन्द्रीभूत शासन-तंत्र की आवश्यकता रहेगी न हिंसा की। केन्द्रतंत्र के विकेन्द्रीकरण के बिना मनुष्य की स्वतंत्रता का अक्षुण्ण रहना और उसकी प्रगति संभव नहीं है, क्योंकि उत्पादन और उसके साथ शासन केन्द्रित होने का मतलब शक्ति को केन्द्रित करना है। शक्ति को केन्द्रित करने के बाद अगर किसी किस्म के वैधानिक आधार पर कानूनी हक से संपत्ति पर जनसाधारण का स्वामित्व स्थापित

भी किया जाय तो वैसा स्वामित्व सांकेतिक होगा, वास्तविक नहीं। मनुष्य स्वभाव में अनुकूल परिस्थिति पर पहुँचते ही प्रभुत्व करने की इच्छा बलवती होती है। इसी प्रवृत्ति के कारण उत्पादन के साधन के वैधानिक मालिक जब अपनी केन्द्रित संपत्ति के इन्तज़ाम के लिए व्यवस्थापक वर्ग को कायम करेंगे तब वही वर्ग अपने मालिक प्रजा वर्ग पर प्रभुत्व करने लगेगा। इस प्रकार जीवन-यापन के लिए आवश्यक पदार्थों के उत्पादन के तरीकों को केन्द्रित रखकर मिलकियत की धारणा में सुधार करने पर उत्पादन के साधनों पर पूँजीपति के कब्जा के स्थान पर व्यवस्थापक वर्ग का कब्जा हो जायगा। फिर साधनों पर कब्जा पाने की स्थिति पर आकर वह अपने स्वभाव के कारण प्रजा पर प्रभुत्व जमाना शुरू कर देगा। तर्क किया जा सकता है कि जिस प्रकार मनुष्य में प्रभुत्व करने की वृत्ति बलवती होती है उसी प्रकार उसमें स्वतन्त्र रहने की वृत्ति भी तो बलवती होती है, और जिस समय व्यवस्थापक वर्ग प्रभुत्व करने लगेगा उस समय प्रजा स्वतन्त्र रहने के लिए उनसे संघर्ष करेगी। मैं इस बात को मानता हूँ। लेकिन प्रभुत्व करने की वृत्ति, स्वतन्त्र रहने की वृत्ति आदि सभी वृत्तियों से बलवती वृत्ति जिन्दा रहने की होती है। जब जिन्दा रहने के साधन केन्द्रीय व्यवस्थापक वर्ग के कब्जे में होंगे तो प्रजा को मजबूर होकर प्रभुत्व से समझौता करके किसी किस्म की मनबहलाव की स्वतन्त्रता मान कर जिन्दा रहने के साधनों को प्राप्त करना पड़ेगा और इस प्रकार की वैधानिक स्वतन्त्रता नाम मात्र ही रह जायगी। इसीलिए जब तक उत्पादन के तरीकों में मौलिक परिवर्तन नहीं होगा तब तक लोकतंत्र, प्रजा की स्वतन्त्रता आदि बातें कल्पना मात्र ही रह जायँगी। फिर जब उत्पादन के साधन और उसका तरीका विकेन्द्रित कर दिये जायँगे और इस प्रकार जब उत्पादित सम्पत्ति का वास्तविक मालिक स्वभावतः उत्पादक खुद होगा तो पूँजी का भी उचित बँटवारा अपने-आप हो जायगा। इसीलिए बापू जी का कहना

है कि "भारतवर्ष जिस साम्यवाद को पचा सकता है वह साम्यवाद तो चर्खे की गूँज में गूँज रहा है।"

आज हम चर्खे और ग्रामोद्योग का जो कार्य-क्रम चला रहे हैं, वह कार्य-क्रम बापू जी की इसी कल्पना का प्रतिनिधित्व कर रहा है। वह आज के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक केन्द्रवाद के विरुद्ध विद्रोह की सजीव मूर्ति है, जो न केवल उत्पादन और शासन-तंत्र का विकेन्द्रीकरण करके नये आधारों पर नये समाज की रचना की ओर संकेत करता है बल्कि उसके मार्ग को प्रशस्त करता है। हमारे चर्खे और ग्रामोद्योग के पीछे बापू जी की यह सारी विचार-धारा दौड़ती है। (चीन के आज के कार्य-क्रम के पीछे इस प्रकार की कोई निश्चित सामाजिक तथा आर्थिक विचार-धारा की बुनियाद नहीं है। इसलिए मैं कह रहा था कि चीन के ग्राम-उद्योग का कार्यक्रम अपूर्व और प्रशंसनीय होते हुए भी, उसके उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में मुझे आशंका है।) हममें से जो लोग ग्राम-उद्योग के पक्षपाती हैं, उनको बापू जी की उपर्युक्त विचार-धारा को समझ कर सारे कार्यक्रम और योजना की बुनियादी प्रेरणा उसी विचार-धारा से लेनी होगी। अपनी कार्य-पद्धति तथा दृष्टिकोण को उसी सामाजिक सिद्धान्त की पूर्ति के अनुकूल बनाना होगा। भविष्य में हमको समूची ग्राम-सुधार योजना भी इसी आधार पर बनानी होगी। अगर ग्राम-उद्योग का काम केन्द्रीय उद्योग के साथ मिश्रित करके मजबूरी की परिस्थिति में केवल उत्पादन का परिमाण बढ़ाने की नीयत से किया जायगा तो न केवल यह कार्य-क्रम व्यर्थ ही होगा बल्कि राष्ट्र की शक्ति और सामर्थ्य का अपव्यय भी होगा; क्योंकि जब एक ही वस्तु के उत्पादन के लिए दोनों तरीकों से काम चलता रहेगा तो प्रथमतः जन-साधारण के सामने कोई निश्चित सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्त नहीं रह पायेगा और दोनों तरीकों से उत्पादित माल के बँटवारे में निरर्थक चढ़ा-ऊपरी होती रहेगी। अतः भारत के लिए यही श्रेयस्कर होगा कि हम इधर-उधर

की अस्थायी कल्पनाओं को छोड़कर बापू जी के विचारों को सामने रख कर ही अपनी योजनाएँ बनायें और उसी के अनुसार काम करें।

लेकिन मैं तो जेल में अपने दैनिक कार्यक्रम की चर्चा कर रहा था; किताबों की बात कर रहा था। बीच में बहक कर व्याख्यान देने लगा। तुम इन बातों पर हँसना नहीं। जेल में रहने से लोग शायद कुछ भावुक हो जाते हैं। इसलिए मैं भी शायद उसी का शिकार बन गया होऊँ।

जब से हमारे समस्त राष्ट्रीय जीवन पर एकाएक सरकारी हमला हुआ, तब से तुम्हारा हाल कुछ भी मालूम नहीं हुआ। सुना था विनोबा जी का नालवाड़ी ज़ब्त है। कौन कौन काम चल रहा है और कौन कौन बन्द है? लिखना, महिलाश्रम का क्या हाल है? कृष्णदास भाई का खादी-विद्यालय चल रहा है या बन्द है? मगनवाड़ी और गोशाला आदि सबका हाल देना। तुम लोगों का बुनियादी तालीम का कुछ प्रयोग चल रहा है या बन्द है? सुना था, श्री आर्यनायकम् बीमार थे, उनका क्या हाल है? बच्ची मीतू की क्या खबर है? वह तो बहुत बड़ी हो गई होगी।

मेरा स्वास्थ्य ठीक है। आशा है वहाँ आनन्द है। सब भाई-बहिनों को मेरा नमस्कार। बच्चों को प्यार।

---

[२]

रणीवाँ के ग्राम-सुधार का अनुभव

१५ नवम्बर, १९४३

तुम्हारा पत्र मिला। वहाँ का समाचार मालूम हुआ। श्री आर्य-नायकम् अभी तक अच्छे नहीं हुए, यह जान कर चिन्ता हुई। आशा है कि होशंगाबाद के मित्र की सुश्रूषा से वे जल्द, अच्छे होकर, काम करने लगेंगे। तुम लोग तालीमी-संघ की ओर से प्रयोगार्थ एक आदर्श

विद्यालय भी चला रहे हो, यह जान कर बहुत खुशी हुई। इस विषय में मेरी राय तुम्हें मालूम ही है। पहले पहल सन् ३६ में पूना में जब प्रथम बुनियादी-शिक्षा परिषद की बैठक हो रही थी, उसी समय मुझे ऐसा लगा कि यह जो सरकारी महकमे की मार्फत काम चल रहा है, वह न तो स्थायी होने वाला है और न संघ के सिद्धान्त के अनुसार पूर्ण-रूप से प्रयोग में आने वाला ही है। तुम्हें याद होगा कि उस समय मैंने वहाँ उपस्थित राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रतिनिधियों की एक बैठक करने के लिए कितना ज़ोर दिया था। तुम लोगों की कृपा से जब बैठक बुलाई गई तो मैं इसी बात पर ज़ोर दे रहा था कि संघ की ओर से एक बुनियादी विद्यालय और एक शिक्षक ट्रेनिंग-स्कूल आदर्श तरीके से चलाया जाय। क्योंकि मेरा विश्वास था कि कोई भी नवीन और क्रान्तिकारी प्रयोग न सरकारी महकमों की मार्फत चल सकता है और न उसे पंडितों-द्वारा ही चलाया जा सकता है। उसे तो क्रान्तिकारी व्यक्ति ही, जिन्हें कार्यक्रम तथा उसके बुनियादी सिद्धान्त पर विश्वास हो, चला सकते हैं। चाहे उनकी बौद्धिक योग्यता कुछ कम ही क्यों न हो। दादा (आचार्य कृपालनी) ने उस सभा के आख़िरी व्याख्यान में जो यह कहा था कि अवतारी पुरुष-द्वारा बताये आदर्श और सिद्धान्तों को तो विश्वास करने वाले मांझी, मल्लाह आदि साधारण लोग ही फैलाते हैं, वह अक्षरशः सत्य है। उस बैठक में श्री आर्यनायकम्, काका साहब कालेलकर, आदि तालीमी संघ के सदस्यगण जब तुमको इस काम के लिए अवकाश देने को तैयार हो गये तो मुझको बहुत खुशी हुई थी। लेकिन खेद की बात यह हुई कि उस दिन का प्रस्ताव कार्य-रूप में परिणित नहीं हुआ। अतः तुम्हारे पत्र से यह जान कर कि अब तुम लोग अपने संघ की ओर से विद्यालय चला रहे हो, मेरी खुशी की सीमा न रहना स्वाभाविक ही है। लेकिन मराठी भाषा में जो प्रयोग कर रहे हो उससे सबको फ़ायदा न मिलेगा। अतः हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए युक्तप्रान्त या बिहार में

कही तुम लोगों को अपना काम करना होगा। आशा है, धीरे-धीरे यह काम भी हो ही जायगा।

तुम मेरे पिछले लंबे पत्र से परीशान न होकर खुश हुईं, यह जाना। तुम चाहती हो कि ग्राम-सुधार-सम्बन्धी अपनी विचारधारा तुम्हें बराबर लिखता रहूँ। लेकिन दो साल पहले आगरा जेल से जो चिट्ठियाँ लिखी गईं थीं, उनमें ग्राम-सेवा के सम्बन्ध में मैं अपना अनुभव करीब-करीब लिख ही चुका हूँ। उसके बाद मुझे बहुत कम समय प्रयोग करने के लिए मिला। रिहाई के ६ माह बाद ही तो फिर पकड़ लिया गया। यहाँ से उस ६ माह का अनुभव, तथा उस अनुभव और कल्पना के अनुसार भावी योजना की रूपरेखा के सम्बन्ध में कुछ लिख तो सकता हूँ; लेकिन उस बार की तरह इस बार सहूलियतें प्राप्त नहीं हैं। उस बार सप्ताह में दो पत्र लिख सकता था तो इस बार महीने में एक ही पत्र लिखने की इजाज़त है। फिर भी जहाँ तक मुझसे बन पड़ेगा इस विषय में तुम्हारा अनुरोध मान कर लिखने की कोशिश करूँगा। जितना भेज सकूंगा उतना भेज दूँगा; बाकी कभी बाहर आकर एक साथ ही दे दूँगा। उसमें से तुम लोग अगर काम के लायक कुछ मसाला पा सको तो बहुत अच्छी बात है।

मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि किस तरह मैं फ़ैज़ाबाद ज़िले में आश्रम के द्वारा तथा सरकारी ग्राम-सुधार-विभाग द्वारा ग्राम-सुधार योजनाओं का प्रयोग करता रहा और उस ओर जब कुछ ख़ास तरीके के काम का सूत्रपात करने जा ही रहा था कि नज़रबन्द करके जेल भेज दिया गया लेकिन जेल जाना बुरा न हुआ। पिछले बीस साल में मैंने ग्राम-समस्या के सम्बन्ध में जो कुछ देखा, किया या समझा, उस पर ग़ौर करने का मौका तो पहले पहल वहीं मिला। विचार करने पर बहुत सी बातें, जो अब तक धूमिल थीं, साफ़ होती गईं और भविष्य के लिए निश्चित सिद्धान्त के आधार पर योजनाओं की कल्पना करना आसान हो गया। चर्खे-द्वारा कत्तिनों की सर्वांगीण उन्नति कर के

उन्हीं की मार्फत ग्राम-उत्थान की सूझ उसी समय हो सकी थी। उसका आभास मैंने उसी समय "हम आठ आना कैसे दें" शीर्षक योजना के साथ बापू जी को भेजा था। वह सूचना तुमने 'खादी-जगत' में देखी होगी। वहीं बैठ कर तुमको पत्र लिखने के बहाने अपने पिछले अनुभवों का सिंहावलोकन भी कर सका था। यह सब भी फ़ायदे में ही रहा। इस प्रकार जेलों में दस माह बिताने के बाद जनवरी १९४२ में रिहा होकर रणीवाँ आ गया। पहिले दो-तीन महीने इधर-उधर जाने में और परिस्थिति को समझने में लग गये। फिर मैं सब से पहले रणीवाँ के पुर्नसंघटन के काम में लग गया। यहाँ रणीवाँ ग्रामोद्योग विद्यालय तथा उसके द्वारा आस-पास देहातों में गृह-उद्योग के प्रसार के सम्बन्ध में तीन साल के सक्रिय अनुभव के बारे में कुछ बता देना, मेरी समझ में अप्रासंगिक न होगा।

रणीवाँ आश्रम की नींव किस तरह पड़ी और अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर उसने किस तरह आज का रूप ले लिया, इसका विवरण मैं काफ़ी दे चुका हूँ। वहाँ विभिन्न उद्योगों की स्थापना करते समय मैंने स्थानीय साधन तथा परिस्थितियों की छान-बीन नहीं की थी। शायद उस समय उस प्रकार की छान-बीन करने का अनुभव भी मुझको नहीं था। अतः दूसरी बातों का ख्याल न करके अपने सामने हर प्रकार का प्रयोग करने की नीयत से जितने तरह के उद्योगों की स्थापना का अवसर मिला उन्हें स्थापित किया। इस प्रकार वहाँ खादी विद्यालय में (१) धुनाई, कताई तथा बुनाई। (२) तेल-पानी। (३) काग़ज बनाना (४) बेंत, बाँस तथा मूंज आदि का काम (५) दरी, कालीन तथा कंबल बनाने का काम (६) लोहारी (७) चमड़ा पकाना तथा (८) जूता चप्पल बनाना आदि चर्मकला के विभागों को संघटित किया गया। आरंभ से ही रणीवां की ग्राम-उद्योग-योजना बनाने में मैंने उसी ध्येय को सामने रखा था

हर तरह के ग्रामोद्योगों की स्थापना

जो बापू की विचार-धारा के अनुसार देहातों को ग्राम स्वावलंबन के आधार पर संघटित करने का था। मैं चाहता था कि दो-चार या पाँच-सात गांवों में ग्रामीण जनता की आवश्यकता पूरी करने वाले हर प्रकार के उद्योग की स्थापना हो जाय, और उन्हीं की सहयोग-समितियों के द्वारा ग्राम-संघटन की योजना बनाई जाय। अतः जहां प्रान्त के विभिन्न जिलों के नौजवान विद्यालय में विभिन्न उद्योगों की शिक्षा पा रहे थे, वहां अधिक से अधिक नौजवानों को उन उद्योगों में शिक्षित करके आश्रम की मदद से ऐसी व्यवस्था कराई जाती थी कि वे अपने घर पर उत्पादन का काम कर सकें। इस विषय में बहुत से मित्र एतराज करते थे कि जिन उद्योगों में कारीगरों की कमी नहीं है, उनके लिए भी नये नौजवान तैयार करने से क्या लाभ? हज़ारों बुनकर काम के बिना तरस रहे हैं उस-पर भी उनकी तादाद बढ़ाने से लाभ के स्थान पर हानि की ही संभावना अधिक है। देश में इतने चमार भूखों मर रहे हैं, उस पर चमड़े के कारीगर बढ़ाने से क्या फायदा? इत्यादि। तुम्हें भी इस प्रकार का एतराज हो सकता है; अतः संक्षेप में इसका कारण बता देना अच्छा होगा। मैंने पिछले पत्र में लिखा है कि जब समाज में केन्द्र-वाद की सृष्टि हुई तो आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद की भी सृष्टि हुई क्योंकि केन्द्रवाद के साथ केन्द्रीय वर्ग की सृष्टि हुई और उस वर्ग के हितों को संघटित करने की भी आवश्यकता पड़ी। अतः उत्पादन के क्षेत्र में कारीगरों को एकत्र कर व्यवस्था की सहूलियत की ओर लोग आगे बढ़ते रहे। इस तरह बुनकर चर्मकार आदि की केन्द्रित बस्तियाँ बनती रहीं। आज जो हज़ारों कारीगरों का उल्लेख किया जाता है वे सब इन्हीं बस्तियों में बसते हैं। जनता में स्वावलम्बन की दृष्टि न होने के कारण उनका फैलकर गांव-गांव में बसना संभव नहीं था, क्योंकि वैसा करने से केन्द्रित व्यावसायिक संसार में उनका

एक आपत्ति और उसका निराकरण

टिकना असंभव था। लेकिन जन-साधारण के स्वावलम्बन तथा स्वतंत्रता के आधार पर आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के विचार से अगर ग्राम-उद्योग का कार्यक्रम चलाना है तो यह ज़रूरी है कि हमें आवादी की आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक प्रकार के कारीगरों की ज़रूरत पड़ेगी और हमको समस्त क्षेत्र में उनका संयोजित संघटन करना पड़ेगा। आज एक ही काम करनेवाले जो कारीगर एक जगह वस्ती वनाकर रह रहे हैं, उनको या तो फैलाकर गांव-गांव में जाकर वसाना होगा या उनका पेशा वदलवाना पड़ेगा। समाज-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए इन कठिनाइयों और तकलीफों से घवराने से काम नहीं चलेगा। आज की परिस्थिति में रणीवाँ-जैसे छोटी प्रयोगशाला के लिए कारीगरों की वस्तियों को विकेन्द्रित करना संभव नहीं था अतः प्रारंभ में हज़ारों कठिनाइयाँ होते हुए भी स्थानीय कारीगर तैयार करना ज़रूरी था। अतः हमको वुनाई, धुनाई, चर्मकला और वढ़ईगीरी आदि सभी पेशों के लिए किसानों के वेकार नौजवानों को सिखा कर कारीगर वनाने और गाँव में प्रतिष्ठित करने की योजना वनानी पड़ी।

अव विभिन्न उद्योगों के वारे में क्या-क्या' अनुभव हुए और उन अनुभवों के आधार पर ग्राम-उद्योग तथा उसके द्वारा ग्राम-सुधार-कार्य के सम्वन्ध में मेरी राय किस प्रकार कायम हुई, यह वतला कर आज का पत्र समाप्त करूँगा।

कताई के सम्वन्ध में मैंने जो कुछ प्रयोग किया और उसके द्वारा तथा ग्राम-सुधार की संभावनाएँ मुझे दिखाई दीं, उनका ज़िक्र मैं दो साल पहले आगरा जेल से तुमको लिखे पत्रों में कर चुका हूँ। उसे फिर से दोहराना व्यर्थ होगा। अतः आज अन्य उद्योगों का ही ज़िक्र करूँगा। सवसे पहले कागज़-विभाग का वर्णन करना ठीक होगा। क्योंकि यही वह विभाग है कि जिसमें हम अपनी योजना के अनुसार कुछ आगे वढ़ सके हैं। कागज़ वनाने में स्थानीय युवकों को शिक्षित

करके किस तरह गाँव में यह विभाग स्थापित किया गया उसका वर्णन भी मैं आगरा जेल से भेजे गये पत्रों में कर चुका हूँ। मैं जिस समय गिरफ्तार हुआ उसके तीन ही मास पहले इन कारखानों की स्थापना की गई थी, और मेरे जेल जाते-जाते दस-बारह कारखाने कायम हो गये थे। मैं यह भी लिख चुका हूँ कि किस प्रकार उनका संघटन कर उसके द्वारा ग्राम-सुधार का काम चलाना होगा, इसकी कल्पना मैं उन्हीं दिनों करता था, लेकिन इस दिशा में कुछ काम शुरू करने से पहले ही पकड़ लिया गया। मेरे पीछे विचित्र भाई खुद रणीवाँ की देख-भाल करते थे। मैंने जेल से उनको इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए लिखा था। लेकिन उन पर आश्रम की बहुमुखी ज़िम्मेदारी थी; अतः मेरे छूटने से पहले तक वह इस दिशा में कुछ कर नहीं सके।

कागज का उद्योग— दस महीने बाद मैं जेल से लौटकर आया और देखा कि अब तक २३ कारखाने कायम हो चुके हैं। केवल इतने कारखाने ही नहीं कायम हुए थे बल्कि उन नौजवानों की सफलता देखकर आस-पास की जनता में आशा और विश्वास का संचार दिखाई दे रहा था। वे यह महसूस करने लगे थे कि कोशिश करने पर मौजूदा सीमित साधनों से ही अपनी हालत वे बहुत कुछ सुधार सकते हैं। किसी भी योजना की सफलता के लिए जरूरी है कि जनता में उत्साह हो। ऐसा उत्साह आशा और विश्वास से ही पैदा होता है। अतः जेल से लौटकर ही मैंने अपनी कल्पना के अनुसार काम शुरू कर दिया। कागज बनाने वाले नौजवानों को बुलाया और उन्हें बताया कि भविष्य में सारा ग्राम-उत्थान कार्य उनके ही द्वारा कराने की कल्पना मैं किस तरह करता हूँ। उन्हें बताया कि ग्राम-उद्योग का सिद्धान्त क्या है, भविष्य में किस तरह इन उद्योगों के साथ ही ग्रामीण समाज अनुबन्धित रहेगा क्योंकि आवश्यक सामान की प्राप्ति की चेष्टा में ही मानव-समाज का संघटन सन्निहित है तथा उस चेष्टा की रूप-रेखा के अनुसार ही समाज-जीवन की रूप-रेखा

वनती है और किस तरह ग्रामीण नौजवानों पर यह निर्भर करता है कि अगर वे चाहें तो आज की शहर में केन्द्रित सभ्यता को वदल कर ग्राम-मुखी वना सकते हैं। उनसे मैंने कहा कि आज वापू जी जो सामाजिक क्रान्ति करना चाहते हैं, उसके वे अग्रदूत वनें। मेरी वात कुछ-कुछ उनकी समझ में आई और वहुत कुछ नहीं भी आई। लेकिन आर्थिक सफलता के कारण हमारे कार्यक्रम पर उनका विश्वास और उत्साह था। और कम से कम वे इस वात को तो समझ ही सकते थे कि ग्रामोद्योग के पीछे जो व्यापक योजना है उसका ध्यान न रख कर और उसके साथ न चलकर अगर हाथ से कागज वना कर सिर्फ उसे गुजारे का व्यवसाय मात्र वनाये रखें, तो वह गुजारे का व्यवसाय भी उनके हाथ से निकल जायगा, क्योंकि सिर्फ वाणिज्य-वृत्ति से मिल के साथ चढ़ा-ऊपरी में कैसे ठहर सकेंगे? मेरे कहने के अनुसार उन सव ने कागज़ संघ के नाम से एक समिति संघटित की। विचार यह था कि थोड़ी-थोड़ी पूंजी आश्रम में कटा कर आश्रम के कागज़ विभाग की ज़िम्मेदारी यह समिति अपने हाथ में ले लेगी। उन्होंने कागज़ के उद्योग के साथ ग्राम-उत्थान का काम भी अपने उद्देश्य में रखा। उसमें उन्होंने कुछ विभिन्न विभाग भी वना लिये, जो इस प्रकार थे। (१) कच्चामाल (२) उत्पादन कला (३) विक्री (४) शिक्षा (५) अन्य ग्राम-सुधार।

(१) कच्चामाल के विभाग का काम यह था कि वह इस वात की [खो]ज करे कि स्थानीय सामानों में से कौन-कौन से सामान ऐसे हैं, जो दूसरे आवश्यक काम में न आते हों और जो कागज़ वनाने के काम में अच्छी तरह आ सकें। प्रारम्भ में यह ज़रूरी था कि वे अपने कारखाने कागज़ की कतरन से ही चलावें क्योंकि पहले-पहल उनको उसी में सहूलियत हो सकती थी। लेकिन वह स्थिति अधिक दिन नहीं चल सकती थी। क्योंकि कतरन के लिए फिर वही शहर तथा मिल का सहारा ज़रूरी था। अतः यह आवश्यक था कि वे इस वात की खोज

करें कि किन-किन देहाती सामानों के द्वारा नये सीखने वाले कारीगर भी अच्छी क़िस्म का काग़ज़ बना सकते हैं। पहले-पहल वे काग़ज़ की कतरन के साथ केले के रेशे, धान का पयाल, टाट की कतरन तथा सन के रेशे मिला कर बनाने लगे और क्रमशः कतरन का अनुपात घटाते गये।

(२) उत्पादन कला-विभाग का काम काग़ज़ की क़िस्म में सुधार करने का था। जिन लोगों ने काग़ज़ बनाने की अच्छी कारीगरी सीख ली थी, उन्होंने अपने कम सीखे हुए भाइयों को सिखाने का काम करना तय किया। इस विषय में प्रधानतः आश्रम के शिक्षक से ही मदद मिलती रही। उनका यह विचार था कि साधन काफ़ी होने पर उनके प्रतिनिधि विभिन्न काग़ज़-केन्द्रों से अनुभव लें।

(३) यद्यपि उस समय सारे काग़ज़ की बिक्री की व्यवस्था आश्रम करता था, फिर भी उन्होंने बिक्री-विभाग इसलिए कायम किया था कि क्रमशः उन्हें स्वतंत्र व्यवस्था करनी थी। मैं चाहता था कि आरम्भ से ही कुछ काग़ज़ स्थानीय बिक्री में खपता रहे। इसका संघटन उन्हीं को करना था। उसके अनुभव पाकर वे सारी बिक्री की ज़िम्मेदारी ले सकते थे।

(४) सबसे अधिक काम शिक्षा-विभाग के सामने था। उसके लिए ग्राम-सुधार कार्य में शिक्षण-कार्य ही मुख्य रखा गया था। प्रत्येक कारीगर अपने गाँव में एक रात्रि-पाठशाला चलाता था। विभाग की ओर से उन पाठशालाओं का निरीक्षण होता था। शिक्षा के काम में काग़ज़ बनाने वालों का विशेष सम्बन्ध होना स्वाभाविक भी था। उनके द्वारा उत्पादित काग़ज़ का बाजार भी तो वही विभाग था। इसलिए इस विभाग में खास ध्यान देने के लिए वे प्रेरित हो गये।

आश्रम ने पिछले दिनों गाँवों में रात्रि-पाठशालाओं के द्वारा प्रौढ़-शिक्षा का प्रसार करने की किस तरह चेष्टा की, उसका वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ। यहाँ इस विषय में अपने अनुभव लिखना शायद अप्रा-

संगिक न होगा। दो-तीन साल में रणीवाँ के आस-पास हमने करीब १५०० प्रौढ़ों को प्रौढ़-शिक्षा की परीक्षा पास कराई। इस काम में मुझे बहुत उत्साह था। इस कार्यक्रम से न केवल साक्षरता का प्रसार होता था बल्कि उन विद्यालयों के सञ्चालन के कारण जनता में जो शिक्षा के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो गई है वह दूर होती थी। नतीजा यह हुआ कि लोग अधिक तादाद में बच्चों को पढ़ने के लिए विद्यालयों में स्वतः भेजने लगे। लेकिन जेल से लौट कर जब मैं देहातों में घूमने लगा तो देखा कि हम जो साक्षरता योजना चला रहे थे, उससे शिक्षा का वायुमंडल तो पैदा हुआ लेकिन साक्षरता की दृष्टि से विशेष लाभ नहीं हुआ। जो लोग साक्षरता की परीक्षा पास कर चुके थे, वे क्रमशः जो कुछ सीख सके थे वह सब भूलते जाते थे। सारी स्थिति को देख कर मुझे ऐसा लगा कि अब तक हम जितना अक्षर-ज्ञान उनको कराते रहे, वह स्थायी साक्षरता के लिए काफ़ी नहीं है। अतः अगर जनता को वास्तविक साक्षर बनाना हो तो हमको चाहिए कि उसे कम से कम दर्जा ४ तक की तालीम ज़रूर दें। लेकिन प्रौढ़ लोग साधारणतः इस उम्र में उतनी शिक्षा लेने का धैर्य नहीं रखते। अतः मैंने सोचा कि अगर गांव-गांव में बच्चों के लिए ही दर्जा ४ तक की शिक्षा की व्यवस्था की जाय और उसका समय ऐसा रखा जाय कि किसान अपनी फ़ुरसत के समय उसमें पढ़ सकें तो क्रमशः कुछ प्रौढ़ भी उन पाठशालाओं में पूरी तालीम लेने की ओर अग्रसर होंगे। मेरी समझ में कम से कम अगर १५-१६ साल के युवक भी पाठशालाओं में भर्ती हो सकें तो काफ़ी है। अधिक उम्र के लोगों को छोड़ देने में कोई हानि न होगी। इस तरह ६-७ साल में तो प्रायः सभी नौजवान साक्षर हो जायँगे। इसलिए जब काग्रेस संघ के लोगों ने रात्रि-पाठशालाओं की योजना बनाई तो मैंने उनको दर्जा २ तक की स्थायी पाठशाला कायम करने की सलाह दी। फ़िलहाल दर्जा २ तक के विद्यालय चल जाने पर

क्रमशः उन्हीं को दर्जा ४ तक का बनाया जा सकेगा। इन पाठशालाओं में कागज-कारीगर ही अवैतनिक शिक्षक का काम करते थे।

(५) अन्य ग्राम-सुधार-विभाग के द्वारा फ़िलहाल गाँव की सफाई का काम रखा गया, क्योंकि शुरू में इससे अधिक संभव नहीं था। बल्कि मैंने उनको यह सलाह दी कि शुरू में वे गाँव की सफ़ाई के चक्कर में न पड़ कर सिर्फ़ अपने घर और पड़ोस को साफ़ रखें। इससे क्रमशः दूसरे भी अपने घर साफ़ रखने के लिए प्रोत्साहित होंगे। गाँवों के सांस्कृतिक सुधार से पहले सफ़ाई की चेष्टा के सम्बन्ध में अपनी राय मैं तुमको पिछले पत्रों में लिख चुका हूँ। अतः उसे दोहराना बेकार होगा।

काग़ज़ संघ के संचालन के ख़र्च का कार्य चलाने के लिए सदस्यों ने उनके उत्पादन की आय से (१) चन्दा लेने का निश्चय किया गया और प्रत्येक सदस्य के लिए निम्न-लिखित शर्तें रखी गईं—

(१) सदस्य खुद और उनके आश्रित जन सब खादी का ही व्यवहार करेंगे और जल्दी से जल्दी ऐसा प्रबन्ध करेंगे कि वह खादी अपने घर के कते हुए सूत की हो।

(२) सदस्य अपने घर तथा उसके आस पास की ज़मीन सदैव साफ़ रखेंगे।

(३) सदस्य अपने पढ़ने लायक सभी बच्चों के पढ़ने की व्यवस्था करेंगे।

(४) सदस्य संघ के निर्देशानुसार प्रतिदिन दो घंटे का समय ग्राम-सेवा में ख़र्च करेंगे।

(५) सदस्य एक साप्ताहिक पत्र मँगायेंगे और सप्ताह में एक दिन रात को गाँव भर के लोगों को पढ़ कर सुनायेंगे।

(६) सदस्य सप्ताह में एक बार आश्रम में साधारण ज्ञान के क्लास में आयेंगे, जिसमें विभिन्न समस्याओं पर विचार-विनिमय होगा।

इन तमाम बातों की व्यवस्था करने में दो-तीन मास का समय

लग गया। मैं चाहता था कि थोड़े दिन बाद जब क्रमशः संघ के लोग अपना काम व्यवस्थित रूप से चलाने लगें तो सहयोग-समिति-कानून के अनुसार संघ की रजिस्ट्री करा दी जाय। उन नौजवानों में काफ़ी उत्साह था, यह मैं ऊपर लिख चुका हूँ। उनमें से दो तीन भाइयों ने तो अपने गाँव के आस-पास तेल घानी आदि दूसरे उद्योगों का प्रसार करने की चेष्टा करना प्रारंभ कर दिया था। लेकिन इस प्रकार के कार्यक्रम की प्रगति अधिक न हो पाई क्योंकि इसकी शुरूआत के दो-तीन माह के ही अन्दर ९ अगस्त की क्रान्ति मच गई। आश्रम ज़ब्त हो गया। आश्रम से कर्णं के साथ ३० भाइयों को ९ ता० को ही गिरफ़्तार कर लिया गया। सरकारी दमन ने, हमारे द्वारा

बयालीस के दमन में

जितना भी रचनात्मक कार्य हुआ था, सब को समूल नष्ट करने का घोर प्रयत्न किया। पुलिस के आदमियों ने इन नौजवानों को भी काफ़ी तंग किया। नतीजा यह हुआ कि जो कुछ थोड़ी-बहुत प्रगति संघ की ओर हुई थी, सब नष्ट हो गई। प्रारंभ में तो वे कारख़ाने भी बन्द से हो गये। लेकिन मुझको मालूम हुआ कि कुछ महीनों के बाद धीरे-धीरे वे नौजवान अपना काम फिर से चलाने लगे और क्रमशः अपनी चेष्टा से बाज़ार भी प्राप्त करने लगे। अभी दो मास हुए रणीवाँ के रामलाल भाई के पत्र से मालूम हुआ कि अब उनका काम खूब ठिकाने से चल रहा है और उन्हीं के यहां सीख कर नौजवानों ने तीन-चार कारख़ाने और कायम किये हैं। यह ख़बर पाकर मुझे बहुत सन्तोष हुआ। शुरू से ही स्वावलंबन की ओर दृष्टि रखने के कारण आश्रम ज़ब्त होने पर भी उनमें आत्म-विश्वास की कमी नहीं होने पाई बल्कि आश्रम के न होने से उनमें आत्म-निर्भरता की वृत्ति बढ़ी।

अब तक जेल से लौटने के बाद काग़ज़ उद्योग के द्वारा ग्राम-सुधार कार्य चलाने की मेरी जो योजना थी, उसकी सफलता की बाबत बताया। इस काम में मुझे कठिनाइयां भी हुईं, जिन्हें जाने बिना सारी

स्थिति को समझना सम्भव नहीं होगा। प्रारंभ में जब मैंने गांव के नौजवानों को काग़ज़ का काम सीख कर अपने घर पर उद्योग चलाने के लिए निमंत्रित किया था तो साधारणतः पढ़े-लिखे नौजवान इधर आकृष्ट नहीं हुए। पढ़े-लिखे नौजवानों से

हमारी कठिनाइयाँ

मेरा क्या मतलब है, इसका अन्दाज़ा शायद तुम्हें न होगा। तुम्हारी दृष्टि से पढ़े-लिखे नौजवान का अर्थ विश्वविद्यालय की शिक्षा पाये हुए लोगों से होगा या कम से कम हाई-स्कूल पास से। लेकिन मैं जिस इलाके में काम करता हूँ वहाँ अगर पांच-सात गांवों के बीच कोई मिडिल पास कर ले तो उसे लोग बहुत बड़ा पंडित समझते हैं। ऐसी स्थिति में मिडिल पास नहीं बल्कि दर्जा ४ पास किये हुए लोग भी पढ़े-लिखों में गिने जाते हैं। अतएव आश्रम की योजना में शामिल होने के लिए जो लड़के आये वे न तो मिडिल पास थे और न तो दर्जा चार ही पास ऐसे लड़के थे जो कुछ होनहार भी हों। हमारे यहां तो वे ही आये जो दूसरा कुछ काम न कर सकते थे। और जीवन से निराश थे। काम शुरू करने के लिए मैंने उन्हीं को ले लिया और शुरू-शुरू में अधिकतर उन्होंने ही कारख़ाने चलाये। बाद को जब मैंने अपने ध्येय के अनुसार कार्यक्रम चलाने की कोशिश की तो इन लड़कों में योग्यता की कमी के कारण हमारे काम में बाधा पड़ने लगी। नतीजा यह हुआ कि उनमें काफ़ी उत्साह होने पर भी जितनी सफलता की आशा करता था, उतनी न हो सकी। हाँ, मैं अपने उद्देश्य के सम्बन्ध में जेल से बार-बार लिखता रहा। उससे, और इन लड़कों की सफलता को देख कर बाद को कुछ अच्छे और शिक्षित अर्थात् मिडिल पास नौजवान इस ओर झुके। और फिर जो थोड़े दिन काग़ज़ संघ के संचालन की चेष्टा हुई, वह भी इन्हीं दो-चार नौजवानों के नेतृत्व में हुई। इस सिलसिले में एक दूसरी कठिनाई की बाबत बताना भी बहुत आवश्यक है। देहात में ही ग्राम-उद्योग की

कारीगरी सिखा कर गाँवों में उद्योग-कार्य कायम करने की मेरी राय से मेरे साथी और मित्र बहुत कुछ सहमत नहीं हो सके थे। अक्सर उनसे मेरा मतभेद होता था। यह सच है कि पढ़े-लिखे नौजवानों को भर्ती कर के यदि कारीगर बनाया जाय तो वे पेशेवर कारीगरों के मुकाबिले अच्छा माल नहीं बना सकते। अतः उनका बनाया माल खपाना कठिन हो जाता है। यह भी सही है कि उनका माल शुरू में ही नहीं बल्कि काफ़ी दिनों तक बाज़ार के अन्य कारीगरों के मुकाबिले ख़राब होगा। लेकिन अगर हमको कुछ निश्चित सिद्धान्तों और निश्चित योजना को ध्यान में रख कर ग्राम-उद्योग का काम चलाना है तो निस्सन्देह ऐसे नौजवानों को ही इन उत्पत्ति-कार्यों में लगाना होगा जिन्हें हम अपना आदर्श तथा अपना दृष्टिकोण समझा सकें और जो समाज की भावी व्यवस्था के अग्रदूत बनने की कल्पना कर सकें। हम चाहे जितने छोटे पैमाने पर काम चलावें, हमको आरंभ से ही अपनी सारी व्यवस्था अपने सिद्धान्त के दृष्टिकोण से ही करनी होगी। सन् १६२१ से ही हमने चर्खा और खादी का काम चलाया। उस काम के चलाने में हमारा एक निश्चित सामाजिक तथा राजनीतिक उद्देश्य रहा। हमने जनता में उस उद्देश्य का प्रचार किया। जनता ने भी उसे समझा और चाहे जितना मोटा, खुरदुरा तथा कमज़ोर खद्दर बना उसे ख़रीदा और व्यवहार किया। नतीजा यह हुआ कि आज खादी, कपड़े की दृष्टि से भी, मुकाबिले में टिक रही है। इसी प्रकार अगर ग्राम-उद्योग के बुनियादी उद्देश्य को सफल करना है, तो हमें देहातों के ऐसे नौजवानों को शिक्षित करना होगा जो हमारे उद्देश्य को समझ कर उसी के साधक बन सकें। तैयार माल ख़राब होगा तो शुरू में उसे उसी रूप में जनता को देना होगा जिस तरह हमने शुरू में खादी दी थी। फिर खादी की तरह क्रमशः इनकी भी तरक्की करनी पड़ेगी। यह सही है कि आज भी ग्रामोद्योग

आदर्शोन्मुख कारीगर पैदा करने होंगे

के करीव-करीव सभी कामों के लिए पेशेवर कारीगर मिल सकते हैं लेकिन अगर हम वाज़ार की सहूलियत के मोह में पड़ कर उन्हीं के द्वारा माल वनवा कर वेचते रहें तो देश की समस्या को हम अपने ढंग से हल करने की ओर न वढ़ कर सामान्य व्यापार चलाने लग जायँगे।

यद्यपि खादी तथा ग्राम-उद्योग का वुनियादी उद्देश्य ग्राम-स्वावलम्वन है तथापि शुरुआत का माल तो हमें शहरों में ही खपाना होगा। क्रमशः उद्योग की प्रगति के साथ-साथ ग्रामीण आर्थिक परिस्थिति जैसे-जैसे उन्नति करती जायगी, वैसे-वैसे गाँव का उत्पादन अधिकाधिक गाँवों में ही खपने लगेगा। अतएव उस समय तक तो हमें संघ-द्वारा वना हुआ अपना माल वेचने के लिए वाहर का वाज़ार देखना ही पड़ता था तथा इस काम में अपने साथियों का ही भरोसा था और मेरे दृष्टिकोण से उनके सहमत न होने के कारण कुछ कठिनाइयाँ थीं। हाँ, काग़ज़ के काम में इस कठिनाई का असर अधिक नहीं पड़ा क्योंकि शुरू में जितना काग़ज़ वनता था वह अधिकांश आश्रम के खादी-विभाग के केन्द्रों में खप जाता था। मेरे साथियों के और मेरे दृष्टिकोण में पूर्णतया मतैक्य न होने पर भी ग्राम-उद्योग की साधारण कठिनाइयों के सम्वन्ध में तो दो रायें नहीं हो सकती थीं। अतः माल की किस्म में कुछ ख़रावी होने पर भी वे उसे सहर्ष इस्तेमाल कर लेते थे। दूसरे एक वात यह भी थी कि काग़ज़ का उद्योग ऐसा था कि वह प्रायः मर ही चुका था और इसके लिए शायद पेशेवर कारीगर थे ही नहीं। सभी जगह नये लोग ही सीख कर वनाते थे। अतः मुकाविले में सव जगहों के उत्पादन का प्रायः एक ही हाल था। माल में भी विशेष फ़र्क नहीं था। अतएव इस सम्वन्ध में आपत्ति की गुञ्जाइश कम थी। फलतः दृष्टिकोण में फ़र्क होने के कारण विशेष कठिनाई दूसरे उद्योगों के चलाने में ही पड़ी। उसका वर्णन उन्हीं उद्योगों के वर्णन के सिलसिले में करूँगा।

बुनाई—दूसरा उद्योग बुनाई का था। तुम्हें मालूम ही है कि जब मैं शुरू में रणीवां आया था और दूसरे उद्योगों के सम्बन्ध में कल्पना भी नहीं करता था उस समय तो बुनाई को ही मैंने अपनी ग्राम-सुधार-योजना का साधन बनाने की चेष्टा की थी और प्रारंभ में बुनाई विभाग का काम ही जारी किया था। लेकिन मैं लिख ही चुका हूं कि आश्रम के खादी-विभाग से मदद न मिलने से मुझको बुनाई के द्वारा सुधार-योजना की चेष्टा छोड़नी पड़ी थी। फिर भी बुनाई-विभाग मैंने जारी रखा था और सरकारी मदद से चलने के कारण किसी को विशेष एतराज़ न रहा। खादी-विभाग की मदद के बिना इस विभाग की प्रगति सम्भव न थी, अतएव इस विभाग में विशेष उन्नति नहीं हो सकी। आस-पास के गाँवों के ७-८ नौजवानों ने बुनाई सीखी और लड़ाई के वस्त्र-सङ्कट के दिनों में गांव का सूत बुन कर वस्त्र स्वावलंबन में मदद कर सके। अकबरपुर के कुछ बुनकर तो विभिन्न डिज़ाइनों की खादी बुनना सीख गये थे। यद्यपि इस विभाग में नतीजा कम निकला फिर भी ग्राम-स्वावलंबन के प्रयोग में मुझे काफ़ी अनुभव मिला। इस विभाग के द्वारा गाँव-गांव में बुनकर पैदा करके ग्राम-स्वावलंबन योजना चलाने की सम्भावनाओं के प्रति मेरा विश्वास पहिले से भी बढ़ गया। इस समय मुझे सूचना मिली है कि आश्रम बन्द होने पर ये नौजवान स्थानीय कत्तिनों का सूत बुन कर यथाशक्ति निज की आर्थिक तथा देहात की वस्त्र-समस्या हल करने में मदद कर रहे हैं। मुझे अब भी विश्वास है कि चर्खा-संघ चाहे तो बुनाई के द्वारा ग्राम-सुधार का बहुत बड़ा काम कर सकता है। बशर्ते वह अपने तरीक़ों को तब्दील करे और सारे काम को विकेन्द्रित करके ग्राम-स्वावलंम्बन की ओर बढ़े।

लोहारी और बढ़ईगीरी—तीसरा विभाग बढ़ईगीरी और लोहारी के काम का था। सन् १६३५ में पहले पहल जब मैं रणीवां गया था और चर्खे का प्रचार शुरू किया था, उसी समय से चर्खा-

सरंजाम की कठिनाई महसूस करता था। मैंने देखा कि बाहर से चर्खा आदि सामान मँगाने से काम नहीं चलेगा। उस समय मैंने स्थानीय बढ़इयों के अभाव से कत्तिनों के गाँव में ही सामान निर्माण करने में कठिनाई अनुभव की थी। उसका विवरण पहले भी कुछ लिख चुका हूँ। नगीना सहारनपुर तथा बरेली आदि लोहार-बढ़इयों की केन्द्रित बस्तियों से आसानी से चर्खा सरंजाम बन सकता था और आश्रम नगीना से ही चर्खा आदि सामान बनवा कर विभिन्न केन्द्रों में भेजता भी था। लेकिन इस तरह हमारा काम नहीं चल सकता था। इसलिए ग्राम-उद्योग विद्यालय स्थापित होते ही मैंने स्थानीय किसान युवकों को लकड़ी और लोहे का काम इसी उद्देश्य से सिखाना शुरू किया। लेकिन इस विभाग में हमारी समस्या कागज़-विभाग जैसी आसान नहीं थी। पहले तो लकड़ी का काम ठीक तरह से सीखने के लिए काफ़ी दिन लग जाते हैं। दूसरे लोहे और लकड़ी का काम करने के लिए पेशेवर बढ़ई और लोहार एक से एक बढ़ कर मौजूद हैं। वे चाहे केन्द्रित बस्तियों में हों चाहे बड़े शहरों में। उनका बना सरंजाम तो हर जगह पहुँच ही सकता है। ऐसी स्थिति में उन लड़कों को बाजार के मुक़ाबिले में आना पड़ा। पहले मैं अपने सिद्धान्त के अनुसार चलना चाहता था लेकिन आश्रम की आवश्यकता तथा साथियों के विचारानुसार मुझे बाहर से बढ़ई और लोहार बुलवाने पड़े। यह स्थिति अस्वाभाविक थी तो भी मैं उसे चलाता रहा क्योंकि मैं उम्मीद करता था कि उसी के साथ क्रमशः मैं लड़कों को सिखाकर उनके घर पर उत्पादन की व्यवस्था कर सकूँगा। फिर उनका संघ बना कर कत्तिनों से सीधा सम्बन्ध बनाने में सफलता मिल सकेगी। इस विभाग में मुझे शुरू में अनपढ़ लड़के लेने पड़े। फिर धीरे-धीरे पढ़े-लिखे लड़के इस ओर आकर्षित होने लगे। आश्रम जब्त होने से पहले ये लड़के घर पर स्वतंत्र कारखाने तो नहीं खोल सके थे लेकिन इन्होंने आश्रम में स्वतंत्र रूप से अपना-अपना माल बना कर आश्रम को ही बेंचना शुरू कर दिया

था। विचार यह था कि कुछ दिन आश्रम के अन्दर ही स्वतंत्र काम करके जब पूरा विश्वास हो जायगा कि वे घर पर भी ठीक काम कर लेंगे तो उन्हें अपना केन्द्र खोलने में मदद की जा सकेगी। हाल में उन लड़कों ने 'यरवदाचक्र' आदि बना कर आश्रम के भण्डारों में भेजना शुरू कर दिया था। आश्रम जब्त होने के बाद वे लड़के ख़ास तौर से साधन के अभाव से अपने आप कोई कारखाना तो खोल नहीं सके, लेकिन जिन देहातों में अच्छे बढ़इयों की कमी थी वहाँ उनका हो जाना भी एक लाभ ही है।

तेलघानी—तेल-घानी विभाग के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं है कि जो मैं तुम्हें लिखूं। केवल इतना कहना काफी है कि जेल से लौटकर इसका प्रसार कुछ अधिक हो सका। इसमें एक सहूलियत यह थी कि गांव में लोग तेल का इस्तेमाल करते ही हैं। पुरानी किस्म की घानी के बदले मगनवाड़ी घानी का प्रयोग करने लगे। इससे उनको आसानी यह रही कि जहां पुरानी घानी से ढाई सेर सरसों ४ घंटे में पेरी जाती थी वहां इस घानी से ८ सेर सरसो डेढ़ घंटे में पेरी जाने लगी। लेकिन मगनवाड़ी घानी में इतनी सहूलियत होने पर भी आज की परिस्थिति में घानी चलाने वालों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पहले-पहल जब तक आश्रम की ओर से ही काम होता था तब तक तो कोई बात नहीं थी। आश्रम के पास सरसों का स्टाक होता था। आश्रम उसको पेरवा कर बिक्री की व्यवस्था करता था। लेकिन जब दूर-दूर इस घानी का प्रचार हो गया और फैजाबाद जिले के बाहर भी जाने लगी, तब घानी चलाने वालों को स्थानीय परिस्थिति के ही अनुसार उसे चलाना था। गांव में घानी चलाने के लिए दो ही तरीके काम में लाये जा सकते हैं। (१) किसानों की सरसों पेर कर उनसे पेराई का खर्च ले लेना। (२) अपनी सरसों पेर कर खली तथा तेल की बिक्री करना। गरीबी के कारण उनके लिए सरसों का स्टाक रखना आसान न था। अतः उन्हें किसानों का

ही काम करने में लाभ था। ऐसी दशा में पेरने वालों के लिए एक समस्या यह हो जाती है कि प्रायः किसान ८ सेर सरसों एक साथ नहीं पेरवा सकते। वे तो अपने साधन और आवश्यकता के अनुसार ही काम ले सकते हैं। ऐसी दशा में पेरने वालों के लिए मुश्किल हो जाती है। यह ठीक है कि कई किसानों की सरसों एक साथ पेरी जा सकती है, और तेल घानी वाले वैसा करते भी थे। लेकिन अधिकतर किसान अपनी ही सरसों पेरवाना चाहते हैं। इस प्रकार उनके यहाँ ग्राहकों की संख्या जितनी होनी चाहिए थी उतनी नहीं हो पाती थी। फिर किसान सरसों के मौसम में ही काम ले सकते थे। अतः साल भर लगातार उनको काम नहीं मिल सकता। पेरने के लिए प्रायः उनको चैत से जेठ तक और फिर जहाँ थोड़ा-बहुत तीसी का रिवाज है, भादों के बाद काम मिल जाता है। बाकी दिन उनके लिए अपनी सरसों पेर कर उसका बाजार ढूंढ़ना जरूरी है। यह काम उनके लिए प्रायः असंभव ही है। प्रथमतः उनके पास इतनी पूँजी नहीं है कि वे इतने दिन के लिए रोज (पांच घानी) एक मन सरसों के हिसाब से जितनी सरसों की आवश्यकता होगी, उतनी सरसों का स्टाक रख सकें। फिर एक आध तेली कहीं पूँजी की व्यवस्था कर भी लें तो उनके लिए व्यक्तिगत रूप से बाजार की व्यवस्था करना करीब-करीब असंभव है। आजकल सस्ता मिश्रित तेल बेचने का रिवाज इतना चल गया है कि शुद्ध तेल पूरी कीमत पर तबतक नहीं बिक सकता जब तक जनता की विश्वास-पात्र किसी संस्था की मार्फत न बिके। ऐसी दशा में घानी का प्रसार तभी संभव है, जब ग्राम-उद्योग-संघ जैसी संस्था खुद काम शुरू करके क्रमशः उनकी सहयोग-समितियाँ कायम कर दे। भविष्य में हमको ऐसा ही करना पड़ेगा वर्ना यह काम चल नहीं सकेगा। अगर भविष्य में हमको ग्राम-सुधार का संयोजित काम करना होगा तो समस्त उद्योगों के लिए पहले-पहल संस्थाएँ बनानी होंगी। फिर भी हमारा अनुभव यह रहा कि घानी का उद्योग दूसरे

उद्योगों के मुकाबिले आज की परिस्थिति में भी लोग स्वतंत्र रूप से चला सकते हैं। हमें भी ऐसा ही अनुभव हुआ। आश्रम जब्त हो जाने पर जितने उद्योग गाँव में स्वतन्त्र रूप से चल रहे हैं उनमें घानी चलने वालों को सब से कम कठिनाई हो रही है। उनकी हालत आज भी उसी प्रकार है जैसी आश्रम के होते हुए थी। बल्कि कुछ किसान मिलकर ८ सेर के घान की समस्या भी हल कर रहे हैं, ऐसी सूचना भी मुझको मिली है।

बेंत, बाँस, मूँज — बेंत, बाँस और मूँज आदि का काम शुरू तो किया था, लेकिन उसे साल भर में ही बन्द करना पड़ा। कोई भी विभाग दो ही उद्देश्यों से चल सकता है। (१) प्रान्त में उद्योग-कार्य चलाने के लिए कार्यकर्ताओं की शिक्षा और (२) गांव में उद्योग-कार्य तथा ग्राम-सुधार के लिए कारीगरों को तैयार करके उनकी कारीगरी की स्थापना करना। प्रथम उद्देश्य से नौजवान इस काम को सीखना इसलिए नहीं पसन्द करते थे कि आज कल इस उद्योग के लिए ऐसी संस्थाओं की कमी थी, जिनकी मार्फत वे अपना काम चलाते। ग्राम-उद्योग की स्थापना के लिए ज़रूरी था कि उन्हें उसी क्षेत्र में स्थापित किया जाय जहां से शहर निकट हों, क्योंकि जैसा पहले कहा है कि यद्यपि हमारा मुख्य ध्येय ग्राम-स्वावलंबन ही है, फिर भी गांवों की आज-कल की परिस्थिति में हमको तैयार सामान प्रधानतः शहरों में ही बेंचना होगा और बेंत-बांस का सामान दूर लेजा कर बेंचना आसान नहीं है। इसलिए शहर के आस-पास के गांवों के लोग ही उसे सफलता-पूर्वक कर सकते हैं। अतः हमने देखा कि रणीवां-जैसे दूर के गांव में इस उद्योग को चलाना फ़िलहाल संभव नहीं है।

दरी-क़ालीन — दरी-क़ालीन का काम हमने बुनाई विभाग के साथ शुरू किया, लेकिन उसे स्थानीय उद्योग के उपयुक्त न बना सके। जहां ग़रीबी इतनी अधिक है कि लोग बिना बिछावन के ही गुज़र करते हैं, वहां दरी-क़ालीन का इस्तेमाल क्या हो सकता है?

अतः गांव में खपत के लिए इसका उत्पादन करना संभव नहीं था। शहरों में भी इनकी खपत इतनी कम है कि गांव गांव इस उद्योग का प्रसार करना बेकार है। अतः इस उद्योग को सिखाने के लिए योजना स्वतन्त्र रूप से नहीं रखी गई। हां, इस विभाग में जो पुराने फटे चीथड़ों की दरी बनाने का प्रयोग किया गया वह गृह-उद्योग की दृष्टि से भी देहातों में चलाने लायक़ था और आस-पास के गांव के एक दो नौजवान स्वतंत्र रूप से इस उद्योग को चला भी रहे थे, क्योंकि गांव वालों को इससे रद्दी चीज़ों के इस्तेमाल का नया तरीक़ा मालूम हो गया था। चीथड़ों की दरी का प्रचार इतना हुआ कि दूर-दूर के लोग इसमें दिलचस्पी लेने लगे, यहां तक कि एक बार शान्ति-निकेतन की श्री नन्दिता देवी ने भी अपने यहां से पुराने कपड़े दरी बनाने के लिए भेज दिये थे।

चमड़े का काम —अब चमड़ा पकाने का और उससे तैयार माल बनाने का विभाग रह गया। भारत-जैसे कृषिप्रधान देश में चमड़े के काम का कितना महत्व है यह मैं पहले के पत्रों में लिख चुका हूं। मुझे उसे यहां दोहराना नहीं है। रणीवां के आस-पास चमड़ा पकाने वालों की कमी के कारण दूसरों को यह काम सिखाने की चेष्टा का भी विवरण दे चुका हूँ। वस्तुतः इसी उद्योग में मुझे कठिनाइयां अधिक थीं। रणीवां के कार्यक्रम के द्वारा आस-पास की देहाती जनता में छूत-छात आदि की कट्टरता तो बहुत कुछ कम हो गई थी। दो-चार स्थानीय नौजवान सामाजिक प्रथाओं के बावजूद भी चमड़े का काम सीखने लगे थे। और जनता उसे बरदाश्त भी करने लगी थी। स्थानीय जनता में कट्टरपन्थियों की इस प्रकार की शिथिलता के बारे में भी मैं काफ़ी लिख चुका हूँ। फिर भी अब तक वे इतना अग्रसर नहीं हो पाये थे कि घर में पेशे के रूप में चमड़े का काम चलायें। हां, जेल से लौटकर एक परिवर्तन मैंने अवश्य देखा। पहले चमार जाति के लोगों में अपने जातीय निषेध के कारण चमड़े के काम करने में जो

एतराज़ था, वह अब कुछ-कुछ शिथिल हो गया था। ६-७ चमारों ने इस बीच हमारे यहां काम करना शुरू किया था। लेकिन वे भी यहां तक आगे नहीं बढ़ सके थे कि अपने घर पर काम चलावें इसलिए बावजूद अपनी कोशिश के हम एक भी कारखाना नहीं खुलवा सके। लेकिन चमड़ा पकाने का काम ग्राम की आर्थिक समस्या में इतना महत्व रखता है कि मैं उसे चलाता रहा। मुझे आशा भी थी कि बाद को इस दिशा में कुछ कामयाबी अवश्य होगी। समाज-बन्धन इतनी कठिन चीज़ है कि उस की शिथिलता की ओर लोग जितना भी आगे बढ़े थे वह कम बात नहीं थी और अगर उसी तरह प्रगति होती रहती तो इस दिशा में पूर्ण सफलता मिलने की आशा को मैं असंभव नहीं समझता। लेकिन यह सब होते हुए भी यह सच है कि अब तक हम अपने ध्येय में सफल नहीं हो सके। अतः चमड़ा पकाने का काम देहातों में कहाँ तक सफल हो सकता है और किसानों की स्थिति सुधारने में किस हद तक मदद पहुँचा सकता है हमारा अब तक यह प्रयोग इन बातों की संभावनाओं का प्रयोग-मात्र था। लेकिन यह अनुभव भी भविष्य के लिए कम पूँजी नहीं है।

यही हाल जूता चप्पल आदि माल तैयार करने के सम्बन्ध में रहा लेकिन मेरे ख्याल से इस काम को जारी करना ज्यादा आसान था। पकाने के काम को जितनी घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, उतना इस काम को नहीं। दो-तीन नौजवान अपने यहाँ काम चलाने की दृष्टि से काम सीख भी रहे थे। मैं समझता हूँ कि अगर इस काम में भी दो-चार लड़कों को लगाया जा सके तो भविष्य में लोगों की घृणा दूर करना आसान होगा। लेकिन उनकी शिक्षा पूरी होने से पहले ही सरकारी हमला हो गया।

कंबल का उद्योग — हाँ, कंबल बनाने के विभाग की बाबत तो लिखना भूल ही गया। सन् ४१ के शुरू में पकड़े जाने से पहले कुछ नौजवानों को अपना काम चलाने के लिए तैयार करने का आयोजन-

मात्र ही कर पाया था। लेकिन लौट कर देखा कि इस दिशा में लड़के बहुत आगे बढ़ गये थे। करीब दस-बारह घर इस काम में जोरों से लग गये थे। और वहाँ के लोग उन्नत ढंग का कंबल लेना पसन्द करने लगे थे। वास्तव में उनके काम के लिए इस देश में संभावनाएँ बहुत हैं। अगर हम अपने यहाँ की उनकी स्थिति की संसार की ऊन की स्थिति से तुलना करें तो देखेंगे कि हमारी स्थिति परम शोचनीय है। हम काश्मीर के शाह तूश, शाल आदि जगत्-प्रसिद्ध चीजों की बाबत सोचकर खुश होते हैं और समझते हैं कि इस दिशा में हम दुनिया के अग्रणी हैं। कश्मीर का काम हमारी कला की प्रशंसा की बात हो सकती है, लेकिन यह ऊनी संसार के अनुपात से नगण्य है। हमारी ऊन की स्थिति की कोई तरीफ नहीं की जा सकती। यह सही है कि संसार के शीत-प्रधान देशों के मुकाबिले भारत-जैसे गरम देश के लिए ऊन के उद्योग के प्रति ध्यान देने की प्रेरणा कम होनी स्वाभाविक थी। फिर भी इस दिशा में यहाँ की स्थिति ऐसी शोचनीय है कि इसकी उन्नति की बहुत अधिक गुंजाइश है। जहाँ संसार की भेड़ों के ऊन की औसत उत्पत्ति प्रतिभेड़ ६ पाउण्ड या साढ़े चार सेर सालाना के करीब है, वहां भारत की औसत उत्पत्ति प्रति वर्ष प्रति भेंड़ १.६पाउण्ड (लगभग पंद्रह छटाँक) मुश्किल से होती है। इतनी कम ऊन भी अच्छे किस्म की होती तो कोई बात थी। हमारे यहाँ की ऊन संसार भर में सबसे घटिया किस्म की होती है। जहाँ आस्ट्रेलिया न्यूज़ीलैण्ड और अर्जेण्टाइना आदि देश सुदूर स्पेन आदि देशों के मेरीनों जैसी अच्छी नस्ल की भेड़ों से अपने यहाँ की नस्ल सुधार कर ऊनी दुनिया में कमाल हासिल कर रहे हैं, यहाँ एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में भेड़ों को लेजाकर नस्ल सुधारने का भी प्रयोग नहीं हो रहा है। भेंड़ों की नस्ल का सुधार तो दूर की बात है उनके विभिन्न अंगों से निकलने वाली विभिन्न किस्म की ऊन अलग अलग रखने की चेष्टा भी नहीं होती है और ऐसा हो भी कैसे ? भेड़-पालन का काम तो गड़रिया कौम के हाथ

में ही पड़ा है। वे अशिक्षित हैं, समाज में प्रायः अछूत हैं और उनकी गरीबी का जिक्र ही क्या करें। सरकार अपनी है नहीं। विदेशी सरकार के लिए इस दिशा में उन्नति करना अपने स्वार्थ में धक्का पहुँचाना है। अतः सरकारी महकमों से बड़ी-बड़ी रिपोर्ट तो तैयार होती है लेकिन काम कुछ नहीं होता। अपने तुच्छ साधनों से हम कर ही क्या सकते थे। केवल प्रयोग मात्र हो सकता था। अतः उतनी ही सफलता मेरे संतोष के लिए काफी थी। इससे इस काम की संभावनाएँ तो मालूम ही हो गईं। क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय आदि घरों में यह काम होने से इसकी मार्फत अप्रत्यक्ष रूप से समाज-सुधार का काम होना भी संभव था। लड़ाई की वजह से उत्पादन बढ़ाने का मौका भी था। अतः मैंने इस दिशा में कुछ अधिक काम करने की योजना बनाई और आश्रम ने भी उसे स्वीकार किया। मैं चाहता था कि उत्पादन के साथ-साथ ऊन की किस्म का सुधार तथा मौका लगे तो भेड़ों की नस्ल-सुधार का भी प्रयोग किया जाय। गांव के शिक्षित नौजवानों को ऊन के उद्योग-कार्य में लगा कर उनके द्वारा शिक्षा आदि कार्यक्रम चलाने के आलावा ऊन के काम को, जो समाज में छोटा काम समझा जाता था, सर्व-देशीय बनाया जाय। इस उद्योग को फैलाना हमारे लिए आसान भी था क्योंकि एक तो खादी भंडारों के द्वारा बहुत बड़ी तादाद में कंबल बेंचे जा सकते थे, दूसरे गरीब जनता की आवश्यकता का सामान होने के कारण क्रमशः गाँव में ही अधिकांश माल खपने की गुंजाइश भी थी। इस विभाग से मुझे जो कुछ थोड़ा-बहुत अनुभव हुआ उससे मेरी यह निश्चित राय हो गई कि भविष्य में हमें खादी के काम के साथ-साथ ऊन का काम चलाना हितकर होगा। इस उद्योग में उन्नति का मौका बेहद है, विशेष कर किसानों के लिए भेड़ें पालने का काम लाभदायक है क्योंकि ऊन के उद्योग के अलावा इससे उनको कीमती खाद तथा खाद्य भी मिलता रहता है।

साबुन का काम —पहले पत्रों में मैंने तुम्हें साबुन के उद्योग के सम्बन्ध में लिखा था कि किस तरह मैं गांव की सफाई की समस्या के साथ साबुन के उद्योग की बात शुरू से ही सोचता रहा। इस विषय में मैंने क्या-क्या किया और कठिनाइयों के कारण कैसे असफल रहा, इसका ब्यौरा लिख चुका हूं। लेकिन ग्राम-सुधार कार्य के लिए मैं साबुन-उद्योग को इतना जरूरी समझता था कि सारी कठिनाइयों और सारी असफलताओं के बावजूद इसकी चेष्टा को छोड़ना मेरे लिए संभव नहीं था। अतः जेल से छूटते ही मैंने आश्रम के सामने देहाती साधनों से साबुन बनाने का प्रस्ताव पेश किया। पहले आश्रम के साथी जिस तरह इस मामले में सहमत नहीं हो पाते थे, अब वैसी परिस्थिति नहीं रही थी। अब लड़ाई के कारण साबुन के लिए कास्टिक सोडा भी सुलभ नहीं था। अगर मिलता भी था तो इतना मँहगा कि कास्टिक सोडे वाला साबुन बहुत मँहगा पड़ने लगा। अतः मेरे प्रस्ताव को मानना अब उनके लिए आसान हो गया था। अकबरपुर में पुराने तरीके से साबुन बनाने के स्थान पर नये देहाती साबुन बनाने के लिए प्रयोग करने की अनुमति मिल गई। अकबरपुर में इस काम के विशेषज्ञ भी थे। अतः थोड़े ही दिन में रेह और चूना के द्वारा अच्छे किस्म के साबुन बनने लगे। मैंने देखा कि बहुत छोटे परिमाण में घर-घर यह साबुन बन सकता है। अतः दूसरे उद्योगों की तरह इस काम के लिए भी स्थानीय नौजवानों को भरती करने का आयोजन करने लगा। लेकिन उसका भी अवसर सरकारी हमले के कारण नहीं मिल सका और नौजवान भर्ती नहीं हो सके। एक लड़के ने कुछ काम सीख लिया था। आश्रम ज़ब्त होने के बाद उसने अपने घर पर काम शुरू किया था। अब मुझे ख़बर मिली है कि उसका काम अच्छा चल रहा है। इस थोड़े दिन के प्रयोग से मुझे मालूम हो गया कि गत ४-५ सालों से मैं जिस बात की चिन्ता में था, वह आसानी से पूरी हो सकती है। मुझे ऐसा लगता है कि चर्खे के समान यह उद्योग

घर घर चलाया जा सकता है।

शिक्षा का प्रयोग—अब तुम थोड़े में यह जानना पसन्द करोगी कि इस बीच में शिक्षा-सम्बन्धी क्या-क्या काम किया जा सका। यह बात तो ख़ास तौर से तुम्हारी ही है। अतः तुमको इस विषय में दिलचस्पी होना स्वाभाविक ही है। छूटने के बाद मैं थोड़े दिनों के लिए दरभंगा ज़िले में अपने घर गया था। वहीं से मैं मधुबनी के लक्ष्मी बाबू और रामदेव बाबू के कहने से मधुबनी गया। उन लोगों ने मुझे इसलिए बुलाया था कि मैं वहाँ कि कत्तिनों को आठ आने मज़दूरी देने की अपनी सुधार-योजना का अध्ययन करूँ। वहाँ के लोगों से बात-चीत करके मैं सेमरी के देहाती क्षेत्रों को देखने चला गया और लक्ष्मी बाबू चंपारन ज़िले के सरकारी बेसिक शिक्षा-केन्द्रों का निरीक्षण करने गये। गाँव से तीन-चार दिन बाद जिस दिन बाद मैं मधुबनी लौटा, उसी दिन लक्ष्मी बाबू भी चंपारन से लौट आये और बताया कि तुम वहाँ आई हुई हो और मुझे और रामदेव बाबू को तुमने बुलाया है। उसी दिन रात की गाड़ी से चल कर हम दोनों तुम्हारे पास पहुँच गये और तुम्हारे साथ वहां के प्रयोग का अध्ययन किया। चंपारन जाना और वहां की बेसिक-शिक्षा प्रणाली का अध्ययन करना मेरे कार्य-क्रम में नहीं था। लेकिन वहां जाने से लाभ ही हुआ। इस-लिए मैं मन में तुम्हें धन्यवाद देता रहा। फिर रात की भीड़ में तुम्हारे साथ मैं पटना बेसिक-ट्रेनिङ्ग कालेज देखने गया। तब से अब तक प्रायः २ साल बीत चुके हैं लेकिन मालूम होता है कि सब कल की बातें हैं। रात भर में कई जगह गाड़ी बदलने के लिए इन्तज़ार और शिक्षा-सम्बन्धी योजनाओं की बाबत हमारी आलोचनाएँ तुम्हें याद होंगी। मेरी योजनाओं के लिए तुम्हारा उत्साह, उनके लिए मदद का तुम्हारा वादा आदि बातें मानो अभी हुई हैं। मेरे सामने एक बड़ी कठिनाई थी। मेरे पास प्रयोग करने के लिए कोई अपना साथी नहीं था; तुमने श्रीगोविन्द भाई की बाबत कहा। वे उस दिन पटना में ही

थे, लेकिन शायद कहीं गये हुए थे। अतः मुझसे मुलाकात न हो सकी और मैं ज़रूरी काम से उसी दिन पटना से वापस चला आया।

बाद को तुम्हारे कहने से गोविन्द भाई रणीवां आये और मेरी योजना की बाबत मुझसे समझना चाहा। पिछले दो साल तक मैंने किस तरह प्रौढ़ शिक्षा का काम चलाया था, उसके अनुभव और उस विषय पर अपनी राय दे चुका हूँ। किस प्रकार उद्योग केन्द्र के साथ-साथ निम्न प्राथमिक रात्रि-पाठशालाओं का संघटन करने की चेष्टा की थी उसे भी लिख चुका हूँ। मैं चाहता था कि उन शिक्षा-योजनाओं के साथ साथ कोई ऐसी योजना चलाई जाय जिससे क्रमशः बेसिक शिक्षा के प्रयोग की ओर बढ़ सकूं। आरंभ से ही पूर्ण रूप से बेसिक-पद्धति से प्रयोग करने की हिम्मत मुझे नहीं हुई। उसके लिए न मुझे अनुभव था, न साधन ही थे। आश्रम भी उस समय किसी नये प्रयोग के लिए मंजूरी देने को तैयार नहीं था। तुम्हें मालूम है कि मैं कोई काम शुरू करने से पहले उसके लिए अनुकूल वातावरण पैदा करने की चेष्टा करता हूँ अतः मैंने यह निश्चय किया कि अभी कताई-द्वारा न कर के कताई के साथ शिक्षा की व्यवस्था की जाय। बेसिक-पद्धति अभी तक तुम्हीं लोगों के लिए प्रयोग की दशा में थी। जनता के सामने यह पद्धति एक तरह से अनिश्चित पद्धति ही थी। अतएव फिलहाल मैंने उसे सार्वजनिक रूप से चलाना उचित नहीं समझा। मैंने सोचा कि तुम लोगों की सफलता तक इन्तज़ार न कर के अगर पुराने पाठ्य-क्रम को ही उद्योग के साथ संयुक्त कर के विस्तृत क्षेत्र में शिक्षा का कार्य आरम्भ किया जाय तो दस्तकारी के द्वारा वायुमंडल में उचित परिवर्तन हो कर वर्तमान-पद्धति का दोष बहुत कुछ दूर हो जायगा और तुम्हारी बेसिक पद्धति के लिए आधार तैयार होता रहेगा। अतएव पाठ्य-क्रम तो यद्यपि पुराना ही रक्खा गया तथापि कताई का समय और क्रम तालीमी संघ के निर्देशानुसार ही मिलाया गया। गोविन्द भाई से मैंने कहा कि मेरी यह योजना 'एसिक शिक्षा'

है; 'बेसिक- शिक्षा' इसके बाद आयेगी। गोविन्द भाई को मेरी योजना पसन्द आई और इसके प्रयोग के लिए रणीवां में रह गये।

मैं चाहता था कि इस प्रकार की योजना गांव वालों की चेष्टा तथा साधन से ही चलाई जाय अतः मैंने अपनी योजना जनता के सामने साफ़ कर देने के लिए तीन चार सौ गांवों के मित्रों का एक शिक्षा-सम्मेलन संघटित किया और उसी में अपनी योजना रक्खी। जनता में शिक्षा के लिए उत्साह था ही, अतः उन्होंने इस योजना का हृदय से स्वागत किया। उन्हीं मित्रों में से कुछ लोगों की एक छोटी समिति पर संघटन का भार सौंपा गया। स्थानीय दो-तीन नौजवान अपने-अपने गांव में प्रयोग करने को और गांव के लोग साधन प्रस्तुत करने को तैयार हो गये। इन साधनों को संघटित करके गोविन्द भाई ने प्रयोग के लिए दो उच्च प्राथमिक विद्यालयों का कार्य प्रारंभ कर दिया। दो-तीन मास में ही उन्होंने देख लिया कि इस प्रकार की शिक्षा-योजना देहात में सफलता के साथ चल सकती है और यह विचार हुआ कि काग़ज़ के कारख़ाने वालों में जो लोग कुछ पढ़े-लिखे हैं, उन्हें भी इसी प्रकार पाठशाला चलाने की शिक्षा दी जाय। बरसात में काग़ज़ के कारख़ाने का काम, सूखने की दिक्कत के कारण, लगभग बन्द-सा ही रहता है। इस कारण जुलाई, अगस्त और सितंबर के महीने इसके लिए अनुकूल भी थे। मैंने काग़ज़ वालों के सामने अपना प्रस्ताव रक्खा; उनमें जो योग्य व्यक्ति थे वे सहर्ष तैयार हो गये। उनके लिए धुनाई कताई की शास्त्रीय शिक्षा की व्यवस्था की गई।

इसके उपरान्त यह विचार हुआ कि गांव के साधन तथा चेष्टाओं का संघटन करके उपर्युक्त योजना के साथ, बेसिक शिक्षा के पूर्ण प्रयोग के लिए आश्रम में एक विद्यालय खोला जाय जिसमें हम लोगों को अनुभव भी हो सके और हमारी देहाती पाठशाला के शिक्षकों को भी बेसिक शिक्षा की रूप-रेखा मालूम होती रहे। आश्रम

की प्रबन्धक समिति तथा साधारण सभा की बैठक अगस्त में होने वाली थी। उसमें पेश करने के लिए मैंने एक योजना और एक बजट बनाया लेकिन उससे पहले ही ६ अगस्त का दिन आ गया और सब स्वाहा हो गया। उसके बाद अब डेढ़ साल हो गये। मालूम नहीं और कितने वर्ष इसी तरह जेल में ही बीतेंगे। जब हम सब बाहर होंगे, तो उम्मीद है कि तुम लोगों का प्रयोग काफ़ी प्रगति कर चुका होगा और फिर हमें बीच का रास्ता नहीं ढूँढ़ना पड़ेगा। लेकिन मेरा अभी भी ख्याल यह है कि मुझे स्त्री-शिक्षा कार्य-क्रम चलाने का मौका मिलेगा तो पहले अपनी 'एसिक' चला कर वायुमंडल बनाने के बाद तुम्हारी 'बेसिक' चलाने का प्रबन्ध करूँगा। हाँ, इतना जरूर होगा कि पहले वाले कार्यक्रम की अवधि अब थोड़ी होगी। क्योंकि भविष्य में तुम लोगों का निश्चित निर्देश भी मिलेगा और गांव में अच्छे किस्म के कार्यकर्ता भी मिलेंगे, ऐसी आशा मुझे हो गई है।

रणीवाँ के उपर्युक्त कार्यक्रम के अलावा आश्रम के खादी कार्य-क्रम में अपनी कल्पना के अनुसार कुछ प्रयोग करने का भी मौका इस बीच मिला। ये प्रयोग उन्हीं प्रयोगों की परंपरा में थे जिन्हें मैं पहले अकबरपुर के क्षेत्र में करने की चेष्टा करता रहता था, लेकिन उन्हें यहाँ बयान करने में यह पत्र बहुत बड़ा हो जायगा। अतः आगे फिर कभी उन्हें लिखूंगा। आज केवल रणीवाँ के अनुभव के आधार पर ग्राम-उद्योग का कार्यक्रम शुरू करने के लिए किन बातों पर ध्यान देना चाहिए, केवल इसी का जिक्र करके पत्र समाप्त करूँगा।

कार्यक्षेत्र का चुनाव सन् १९३८ के दिसम्बर में कांग्रेस सर-कार की मदद से रणीवाँ में ग्रामोद्योग विद्यालय की स्थापना की गई थी जो सन् १९४२ के अगस्त के आन्दोलन में समाप्त हो गया। विद्या-लय सिर्फ साढ़े तीन साल ही चल पाया। इस साढ़े तीन साल में दस मास के लिए जेल चला गया था। इस थोड़े दिन के काम से नतीजा ही क्या निकल सकता था और निकला भी नहीं। इस दृष्टि से लोग

कह सकते हैं कि रणीवाँ का प्रयोग सफल नहीं हुआ। लेकिन इतने दिन में ही हमने करीब ८०० छात्रों को शिक्षा दी। सात-आठ उद्योगों का प्रयोग किया और किस प्रकार उन्हें देहातों में प्रसारित किया जा सकता है, इसका अनुभव प्राप्त किया। यहाँ के अनुभव के कारण हम भावी योजनाएँ आरंभ से ही उचित रीति से चला सकेंगे। पहली बात क्षेत्र चुनने की होगी जिसके लिए निम्न-लिखित बातें दृष्टि में रखनी जरूरी है।

१—जहाँ काम शुरू किया जाय वहाँ के लिए यातायात की सुविधा हो। तुमने देखा होगा कि रणीवाँ आने जाने और माल ढोने में कितनी मुश्किल होती थी। यह सत्य है कि अगर सुदूर देहाती इलाकों में यह काम नहीं शुरू करेंगे तो हम जनता को इतना अधिक आकृष्ट नहीं कर सकते। क्योंकि बाजार और कस्बा आदि स्थानों में लोग कुछ नीरस होते हैं। उनकी समस्या भी देहात के समान जटिल नहीं होती। इसलिए उन्हें अपने दैनिक कार्यक्रम से बाहर किसी वस्तु से दिलचस्पी नहीं होती। वहाँ लोगों में आपस का व्यवहार शुष्क होता है। अतएव अगर हमको ग्राम-सुधार की दृष्टि से अपनी योजना चलानी है तो देहात के अन्दर काम शुरू करना होगा। यह भी सच है कि हमारे देश में देहाती इलाकों में यातायात की सुविधा है ही नहीं। कच्ची सड़कें भी तो नहीं के बराबर हैं और जो हैं भी वे बरसात में काम के योग्य नहीं रह जातीं। लेकिन प्रथम प्रयोग की अवस्था में हमको विस्तृत क्षेत्र तो चाहिए नहीं और कुछ देहाती क्षेत्र तो यातायात की सुविधानुसार भी मिल ही सकता है। हमें क्षेत्र चुनते समय ऐसे ही स्थान की खोज करनी चाहिए।

२—जिस क्षेत्र में काम शुरू करना है वहां की जनता में कुछ उत्साह हो तथा हमारे काम से थोड़ी स्वाभाविक दिलचस्पी हो। यह सच है कि परंपरागत ग़रीबी के कारण देहाती जन-समूह में इतनी निराशा आ गई है कि उनके अन्दर सहज में किसी वस्तु के लिए

दिलचस्पी नहीं पैदा होती। लेकिन इस निराशा का भी प्रकार और मात्रा-भेद तो है ही। हां, इस दृष्टि कोण से क्षेत्र चुनना कुछ आसान नहीं है। इसमें भूल की गुंजाइश काफ़ी है। जब कभी तुम कोई भी योजना बना कर उसे देहाती जनता के सामने पेश करोगी और कहोगी कि मैं उन्हीं के यहां प्रयोग करूंगी जिन्हें दिलचस्पी है, तो क़रीब-क़रीब सभी स्थानों के लोग इस प्रकार आग्रह दिखायेंगे कि मानो तुम्हारी मदद करने में और अपने यहां तुम्हारी योजना को सफल बनाने के लिए सब के सब जान दे देने को तैयार हैं। फिर जब तुम अपना आसन जमा दोगी तो वे दिखाई भी न देंगे। इस विषय में मुझे बहुत कुछ अनुभव हो चुका है। अतः मैं सबको इस सम्बन्ध में सचेत किये देता हूं। इस पर बहुत विचार करने पर मैं इस नतीजे पर पहुँचा हू कि अपना काम शुरू करने से पहले काम की कुछ शर्त स्थानीय जनता पर लगा देनी चाहिए। उसके पूरा हो जाने पर इसका अन्दाज़ा लग जायगा कि उनमें कितनी दिलचस्पी है। मेरे ख़याल से हम जहां काम करें वहां के लोग कम से कम हमारे लिए तथा हमारे कार्यक्रम के लिए स्थान की व्यवस्था करें। इसके अलावा परिस्थिति के अनुसार दूसरी शर्तें भी लगाई जा सकती हैं।

३—जिन उद्योगों को आरम्भ करना हो उनके लिए कच्चा माल और विशेष कर कारीगरों की सुविधा हो। वैसे तो देहाती क्षेत्र में अच्छे कारीगर मिल ही नहीं सकते फिर भी कुछ पेशेवाले कारीगर होने पर प्रारम्भ में सहूलियत होगी। तुम समझती होगी कि मैं यह राय अपनी राय के ख़िलाफ़ दे रहा हूँ। यह बात नहीं है। अभी मैंने कहा है कि हमें जन-समाज की आवश्यकताओं के लिए स्वावलंबन की दृष्टि से ही ग्राम-उद्योगों को विकेन्द्रित करके गांव-गांव फैला देना चाहिए, और जिस क्षेत्र में कारीगर नहीं हैं वहां उन्हें पैदा करना चाहिए। मैंने यह भी कहा है कि हमें आज ऐसे पढ़े-लिखे नौजवानों को, जो भावना-शील हों, विभिन्न उद्योगों का कारीगर बनाकर उनके

घर पर ही उद्योगों को स्थापित करना है, ताकि वे हमारे ढंग से ग्राम-सुधार कार्य की प्रगति कर सकें। लेकिन मैं उस समय अपने ध्येय की बात कर रहा था। व्यावहारिक दृष्टि से आरंभ से ही अगर अपने काम को कुछ साकार रूप नहीं दे सकेंगे तो प्रथमतः तो साधनों से मदद करने वाले हमारे साथी घबड़ाकर उसकी सफलता से निराश हो जायँगे और हमारी मदद नहीं करेंगे, साथ ही हमको हर प्रकार से निरुत्साह करेंगे। मैंने देखा है कि प्रायः लोग ग्राम-उद्योग और ग्राम-सुधार जैसे अंधकार-मय कार्यक्रम की सफलता के लिए स्वाभाविक विलंब में धैर्य नहीं रखते हैं और तात्कालिक नतीजा न देख कर घबरा जाते हैं। अपनी योजना की निश्चित सफलता पर तुम्हें चाहे जितना विश्वास हो किन्तु इस वस्तु स्थिति से अपने को अलग तो नहीं रख सकती हो। आख़िर साथी तथा शुभाकांक्षियों के सहयोग और प्रोत्साहन की आवश्यकता तो होती ही है। वही तो हमारे पथ का पाथेय है। दूसरी बात यह है कि जनता भी अपने सामने हमारी योजना के साकार रूप को देखकर ही आकर्षित हो सकती है। जिन पढ़े-लिखे नौजवानों को हम तैयार करेंगे वे भी काम की कुछ आर्थिक सफलता को देखकर ही इधर झुकेंगे। इसलिए हमको इसकी भी चिन्ता करनी है कि हमारा उत्पादन का काम आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो। और अगर हम आरंभ से ही स्वावलम्बी नहीं होंगे तो हम उतने साधन ही कहाँ से लावेंगे। अतः हमें शुरू में पेशेवर कारीगरों से उत्पादन का प्रारंभ करा के तब क्रमशः अपने ध्येय की ओर बढ़ना होगा।

उपर्युक्त तीन बातों को ध्यान में रखकर जहाँ काम शुरू करें वहां उद्योग के साथ शिक्षा, सुधार, सफाई आदि ग्राम-उत्थान के काम भी एक साथ ही शुरू करने होंगे। कारण यह है कि हमारे सामाजिक ज़ीवन में अलग-अलग महकमे नहीं हैं। हर एक कार्यक्रम एक दूसरे से अनुबन्धित है; एक दूसरे पर असर रखता है। आजकल

विशेषज्ञता की जो धूम मची हुई है, वह आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक केन्द्र-वाद का फल है जिसने मनुष्य को पूरा मनुष्य न रहने देकर मशीन का पुर्ज़ा बना दिया है। मैं जानता हूँ कि इस विषय में मेरे साथ सहमत होने वाले साथी कम हैं; लेकिन अनुभव से मेरा विश्वास दृढ़ हो गया है कि ग्राम-उत्थान के किसी भी कार्यक्रम को अलग करके चलाया ही नहीं जा सकता। अगर वैसा किया गया तो वह एक मुर्दा कार्यक्रम हो जायगा। उसका सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा और हमारे लिए उस कार्यक्रम को चलाना निरर्थक बोझा ढोना होगा; वह समाज के संघटन का हिस्सा नहीं होगा।

आज यहीं पत्र समाप्त करता हूँ। इधर कई दिनों से जेल में कोलाहल मचा हुआ है। कुछ लोग छूट रहे हैं, बाकी लोग आशा बांधे बैठे हुए हैं। जेल भी एक अजीब वस्तु है। जब कोई आन्दोलन शुरू होता है तो जेल जाने के लिए व्याकुल हो जाते हैं। अगर संघटन की आवश्यकता के लिए अथवा रचनात्मक कार्यक्रम के कारण जेल जाने से रोका जाता है तो परीशान हो जाते हैं। लेकिन जब जेल आ जाते हैं तो फौरन छूटने के दिन गिनने लगते हैं। यह भी एक अजीब माया है। ख़ैर, यह कोलाहल भी अधिक दिन नहीं चलेगा। फिर निश्चिन्त होकर लिख सकूंगा। अतः आज विदा दो। नमस्कार।

---

[३]

कताई-द्वारा सर्वांग ग्राम-सेवा की ओर

५ दिसम्बर, सन् ४३

इधर तुम लोगों का कोई समाचार नहीं मिला। मेरठ के पत्र से मालूम हुआ कि श्री आर्यनायकम् ने मेरे लिए कुछ किताबें भेजी थीं, लेकिन वे मुझे मिली नहीं। पता लगाना कि क्या हुई?

आज कल यहाँ का वातावरण कुछ शान्त है। जिनको छूटना था छूट गये। अब जो रह गये वे शायद लड़ाई की समाप्ति तक यहीं पड़े रहेंगे। मालूम हुआ कि विचित्र भाई और मेरठ के दूसरे भाई छूट गये हैं। यह भी मालूम हुआ कि रणीवाँ के साथियों को भी छोड़ दिया गया है. केवल कर्ण को रोक लिया गया है। मुझे प्रसन्नता है कि मैं छूटने से बच गया। आज कल छूट कर भी कुछ फायदा नहीं। सरकार कोई काम करने नहीं देगी। ख़ास तौर से देहातों में तो हम लोगों का घुसना संभव ही नहीं होगा। आश्रम के उत्पादन और विक्री का जो काम बच गया है उसके लिए जितने लोग बाहर हैं वे ही काफ़ी हैं। अतः इस समय जेल में बैठ कर शान्ति से अध्ययन करने में ही ज्यादा फ़ायदा है। इधर कान की तकलीफ़ के कारण काफ़ी कमज़ोर हो गया हूँ। अब कुछ समय और आराम कर लेने से स्वास्थ्य भी ठीक हो जायगा।

मैं अपने पिछले पत्र में सन् ४२ में जेल से छूटने के बाद के ६ माह के अनुभवों का वर्णन कर रहा था। उसमें कताई-सम्बन्धी कार्य को जान-बूझकर छोड़ दिया था क्योंकि यह काम रणीवाँ के कार्य-क्रम के अलावा आश्रम के मुख्य खादी-विभाग से सम्बन्ध रखता है। जेल से लौटने पर देखा कि कत्तिनों के सुधार की दृष्टि से जो कुछ प्रयोग शुरू किया था, वह सब बन्द हो गया है। अकबरपुर के मातहत निनाये क्षेत्र का काम भी बन्द था। मेरे चले जाने से आश्रम में उस दृष्टिकोण से प्रयोग करने वाला दूसरा कोई नहीं रह गया था। अतः उसे बन्द कर देना ही उचित था नहीं तो बेकार धन तथा समय का अपव्यय होता। जितना प्रयोग पहले कर पाया था उसका अनुभव और उसके आधार पर जेल में जो कुछ विचार करता रहा, लिख चुका हूँ। उसके अनुसार आठ आना मजदूरी वाली योजना का भी कुछ व्यावहारिक अनुभव क्रियात्मक प्रयोग के आधार पर करना था। उस समय रामधारी भाई अकबरपुर तथा पूर्वी ज़िलों के उत्पादन केन्द्रों

के व्यवस्थापक थे। उनसे मैंने अपना विचार प्रकट किया। अपनी कल्पना का कुछ अन्दाज़ दिया। मैंने उनसे कहा कि निनाये के क्षेत्र को फिर से लिया जाय या दूसरे किसी क्षेत्र में प्रयोग आरंभ किया जाय। साथ ही मैंने यह भी कहा कि अगर मेरी कल्पना के अनुसार काम करना है तो अकबरपुर के समस्त क्षेत्र के दृष्टिकोण तथा वायु मंडल में परिवर्तन लाना होगा क्योंकि अगर बाकी क्षेत्र के कार्यकर्ता पुराने दृष्टिकोण से काम करेंगे तो केवल एक जगह पर थोड़ा काम करने से हमको सफलता नहीं मिल सकती। अब तक जो कुछ किया वह सब केवल कताई के द्वारा हम कितना काम कर सकते हैं; इसकी संभावनाओं को समझने के लिए किया। अतः वह काम मौजूदा वायु मंडल में ही एक-दो गांवों में प्रयोग करने से मेरे उद्देश्य के अनुसार पूरा हो सकता है। लेकिन अब तो हमें सारा कार्यक्रम ही नये ढंग से चलाना है। अतः अकबरपुर के सारे क्षेत्र के लोगों में दृष्टिकोण का परिवर्तन करना ही होगा। इसके लिए नये कार्यकर्ताओं को नये सिरे से शिक्षा दे कर उन्हीं के द्वारा धीरे-धीरे कार्य-संचालन किया जाय। रामधारी भाई को मेरी बात पसन्द तो आई लेकिन अकबरपुर के क्षेत्र के बारे में उन्हें आशा नहीं थी। उन्होंने कहा "अकबरपुर अब म्यूनिसपलिटी की भैंसा गाड़ी हो गया है, वह अपनी ही चाल से चलेगा। आप किसी नये केन्द्र को लीजिए।" उन का कहना ठीक ही था। नये क्षेत्र में सफलता पाने के बाद ही पुराने क्षेत्र में काम आसान होगा। थोड़े ही दिन हुए बस्ती ज़िले में मगहर केन्द्र खोला गया था और वहां काम बढ़ाने के लिए आश्रम ने तय कर लिया था। अतः मगहर के क्षेत्र में अपना प्रयोग करने की बात सोची गई।

नूतन प्रयोग के लिए क्षेत्र का चुनाव

उन्हीं दिनों बापू जी काशी विश्वविद्यालय के उत्सव के लिए बनारस आये हुए थे। आश्रम के अधिकतर लोग और बिहार के

लक्ष्मी बाबू आदि भी वहाँ उपस्थित थे। आठ आना वाली योजना खादी जगत् में प्रकाशित हो चुकी थी और उसकी चर्चा भी थी। मैंने देखा कि आश्रम के बड़े भाई लोग मेरे विचार को पागलपन समझते हैं। अतः मैंने अपनी योजना उस समय आश्रम की प्रबन्धक समिति के सामने पेश नहीं की। हाँ, बिहार चर्खा संघ के लोगों को मेरे विचार पसन्द आये और लक्ष्मी बाबू ने कहा—"आप एक बार आइए और वहाँ की परिस्थिति के अनुसार योजना बनाइए तो हम लोग प्रयोग करने को तैयार हैं।" रामदेव भाई तो काफी उत्साहित मालूम पड़ते थे। प्रबन्धक समिति के सामने तो मैंने अपना विचार प्रकट नहीं किया लेकिन जो योजना आश्रम ने मगहर केन्द्र के द्वारा गोरखपुर ज़िले में सूत बढ़ाने तथा सुधारने की रक्खी उसी में मुझे काफी दूर तक सुधार करने की गुंजाइश मालूम पड़ी। मैंने सोचा कि आरंभ से ही अगर मैं मगहर में अपने दृष्टिकोण से काम चला सकूँ और इस बीच बिहार में कुछ सफलता मिले तो अगस्त की सालाना बैठक में अपनी पूर्ण योजना पेश कर सकूँगा। मगहर केन्द्र की व्यवस्था रामधारी भाई ही कर रहे थे और वे नये ढंग से काम करना पसन्द ही करते थे अतः मैंने उस समय उतने में ही सन्तोष किया।

उसके बाद मैं बिहार गया और वहाँ की परिस्थिति के अनुसार आठ आने मज़दूरी के द्वारा कत्तिनों की सुधार-योजना बनाई। सम्बन्धित कार्यकर्ताओं की शिक्षा-व्यवस्था रामदेव बाबू ने अपने हाथ में ली। पहले-पहल सौ कत्तिनों से काम शुरू करने का निश्चय हुआ। इसकी सूचना मैं तुम्हें चंपारन में मुलाकात होने पर दे ही चुका हूँ।

चंपारन और पटना से लौटकर मैं सीधा मगहर गया और स्थानीय सूत-सुधार कार्यकर्ताओं को बुलाकर १० दिन के लिए शिक्षा कैम्प खोला। उसमें मैंने अपनी योजना और उस योजना के द्वारा हम देहाती स्वावलम्बन तथा स्वतंत्रता का संगठन कर सकेंगे, इत्यादि बातें समझाईं और उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में भेज दिया। मगहर के मातहत

गोरखपुर और बस्ती के ज़िलों के लिए उस समय जो योजना बनाई उसकी रूपरेखा जानने की उत्सुकता होना तुम्हारे लिए स्वाभाविक है। अतः उसके बारे में दो-चार बातें कहना अच्छा होगा।

उस समय लड़ाई के कारण देश भर में वस्त्र-समस्या बहुत उग्र रूप धारण किये थी। प्रत्येक प्रान्त के चर्खा संघ के सामने जल्दी उत्पादन बढ़ाने की समस्या थी। आश्रम भी जल्दी चर्खे का प्रचार करना चाहता था। लेकिन खादी जगत् की वर्तमान परिस्थिति में किसी भी प्रकार के चर्खे की तादाद बढ़ा देने से काम नहीं चल सकता था। इतने दिन में खादी बहुत तरक्की कर चुकी थी। पहले जैसी गर्दी और कमज़ोर सूत की खादी बनाना अब संभव नहीं था। अब तो भंडारों में खादी की किस्म इतनी एकसार और मज़बूत हो गई है कि नई कत्तिनों के कमज़ोर और असमान सूत का माल लोग पसन्द ही नहीं कर सकते। अतः आश्रम के सामने जल्दी से उत्पादन बढ़ाने के साथ-साथ प्रारंभ से ही ऐसी खादी बनाने की समस्या थी जो पुराने केन्द्रों की खादी के मुकाबले खप सकती हो। और यह तभी संभव था जब हम प्रत्येक कत्तिन को शुरू में ही शास्त्रीय ढंग से कताई की विभिन्न प्रक्रियाओं की शिक्षा दे सकते। इसका मतलब यह कि हम जो हज़ारों की तादाद में कत्तिनों की संख्या बढ़ाना चाहते थे, उनके लिए आवश्यक था कि उनमें से प्रत्येक को किसी कताई विद्यालय में बैठाकर कुछ दिन तालीम दें। इतना विराट् काम करना आसान नहीं था। इसके लिए सैकड़ों शिक्षकों की आवश्यकता थी। शिक्षकों को कताईशास्त्र सिखाना, फिर उनके द्वारा कत्तिनों की शिक्षा आदि का सारा काम जल्दी से करना था। उन ग्राम-शिक्षकों को कुछ वृत्ति भी देना ज़रूरी था। इन सारे कामों के लिए जितना धन ख़र्च करना आवश्यक होता उतन धन आश्रम के पास कहाँ था? कत्तिनों का शिक्षा-कैम्प चलाने के लिए मैंने अकबरपुर में स्थानीय ग्राम-शिक्षकों

कल्पनाएँ और कठिनाइयाँ

का संघटन पहले किया था, जिसका विवरण मैं तुम्हें पहले ही लिख चुका हूँ। वह प्रयोग काफ़ी कम ख़र्च का था। लेकिन उस प्रकार के ग्राम-शिक्षकों को भी थोड़ी वृत्ति तो देनी ही होती थी। इसलिए बड़ी तादाद में उनको सिखाना आश्रम के साधनों से बाहर की बात थी। अतः आश्रम ने यह तै किया कि कम से कम ग्राम-शिक्षक की वृत्ति गाँव वाले ख़ुद दें। मैं पहले कह चुका हूँ कि बापू जी खादी तथा ग्राम-उद्योग के द्वारा सहज और स्वाभाविक लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते हैं और यह तभी हो सकता है जब ग्रामवासी अपना काम ख़ुद संचालन कर सकें। हमारे संघटन की प्रगति ऐसी होनी चाहिए कि हम उत्पादन करने वालों के स्वतंत्र और सुव्यवस्थित संघटनों की क्रमशः स्थापना करके उन पर सारा काम सौंप सकें। काग़ज़ के उद्योग के सिलसिले में मैंने इस दिशा में कुछ प्रगति भी कर रखी थी। लेकिन मुझे अब तक कोई ऐसा सूत्र नहीं मिल रहा था जिसके ज़रिये मैं उस प्रकार के स्वावलंबी संघटन की नींव डाल सकता। ग्राम-उद्योग के समस्त कार्यक्रम की बुनियाद तो चर्खा ही है। इसीलिए बापू जी बार-बार चर्खे की सौर मंडल के सूर्य से और बाकी उद्योगों की ग्रह-उपग्रह से तुलना करते हैं। बात भी ऐसी ही है। चर्खा मनुष्य की तीन मौलिक आवश्यकताओं—अन्न, वस्त्र तथा आश्रय—का प्रधान साधन है। इस उद्योग में गाँव का प्रत्येक परिवार शामिल होता है; अतएव चर्खा चलाने वालों के स्वावलम्बी संघटन का अर्थ समस्त ग्राम-समाज का लोकतंत्र के आधार पर संघटित होना है; क्योंकि चर्खे के द्वारा आबादी के समस्त परिवार उस संघटन में शामिल होते हैं। इसलिए आश्रम के इस निश्चय से कि ग्राम-शिक्षक का वेतन ग्रामवासी ही दें मैं बहुत उत्साहित हुआ। मैंने देखा कि इस निश्चय की कामयाबी की चेष्टा से इस बात की परीक्षा हो जायगी कि अमुक ग्राम के लोगों में चर्खा योजना में वाक़ई दिलचस्पी है या नहीं और ग्राम-शिक्षक के पुरस्कार की इस रकम का

चन्दा वसूल करने में ग्राम-वासियों को थोड़े-बहुत संघटन की आवश्यकता होगी। उसी का विकास करके हम उनको पूर्ण रूप से संघटित करेंगे तथा भावी व्यवस्था की इकाई बना सकेंगे।

मैं मगहर गया और इन्हीं बातों को सोचकर वहाँ का कार्यक्रम बनाया। जनता में वस्त्र संकट था ही। हमारे वहां पहुँचने पर चारों तरफ से इस बात की मांग आने लगी कि उनके क्षेत्र में केन्द्र खोला जाय। मैंने उनको अपनी योजना बताई और इसका वादा किया कि जो कोई भी उस योजना के अनुसार अपने यहां काम शुरू कर सकेगा, उसके यहां केन्द्र खोला जायगा। योजना इस प्रकार थी:—

प्रथम तीन मास तक ग्राम-शिक्षकों को शिक्षा देना। इसके लिए छः क्षेत्रों में शिक्षण-शिविर खोले गये। उन क्षेत्रों में मिडिल पास से लेकर प्रवेशिका तक की योग्यता वाले नौजवानों से अपील की गई कि आज की वस्त्र-समस्या हल करने के लिए और आगे के ग्राम-सुधार कार्य के संचालन में सहायक होने के लिए उनको स्वयंसेवक का काम करना चाहिए। उनके लिए यह नियम रखा गया कि वे आश्रम के शिविर में तीन माह तक की शिक्षा लें। इसके लिए वे प्रतिदिन घर से आकर काम सीखें। चर्खा रुई आदि सामान आश्रम उनको उधार दे देगा। और वे उसी तीन मास में शिक्षा-काल के उत्पादन से उसका दाम पूरा कर दें। उद्देश्य यह था कि आरंभ से ही व्यावहारिक रूप से अगर वे स्वावलम्बी बन सकेंगे तो उनमें स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर विश्वास पैदा हो सकेगा। तभी तो वे ग्राम-वासियों को इसकी संभावनाएँ बता सकेंगे और उनका असर भी पड़ेगा। साथ ही भविष्य के लिए उन्हें चर्खा आदि सामान बिना अतिरिक्त दाम खर्चे मिल जायगा। तीन माह की शिक्षा के बाद जो लोग परीक्षा में पास होंगे, उन्हें ग्राम-शिक्षक का प्रमाण-पत्र दिया जायगा, ताकि ग्राम-वासी ऐसे प्रमाणित शिक्षकों से ही सिखाने का काम ले सकें। छः शिविरों में करीब

योजना

१५० नौजवान शिक्षा पाने लगे। शिविरों का काम पहली मार्च से शुरू हुआ था। ३० मई की परीक्षा में करीब ८० नौजवान पास हुए और जून के प्रथम सप्ताह में ही वे काम में लगा दिये गये।

ग्राम-शिक्षक का काम यह स्थिर किया गया कि वे अपने गांव से तीन मील तक दूर के किसी गांव में सात सप्ताह का शिक्षा-शिविर स्थानीय स्त्रियों के लिए चलायेंगे। एक सप्ताह प्रारम्भिक व्यवस्था का समय लेकर उन्हें दो मास का समय एक गांव में देना था। इस काम के लिए शिक्षकों को गांव वालों से दस रुपया फ़ीस पाने का नियम रक्खा गया। इसके लिए आश्रम की ओर से देहातों में अपनी योजना का प्रचार किया गया। उनसे कहा गया कि जो गांव इस योजना में शामिल होना चाहते हैं वे हमारे पास आवेदन पत्र भेजें। आवेदन-पत्र के साथ उन्हें दस रुपया फ़ीस ग्राम-शिक्षक के लिए और दो रुपये आश्रम के निरीक्षण के सफ़र ख़र्च के लिए जमा करनी होगी। हमारे प्रचार का आशातीत फल हुआ और सौ से ज्यादा गांवों से आवेदन-पत्र आ गये। उन्हीं गावों में हमारे यहां शिक्षा पाये हुए शिक्षकों को लगा दिया गया। शिक्षकों को वेकार न वैठना पड़े, इसलिए यह निश्चय किया गया कि प्रथम शिक्षा-शिविरों का शिक्षण समाप्त होने से पहले नये शिक्षा-शिविरों की व्यवस्था कर ली जाय।

गांव में दो मास का कत्तिन शिक्षण-शिविर चलाने के लिए हमारे सुधार कार्यकर्ता को निरीक्षण के लिए वीच वीच में जाना पड़ता था। शिक्षक तो दो मास के लिए सारे समय उस गाँव में काम करता ही था। दो-एक उत्साही सज्जन उस गाँव में होते ही थे, जिनके उद्योग से हमारी शर्त पूरी होकर वहाँ केन्द्र खुलने की नौवत आती थी। इससे दो मास की कोशिश से उस गाँव में स्थायी और व्यवस्थित चर्ख़ा समिति कायम करना मुश्किल न होता था। अतः मैंने आरंभ से ही ऐसा संघटन करना चाहा जिससे उन्हीं समितियों के द्वारा सारे क्षेत्र का संघटन किया जा सके। मेरा विचार था कि शुरू में समिति

के द्वारा कत्तिनों की कताई में सुधार, आश्रम के सूतकेन्द्र और कत्तिनों के बीच के व्यवहार और रात्रि-पाठशालाओं के संघटन का काम किया जाय। फिर परिस्थिति के अनुसार दूसरे कार्यक्रम भी शामिल हो सकेंगे।

इन सारे कामों के लिए मुझे प्रायः मगहर जाना पड़ता था। अपने दृष्टिकोण से काम की नींव मज़बूत करने के लिए शुरू में मेरा वहाँ रहना भी आवश्यक था। लेकिन वह नहीं हो सका। उन दिनों मुझे अधिक समय रणीवाँ में लगाना था क्योंकि वहाँ के काम को पुनः संघटित करना था। अतः मगहर के भाइयों से अपनी शक्ति भर और सिद्धान्त के अनुसार काम करने को कहकर और यह वादा करके कि नवम्बर से दो-तीन मास तक वहीं अपना प्रधान अड्डा बना कर काम करूँगा, चला आया।

वस्त्र-स्वावलंबन की दृष्टि से हमें एक दूसरी समस्या भी हल करनी थी। इस प्रान्त के पूर्वी इलाके में कपास की खेती नहीं होती; परन्तु कताई के लिए स्थानीय कपास की व्यवस्था होना ज़रूरी है। जब दूसरी अच्छी कपास पैदा ही नहीं हो सकती है तो सहज ही मेरा ध्यान देव कपास की ओर गया। जाँच करने से मालूम हुआ कि दोनों ज़िलों में पहले देव कपास काफ़ी होती थी और आजकल भी तिथि-त्योहार, पूजा तथा यज्ञोपवीत के लिए लोगों के घर में एक-आध पेड़ मौजूद रहता है। कताई का अब तक विशेष महत्व नहीं रहा।

पूर्वी युक्तप्रान्त में कपास की कमी की समस्या

बिहार में मस्लिन आदि बारीक सूत के लिए और कहीं-कहीं बहुत थोड़ी मात्रा में इसका इस्तेमाल होता था। अतः मेरे लिए इसी के द्वारा वहाँ की कपास-समस्या हल करने का विचार दुस्साहस ही समझा जाता था। मैंने देखा कि देव-कपास से नीचे के नंबर का सूत भी ठीक कत जाता है, बल्कि रेशे अच्छे होने से उस सूत का कपड़ा मज़बूत होने की ज्यादा संभावना थी। फिर भी

इस कपास का विस्तृत प्रचार नहीं हो सका। इसका कारण संभवतः धुनाई की कठिनाई थी क्योंकि इसके रेशे बहुत मुलायम होने के कारण धुनते समय धुनकी में लिपट जाते हैं। बारीक कातने वालों को बहुत कम रुई की आवश्यकता होती है। अतः वे हाथ से तुन कर पूनी बना सकते थे। मोटा सूत कातने वालों के लिए वैसा करना कहाँ संभव था?

उन्हीं दिनों विनोबा जी की नई तुनाई पद्धति से पूनी बनाने का प्रयोग चल रहा था। जेल से लौट कर वर्धा में उस प्रयोग की प्रगति को मैं देख भी आया था। तुनाई की पद्धति का जितना भी अनुभव कर सका था उससे मालूम हुआ कि लंबे रेशे की तुनाई अधिक आसानी और गति से हो सकेगी। पूनी बनाने के इस नये ढंग की प्रगति को देख कर देव कपास की भावी सफलता पर मेरा विश्वास और भी दृढ़ हो गया। अतः देव कपास के प्रचार के साथ-साथ मैंने तुनाई का भी प्रयोग करना शुरू किया। रणीवाँ के विद्यालय में और मगहर के सुधार कार्य-कर्ताओं के द्वारा ही मैं प्रयोग करता रहा। यह प्रयोग अधिक दिन नहीं कर पाया था और एकाएक ९ अगस्त सिर पर आ पड़ा। यहाँ जेल में तुनाई का अभ्यास कुछ दिन मैंने खुद किया। इससे मुझे एक बात मालूम हुई। तुनाई की पूनी से रुई के रेशे समानान्तर हो जाते हैं। उससे सूत मज़बूत तो अवश्य ही होगा; तुनाई की गति भी अच्छी हो जायगी, लेकिन तुनाई में समानता लाना सब लोगों के लिए सम्भव नहीं है। यह ख़ास कला की चीज़ है। अतएव तुनाई से अच्छी पूनी वही बना सकते हैं जिनमें स्वभावतः कला की प्रवृत्ति हो। अतएव अगर देव कपास को सार्वजनिक बनाना है तो उसकी तुनाई के लिए हमें प्रयोग करना होगा। फिर भी देव कपास की भावी सफलता पर मेरा विश्वास अभी तक कायम है। इसका कारण यह है कि पुरुषों से स्त्रियों में कला की वृत्ति अधिक है

देव कपास की संभावनाएँ

और कुछ दिन प्रयोग करने से स्त्रियों-द्वारा तुनाई की समस्या हल होना सम्भव है।

देव कपास के प्रचार से एक दूसरा फ़ायदा होता है। स्थायी पेड़ होने से आबादी के अन्दर घरों के आगे पीछे जो खाली ज़मीन रहती है वहाँ भी इसे लगाया जा सकता है। औसतन एक चर्खे के लिए पाँच-सात पेड़ काफ़ी होते हैं। इतने पेड़ लगाने के लिए वैसी बेकार जगह करीब-करीब सभी गांवों में मिलेगी। इससे कृषि के लायक खेत अन्न पैदा करने के लिए खाली रहते हैं। वैसे ही इस अभागे देश की आबादी के लिहाज़ से खेत इतने कम हैं कि भर पेट खाने के लिए अन्न की पैदावार काफ़ी नहीं होती। अतः वस्त्र के लिए इसमें से जितनी कम ज़मीन ली जाय, उतनी ही उदर देवता पर कृपा होगी। इन बातों को सोच कर मैं देव कपास का प्रचार ज़ोरों से करने लगा। जून-जुलाई में वहा हज़ारों की तादाद में लोगों ने पेड़ लगाये भी। मालूम नहीं कि अब उनका क्या हाल है?

देहातों में स्वावलम्बन की दृष्टि से चर्खे के प्रसार के साथ-साथ उसी क्षेत्र में मैं दूसरे प्रयोग भी करना चाहता था। सन् १९४१ में जेल जाने से पहले अकबरपुर में आश्रम के सुधार-विभाग की मातहत जो कत्तिन-विद्यालयों का प्रयोग कर रहा था, उसका हाल मैंने आगरा जेल में लिखा था। आख़िरी दिनों किस प्रकार ६ मास का परिश्रमालय चलाने की कल्पना कर के दो गांवों में उसका प्रारंभ करने का आयोजन कर रहा था और गिरफ़्तार होने के कारण किस प्रकार कल्पना कार्यान्वित न हो सकी, सो मैंने तुम्हें पूरा-पूरा लिखा था। अब मगहर में उन्हीं प्रयोगों के कुछ व्यावहारिक कार्यक्रम से चलाने के विचार से कम से कम एक स्थायी परिश्रमालय चलाने का निश्चय किया। विचार यह था कि एक ऐसा परिश्रमालय चलाया जाय जिसमें स्त्रियों को कताई की व्यावहारिक तथा बौद्धिक शिक्षा के

परिश्रमालय की योजना

साथ-साथ दर्जा ४ तक की तालीम दी जाय। परिश्रमालय का समय ५ घंटा कताई तथा ३ घंटा पढ़ाई का रखने का विचार किया। इस योजना को मगहर की वहिनो को समझाने के लिए उनकी एक सभा बुलाई। इस सभा में तीन चार सौ वहिनें मौजूद थीं। उनमें वहुत सी ऐसी वहुएँ थीं जो हमेशा परदे में रहती थीं। उस सभा में वहिनों के उत्साह को देख कर मुझको स्वयं थोड़ा आश्चर्य हुआ। वहाँ मैंने अपनी योजना, वापू जी की कल्पना, वहिनों का समाज में स्थान, समाज-रचना में उनका महत्व आदि वातें वताईं और कहा कि मेरे कल्पनानुसार परिश्रमालय का उद्देश उनको इन तमाम वातों की शिक्षा देना है। उनके ढंग से मालूम हुआ कि वे उस योजना को पसन्द करती हैं। वाद को क़रीव वीस-वाइस वहिनें मुझसे मिलीं और योजना के सम्वन्ध में पूछ-ताछ की और उनमें से १३ परिश्रमालय में भर्ती होने के लिए तैयार हो गईं। वाद को उनकी तादाद वढ़कर सत्रह हो गई थी। मैंने उन्हें साफ़-साफ़ समझा दिया था कि इस प्रकार का परिश्रमालय चलाने के लिए उन्हें स्वावलंवी होना पड़ेगा। इसलिए यह तय किया गया कि वे अपने कते हुए सूत में से चार गुंडी सूत मासिक परिश्रमालय के खर्च के लिए देंगी। वाद को जव मैं रणीवां चला आया था तो उन वहिनों ने मुझे लिखा कि वे चाहती हैं कि प्रारंभ में फीस दो गुण्डी रक्खी जाय। जव कताई की गति वढ़ जाय तो चार गुंडी कर दी जाय। वस्ती ज़िले से देहातों-जैसे पिछड़े इलाके में सत्रह स्त्रियाँ परदे से वाहर निकल कर परिश्रमालय में भर्ती हो गई थीं यही वड़ी वात थी। फिर वे वहाँ पढ़ने के लिए फीस देना भी स्वीकार कर रही हैं, इतना ही मेरे संतोष के लिए काफी था। अतः मैंने उसकी स्वीकृति दे दी। इस परिश्रमालय के द्वारा मैं दो वातों की जाँच करना चाहता था। इसके द्वारा किस प्रकार की और कितनी शिक्षा गाँव की स्त्रियों को दी जा सकती है और आठ आना मजदूरी वाली योजना में कत्तिनों को परिश्रमालय द्वारा जिस गति, समानता, तथा मज़वूती तक पहुँचाने

की कल्पना की थी वह कहाँ तक व्यावहारिक है। यह परिश्रमालय ६ अगस्त के तूफ़ान से पहले केवल दो माह चल पाया था। अतः इस प्रयोग का नतीजा मालूम न हो सका। इस तरह इस प्रकार के प्रयोगों का सिलसिला दूसरी बार टूटा। आशा है कि अब जेल से निकल कर जो चेष्टा करूँगा उसमें सफल ही हो कर रहूँगा। अब उस पर और गहराई से विचार करने को समय भी मिल गया। आजकल मैं इस दिशा में पिछले अनुभवों के आधार पर निश्चित योजनाओं पर विचार कर रहा हूँ। बाहर जाकर उन्हें चर्खा संघ की कौंसिल के सामने पेश करने का विचार है। संभव हुआ तो आगे के पत्रों में उसकी कुछ रूप-रेखा बताने की कोशिश करूँगा।

इस प्रकार पिछली बार सन् ४० में जितने कार्यक्रमों का प्रयोग करते हुए जेल चला आया था उन सब को जेल से लौट कर इन चार-पाँच महीनों में फिर से जारी करने और उनकी प्रगति करने की चेष्टा करते हुए पुनः १९४२ में जेल चला आया। यों वे काम छूट गये लेकिन अच्छा हुआ कि मैं नैनी जेल आया। इलाहाबाद के कार्य-कर्ताओं से मेरा विशेष परिचय नहीं था। उनसे परिचय हुआ। इस जेल में रहने से एक ख़ास लाभ और हुआ; वह यह कि जिस बस्ती और गोरखपुर के ज़िलों में मैंने अपना प्रयोग शुरू किया था उनके तमाम कार्यकर्त्ता इसी जेल में आ गये। उनसे भी घनिष्टता हुई। बाहर हमारे प्रयोग को वे उतना नहीं समझते थे जितना यहाँ। इन प्रयोगों की तमाम रूपरेखा और इसके पीछे जो कुछ भी मेरी कल्पना है, उसका पूरा पूरा नक्शा उनके सामने आ गया। अधिकांश कार्य-कर्ता सहमत भी हैं। अतः भविष्य में यदि क्षेत्र में प्रयोग करना हुआ तो उनका संयोजित और सचेष्ट सहयोग मिलेगा ही।

अब मैं अपने अनुभवों की कहानी समाप्त कर चुका हूँ। मालूम नहीं कि कब तक जेल में ही रहना पड़ेगा और निकलने के बाद क्या स्थिति होगी। राष्ट्रीय जीवन का अब दूसरा अध्याय शुरू होने वाला

है। हमारा राष्ट्रीय जीवन भी संसार की स्थिति में आमूल परिवर्तन होने के साथ-साथ परिवर्तित होने वाला है। आज के सर्व-ग्रासी विनाश के बाद संसार की समूची व्यवस्था में उथल-पुथल होगी। विश्व-व्यापी खंडहर के पुनर्गठन की समस्या उठेगी। उस समय तुम्हारा-हमारा क्या स्थान होगा, क्या कर्तव्य होगा, कौन जाने। आज सभी बातें, सभी चीज़ें, भविष्य के गर्भ में पड़ी हुई हैं। हाँ, एक बात निश्चित है कि हिंसा, द्वेष और गुलामी के इस मनमाने तांडव से लोग इतना जर्जरित हो गये हैं कि संसार को आज बापू जी की शान्ति और समता के संदेश की जितनी आवश्यकता है उतनी और कभी नहीं थी। अतः हमारी ज़िम्मेदारी अब हज़ार गुनी बढ़ जायगी। भगवान ही जानता है कि उस दिन हम खोटे उतरेंगे या खरे।

अब इतना कह कर आज विदा लेता हूँ। सबको मेरी शुभा-कांक्षा और नमस्कार।

---

[४]

ग्राम-सेवा की विधि

१० जनवरी, सन् ४४

एक मास से ऊपर हुआ, तुम्हें पत्र लिखा था। अब सन् ४३ भी बीत गया। इस बीच तुम्हारा एक पत्र मिला। तुमने लिखा है कि यह सब ग्राम-सुधार कार्य के प्रयोगों का विवरण तो मालूम हुआ लेकिन असली सवाल तो ग्राम-सुधार कार्य के लिए निश्चित और सिलसिले-वार योजनाओं का है। अगर कोई ग्राम-सेवा का काम करना चाहे तो उसे करना क्या होगा? अभी दादा का भी एक पत्र आया था। उन्होंने भी लिखा है कि मैं अपने अनुभवों के आधार पर ग्राम-उद्योग और ग्राम-उत्थान पर कुछ लिखूँ जिससे दूसरे कार्यकर्ताओं को मदद मिले। मैंने उन्हें लिखा था कि मैं तो सिर्फ मिस्त्री या दस्तकार आदमी

है; लिखने पढ़ने से मुझे क्या मतलब। उन्होंने फिर लिखा कि मेरी ज़िम्मेदारी अपनी दस्तकारी की रूप-रेखा बताने की भी है। यहां भी कुछ लोग ग्राम-सुधार योजना मांग रहे हैं। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि निश्चित योजना क्या बताऊँ? असल में गाँव तो आदमियों की बस्ती है। संसार में दो आदमियों का भी दिमाग एक सा नहीं होता। हर एक गाँव की, हर एक क्षेत्र की समस्याएँ पृथक्-पृथक् हैं; परिस्थितियां अलग अलग हैं। जीवन के हर महकमे में भिन्नता है। आर्थिक परिस्थिति अलग, सामाजिक रूप-रेखा अलग, मानसिक वृत्ति और प्रवृत्ति अलग तथा जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति की देन तथा साधन अलग। अतएव हर कार्यकर्ता को अपने-अपने क्षेत्र के लिए अलग-अलग योजना बनानी होगी। मैंने जो कुछ देखा, सोचा या किया सब कुछ लिख दिया। कहाँ क्या कठिनाइयाँ हुईं और उन्हें हल करने के लिए क्या-क्या कोशिशें कीं, उनका पूरा-पूरा विवरण तो लिख ही दिया। इन्हीं अनुभवों का फ़ायदा उठा कर लोग अपनी अपनी समस्याओं के अनुकूल योजना बना सकते हैं। अगर मैं आम तौर पर कामचलाऊ कोई योजना बनाऊँ भी तो वह काम की नहीं होगी। हाँ, एक बात मैं ज़रूर कर सकता हूँ। अब तक के अनुभवों के आधार पर यह ज़रूर बता सकता हूँ कि हमें ग्राम-सुधार कार्य के लिए किस तरीके से, किस आधार तथा किस सिलसिले से काम करना होगा। वह भी मेरी ही कल्पनानुसार होगा; उसे भी दूसरे भाइयों को अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार परिवर्तित करके काम में लाना होगा।

सेवक का जीवन—मैं पहले ही कह चुका हूँ कि ग्राम-सेवा का सबसे प्रथम और महत्व का साधन सेवक खुद है। उसकी निजी तैयारी ही सबसे ज़रूरी चीज़ है। किस तरह हमारे पढ़े-लिखे नौजवान अपनी सभ्यता और संस्कृति में कमी आ जाने के भय से गांव मे टिक नहीं सकते हैं, किस प्रकार उनकी नाक हमेशा सिकुड़ी ही रहती

है, किस तरह वे गांव वालों से घुल-मिलकर ग्राम-जीवन बिताने में सफल नहीं होते हैं, आदि बातें भी मैं लिख चुका हूँ। अपने जीवन के तरीके और अपनी योजनाओं का सामंजस्य रख सकने के सम्बन्ध में भी पहले लिखा है। वस्तुतः इन्हीं बातों के कारण प्रायः हम सुधार-कार्य में असफल होते हैं और अपनी असफलता का कारण गाँव वालों की अनुदारता और उनका दकियानूसीपन समझते हैं। भला बताओ तो, यह कैसे संभव हो सकता है कि तुम प्रचार तो करो कि लोग घर भर खादी पहनें, अपना बचा समय कातने में लगावें, लेकिन खुद न कातो। दूसरों की स्त्रियाँ, जो खेती का काम करती हैं, चक्की चलाती हैं, धान कूटती हैं, मवेशियों की सेवा करती हैं, घर-गृहस्थी के अनाज-पानी की व्यवस्था करती हैं, खाना पकाती हैं, बर्तन साफ़ करती हैं, और घर परिवार का सम्पूर्ण काम करती हैं, तो चर्खा चलाने के लिए फ़ुरसत पा जाती हैं; लेकिन अपनी स्त्रियों को, जिन्हें सिर्फ़ खाना पकाना ही होता है फ़ुरसत कतई नहीं होती। हम हरिजन-सेवा का काम करना चाहते हैं, छुआछूत की अनुदार नीति मिटाने का प्रचार करते हैं लेकिन जब अपने घर पर जाते हैं तो सोचते हैं—"बाप रे बाप! घर वाले देख लेंगे कि भंगी को छू लिया तो आफ़त आ जायगी।" हम शारदा ऐक्ट का प्रचार करते हैं; बाल-विवाह, अनमेल विवाह का विरोध करते हैं; विवाह-शादी में फ़िज़ूलख़र्ची के विरोध में सभाएँ और भाषण करते हैं। लेकिन अपने यहाँ और मित्र कुटुंबी जनों के यहाँ, उन्हीं सामाजिक कुप्रथाओं में न केवल शरीक होते हैं बल्कि उन अनुष्ठानों के लिए सक्रिय व्यवस्था और मदद करते हैं। दूसरों की स्त्रियों का पर्दा तुड़वाते हैं, उनसे हिल-मिल कर काम करते हैं, लेकिन अपनी स्त्री को परदे में रखते हैं। इस प्रकार की बातों के कारण ही हमारे सेवक अधिकांश असफल होते हैं, गाँव-वालों की दकियानूसी मनोवृत्ति के कारण नहीं। पहले किसी पत्र में मैंने विस्तार से लिखा है कि मेरा तो अनुभव यह है कि दकियानूसी

वृत्ति पर गाँव वालों का ही एकाधिकार नहीं है। वे तो अपना तरीका छोड़ भी देते हैं, लेकिन शहर के पढ़े-लिखे लोग अपनी आदत और संस्कार आदि बदल नहीं पाते। अतः ग्राम-सुधार कार्य की पहली आवश्यकता यह है कि सेवक जिस रंग में समाज को रँगना चाहे उसी रंग में अपने जीवन को रंग डाले अन्यथा उसका सारा काम बदरंग हो जायगा।

सेवा की वृत्ति—दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि हमारी वृत्ति सही हो। आगरा जेल से आख़िरी पत्र में विभिन्न प्रकार की वृत्ति की रूप-रेखाएँ बताई थीं। मैंने बताया था कि ग्राम-सुधार कार्य प्रधानतः तीन वृत्तियों से किया जाता है। (१) दया या करुणावृत्ति (२) उपदेश और प्रचार वृत्ति और (३) सेवा-वृत्ति। मुझे इन वृत्तियों की परिभाषा दोहरानी नहीं है। सुधार की अब तक जितनी चेष्टा सरकारी तथा गैर-सरकारी तरीके से की गई है, वह प्रायः प्रथम दो प्रकार की वृत्ति से की गई है। ग्रामवासी गरीब हैं, साधन-हीन हैं, अतः उन्हें कुछ दान कर दो; बीमार हैं तो कुछ दवा दे दो। एक-आध कुआँ बनवा दो। वे अनपढ़ हैं तो दो-चार को वज़ीफ़ा देकर किसी विद्यालय में भेज दो। इस प्रकार की दान या दया वृत्ति के प्रति ही अधिकतर ध्यान रहता है। उपदेश-वृत्ति की भी कमी नहीं है। गाँव वाले जाहिल हैं, अपना हित नहीं समझते। उन्हें उनका हित समझाओ। वे गंदे हैं अतः गंदगी से हानि और सफ़ाई के लाभ का प्रचार करो। पर्चे छपवा कर बाँटो; प्लेग, कालरा, मलेरिया आदि से बचने के उपायों की तस्वीरें मैजिक लालटेन के ज़रिये दिखाओ इत्यदि। ऐसे प्रचारक यह भूल जाते हैं कि प्रचार के बताये तरीकों के लिए जिन साधनों की सिफारिश की जाती है उन साधनों का स्वप्न देखने के लिए भी ग्राम वासी बेचारे असमर्थ हैं।

इन वृत्तियों के सम्बन्ध में पूरी तौर से समझने के लिए आज तक ग्राम-सुधार का जो कुछ काम हुआ है, उस पर एक नज़र डाल

कर विचार कर लें तो अच्छा होगा। वैसे तो ग्राम-सुधार की चेष्टा बहुत पुरानी है। गुड़गाँव ज़िले की सरकारी चेष्टा, बोलपुर की विश्वभारती की चेष्टा, कहीं-कहीं ईसाई पादरियों (सालवेशन आर्मी) आदि सार्वजनिक चेष्टाओं के सम्बन्ध में तुम्हें मालूम ही है। लेकिन ये सब व्यक्तिगत या स्थानीय रूप से हुई हैं। सामूहिक और विस्तृत रूप से ग्राम-सुधार-योजना की ओर बापू जी ने ही मुल्क का ध्यान पहले-पहल सन् १९३४ ई० में बंबई कांग्रेस के अवसर पर आकर्षित किया और स्वयं राजनीतिक क्षेत्र से अलग होकर ग्राम-उद्योग-संघ के द्वारा ग्राम-उत्थान के कार्य में अपनी शक्ति लगा दी। फिर वर्धा मगन-वाड़ी में बैठकर उन्होंने किस प्रकार से इस कार्य को प्रतिष्ठित किया, उसे तुमने देखा ही है। उन्होंने ग्राम-उद्योग संघ की स्थापना इसी-लिए की कि मुल्क भर में इस कार्य की नींव पड़ जाय। उनकी इस नीति का प्रभाव भी हुआ और ग्राम-सुधार की ओर सारे देश की रुचि पैदा हुई। सभी प्रान्तों में सभी कार्य-कर्ता ग्राम-सुधार कार्य की ओर आकृष्ट हुए और ग्रामीण जनता को संघटित करने का प्रयत्न ज़ोरों से आरंभ हुआ। गांधी जी की इस नई योजना का असर सर-कार पर भी पड़ा। उसे कदाचित् यह भय हुआ कि कहीं कांग्रेस वाले ग्राम-उद्योग तथा सुधार योजना के द्वारा ग्रामीण जनता को संघटित न कर दें। उनसे घनिष्टता स्थापित करके इस महती जन-शक्ति के अधिकारी न बन जायँ। इसका परिहार करने के लिए उसने भी इसका विभाग खोल दिया और उसके लिए एक करोड़ रुपये का बजट भी बना डाला। यह सब बातें हो गईं। अतः मैं इनकी जड़ में अधिक न जा कर इतना ही कहूँगा कि यद्यपि कांग्रेस और सरकार दोनों की ओर से इस कार्य के लिए कदम उठाया गया पर सही रास्ता दो में से एक को भी नहीं मिल सका। राष्ट्रीय कार्यकर्ता देहातों में जाते हैं, गाँव वालों की कमियाँ बयान करते हैं और कहीं कहीं झाड़ू लेकर गाँव की गलियों के कूड़ा-करकट की सफाई करने की चेष्टा

करते हैं। यह सब तो किया गया लेकिन गाँव की असली समस्याओं के मूल को नहीं देखा गया। यही कारण है कि ग्राम-सुधार कार्य में अधिक सफलता नहीं मिली। ग्राम-सुधार के कार्य को गांव वालों की आर्थिक समस्या से अलग करके देखना मूल प्रश्न की उपेक्षा करना है। वस्तुतः लोग बापू जी का दृष्टिकोण न समझ सके। बापू जी ने ग्राम-उत्थान का कार्यक्रम चलाने के लिए ग्राम-उद्योग संघ की स्थापना क्यों की? गाव-वालों की आर्थिक उन्नति और आर्थिक स्वतंत्रता के बिना उनका सामाजिक और सांस्कृतिक विकास संभव ही नहीं है। आर्थिक दृष्टि से यदि वे अपने पैरों पर खड़े हो जायँ तो दूसरे विकारों का परिहार आसान हो जायगा। फलतः बापू जी की दृष्टि में ग्राम-उत्थान व सुधार, खादी और ग्राम-उद्योग का सहज और स्वाभाविक नतीजा है। राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता यद्यपि प्रचार-कार्य करते रहे पर गाँव की मौलिक आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए स्थायी रूप से गंभीर प्रयत्न न कर सके। इसका प्रधान कारण यह है कि वे सेवाकार्य के लिए सही वृत्ति को ही धारण न कर पाये।

दूसरी ओर सरकारी ग्राम-सुधार महकमा गाँव के लोगो को आर्थिक मदद देकर कहीं सड़क और कहीं घरों में रोशनदान नाबदान आदि बनाने के लिए उभारता आ रहा था। मौलिक समस्या की ओर उसका ध्यान जरा भी नहीं था। वह देहातों में प्रचार का काम भी करता रहा। उसका सारा काम प्रधानतः दान तथा उपदेश वृत्ति से ही होता रहा। कांग्रेस सरकार भी ग्राम-सुधार के कार्य को प्रायः इसी दृष्टि से चलाती रही। ऐसा लगता था कि हमारे शहरी भाई गाँव की मौलिक समस्याओं को समझते ही नहीं हैं। शायद गांव में जाने में उन्हें जो असुविधाएँ होती थीं, और ये असुविधाएँ उनके विचार से जिन कारणों से होती थीं उन्हीं को वे ग्रामीणों के दुःख का कारण समझ लेते थे और सोचते थे कि कुएँ और नावदान तथा आने जाने के लिए सड़कों का निर्माण करा देने से ही उनका सारा कष्ट दूर हो जायगा।

कच्चा और अधकच्चा के रूप में विदेश चला जाता है। इसके अलावा मृत जानवर से दूसरी उपयोगिता की चीज़ें बनाने के प्रति तो लोग क़तई उदासीन हैं। चमड़ा निकाल कर बाकी जानवर के मांस को वे गांव की एक तरफ फेंक देंगे और चील, गिद्ध, कुत्तों और कौओं का जमघट कराकर एक वीभत्स दृश्य पैदा करेंगे। कुछ दिन तक इतनी बदबू होगी कि उधर का निकलना मुश्किल। उस दृश्य से घृणा नहीं, उस दुर्गन्ध से घृणा नहीं, सारी घृणा चमड़ा छूने से है। इस घृणा के मामले में जाति-पांति कानून भी अजीब ऊटपटांग है। रणीवां के चर्मालय का अनुभव बताते समय मैंने लिखा था किस तरह चमार जाति मृत जानवर का चमड़ा तो छीलकर निकालेगी लेकिन चमड़ा पकाने में उस पर हाथ नहीं रख सकती क्योंकि ऐसा करनेवाले को जाति से निकलना पड़ेगा। नतीजा यह होता है कि जो चमार चमड़ा निकालता है उसको इस बात की फिक्र ही नहीं रहती कि किस तरह चमड़ा छीला जाय जिससे पकाने में अच्छा माल निकल सके। फलतः हम इस उद्योग में दूसरे देशों के इतने पीछे पड़ गये कि घटिया चमड़ा या कच्चा माल के व्यापारी मात्र रह गये हैं। सो भी जानवर के और हिस्से की तो कोई बात ही नहीं।

मृत जानवर के उपयोग द्वारा अनेक वस्तुओं का निर्माण

वस्तुतः अगर इस ओर जरा ध्यान देकर ठीक प्रवन्ध कर लिया जाय और देहाती जनता में इस ओर दिलचस्पी पैदा की जाय तो मृत जानवर को उपयोगिता बहुमुखी हो सकती है। सबसे पहले चमड़ा का ही एक प्रधान और व्यापक उद्योग चल सकता है। मृत जानवर की समस्या प्रत्येक गाँव की होने के कारण चर्खा-जैसा यह उद्योग भी व्यापक रूप ले सकता है। हड्डी से बहुत उच्च कोटि की खाद बन सकती है, इसका जिक्र मैंने पहले भी किया है। हमारे यहां खेती के लिए खाद की कितनी कमी है सो किसको मालूम नहीं है। मांस से भी अच्छी खाद बनती है। प्रत्येक

Any attempt to secure the above should be self-initiated, self-directed, self-corrected and self controlled," अर्थात् "जनता को अधिक अन्न. अधिक कपड़ा, अधिक अच्छे घर, अधिक शान्ति, अधिक स्वास्थ्य, अधिक सद्गुण अथवा एक शब्द में अधिक खुशहाली चाहिए। उक्त स्थिति पाने की जो भी चेष्टा हो वह आत्मनिर्दिष्ट, आत्म-संचालित, आत्म-परीक्षित और स्वतंत्र होनी चाहिए।"

फलतः आवश्यकता है उनमें उस भावना के विकास की जो उन्हें अपने कुएँ, अपनी गली और अपने घरों के रोशनदान स्वयं बना लेने और उनकी रक्षा करने की प्रेरणा करे। आन्तरिक, आर्थिक, और सांस्कृतिक विकास से ही यह संभव है, और तभी उनका वास्तविक उद्धार भी हो सकेगा। बाहर से आर्थिक मदद करके ग्रामीण जनता के अथाह अभाव का पार पाना सम्भव ही कहाँ है? गाँव वालों से ही कर के रूप में उनकी आमदनी का अंश वसूल किया जाता है और फिर उसका बहुत थोड़ा सा अंश यदि उन्हें दान के रूप में प्रदान भी किया जाय तो वे उसे अपनी रकम समझने में समर्थ नहीं होते। और फिर कर की रकम वसूल करके उसमें से अधिक हिस्सा वसूल करने के एक महकमे और इमदाद करने के दूसरे महकमे का ख़र्च काटने के बाद सुधार कार्य के लिए जो बचता है वह भी नहीं के बराबर होता है। इन तमाम बातों को देखते हुए सही रास्ता यही मालूम होता है कि यदि सचमुच ग्राम-उद्धार का काम करना है तो इस बात की चेष्टा करनी होगी कि गाँव वाले यह अनुभव करें कि अपना उद्धार उन्हें स्वयं करना है और उनमें यह शक्ति है कि वे चाहें तो अपने को उठा सकें। उन्हें यह भी ज्ञात हो जाना चाहिए कि उनकी आज की दशा किन कारणों का परिणाम है और उन कारणों को उन्हें स्वयं ही दूर करना है। आज तो उन्हें यह भी ज्ञात नहीं कि वे दारिद्र्य-पीड़ित और अभावग्रस्त हैं। सदियों से होने वाली लूट और शोषण के कारण वे इतने गिर गये हैं कि एक प्रकार से

बेहोशी की हालत पर पहुँच चुके हैं, जिसमें उन्हें अपनी पीड़ा का भी अनुभव नहीं होता है। आवश्यकता इस बात की है कि वे पहले अपने होश में लाये जायँ और उन्हें यह ज्ञान हो जाय कि वे सचमुच गिरे हुए हैं तथा अपनी चेष्टा से ही अपनी हालत सुधार सकते हैं। जिस दिन गांव की जनता को यह ज्ञान हो जायगा और उसमें यह आत्म-विश्वास जाग उठेगा, उस दिन उसकी अन्त-र्निहित शक्ति अपने आप संघटित हो जायगी। उनके आत्मोत्थान का स्रोत उनकी इस संघटित शक्ति में ही है। हमारा काम केवल इस स्रोत को खोद निकालना है और यह तभी हो सकेगा जब ग्राम-सेवक सुधार का काम शुद्ध सेवा-वृत्ति से ही करेगा। इस वृत्ति की परिभाषा बापू जी ने स्वयं छोटी सी पुस्तिका 'ग्राम सेवा' के पन्नों में भलीभांति कर दी है। मेरी सम्मति में इस वृत्ति की जो कुछ रूप-रेखा हो सकती है उसका ज़िक्र तो मैं पहले ही आगरा जेल से लिखे पत्रों में कर चुका हूँ। अब इस विषय पर अधिक लिखना व्यर्थ होगा।

कार्यक्रमों का सिलसिला—अब प्रश्न यह उठता है कि मान लो कि सेवकों के जीवन की तैयारी ठीक है और उनकी वृत्ति भी ठीक है तो वे किस राह से चलेंगे? उनका कार्यक्रम तथा पद्धति क्या होगी? वे कहां से शुरू करेंगे और किस ओर बढ़ेंगे? कौन सा तरीका होगा जिससे जनता को अपने सुधार के लिए संघटित किया जा सके? बापू जी ने तो खादी और ग्राम-उद्योग को ही उस संघटन का साधन माना है। वस्तुतः खादी और ग्राम-उद्योग के द्वारा आर्थिक उन्नति के साथ ही उस आत्म-विश्वास को जाग्रत किया जा सकता है जिसके बिना जन-शक्ति का संघटन संभव नहीं है। अतएव हम चाहे जिस परिस्थिति में काम करें प्रारंभ में हमें खादी तथा ग्राम-उद्योग की आर्थिक योजना को ही हाथ में लेना होगा और इनमें भी चर्खे का स्थान प्रथम होना चाहिए। चर्खे के लिए साधन की आवश्यकता नहीं के बराबर होने के कारण उसे शुरू करना आसान है। प्रारंभ में

साधन का सवाल मुख्य होता है। वस्तुतः किसी भी योजना की कल्पना करते समय इस बात का ख्याल रखना ज़रूरी है कि जिस संस्था के द्वारा काम हो रहा है, उसका और जिन गांवों में काम हो रहा है, उनके संपूर्ण साधन कितने हैं ? फिर जब चर्खा चलने लगता है तो स्वभावतः वस्त्र के अभाव की पूर्ति हो जाती है। गांव वाले आत्म-चेष्टा के इस परिणाम को देख कर स्वभावतः आगे बढ़ने को उत्साहित होते हैं। ऐसे उत्साह के वातावरण में दूसरे कार्यक्रम उनके सामने पेश करने से वे उन्हें सहज ही ग्रहण करते हैं। इस तरह सुधार-कार्य करते हुए हमें कार्यक्रम ऐसा बनाना चाहिए जिसकी प्रगति सहज और स्वाभाविक ढंग से हो सके। ग्राम-वासी उसे अपना काम समझ कर स्वतः सहयोग करने के लिए आगे बढ़ें। अब तक हमने गांव में कार्य करने का ढंग कुछ दूसरा ही रक्खा है। यह नहीं देखा कि ग्रामवासी क्या चाहता है ? बल्कि अपनी इच्छा-शक्ति और संस्कार के अनुसार जिन-जिन बातों को सुधारने की ज़रूरत हमें महसूस हुई, उन्हीं को अपने कार्यक्रम का अंग बनाकर काम शुरू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि देहाती उससे एकात्मिकता की अनुभूति न कर सके। इसलिए अब आवश्यकता इस बात की है कि देहाती जनता की प्रवृत्ति और उसके दृष्टिकोण तथा इच्छा को लेकर कार्यक्रम बनावें। उसका क्रम कुछ इस प्रकार हो सकता है :—

(१) ऐसे कार्य जिनके लिए ग्रामीण जनता खास तौर से अभाव महसूस करती हो और जिनसे उसका प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ हो और जिन्हें शुरू करने में अधिक झंझट न मालूम हो। चर्खा इस प्रकार का काम हो सकता है।

(२) ऐसे काम जिनके लिए ग्रामवासी के हृदय में आदर हो किन्तु साधन तथा संघटन के अभाव से वे उसे न कर पाते हों। पाठशालाओं की स्थापना ऐसा काम है। भारतीय जनता आज की जहालत की हालत में भी शिक्षा का महत्व समझती है। आज के स्वार्थ-पूर्ण और

भौतिकवादी वातावरण में भी गांव में पाठशालाओं के लिए दान देने का रिवाज बचा है। हमारे पूर्व-पुरुषों ने विद्यादान का संस्कार इतना अधिक भर दिया है कि प्रत्येक भारतीय के हृदय में इसके लिए स्थान है। अगर वे स्वयं इस काम को नहीं कर सकते, तो केवल इसलिए कि आज उनमें संघटन का अभाव है।

(३) ऐसे काम जिन्हें हम उनके फायदे का समझते हैं, परन्तु वे जिनका अभाव महसूस नहीं करते हैं। लेकिन वे काम ऐसे हों जिनके लिए प्रारम्भ में उन पर किसी का आर्थिक बोझ न पड़े। जब आर्थिक बोझ न पड़ेगा तो पहले दो किस्म के कामों के बाद हमारी बात सुन कर वे ऐसे काम करने में एतराज नहीं करेंगे। उदाहारणार्थ अखाड़ा चलाना, आर्थिक स्थिति की जानकारी के लिए रजिस्टर रखना, त्योहार आदि मनवाना और पेड़ लगवाना आदि काम बताये जा सकते हैं।

(४) ऐसे काम जिनके न करने से जनता को नुकसान है लेकिन रूढ़ि, आदत तथा आलस्य के कारण वे उसे करना नहीं चाहते। जैसे घर की सफाई और नावदान की सफाई आदि।

(५) ऐसे काम जो सामूहिक रूप से गांव के लाभ के हैं, जिनमें व्यक्तिगत लाभ कुछ न हो बल्कि उसे करने में कुछ त्याग ही करना पड़े। जैसे गांव की सफाई, सड़क निकालना, खाद के गड्ढे खुदवाना आदि।

(६) ऐसे काम जिन्हें करने के लिए ग्राम-समिति या पंचायत के ठोस संघटन को नैतिक अधिकार प्राप्त हो।

क्रम से काम चुनते समय इस बात का ध्यान रखना भी जरूरी है कि जिस संस्था के द्वारा संघटन किया जाय वह उसके लिए उचित साधन जुटा सके। छोटी-छोटी स्वतंत्र संस्थाओं के लिए जिस क्रम से योजना बनानी होगी वह चर्खा संघ तथा ग्रामोद्योग संघ जैसी बड़ी संस्थाओं के लिए लागू न होगा। चर्खा संघ तथा ग्राम-उद्योग संघ

के क्रम से भी राष्ट्रीय सरकार द्वारा बनाई योजना का काम बिल्कुल पृथक होगा। जिस गांव में काम होगा उसकी योग्यता तथा प्रवृत्ति का भी ध्यान रखना होगा।

अब तक ग्राम-सुधार के लिए जितनी चेष्टा की गई है, उसमें प्रायः इन बातों का ध्यान नहीं रक्खा गया। सिर्फ यह देखा जाता रहा कि किस काम में हमको आसानी होगी। अधिकतर दृष्टि तो प्रदर्शन की संभावनाओं पर रहती रही है। उदाहरण लें तो प्रारंभ में प्रायः बाहरी आर्थिक मदद से कुवों की मरम्मत, नाबदानों और गलियों की सफाई आदि कामों की ओर ही ध्यान जाता रहा है। इस काम में कुछ रूढ़ि भी बन गई है। ग्राम-सुधार-योजना में स्वभावतः लोग ग्राम-पंचायत बना कर गांव के झगड़े निबटाने की ओर पहले ही झुक जाते हैं। लेकिन ग्राम-संघटन के लिए पंचायत की चाहे जितनी आवश्यकता हो, प्रारम्भ में वह चल नहीं सकती। यह सही है कि प्राचीन काल से भारत की समाज-व्यवस्था ग्राम-समिति और पंचायत पर बनी रही जो काफ़ी वैज्ञानिक और उन्नत थी। इसकी सफलता का असर समाज में इतनी गहराई का था कि आज की गिरी हुई दशा में भी इस संस्था को जनता श्रद्धा और आदर से देखती है। पंच-परमेश्वर की भावना प्रत्येक भारतवासी के हृदय में संस्कार-भूत हो गई है। यही कारण है कि जहां लोग अदालत में निःसंकोच झूठ बोल जाते हैं वहां पंचायत के सामने झूठ बोलने में हिचकते हैं। अतः ग्रामीण जनता पंचायत की बात आसानी से समझ कर इसके लिए जल्द तैयार हो जाती है। लेकिन जैसे ही वह पंचायत गांव के मामलों को सुलझाने बैठती है कि फ़ौरन झगड़े होने के कारण टूट जाती है। इसका कारण यह है कि गांव में किसी पर जनता का विश्वास नहीं है। जब तक समिति या पंचायत पर जन-समाज का विश्वास पैदा नहीं होता है तब तक उसके द्वारा कोई भी काम नहीं हो सकता। और यह तभी हो सकता है जब जनता में सही नेतृत्व पैदा हो सके।

आज देहातों में किस प्रकार के लोगों के हाथों में नेतृत्व है और उसका क्या कारण है, उसे दूर करने का क्या उपाय है, इसका जवाब मैं पिछले पत्रों में विस्तार के साथ दे चुका हूँ। आज मैं सिर्फ इतना ही कहूँगा कि आजकल जो लोकतंत्र का नारा बुलन्द हुआ है, उसके असर में आकर गांव की वास्तविक स्थिति को ग्राम-सेवक भूल न जाय। और तब तक गांव के झगड़े निबटाने आदि के लिए पंचायत का संघटन न करे जब तक ठोस कार्य-क्रम के आधार पर देहातों में सेवा की बुनियाद पर सही नेतृत्व की स्थापना न हो जाय। मैं जानता हूँ कि तुम लोग मुझसे सहमत न होगे लेकिन सेवक को धैर्य से ही काम करना होगा। हां, इस बात का ध्यान ज़रूर रखना होगा कि जो भी काम करे उसको यथासम्भव आरम्भ से ही गांव के कुछ लोगों की समिति द्वारा चलाने की चेष्टा करे। उसके लिए कुछ न कुछ ज़िम्मेदारी उन पर ज़रूर रक्खे। जिससे इन्हीं लोगों की समिति क्रमशः ग्राम-पंचायत का रूप लेकर भविष्य में लोकतंत्र की सही बुनियाद बन सके। भावी स्वावलंबी समाज, आर्थिक सहयोग समितियों के आधार पर ही संघटित होगा; लेकिन आज हम जिन छोटी-छोटी समितियों का संघटन करेंगे, वह समाज-व्यवस्था उन्हीं की समष्टि होगी। अतः आरम्भ से ही जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। गाँव की हालत देख कर सेवक के लिए ऐसी जल्दबाज़ी करना स्वाभाविक है। मैं उसे दोष नहीं देता, क्योंकि हममें से सभी चाहेंगे कि उनकी हालत फौरन बदल जाय। लेकिन सब काम क्रमशः ही हो सकते हैं। किसी पेड़ को जल्दी से बड़ा करने के लिए उसे ज़मीन से उखाड़ कर लंबे बाँस में बाँध कर ऊँचा करने से वह बढ़ नहीं जायगा। उस समय वह ऊँचाई पर दिखाई देगा ज़रूर, लेकिन थोड़ी देर में सूख कर मर जायगा। अतः जो लोग गाँव की मौजूदा परिस्थिति में रेडियो का प्रचार करना चाहते हैं या बैलगाड़ियों में मोटर का टायर लगाना तथा धुरों में बाल-बेयरिंग लगाना चाहते हैं उनसे मेरा

नम्र निवेदन है कि वे ज़रा धैर्य धारण करें और उतनी ही सुधार-योजना बनावें जितनी आज के देहाती पचा कर उसे अपने जीवन का अंग बना सकें। पक्की ज़मीन पर थोड़ी नींव खोद कर जल्दी से ईंट चुनवा कर घर बन सकता है। लेकिन जहाँ दलदल है वहाँ तो पहले गहरी नींव खोदनी ही पड़ेगी। फिर उसे सूखने के लिए छोड़ देना पड़ेगा, तब उसके अन्दर पिटाई करनी पड़ेगी, उसके बाद कहीं दीवार उठा कर घर बन सकेगा। इसके लिए अगर धैर्य न होगा और पक्की ज़मीन वाली इमारतों की पद्धति से काम किया गया तो सारी इमारत दलदल के नीचे धँस जायगी। इसलिए मैंने कहा है कि योजना का क्रम निश्चित करते समय गाँव वालों की आवश्यकता तथा योग्यता का विचार करना आवश्यक है। पहले अन्न, वस्त्र तथा आश्रय की व्यवस्था होनी चाहिए, फिर आराम और उसके बाद शृंगार आदि की।

ऊपर लिखी बातों को ध्यान में रख कर ही हमारी सुधार-योजना बन सकती है। यद्यपि समाज-जीवन एक सम्पूर्ण वस्तु है, फिर भी हमें योजना बनाने के लिए गाँव की विभिन्न समस्याओं पर अलग-अलग विचार करना होगा। इस तरह हम सारे कार्यक्रमों को मुख्यतः निम्न-लिखित श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। (१) उद्योग, (२) शिक्षा और संस्कृति, (३) सफाई और स्वास्थ्य, (४) कृषि और बाग़बानी (५) गोपालन, (६) यातायात और पानी या जल तथा (७) व्यवस्था और अनुशासन। यदि उपर्युक्त विषयों का संघटन हम एक दूसरे से सामंजस्य रख कर कर सकें तो ग्राम-समाज व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकते हैं। मैंने प्रत्येक विषय के पारस्परिक सामंजस्य रखने की बात कही है क्योंकि मैंने देखा है कि हमारे सुधार कार्य-कर्ता प्रायः इस दिशा में उदासीन रहते हैं। आज कल दुनिया का वायु-मंडल भी कुछ इसी प्रकार की विशेषज्ञता का है। यही कारण है कि विभिन्न सरकारी विभागों में या विभिन्न कार्यक्रम चलाने वाली राष्ट्रीय

संस्थाओं में एक दूसरे से कोई सम्बन्ध या सम्पर्क नहीं रहता। नतीजा यह होता है कि एक दूसरे में सम्मिलित न रहने के कारण समाज-जीवन की इमारत बन ही नहीं पाती।

संस्था का रूप—मैंने पहले ही कहा है कि हमारी सारी योजना का क्रम, उसकी रूप-रेखा इस बात पर निर्भर करती है कि हम किस संस्था के द्वारा सुधार कार्य करते हैं। हमारे देश में चार मुख्य ज़रिये इसके लिए हो सकते हैं। (१) व्यक्तिगत रूप से सामान्य साधन के साथ, (२) छोटी-छोटी स्वतंत्र संस्थाओं द्वारा, (३) चर्खा संघ तथा ग्राम उद्योग संघ की मार्फत और (४) प्रान्तों की लोकतंत्री सरकार द्वारा। जो लोग व्यक्तिगत रूप से काम करना चाहते हैं, उनके लिए मेरे सामने अब और कुछ कहने को नहीं रह गया। शुरू से मैंने अपने जिन अनुभवों का वर्णन किया है वे उनके लिए पर्याप्त संकेत हैं। अपने अनुभव से मैं सिर्फ इतना कहना चाहता हूँ कि आज की दुनिया में व्यक्तिगत रूप से अकेले काम करने का ज़माना चला गया है। हमारे शास्त्रों में भी कलियुग में संघ-शक्ति ही शक्ति बताई गई है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम संघटित रूप से कुछ कर नहीं सकते। प्रायः देखा गया है कि जिनमें बुद्धि है, योग्यता है, आर्थिक कठिनाई नहीं है, त्याग की सामर्थ्य रखते हैं, वे या तो संस्थाओं में शामिल नहीं होते या अगर शामिल हुए भी तो टिक नहीं सकते। वे उन संस्थाओं को या तो अपने आदर्श के अनुकूल नहीं देखते अर्थात् उनमें उनको बुराई ही बुराई नज़र आती है; उनको यह लगता है कि "संस्था में स्वतंत्रता ही नहीं है, वहाँ तो व्यक्ति ही ख़तम हो जाता है, मेरी तो कुछ चलती ही नहीं" इत्यादि। मेरा नम्र निवेदन है कि ऐसा सोचना पढ़े-लिखे नौजवानों की उच्छृंखलता और अहंभाव का ही परिचायक है। वे पाँच साथियों की राय में राय मिला कर चल नहीं सकते। बापू जी से बढ़कर व्यक्तित्व किसमें है? वे भी कांग्रेस के द्वारा ही सब काम करते हैं। कांग्रेस जब उनकी बातों को नहीं मानती

तो वे भविष्य के लिए इन्तज़ार करते हैं, अपनी खिचड़ी अलग नहीं पकाते। यद्यपि वे वैसी अलग खिचड़ी पकाने की शक्ति रखते हैं। हमारे नौजवान अपने अहं के वशीभृत होकर अपने व्यक्तित्व को बापू से भी अधिक समझते होंगे। यही कारण है कि हमारे यहाँ संस्थाएँ नहीं बन पातीं। और बनती भी हैं तो अधिक दिन टिक नहीं सकतीं। लेकिन बिना संस्था बनाये देहातो का पुनर्गठन कार्य सफल नहीं हो सकता यह मेरी पक्की धारणा है। अतः मैं तुम्हें जो कुछ कार्यक्रम और योजना लिखना चाहता हूँ वह संस्थाओं के द्वारा चलाई जाने वाली होगी।

ग्राम-उद्योग का चुनाव—संस्थाओं में सबसे पहले मेरी निगाह चर्खा संघ तथा ग्राम-उद्योग संघ की ओर जाती है क्योंकि मेरी दृष्टि में सरकार के अलावा यही दो संस्थाएँ हैं जो किसी किस्म की व्यापक योजना का प्रयोग कर सकती हैं। और राष्ट्रीय कांग्रेस से सम्बन्धित संस्था होने के कारण जनता उन्हें अपनी चीज़ समझती है। अतः मैं इन संस्थाओं के साधन तथा शक्ति के अनुसार उपर्युक्त विभागों के सम्बन्ध में ऐसा विचार करता हूँ।

क-उद्योग—ग्राम उद्योग कार्य चलाने के लिए मुख्य प्रश्न उद्योगों का चुनाव है। हम चाहेंगे भी तो कोयले की खान सरीखे काम को ग्राम-उद्योग में शुमार नहीं कर सकते। हर एक उद्योग के लिए कच्चा माल और अन्य साधन प्रकृति की देन हैं। जिस वस्तु के लिए ऐसी देन केन्द्रित है, जिसकी उत्पत्ति की पद्धति में खतरा अधिक है तथा कच्चे माल के लिए दूर दूर की चीज़ें एकत्र करनी पड़ती हैं उसे ग्राम-उद्योग के द्वारा करना संभव नहीं। फ़िलहाल उन्हें केन्द्रीय उद्योग के वास्ते छोड़ देना ही श्रेयस्कर होगा। हमें उन्हीं उद्योगों को चुनना होगा जिनके लिए कच्चे माल का साधन देहातों में सुलभ हो, जिनके लिए औज़ार और मकान आदि की पूँजी गांव की हैसियत के अन्तर्गत हो और अधिकांश माल की खपत गाँव में हो। अधिकांश माल की

खपत होने का मतलब यह नहीं है कि आज भी उसे बाहर बेचने की आवश्यकता न होगी आजकल तो गांव की आर्थिक स्थिति ऐसी है कि गांव वाले न भर पेट खाने को समर्थ हैं और न उनको तन ढकने के लिए चिथड़ा ही प्राप्य है। मेरा मतलब यह है कि मामूली तौर से अपनी कल्पना के अनुसार ग्राम-सुधार कार्य कुछ साल करने के बाद जनता अपना माल अपने इस्तेमाल में ले लेने में समर्थ होने लगेगी। अर्थात् ऐसा सामान जिसकी आवश्यकता तो ग्राम-वासियों को है लेकिन अभाव-वश वे उसकी पूर्ति नहीं कर पाते। निम्नलिखित उद्योगों को इस श्रेणी में रक्खा जा सकता है।

सूत कताई	दरी कालीन बनाना
आटा पिसाई	कपड़ा सीना
धान कुटाई	अण्डे मछली आदि का काम
ईंट का भट्ठा	दियासलाई बनाना
तेल-घानी	रोशनाई बनाना
गुड़ से चीनी बनाना	शीशा चूड़ी आदि
बुनाई	ठठेरी
साबुन बनाना	रँगाई छपाई
कागज़ बनाना	सोनारी
चमड़ा पकाना	पेंसिल बनाना
चमड़े का सामान बनाना	ब्रुश बनाना
सरेस, तांत आदि	लाख का काम
लोहारी	पत्थर का काम
बढ़ई गिरी	पशु-पालन
भेंड़ पालना	मधुमक्खी-पालन
कंबल बनाना	सींग का काम
कुम्हारी	खाद बनाना

रेशम के कीड़ों का पालना और रेशम कातना

इन उद्योगों को तीन विभागों में बाँटा जा सकता है।

१—ऐसे उद्योग जो खेती के अंग रूप में नित्य गृहस्थी के काम की चीज़ें हों या जिनके लिए नाम मात्र पूँजी की आवश्यकता हो। और जिनकी खपत आज की परिस्थिति में भी उत्पादक के यहां ही हो। उन्हें प्रत्येक परिवार की बचत के समय में सहायक धंधे के रूप में चलाना होगा। जैसे ढेकी, चक्की और चर्खा आदि।

२—ऐसे उद्योग जिनके लिए पूँजी की आवश्यकता मामूली हो लेकिन प्रथम प्रकार के उद्योगों की तरह जिन्हें सार्वजनीन रूप से नहीं चलाया जा सके, जिनकी खपत सार्वजनीन न हो सके। उन्हें पारिवारिक रूप में चलाना चाहिए यानी वह उद्योग एक संपूर्ण परिवार का मूल धंधा होगा जैसे—तेल घानी, बुनाई, साबुन बनाना, मिट्टी का काम, चमड़ा पकाना आदि।

३—कुछ धंधे ऐसे हैं जिनके लिए कुछ पूँजी की आवश्यकता है। या जिनके लिए ऐसी मशीन की आवश्यकता है जिससे गाँव भर का काम चलता हो या जिनके चलाने में गाँव के प्रायः सभी लोगों का इष्ट है। उन्हें ग्राम-सहयोग-समिति के द्वारा चलाना चाहिए।

इस प्रकार तीन श्रेणियों को हम क्रमशः (१) गृह-उद्योग (२) कुटुम्ब-उद्योग और (३) ग्राम-उद्योग कह सकते हैं। उद्योगों के चुनने के बाद हमें इस पर विचार करना चाहिए कि उनका क्रम क्या होगा। वस्तुतः उचित क्रम से काम न करने के कारण प्रायः हम असफल हो जाते हैं। इस विषय पर विचार करने के लिए हमें यह देखना होगा कि किस उद्योग के साथ कौन उद्योग अधिक से अधिक सम्बन्धित है क्योंकि परस्पर-सम्बन्धित उद्योगों की क्रमशः स्थापना सरल होती है। उदाहरण के लिए चर्खे को ही ले लो। चर्खे के बाद बढ़ईगीरी, लोहारी और बुनाई आप से आप आ जाते हैं। चर्खा चल जाने पर उससे सम्बन्धित उद्योगों के लिए कच्चा माल और बाज़ार स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो जाते हैं। दूसरी बात यह देखनी होगी कि आरम्भ

करने के लिए कौन-कौन उद्योग खेती से सम्बन्धित हैं। भारत का प्रधान उद्योग खेती है और वह अभी तक विकेन्द्रित और स्वावलंबी तरीके से ही जारी है। अतः हमारे उद्योगों का केन्द्र खेती ही होनी चाहिए। खेती से सम्बन्धित उद्योग से मेरा मतलब यह है कि जिन के लिए कच्चा माल खेती की उपज हो या जिन्हें खेती से फ़ुर्सत के मौसम में आसानी से किया जा सकता हो। जैसे, तेल-घानी के काम में कच्चा माल गाँव की खेती से प्राप्त हो जायगा। चर्ख़ा चलाना, ईंट पकाना आदि काम खेती से फ़ुर्सत के समय किये जा सकते हैं। तीसरी बात यह देखनी चाहिए कि कौन से क्षेत्र में कौन काम आसानी से शुरू किया जा सकता है। इसके लिए कई बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। कच्चे माल की सुलभता, बाज़ार की व्यवस्था, स्थानीय आवश्यकता, प्राचीन उद्योग के भग्नावशेष के कारण कारीगरों की सुलभता आदि।

फिर हमें इस बात पर भी विचार करना आवश्यक है कि कौन से उद्योग का माल कितनी मात्रा में उत्पन्न किया जाय। आज हम एक-आध केन्द्रों में उत्पादन का काम कर रहे हैं और बिक्री के लिए हमारे पास बहुत से शहर पड़े हैं। लेकिन मान लीजिए कि उसी मात्रा में सात लाख गाँवों में उत्पादन होने लगे तो क्या होगा? अतः हमें आज से ही क्षेत्र-विशेष में इतनी उत्पत्ति करनी चाहिए जितना भविष्य की आवश्यकता के लिए उक्त क्षेत्र के हिस्से में पड़े। एक ही जगह हज़ारों कारीगरों की बस्ती का विरोध मैं कर चुका हूँ। ऐसा न होने पाये कि हम उन्हीं कार्यों को पुनः स्थापित कर डालें। इसलिए इसका हिसाब करते समय इस बात का ध्यान रखना मुनासिब है कि भविष्य में अगर हम ग्राम-उत्थान का कार्य अपनी कल्पना के अनुसार सम्पूर्ण रूप से कर सके और राष्ट्र की आर्थिक स्थिति सुधर गई तो उस समय उस क्षेत्र में कितने माल की आवश्यकता होगी। उस आवश्यकता की पूर्ति के उपरान्त शहरों को बेचने के लिए

कितना माल चाहिए यह भी कूता जा सकता है। एक दो उदाहरणों से इस सिद्धान्त को स्पष्ट करना अच्छा होगा। बुनाई का उद्योग ले लीजिए। आजकल गांव में औसत कपड़े की खपत १० गज़ प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति भी नहीं है। अगर हमारी अपनी सरकार भी हो और काफी तेज़ी से संयोजित योजना चलाई जाय तो भी १५-२० साल के अन्दर गाँव की खपत प्रति व्यक्ति २५ गज़ सालाना से अधिक न होगी।

युक्तप्रान्त के औसत गाँव की आबादी को लो। हमारी कल्पना के अनुसार भी प्रति गांव केवल ११७५० गज़ सालाना कपड़े की आवश्यकता होगी और इसके लिए ६ परिवार से अधिक बुनकरों की आवश्यकता न होगी। अतः प्रति गांव ५ बुनकर के हिसाब से अधिक बुनकरों का सगठन नहीं करना चाहिए। इसमें परिस्थिति के अनुसार इस बात की छूट अवश्य देनी होगी कि प्रत्येक गाँव में ५ बुनकरों की वस्ती चाहिए या ५।६ गाँवों के वीच में चाहे जहाँ हमारी कपड़े की २५।३० बुनकरों की वस्ती हो; तुम कहोगी कि अगर आवश्यकता और तुम अपने स्वावलम्बी सिद्धान्त में संशोधन करके उसके लिए बुनकर ५।६ गाँवों में २५।३० बुनकरों की वस्ती वसाने की इजाज़त देते हो तो फिर ५०० गाँवों के वीच कहीं पर २५०० जुलाहों की वस्ती क्यों न वसाई जाय? यह एक ऐसा सवाल है कि इस पर प्रकाश डालना आवश्यक है। यह सच है कि स्वावलम्बी सिद्धान्त की आदर्श स्थिति यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के लिए पूर्णतः स्वतंत्र हो। लेकिन आदर्श स्थिति अन्तिम स्थिति है। प्रकृति की, सृष्टि की और समाज की प्रगति अनन्त है। अनन्त का अन्त आज होता नहीं। अतः आज व्यावहारिक दृष्टि से हम आदर्श के जितने पास जा सकें उतने की ही चेष्टा करनी होगी और अनन्त काल तक आदर्श की ओर वढ़ते रहना होगा। लेकिन व्यावहारिकता के नाम पर आदर्श का गला घोंट देने की बुद्धि आज की भौतिकवादी दुनिया में वहुत ज़ोर की है। अतः यह व्यावहारिकता

का संशोधन कहाँ तक आगे जा सकता है उसका भी एक कामचलाऊ नियम सिद्धान्त के आधार पर बना लेना चाहिए जिससे हमारे कार्यक्रम की प्रगति आदर्श की ओर ही हो, विमुख नहीं। मुख्य नियम यह होना चाहिए कि कारीगरों की बस्ती इतनी पास हो जिससे उस क्षेत्र के लोग उनसे प्रत्यक्ष लेन-देन कर सकें। कारीगर से अधिक दूर रहने से लेन-देन के लिए मध्यस्थ की आवश्यकता

मध्यस्थता स्वावलंबन की विनाशक है

होगी और यही मध्यस्थता की संस्था समाज के स्वावलम्बन को नष्ट करने वाली चीज है। अतः हमारी योजना में मध्यस्थता का स्थान जितना कम हो उतना ही हम सिद्धान्त के नजदीक होंगे। अब प्रश्न यह उठ सकता है कि "आख़िर आप कितने गाँवों की इकाई को स्वावलम्बी बनाना चाहते हैं।" इस प्रश्न का कोई निश्चित हिसाब से निश्चित जवाब नहीं दिया जा सकता। यह हिसाब गाँव की आबादी, एक गाँव से दूसरे गाँव की दूरी, उद्योगों के प्रकार आदि बातों पर निर्भर करता है। अगर बस्ती घनी है तो इकाई थोड़े गाँवों की होगी। अगर आबादी थोड़ी है तो इकाई में अधिक गाँवों को ले सकते हैं। अगर गांव दूर दूर हैं तो थोड़ी आबादी होने पर भी कम गाँव लेने पड़ेंगे। फिर जिस उद्योग की मात्रा और आवश्यकता अधिक हो, कारीगर से रोज़ का हिसाब रखना ज़रूरी हो उसके लिए जितने कम गाँवों की इकाई होगी उतना ही अच्छा। जिस चीज़ की आवश्यकता कभी-कभी और कम मात्रा में हो उसके लिए कारीगर की बस्ती दूर भी हो सकती है। मतलब यह कि हमको हरेक पहलू ध्यान में रख कर ही अपना काम करना है। लेकिन व्यावहारिकता, सहूलियत, कुशलता या दक्षता आदि बातों का ख्याल उसी हद तक करना होगा जिस हद तक जाने पर हमारी प्रगति का रुख़ आदर्श की ओर बना रह सके। मैंने यहाँ जेल की फ़ुर्सत में बैठकर संयुक्तप्रान्त के देहातों के लिए कितने गाँवों में कौन-सा

उद्योग किस मात्रा में चाहिए, इसका हिसाब लगाने की चेष्टा भी की है। कभी मौका लगा तो यह भी लिखने की कोशिश करूँगा।

इस पत्र में बहुत संक्षेप में मैंने यह बताने की कोशिश की है कि ग्राम-उद्योग-संघ की मातहत किस सिद्धान्त तथा दृष्टिकोण से उद्योग का काम चलाना होगा। मैंने उद्योग के प्रश्न को पहले उठाया है क्योंकि पहले कह चुका हूँ कि हमें उद्योग के द्वारा ही ग्राम-उत्थान का सारा काम करना होगा। बस आज इतना ही। नमस्कार।

---

[५]

सुधार के दूसरे कार्यक्रम

१—२—४४

शिक्षा और संस्कृति—पिछले पत्र में मैंने इस बात पर विचार किया था कि उद्योग-कार्यक्रम चलाने के लिए किन-किन पहलुओं पर ध्यान देना चाहिए। आज कार्यक्रम के भिन्न-भिन्न अंगों पर प्रकाश डालने की कोशिश करूँगा। ग्रामोत्थान के कार्यक्रम में उद्योग के बाद मैं शिक्षा को स्थान देता हूँ। किसी भी राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति उसके बौद्धिक विकास पर ही निर्भर है। उद्योग का काम भी बिना शिक्षा के आगे नहीं बढ़ सकता, उसमें नई खोज, नया ढंग नहीं हो सकता। मैं जब कांग्रेस सरकार के ग्रामसुधार का काम करता था उस समय ग्राम-सेवकों की एक सभा में एक सेवक ने मुझसे सवाल किया था कि "ग्राम उत्थान के काम में उद्योग और शिक्षा में कौन अधिक महत्व का है?" मैंने उसके जवाब में उसी से पूछा था कि भात बनाने के लिए कौन सी चीज ज्यादा ज़रूरी है चावल या पानी? वास्तव में उद्योग और शिक्षा दोनों ही समान महत्व के हैं। दोनों का ही फल विकास है। इस सम्बन्ध में तुम्हें मैं अधिक क्या लिखूं? तुम लोग तो स्वयं हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के विधाता हो। तुम लोगों ने

तो अपनी बुनियादी शिक्षा पद्धति में उद्योग और शिक्षा दोनों को एक ही वस्तु वना दिया है। तुम लोगों ने इतिहास पढ़ा है, तुम्हें प्राचीन भारत का हाल मालूम है। मैं उसे नहीं जानता लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि पुराने जमाने में बुद्धि और उद्योग के विकास का क्षेत्र अलग अलग रखा गया था। ब्राह्मण अलग थे, कलाकार अलग। नतीजा यह हुआ कि हमारा उद्योग विज्ञान-हीन तथा शिक्षा अनुभव-हीन विचार मात्र रहकर दोनों नष्ट हो गये। अतः हमें गांवों में उद्योग के साथ ही साथ शिक्षा का प्रवन्ध करना होगा। प्रश्न यह है कि हमारी शिक्षा-पद्धति किस प्रकार की हो। अव तक जो शिक्षा देहातों में होती रही उस पर विशेष लिखकर समय तथा काग़ज़ का अपव्यय करना वेकार ही है। उसकी असारता आज भारत की जनता भली प्रकार जान गई है। केवल प्रवाह में बह कर और दूसरी पद्धति के अभाव में लोग उस पर चल रहे हैं। लेकिन "कुशिक्षा से अशिक्षा अच्छी है" कहते रहकर भी मोह के कारण जनता लिखना-पढ़ना वन्द नहीं करती है। और सच पूछिए तो जिस मात्रा में हमारे देश में शिक्षा का प्रचार है उसे देखते "लिखना पढ़ना वन्द है" यह कहना भी ज्यादा ग़लत न होगा। ग्रामीण जनता में वहुत वड़ा हिस्सा तो जान-बूझकर इस असार शिक्षा से उदासीन रहता है। हम देहातों में जाकर जव लड़कों को स्कूल में भर्ती होने के लिए कहते हैं तो अधिकतर लोगों से जवाव मिलता है कि "पढ़ कर का होई ? कत्थू लायक न रह जाई। ऐस जौन दुइ चार विस्वा खेत गोड़ लेत हैं और ढोर चराय लेत हैं पढ़कर ऊहो न कर पइ हैं।' इत्यादि। उधर तुम लोगों की बुनियादी पद्धति अभी प्रयोग की दशा में है। अभी विस्तृत क्षेत्र में उसे चलाने का समय नहीं आया। अतः वीच का रास्ता निकालकर फिलहाल चलना ठीक होगा। बुनियादी प्रणाली में उद्योग के द्वारा शिक्षा की व्यवस्था है। मैं अपनी सुधार योजना में फिलहाल उद्योग के साथ शिक्षा का प्रबन्ध रखना ठीक

समझता हूँ। पुराने पाठ्यक्रम को भी उद्योग के साथ संयुक्त करके यदि विस्तृत क्षेत्र में शिक्षा का कार्य आरम्भ किया जाय तो दस्तकारी के वायुमंडल में वर्तमान शिक्षा-पद्धति का दोष भी बहुत-कुछ दूर हो जायगा और बुनियादी पद्धति के लिए आधार भी तैयार होता रहेगा। आज की परिस्थिति में ऐसा करना इसलिए भी ठीक है कि आज सरकार हमारे हाथ में न होने से अधिकतर लड़के पुराने हिसाब से पढ़ना चाहेंगे। हाँ, एक बात हो सकती है कि लड़कियों के लिए तुम्हारे तालीमी संघ के बताये पाठ्यक्रम के हिसाब से पाठ्यक्रम बनाया जा सकता है क्योंकि उनके सामने बाहरी काम करने की समस्या उतनी नहीं है।

ग्राम-सुधार की दृष्टि से केवल बच्चों की पढ़ाई ही एक मात्र काम नहीं है। हमे तीन श्रेणियों के लोगों की शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी (१) प्रौढ़ पुरुष (२) प्रौढ़ स्त्रियां (३) बच्चे। प्रौढ़ पुरुषों को शिक्षा के लिए कांग्रेस सरकार ने साक्षरता का जो कार्यक्रम चलाया था उस सम्बन्ध में अपने अनुभव मैं पहले लिख चुका हूँ। अतः उस प्रकार का साक्षरता का कार्यक्रम चलाना बेकार है। पूरी शिक्षा के लिए न उन के पास समय है, न धैर्य। कताई जैसा कोई सार्वजनिक उद्योग उनके लिए हमारे हाथ में होता तो उसके सम्बन्ध में कुछ चेष्टा की जा सकती थी लेकिन हमारे साधन इसके लिए काफ़ी नहीं हैं अतः इस काम की व्यापक चेष्टा भविष्य की राष्ट्रीय सरकार के लिए छोड़ देनी पड़ेगी। हम आज बच्चों के लिए रात्रि-पाठशाला आदि जो प्रबन्ध करेंगे उसी में प्रौढ़ों को भी पढ़ाने की थोड़ी व्यवस्था हो सकती है और उद्योग के कार्यक्रम में जो लोग हमारे प्रबन्ध में काम करेंगे उनके काम के साथ शिक्षा का कुछ इन्तज़ाम हो सकता है। त्यौहार आदि का उचित प्रबन्ध कर स्वास्थ्य, सफ़ाई, कला आदि की शिक्षा की चेष्टा भी की जा सकती है। हमें फ़िलहाल इतने से ही संतोष करना होगा। परिश्रमालय की मार्फ़त प्रौढ़ स्त्रियों की शिक्षा की बाबत मैं पहले लिख चुका हूँ। कताई की

मज़दूरी देकर शिक्षा-शिविर चलाने की योजना के साथ भी शिक्षा की व्यवस्था की चर्चा की है। विहार में तुमसे जब मुलाकात हुई थी तब भी इस विषय में सारी बातें विस्तार से बताई थीं। इस दिशा में मैंने जो कुछ प्रयोग किया है उससे मेरा विश्वास दृढ़ हो गया है कि प्रौढ़ पुरुषों की अपेक्षा प्रौढ़ स्त्रियाँ आसानी से शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं। वे जल्दी सीख लेती हैं। फ़ैज़ाबाद में सरकारी ग्राम-सुधार के द्वारा अपने प्रयोग का विवरण मैंने आगरा जेल से भेजा था। उससे भी तुम्हें अन्दाज़ मिला ही है। अतः इस पर और न लिखूँगा। चर्खा संघ के पास साधन भी पूरा है। ३।४ लाख कत्तिनों से वह सम्बन्धित है। उनमें अगर २ लाख स्त्रियों को ठीक से शिक्षित कर दें तो ग्रामीण जनता क्रान्तिकारी गति से सुधार की ओर बढ़ सकती है। अगर हम सफलता के साथ कताई परिश्रमालय चला सकें तो क्रमशः यही परिश्रमालय स्थायी रूप लेकर स्त्रियों को शिशुपालन, प्रसूति-सेवा आदि की शिक्षा भी देने का प्रवन्ध कर सकता है।

वच्चों की शिक्षा के लिए रणीवाँ में मैंने जो कुछ प्रयोग किया है वह तुम्हें मालूम हो गया है। मेरी राय में उसी तरह का प्रबन्ध अच्छा होगा। जितने वच्चे उद्योग के साथ दिन भर के विद्यालय में आ सकें वे उसी में पढ़ सकते हैं। लेकिन हमारे साधन से तथा गांव वालों की आज की स्थिति के अनुसार इस प्रकार के विद्यालय अभी अधिक नहीं खुल सकेंगे और न उन विद्यालयों में कुल लड़के आ सकेंगे। अतः शुरू में गांव की कताई समिति की मार्फत रात की तथा दोपहर की पाठशालाओं का संघटन करना ठीक होगा। पाठशालाओं का समय रात में २ घंटे और दोपहर के २ घंटे रखा जा सकता है। बहुत छोटे बच्चों के लिए दोपहर का और कुछ बड़ों के लिए रात का समय अधिक सुविधाजनक होगा। किसान और मज़दूरों के बच्चों के लिए दूसरे समय गृहस्थी का काम छोड़कर पाठशालाओं में आना संभव नहीं है। इस प्रकार २ घंटे की पाठशालाओं के लिए शिक्षक भी

सुगमता से प्राप्त होंगे क्योंकि वे दूसरे काम के साथ बीच में पढ़ा सकेंगे। वस्तुतः बच्चों को पढ़ाने के लिए स्त्री अध्यापिकाओं की तलाश करनी चाहिए। मेरी राय में बच्चों की शिक्षा के लिए स्त्रियां अधिक उपयोगी हो सकती हैं। देहातों की पाठशालाओं का मेरा जो अनुभव है उसके आधार पर मैं निस्सन्देह कह सकता हूँ कि बच्चों के लिए पुरुप शिक्षक प्रायः अयोग्य ही नहीं वल्कि हानिकारक होते हैं। लेकिन गांवों में शिक्षित पुरुप ही मिलने कठिन हैं, शिक्षिता स्त्रियां कहां से मिलेंगी? अतः प्रारम्भ में पुरुषों से हो काम चलाकर स्त्रियों की तलाश करनी होगी। परिश्रमालय के द्वारा स्त्री-शिक्षा की योजना सफल होने पर हम क्रमशः इस कमी को भी दूर कर सकेंगे। पाठशालाओं के चलाने में थोड़ा खर्च अवश्य होगा। उसके लिए वच्चों मे फीस के रूप में एक आध गुंडी सूत रख सकते हैं। गांव की पाठशालाओं के अलावा १०।१२ गांवों के वीच उद्योग के साथ मिडिल स्कूल की योजना वनाई जा सकती है। इन स्कूलों में ४ घंटा कताई तथा अन्य उद्योग और ४ घंटा पढ़ाई का समय रखा जा सकता है। कताई के सूत में से ही विद्यार्थी पाठशाला के खर्च के लिए फीस देने का और अपनी कितावों आदि का काम चला सकते हैं। मेरा विश्वास है कि उचित वायुमंडल पैदा होने पर ये स्कूल स्वावलम्वी हो सकते हैं। फिर तुम लोग इन स्कूलों में जितने नई तालीम की पद्धति से चला सको उतना ही अच्छा होगा।

संस्कृति शिक्षा का ही परिणाम है फिर भी उद्योग तथा पढ़ने-लिखने की शिक्षा के सिवाय गांव में सामूहिक रूप से कुछ साप्ताहिक कार्यक्रम रखना आवश्यक है। इसके लिए कुछ चुने हुए त्योहारों का मनाना, भजन मंडली, नाटक आदि का आयोजन किया जा सकता है। हर गांव में ग्राम समिति दीवाली, वसंत पंचमी, होली, ईद मनाने का आयोजन कर सकती है। इसके सिवा अक्सर गांवों में स्थानीय त्यौहार भी होते हैं जिनके कलापूर्ण ढंग से मनाने का आयोजन

किया जा सकता है। होली, दीवाली आदि त्यौहारों के द्वारा आधुनिक ढंग से सांस्कृतिक शिक्षा और उसका विकास करना हमारा लक्ष्य है। इन त्यौहारों का उपयोग इस प्रकार करना मनोरंजन के साथ-साथ ग्राम-जीवन की उन्नति का कारण होगा। जैसे ईद और दीवाली के अवसर पर गांव की सफ़ाई का कार्यक्रम ख़ास तौर से रखा जा सकता है। रात को दीपावली की सजावट के द्वारा कला का विकास किया जा सकता है। वसंतपंचमी का त्यौहार बच्चों के लिए रखा जा सकता है। अगर उसी दिन पाठशालाओं का वार्षिकोत्सव मनाया जा सके तो उसी त्यौहार को सांस्कृतिक शिक्षा का एक बड़ा साधन बनाया जा सकता है। सोचने की बात है कि सारे बच्चे बसन्ती रंग के कपड़े पहन कर पाठशालाओं में जाने लगेंगे, उनकी सजावट करने लगेंगे, विनोद के लिए खेल-कूद का प्रदर्शन करेंगे, छोटे-छोटे बालोपयोगी नाटक खेलने का आयोजन करेंगे; माताएँ जब उस अवसर पर यत्न से संचित वस्त्रों को निकालकर अपने बच्चों को सजायेंगी, तो क्या गांव के लोगों में आज जैसा अपने को दीनहीन समझने का भाव मन्द न पड़ेगा ? मैंने तो कहीं कहीं थोड़े से अनुष्ठानों की व्यवस्था करके देखा है कि ऐसे समय ऐसा लगता है मानो सारे गांव में किसी ने जान फूँक दी है। इसी प्रकार होली का भी उचित ढंग से संघटन करके उसे आपस के सद्भाव तथा शिष्टाचार की शिक्षा देने का साधन बनाया जा सकता है। ईद हिन्दू मुसलमानों के मिलन का आधार हो सकती है। कुछ गाँव मिलकर दशहरा, नागपंचमी आदि का सम्मिलित कार्यक्रम रख सकते हैं; इससे संघटन और सहयोग का अभ्यास हो सकेगा। दशहरे के अवसर पर रामलीला और नाटक आदि की व्यवस्था हो सकती है। नागपंचमी का तो बड़ा सुन्दर उपयोग देहातों में किया जा सकता है। इस कार्यक्रम की अवधि करीब १५ दिन की होनी चाहिए। पंचमी से पहले १४ दिन ग्राम-समितियों की देख-रेख में गांवों में टूर्नामेंट-भी हो।

पंचमी के दिन प्रतियोगिता के साथ समिति-द्वारा पारितोषिक-वितरण आदि का कार्यक्रम रखा जा सकता है। इस प्रकार टूर्नामेंट से रणीवां के आस-पास के ग्राम जीवन में कितनी स्फूर्ति तथा उत्साह पैदा होता था, इसका जिक्र मैंने आगरा जेल से लिखे पत्र में किया था सो तुम्हें याद ही होगा। जब यह अनुष्ठान कई ग्रामों की चीज़ हो जायगा तो हर साल दूसरे दूसरे गांवों में बदलकर अनुष्ठान करने से प्रत्येक गांव को कलाकौशल, व्यवस्था शक्ति आदि का विकास करने का मौका मिलेगा। इन अनुष्टानों के अलावा कहीं-कहीं योम मीलादे नबी, गाँधी जयन्ती और पितृपक्ष का त्यौहार मनाया जाना लाभदायक होगा। योम मीलादे नबी के अवसर पर हज़रत मुहम्मद साहब के प्रति हिन्दू मुसलमान सभी श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं। गांधी जयन्ती मे चर्खा-यज्ञ का संघटन तथा नाटक, कथा आदि के द्वारा वर्तमान आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थिति का विवेचन, उस पर गांधी जी के जीवन का असर और उनके द्वारा समस्याओं का हल आदि बातें बता कर जनता को दुनिया की बातों का ज्ञान कराया जा सकता है। पितृपक्ष के १५ दिनों में महाभारत की कथा के द्वारा भारत के पितरों की याद करने की प्रथा जारी की जा सकती है। इन कथाओं में भारत का प्राचीन इतिहास, दूसरे मुल्कों से हमारा सम्बन्ध आदि विस्तृत क्षेत्रों में जनता का ज्ञान विकसित करने की सम्भावनाएँ मौजूद हैं।

शिक्षा और संस्कृति के उपर्युक्त कार्यक्रम चलाने में समय-समय पर सभा, मेला आदि अनुष्ठानों के संघटन की आवश्यकता होगी। ऐसे अवसरों पर इसके लिए शिक्षा के साथ सेवादलों का संघटन होना चाहिए। हां, सेवादल का मतलब केवल कवायद सिखाना नहीं होगा। स्वयंसेवकों को गांव का संघटन मज़बूत बनाये रखने की शिक्षा देनी पड़ेगी। गांव की सफ़ाई, सड़कों की हालत ठीक रखना, आग, बाढ़ आदि आकस्मिक दुर्घटनाओं के समय हिफाज़त करना आ

काम सेवादल को करने होंगे। अतः उनकी शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि यदि कभी डाकुओं आदि का आक्रमण हो तो वे उनका मुकाबला भी ठीक से कर सकें।

मैंने अपने निजी साधनों से प्रौढ़ साक्षरता के कार्यक्रमों को न चलाने की सलाह दी है। लेकिन अगर उपर्युक्त अनुष्ठानों को उचित ढंग से गठित किया जाय तो जनता साक्षर भले ही न हो सके लेकिन प्रौढ़ शिक्षा तो भली-भाँति हो जायगी। उनका जीवन संस्कृत तथा परिमार्जित तो हो ही जायगा; ज्ञान का भंडार भी बढ़ेगा। फिर जब जनता में इतना ज्ञान और संस्कृति का प्रसार हो जायगा तो लोग स्वतः पढ़ने के लिए आग्रह करने लगेंगे। उस समय चीन में प्रौढ़ शिक्षा के लिए जिस प्रकार बाल शिक्षक का संघटन चल रहा है उस प्रकार कुछ आन्दोलन यहाँ भी अपने-आप चलने लगेगा।

सफ़ाई और स्वास्थ्य—सांस्कृतिक विकास के साथ सफ़ाई और सफ़ाई के साथ स्वास्थ्य का कार्यक्रम सहज और स्वाभाविक रूप से आ जाता है। गाँवों में स्वास्थ्य तथा सफ़ाई-सम्बन्धी आरम्भिक नियमों के ज्ञान की कितनी आवश्यकता है, यह किसी से छिपा नहीं है। बापू जी ने अपनी 'ग्राम-सेवा' नामक पुस्तक में सब से मुख्य प्रश्न सफ़ाई और स्वास्थ्य का ही रखा है। उन्होंने सारे गांव को एक प्रकार से घूर ही कहा है। फिर भी मैंने प्रारम्भ में सफ़ाई का कार्यक्रम रखने की राय नहीं दी है। पिछले पत्रों में कई जगहों पर इसके कारणों का ज़िक्र मैंने किया है। हां, ग्राम-सेवक प्रारम्भ से ही सफ़ाई की बाबत बात-चीत अवश्य करेंगे लेकिन हमारी योजना में आरम्भ से ही सफ़ाई आदि का निश्चित कार्यक्रम रखने पर गाँव वालों को इस दिशा में आकृष्ट करना सम्भव न होगा। सफ़ाई ऐसी वस्तु है जो मनुष्य की परिस्थिति तथा आदत पर निर्भर करती है। आदत भी बहुत कुछ परिस्थिति के आधार पर ही बनती है। यदि जनता की आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति हो तो स्वभावतः सफ़ाई की ओर रुचि होगी ही।

यह सच है कि आज हमारे देहात इतने गन्दे हैं कि हम जब पहले-पहल ग्राम-सेवा की ओर बढ़ते हैं तो हमारा ध्यान स्वभावतः एकाएक इस भयानक परिस्थिति की ओर जाता है। हम सोचते हैं कि भला इस नरक कुंड में बैठकर ये लोग कैसे जीवन धारण कर सकते हैं। हालांकि ऐसा सोचने में हमारी अपनी रुचि और संस्कृति का भी असर बहुत हद तक है। शुरू में जब मैं बनारस ज़िले में थौरहरा गांव में गया था तो वहाँ की गन्दगी देखकर कितना घबड़ाया था, इसका जिक्र मैंने पिछले किसी पत्र में किया था। लेकिन यह सब बातें होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से हमारी योजना में सफ़ाई के कार्यक्रम का स्थान तीसरा ही होना चाहिए। हम आज ग्राम-सुधार कार्य आरम्भ करते ही हल्ला करना शुरू करते हैं कि गाँव के खाद का घूर दूर ले जाओ। उससे क्या फ़ायदा? हाँ, एक फ़ायदा यह ज़रूर है कि गाँव के लोग हमारी बातों को समझ न सकने के कारण यह समझते हैं कि ये आये हैं ख़ामख़ाह हमें तंग करने के लिए। मैं सरकारी ग्राम-सुधार कार्य के सिलसिले में शुरू में जब प्रतापगढ़ ज़िले का काम देखने गया था तो वहाँ गाँव के लोग ग्राम-सुधार के कार्यकर्ताओं को 'घूर साहब' कह कर मज़ाक उड़ाते थे। वस्तुतः अगर ग़ौर से सोचा जाय तो गाँव की आज की परिस्थिति में घूर हटा भी दिया जाय तो सफ़ाई और स्वास्थ्य की दृष्टि से विशेष फायदा नहीं होने वाला है। कारण यह है कि आज देहातों में प्रायः सभी परिवार अपने जानवरों को अपने घर के साथ ही रखते हैं। वे उन्हें जिस घर में रखते हैं उसका फ़र्श कच्चा होता है। उस पर लोग राख-पात आदि भी डाले रखते हैं। यह राख-पात और साथ ही उसके नीचे की ज़मीन काफ़ी अर्से तक सड़ती रहती है। उसमें मक्खी, मच्छड़, कीड़े आदि खूब पैदा होते रहते हैं। ये जगहें खाद के घूर से कम गन्दी नहीं होतीं। खाद का खड्डा फिर भी बाहर होने से उस पर धूप, रोशनी और हवा पहुँचती रहती है। उसके उपरान्त उस पर कभी कभी थोड़ी

मिट्टी डलवाकर सफ़ाई रखने की व्यवस्था भी आसानी से की जा सकती है। लेकिन घरों से मवेशियों को तुम कैसे हटाओगे? उनके लिए पक्का फ़र्श कहाँ से लाओगे? ऐसे मवेशियों के घरों में हवा रोशनी तो पहुँचती ही नहीं, इससे घर भर की हवा जो दूषित होती है उसका क्या उपाय है? वास्तव में मवेशियों को घरों के अन्दर ऐसी हालत में रखने से स्वास्थ्य की दृष्टि से जो हानि होती है, घर के पास बाहर खुले में स्थित घूर द्वारा होने वाली हानि उसका शतांश भी न होगी। हाँ, ऊपर से देखने से बेशक घूर ही गाँव में सब से गन्दी चीज़ मालूम होते हैं। अतः हम गाँव में घुसते ही इन गन्दगी को दूर करने के लिए हल्ला तो मचाते हैं, लेकिन यह नहीं सोचते हैं कि मवेशियों को घरों के अन्दर कायम रहने देकर घूर हटाने के कार्यक्रम का कोई अर्थ ही नहीं। बल्कि व्यर्थ के लिए लोगों की परीशानी बढ़ाने का प्रस्ताव करना है। आज अगर घूर को दूर रखते हैं तो एक बार गोबर ढो-कर उतनी दूर ले जाना होगा; फिर वहाँ से दूर दूर खेतों में ले जाना पड़ेगा। फिर दूर जंगल में उनके खाद की रखवाली भी ठीक से नहीं हो पाती है। अगर हम सफ़ाई के इस महत्वपूर्ण कार्यक्रम को उठाना चाहते हैं तो हमें इसे गोपालन के आर्थिक कार्यक्रम के साथ ही लेना होगा और वह कार्यक्रम हम तभी शुरू कर सकते हैं जब छोटे-छोटे उद्योगों के द्वारा गाँव के लोगों में आत्मविश्वास और सहयोग की भावना पैदा होगी। साबुन के उद्योग के द्वारा सफ़ाई का काम करने की चेष्टा और प्रयोग का विवरण लिख ही चुका हूँ। इसी तरह शिक्षा के द्वारा अनुष्ठान उत्सवादि के साथ किस तरह सफ़ाई की भावना का क्रमशः विकास किया जा सकता है, उसका ज़िक्र भी मैंने यथा स्थान किया है। इस प्रकार गाँव में भिन्न-भिन्न उद्योग और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के साथ-साथ जनता में रुचि तथा दृष्टिकोण का उचित परिवर्तन होने पर ही सफ़ाई की प्रत्यक्ष योजना बनाई जा सकती है।

स्वास्थ्य के लिए कोई अलग ख़ास योजना बनाना कठिन है। वस्तुतः अभाव दूर होने पर और आहारादि के परिमाण का ज्ञान होने पर स्वास्थ्य का सुधार अपने आप हो जाता है। बहुत सी बीमारियां ग़रीबी का नतीजा हैं और कुछ रोग गन्दगी के कारण होते हैं। फिर भी हमें स्वास्थ्य-सुधार का कार्यक्रम तो चलाना ही है। कम से कम बीमारियों का इलाज करना, दवादारू की व्यवस्था करना, सेवा का एक मुख्य अंग रहता है। एक पड़ोसी के नाते उनके सुख-दुःख में शामिल होना, उनकी तात्कालिक तकलीफ़ों को दूर करने की चेष्टा करना हमारा सहज कर्तव्य हो जाता है। दिल की स्वाभाविक प्रेरणा ही हमें गांव में दवा का इन्तज़ाम करने की ओर झुकाती है। लेकिन हमारे पास जितने साधन हैं उनके अनुसार तथा हमारे अन्तिम ध्येय की दृष्टि से औषधालय का कार्यक्रम विशेष लाभदायक नहीं होता। मैं जानता हूं कि बहुत से मित्र मुझसे इस विषय में सहमत नहीं हो सकेंगे। मैंने २० साल पहले श्री रामकृष्ण मिशन के कालिका महाराज की प्रेरणा से ग्राम-सेवा की नीयत से किस प्रकार खुद होमियोपैथी का काम सीखना शुरू किया था और उसी इलाज के सिलसिले में अकबरपुर गया था, उसकी कहानी विस्तार से लिख चुका हूँ। दस साल बाद मैंने फिर रणीवां में दवा बांटने के काम से ही ग्राम-सेवा शुरू की थी। इस प्रकार मैं खुद ग्राम-सेवा में औषधालय का बहुत बड़ा स्थान रखता था। बापू जी बार-बार औषधालय के विरोध में लिखा करते थे, उससे मैं सहमत नहीं हो सका था लेकिन अनुभव से मैंने देखा कि हमारे लिए इस प्रकार की चेष्टा बेकार है। आज देहाती जनता का स्वास्थ्य इतना गिरा हुआ है कि दवा देकर कहाँ तक पार लग सकता है। हमारे पास इतने साधन कहाँ हैं? मैं रणीवां में जब दवा देता था तो सुबह ६ बजे से ११ बजे तक भीड़ साफ़ नहीं कर पाता था। फिर इलाज के लिए लोगों के घर जाना पड़ता था। इस प्रकार अगर औषधालय का काम करने लगे तो सा मय उसी

में चला जायगा, फिर सब के घर न जा सकने के कारण कुछ लोगों को हम नाराज़ भी कर देते हैं। हमारे औषधालय से एक बुनियादी हानि पैदा होती है कि लोगों की ख़ैरात की ओर रुझान हो जाती है और हर बात के लिए वे हमारा मुँह ताकने लगते हैं। अगर ऊपर बताई हानियों का ख्याल न भी किया जाय तो भी केवल साधन के अभाव से ही औषधालय का काम करना सम्भव नहीं। तुम कह सकते हो कि अगर साधन नहीं है तो दवा का दाम तो लिया ही जा सकता है। उससे तो और भी जटिल समस्या पैदा हो जाती है; ग़लतफ़हमियां बढ़ती हैं और लोग नाराज़ हो जाते हैं। साधन न होने के कारण लोगों को तकलीफ़ के समय दवा देने से हम मजबूर हैं इसलिए इस काम को करते ही नहीं, यह बात तो जनता की समझ में आ सकती है। लेकिन अगर यह कह कर इन्कार करते हैं कि बिना दाम के दवा नहीं दे सकते तो लोगों में स्वभावतः क्षोभ पैदा होगा। रणीवां में मैं दवा देता था। ग्रामवासियों की दान लेने की वृत्ति को देख कर बाद को जब मैंने मुफ़्त दवा देने की प्रथा हटाने की चेष्टा की थी तो मुझे तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। मैं औषधालय बन्द ही करने की बात सोच रहा था। इसी बीच सारा काम सरकार ने बन्द करा दिया। मुझे अलग से सोचने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। वस्तुतः औषधालय की योजना तो ग्राम-सुधार का काम बहुत आगे बढ़ जाने के बाद जब देहाती समितियां काफ़ी योग्य तथा साधन-सम्पन्न हो जायँगी, तभी कार्यान्वित हो सकती है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या गांव के रोग-निवारण के लिए हम कुछ भी चेष्टा नहीं करेंगे? करेंगे क्यों नहीं? मैं तो सिर्फ़ अपनी संस्था की ओर से औषधालय खोलने का विरोध कर रहा था; रोग-निवारण की चेष्टा का नहीं। मेरी राय में ग्राम-सेवक को देहात में प्राप्य वस्तुओं से साधारण इलाज का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह

सच है कि हमारे काम के लायक इस विषय पर साहित्य नहीं है। फिर भी खोज करने से हमें काफ़ी मसाला मिल सकता है। गांव वालों से भी बहुत बातें सीखी जा सकती हैं। तुलसी, नीम, वेल के पत्ते आदि महौषधि का काम करते हैं। इन दवाओं के सम्बन्ध मे मैं जो थोड़ा अनुभव कर सकता था उससे मेरा विश्वास हो गया है कि इस दिशा में ग्राम-सेवक के सामने खोज के लिए विस्तृत क्षेत्र पड़ा है। इस काम के लिए योग्य वैद्यों से भी मदद मिल सकती है। गांव में किसी को तकलीफ़ हो तो सेवकों को अपने ज्ञान के आधार पर उसे बता देना चाहिए कि वह क्या करे। मैंने देखा है कि आम तौर से गांव के लोग मामूली बुखार, खांसी, पेट दर्द, पेचिश, चोट आदि छोटी-मोटी बीमारियों का ही इलाज कराने हमारे पास आते हैं। इनके लिए उपयुक्त दवाइयां काफी हैं। अगर कभी किसी को कठिन पीड़ा हो जाय तो शुरू में देहाती दवा देकर किसी वैद्य के पास भेजा जा सकता है। इस तरीके से सेवक केवल रोगी की सेवा ही नहीं करेंगे बल्कि उनको रोग के इलाज का साधारण ज्ञान भी दे सकेंगे। देहाती दवाइयों की खोज करके एक पुस्तिका बनवाने की मैंने जो चेष्टा की थी उसके सम्बन्ध में पहले बता चुका हूँ। इस किस्म की खोज की कोई योजना बनाई जाय तो अच्छा है जिससे हम इलाज के साथ-साथ इलाज का साधारण ज्ञान देकर जनता को स्वावलम्बन की ओर बढ़ा सकेंगे। हमारे वैज्ञानिक मित्र मेरी इस सम्मति से घबड़ायेंगे। कहेंगे—"क्या जहालत की बात करते हो।" उनसे मेरा नम्र निवेदन है कि देहात की आज की स्थिति को वे देखें और उसी हिसाब से बात करें। आखिर विज्ञान है क्या वस्तु? किसी चीज का विशेष ज्ञान ही तो विज्ञान है। मेरे-जैसा मामूली सेवक अगर जनता को साधारण ज्ञान देने की चेष्टा कर के विशेष ज्ञान का क्षेत्र वैज्ञानिक मित्रों के लिए छोड़ दें तो क्या हानि होगी? और मेरी क्षुद्र बुद्धि से ऐसा लगता है कि परिस्थिति का विश्लेषण करके उसी के आधार

पर समस्याओं के समाधान की चेष्टा वैज्ञानिक चेष्टा है। अगर इस परिभाषा से तुम लोगों को संतोष न हो तो मैं मजबूर हूँ। मैं तो अनुभव के आधार पर ही बात करूँगा।

अभी मैंने कहा कि कुछ साल काम करने के बाद जब ग्राम-समितियां योग्य तथा साधन-सम्पन्न हो जायँगी तो औषधालय की योजना उन्हीं के द्वारा कार्यान्वित की जा सकती है। उस समय समितियाँ किसी अच्छे वैद्य या हकीम को व्यक्तिगत रूप से कुछ ग्रामों के बीच स्थापित करें तो भी काम चल सकता है। उनको मदद करते समय कुछ शर्तें भी रखी जा सकती हैं।

कृषि और बागबानी—क्रम के अनुसार कृषि और बागबानी का स्थान चौथा है। इसमें तुम्हें कुछ आश्चर्य होता होगा। आश्चर्य होने की बात भी है। भारत कृषि-प्रधान देश है। कृषि ही यहाँ का उद्योग है। गाँव की आबादी के ९० प्रतिशत लोग इसी उद्योग के भरोसे जीवन धारण करते हैं। अतः सबसे पहले हमें कृषि-सुधार का काम करना चाहिए, ऐसा ख्याल करना स्वाभाविक है। ज़मीन की पैदावार बढ़े और खेती के तरीके में सुधार हो, यह सभी का अभीष्ट है। लेकिन यह कार्यक्रम इतना व्यापक है और इसके लिए इतने साधन चाहिएँ कि यह काम हमारी शक्ति से बाहर है। संयोजित रूप से खेती-सुधार का काम तो राष्ट्रीय सरकार के द्वारा ही हो सकता है। आज की सरकार को इस काम में न अधिक दिलचस्पी है और न वह अधिक कुछ करने को तैयार ही है। अगर वह कुछ प्रयोग करती भी है तो उसकी दृष्टि अपने मुल्क के उद्योग के लिए सस्ता कच्चा माल प्राप्त करने की ओर ही रहती है। सरकारी कृषि-विभाग का जहाँ तक जनता से सम्बन्ध है वह अफसरी ढंग की ओर ही अधिक रहता है। अफसर लोग जनता के सामने तरह-तरह के खेती सुधार के कामों का प्रचार अवश्य करते हैं। लेकिन उनपर अगर गंभीर विचार किया जाय तो उनसे पैदावार उतनी नहीं बढ़ती जितना खर्च बढ़ता

है। हमारे किसानों का खेती-सम्बन्धी ज्ञान किसी से कम नहीं है। विदेशी विशेषज्ञ लोग भी जब यहाँ की खेती का तरीका देखते हैं तो कहत हैं कि यहाँ का किसान दुनियाँ के किसी भी किसान का मुकाबला कर सकता है। सरकारी खेती कमीशन की रिपोर्ट में भी इस बात की ताईद की गई है। लेकिन वह बेचारा चाहे भी तो कर ही क्या सकता है? न खाद, न पानी और न उसके पास पर्याप्त जमीन। उन्नत खेती के प्रथम उपादान हैं प्रचुर पानी, खाद और विस्तृत भूखंड का चक, जिसमें हिसाब से फसलों का उचित बँटवारा किया जा सके, हल बैल का किफायत से इस्तेमाल हो सके और खाद-पानी पड़ने की व्यवस्था ठीक हो सके। इस प्रकार व्यवस्था तभी हो सकती है जब सरकार जनता की हो और खेती सम्मिलित हो। सम्मिलित खेती भी तो जनता की सहयोग-वृत्ति पर ही निर्भर करती है। अतः खेती-सुधार की योजना बनाने से पहले व्यापक रूप से ग्रामीण उद्योग-धन्धों का संघटन तथा शिक्षा का प्रसार हो जाना चाहिए। मैंने उद्योग को भी सहयोग के सिद्धान्त पर ही चलाने की सलाह दी है। सहयोग के सिद्धान्त पर उद्योग का व्यापक प्रसार होने से जनता में व्यवस्था शक्ति तथा सहयोग-वृत्ति पैदा होगी। साथ ही आर्थिक उन्नति से साधनों की उन्नति करने की शक्ति प्राप्त होगी। इस प्रकार उद्योग और शिक्षा-योजना की सफलता से सम्मिलत खेती का आधार स्थापित किया जा सकता है और तभी उन्नत खेती की कोई स्थायी योजना बन सकती है। जनता में इतना संघटन होने पर वह सरकार से साधन भी प्राप्त कर सकती है।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि अपनी संस्था की ओर से ग्रामोत्थान की जो योजना बनाई जाय उसमें खेती का कोई स्थान ही न हो। आज की परिस्थिति और साधनों से जो कुछ भी सुधार हो सकता हो उस पर ध्यान देना आवश्यक तो है ही। बीज का सुधार, पानी का प्रबन्ध, बैलों की नस्ल की उन्नति आदि छोटी-छोटी

योजनाओं-द्वारा कम से कम जनता की दृष्टि खेती-सुधार की ओर आकृष्ट तो की ही जा सकती है। ऐसी छोटी योजनाओं का सहयोग के सिद्धान्त पर चलवाने की चेष्टा करके भविष्य की सम्मिलित खेती का आधार तैयार किया जा सकता है। जिससे भविष्य में परिस्थिति अनुकूल होने पर हमारा काम सरल हो सके। अपनी स्थिति के अनुसार हम जो योजना बनायें वह कुछ इस प्रकार की हो सकती है:—

(१) **बीज-गोदाम का संघटन**—चर्खे का काम करने के साथ-साथ गाँवों में चर्खा-समितियाँ कायम करने की सलाह मैं पहले ही दे चुका हूँ। ये ही चर्खा सम्मितियाँ भविष्य में ग्राम-समितियों का रूप ले लेंगी, यह भी कह चुका हूँ। इन्हीं समितियों-द्वारा अगर एक छोटे बीज गोदाम का संघटन किया जाय तो क्रमशः समिति के सदस्यों के अलावा दूसरे भी इसी के बहाने हमारे संघटन में शामिल हो सकते हैं। इसके लिए प्रत्येक सदस्य से फ़सल में ५ सेर अनाज किस्त के रूप में जमा करके एक बीज गोदाम-समिति कायम की जा सकती है। यह रकम इतनी थोड़ी है कि गांव का करीब प्रत्येक किसान इसमें शामिल हो सकता है। बीज की समस्या उनके सामने ऐसे प्रत्यक्ष रूप में मौजूद रहती है कि इतना देने के लिए उन्हें राजी करना कठिन नहीं होगा। यह सच है कि शुरू में सब लोग ऐसे गोदाम के महत्व को नहीं समझेंगे और हमारे कार्यकर्ता का लिहाज करके किस्त का अनाज उसी तरह दे देंगे जिस तरह लोग पाठशाला आदि के लिए फ़सल के दिन अनाज का दान देते हैं। लेकिन क्रमशः जब उन्हीं के हाथों से गोदाम के आकार में वृद्धि होती जायगी और उसकी व्यवस्था में उन्हें प्रत्यक्ष भाग लेना पड़ेगा तो वे इसमें अधिक दिलचस्पी लेंगे। साथ ही उनमें व्यवस्था शक्ति का विकास तथा सहयोग का अभ्यास होता रहेगा। मेरी प्रस्तावित योजना गांव के बीज के अभाव की पूर्ति की दृष्टि से तो विशेष मदद नहीं कर सकेगी लेकिन शिक्षा और संघटन की दृष्टि से

इसका महत्व बहुत है । इसी किस्म के छोटे-छोटे कार्यक्रमों से ही तो गांव की जनता में संघटन शक्ति का विकास होगा। आर्थिक दृष्टि से भी ८—१० साल में यही बीज गोदाम बढ़कर किसानों के बीज की समस्या हल करने में काफी मदद कर सकता है।

इस सिलसिले में तुम्हें पहले की बात बताना ठीक समझता हूँ। फैज़ाबाद में जब सरकारी महकमे के द्वारा बीज गोदामों की देख-भाल करता था तो मुझे जो अनुभव हुआ था उसके सम्बन्ध में मैं लिख चुका हूँ। तुम्हें याद होगा, महकमा के गोदाम के द्वारा समस्या हल करने की चेष्टा कितनी कठिन है। मैंने लिखा था कि वहाँ जो उन्नत बीज दिया जाता था वह परिस्थिति के अनुकूल किसी निश्चित योजना के अनुसार नहीं होता था। जैसा कि मैंने अभी लिखा है कि आज की सरकार जो कुछ करती है वह प्रदर्शन मात्र है। वहाँ के कार्यकर्ता अपनी अफ़सराना धाक कायम रखने के फेर में किसानों से कुछ सीखना तो दूर की बात उनसे मिलकर उनकी असली परिस्थिति और समस्याओं का भी अध्ययन नहीं करना चाहते। वे गांव के वायुमंडल से अलग रहकर अपनी प्रयोगशाला में आदर्श स्थिति में ही प्रयोग करते हैं और इस प्रयोग में विदेशी तरीक़ा और विदेशी नस्लों को काम में लाते हैं। उनके सामने पैदावार और बाज़ार की दृष्टि ही अधिक रहती है। ग्राम-स्वावलम्बन या खाद्य गुण का हिसाब वे नहीं करते हैं और न वे हमारे किसानों के खाद-पानी के साधन का ही ख्याल रखते हैं। अतः सरकारी बीज-गोदामों में चाहे जैसे भी काम होता हो पर जो भी काम हमारी संस्था के निर्देशानुसार हो वह हमारे देहात की परिस्थिति के अनुसार ही हो। सरकारी महकमे के विशेषज्ञों से हम जरूर मदद लेंगे; उनसे हम परामर्श तो करेंगे लेकिन हमें किसी किस्म के बीज के प्रचार करने के पहले इस बात का ध्यान रखना होगा कि वह बीज उस गांव की जमीन के लिए अनुकूल है या नहीं। केवल अनुकूल होने से ही काम नहीं चलेगा। यह देखना होगा कि

अमुक प्रकार का बीज ज़मीन की उर्वरता कितनी समाप्त करता है और खर्च हुई उर्वरता की पूर्ति के लिए हमारे किसानों के पास काफी सामान है या नहीं। मैं जब देहातों में जाता था और उन्नत बीजों के नतीजे की बाबत प्रश्न करता था तो प्रायः यही जवाब मिलता था कि है तो बीज अच्छा, पैदावार भी ज्यादा है लेकिन भाई जी २-३ साल के बाद वैसी पैदावार नहीं होती है। मालूम होता है कि ज़मीन की ताक़त कुल खींच लेता है; इत्यादि। यह रिपोर्ट केवल देहात के किसान ही देते हैं, ऐसा नहीं बल्कि सरकारी विशेषज्ञ भी इसे क़बूल करते हैं। इसके लिए वे कहते हैं—"खाद पानी बढ़ाओ!" भला बताओ तो सही कि खाद पानी लावें कहाँ से? यह तो वही बात हुई कि देहात में इलाज करने के लिए पहुँच कर डाक्टर साहब जैसे कह आते हैं, "फलों का रस पिलाओ!" मैं फ़ैज़ाबाद में जब ग्राम-सेविका शिक्षा शिविर चला रहा था तो सेविकाओं के बच्चों के लिए एक शिशु-विहार खोला था। तुम्हें याद होगा कि उस शिशु-विहार के सामान के लिए हेल्थ अफ़सर, लेडी हेल्थ विज़िटर से परामर्श करने पर वे किस तरह माताओं को रोग-कीटाणु-नाशक द्रव साबुन (anti-septic liquid soap) इस्तेमाल करने की सलाह देने को कह रही थीं। "खाद-पानी बढ़ाओ" वाली राय भी कुछ उसी प्रकार मालूम होती है। बीज की स्थानीय क्षेत्र में अनुकूलता, किसानों के साधनों की प्राप्ति और उसके साथ अनाज के खाद्य गुणों का ख्याल हमारे कार्यकर्ताओं को अधिक करना चाहिए। हमेशा ध्यान रहे कि हमारा प्रधान लक्ष्य "पेट भरना है," पेट काट कर "अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार" देखना नहीं।

इस विषय में स्थानीय क़िस्म के बीजों की छँटनी करने का प्रयोग जो कुछ मैं कर सका था उसकी सूचना तुम्हें दे चुका हूँ। अपने निजी अनुभव से कह सकता हूँ कि गाँव में बहुत से स्थानीय क़िस्म के अनाज पैदावार की दृष्टि से अच्छे, खाने में अधिक पुष्टिकर और स्थानीय भूमि के अनुकूल मिलते हैं। ऐसी फ़स्ल सदियों से स्थानीय

(परिस्थिति) में पैदा होने के कारण जमीन की कम खुराक लेकर भी अपनी पुष्टि प्राप्त करने की आदी हो गई है। लेकिन आमतौर से किसानों की अनभिज्ञता और सरकारी विशेषज्ञों की उदासीनता तथा उपेक्षा के कारण आज उनकी कद्र नहीं है और क्रमशः वे घटिया किस्म के अनाज से मिश्रित होकर घटिया हो जाते हैं। मैंने देखा है कि ऐसे स्थानीय अनाजों का ज्ञान गाँव के बहुत से प्रवीण खेतिहारों को है। हमें ऐसे जानकार लोगों से तथा दूसरे सरकारी और गैर-सरकारी विशेषज्ञों से परामर्श करके शुरू में ऐसे स्थानीय अच्छे और शुद्ध किस्म के बीजों की छटनी करने की योजना बनाने के लिए ग्राम-समितियों को प्रोत्साहन देना चाहिए। इससे एक साथ दो लाभ होंगे। एक तो आसान और ग्रामवासियों के साधन के अन्तर्गत होने से उन्नति की गति अधिक होगी और दूसरे इस प्रकार की सफलता से ग्रामवासी—इस ओर आगे बढ़कर प्रयोग करने को स्वभावतः प्रेरित होकर वैज्ञानिक खोज के लिए आधार तैयार करेंगे।

बीज गोदामों के संघटन के लिए जहां मैं सरकारी महकमों के तर्ज-तरीकों से सावधान करना जरूरी समझता हूँ वहां स्थानीय महा-जनों के प्रति हमारा क्या रुख होगा, उसका भी विचार कर लेना आवश्यक है। यह तो तुम्हें मालूम ही है कि आजकल हवा ऐसी चली हुई है कि सार्वजनिक काम करने के लिए जो भी युवक मैदान में उतरता है वह राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक बुराइयों की उग्र समालोचना करने लगता है। वह ऊपर-ऊपर से उन बुराइयों का कारण कुछ निकाल कर उनके पीछे डंडा लेकर पड़ जाता है। उसे आगे-पीछे देखने की जरूरत ही नहीं है। समाज पर या जिनके हित के लिए हम इतना तूफान करते हैं उन्हीं पर हमारे तरीकों का क्या असर पड़ेगा, इसका भी ख्याल नहीं करते हैं। हो सकता है कि रोग के सम्बन्ध में उनका निदान सही हो किन्तु गलत इलाज, गलत अनुमान, गलत पथ्य या गलत तरीके के उपचार से भी रोग का

उपशम न होकर रोग की वृद्धि भी हो सकती है। फोड़ा कितना भी सड़ा हो लेकिन डाक्टर उस पर छुरी चलाने से पहले दिल की धड़कन की परीक्षा अवश्य कर लेता है। जिससे कहीं ऐसा न हो कि चीर-फाड़ से मवाद तो साफ हो जाय लेकिन अस्त्र की उग्रता से रोगी के दिल की धड़कन ही बन्द हो जाय। ऐसी परिस्थिति में डाक्टरों को मरहम-पट्टी आदि दूसरी किस्म के इलाज सोचने पड़ते हैं, चाहे उस इलाज में जरूरत से अधिक समय क्यों न लगे। ठीक उसी प्रकार ग्राम-सुधार कार्य में हमको सावधानी से आगे बढ़ना होगा। हमारे एक-एक कदम की प्रतिक्रिया समाज में क्या होगी, हम जो बात करते हैं उसको सहने के लिए उनके पास कितनी शक्ति है, हमारी बात सुन कर उनमें समझने की कितनी शिक्षा है, एक गलत चीज़ के स्थान पर सही चीज़ देने के लिए हमारी शक्ति कितनी है, इत्यादि बातों का विचार करके ही हमें आगे बढ़ना होगा। मैंने जिस परिमाण के बीज गोदामों का प्रस्ताव किया है वे गांव के अभाव रूपी समुद्र में एक बूंद पानी के भी बराबर नहीं हैं। लेकिन हमारे सेवक इसी को केन्द्र कर के गांव के बीज के मौजूदा कारबार के खिलाफ झंडा खड़ा कर सकते हैं। अतः हमें इस बात की सावधानी रखनी होगी कि आज जो महाजन बीज का लेन-देन करते हैं वे हमारे काम को सन्देह की दृष्टि से न देखने लग जायँ। यह सच है कि हमें उनके ढंग पसन्द नहीं हैं। गाँव के लिए वे हानिकारक भी हैं। सीधे-सादे गरीब किसानों की मजबूरी का वे बेजा फायदा उठाते हैं। लेकिन आज ग्रामीण आर्थिक स्थिति में उनका जो स्थान है, वह तो है ही। अगर आरम्भ से ही ये लोग हमारी चेष्टाओं को सन्देह की दृष्टि से देखने लगें तो हम आज उनका कुछ सुधार करने के पहले ही अपने काम को असफल बना डालेंगे। अतः हमको उनसे मिलकर उनको यह महसूस करा देना होगा कि हमारा कार्यक्रम उनके लिए फ़ायदे का ही है और उनका ज़माने को देखते हुए अपना ढंग बदलने में ही फ़ायदा

है। जहाँ तक संभव हो, बीज के प्रकार की उन्नति उनके द्वारा भी की जाय। उनके स्टाक को सुधारने में हमको शक्ति भर कोशिश करनी चाहिए। अगर हम उनके बीज का स्टाक ही कुछ सुधार सके तो खेती की उन्नति हो जायगी।

सिंचाई—खेती के सुधार का मुख्य साधन खाद व पानी है। हमारे देश में जितनी खेती होती है उसकी २० प्रतिशत खेती को किसी कदर सिंचाई से पानी मिलता है। अगर उस भूमि को जोता जाय जो खेती लायक है लेकिन अभी काम में नहीं आ पाती है तो यह अनुपात बहुत कम हो जायगा अतः पानी की सुलभता के लिए जो कुछ भी किया जाय, वह थोड़ा है। लेकिन हम अभी अपनी संस्थाओं के द्वारा किस तरह ग्रामसुधार योजना बना सकते हैं उसका विचार कर रहे हैं। पानी की व्यवस्था क काम इतना व्यापक है कि बिना सरकारी मदद और ग्राम-सहयोग-वृत्ति के प्रसार के इस समस्या का हल सम्भव नहीं है। फिर भी हम अपनी प्रारम्भिक ग्रामसमितियों के द्वारा इस दिशा में थोड़ी चेष्टा तो कर ही सकते हैं। मेरे ख्याल से ३-४ साल में उद्योगादि का संघटन हो जाने से ग्रामसमितियों के दृष्टिकोण तथा उनकी आर्थिक स्थिति का इतना विकास हो जायगा कि जगह-जगह उन्नत कुओं के निर्माण-द्वारा सिंचाई की योजना की जा सकेगी। इसके अलावा भट्ठे का कार्यक्रम चलाकर तालाबों का का पुनरुद्धार तो कर ही सकते हैं। भट्ठे का कार्यक्रम गांव के लिए कितना लाभदायक हो सकता है और उसके द्वारा हम किस तरह तालाबों का पुनरुद्धार करके सिंचाई का तथा मछली का प्रबंध कर सकते हैं, इसकी सूचना मैं तुम्हें दे ही चुका हूँ। वस्तुतः तालाबों के द्वारा सिंचाई की समस्या हल करने की काफ़ी गुंजाइश है। आज भी मद्रास प्रांत की सिंचाई अधिकतर तालाबों से ही होती है। रायल एग्रीकलचरल कमीशन की रिपोर्ट तो बताती है कि हिन्दुस्तान में जितना पानी बरसता है उसका ३५ % बहकर समुद्र में चला

जाता है। इस पानी को इकट्ठा करके सिंचाई का प्रश्न हल किया जा सकता है। फिर भट्ठों का निर्माण तथा उनके द्वारा तालावों का जीर्णोद्धार का काम हमारे सन्धान के अन्तर्गत है। अतः हम जो योजना बनायें उसमें उक्त दो प्रकार का प्रयोग अवश्य शामिल रहे। हमें अपनी संस्थाओं द्वारा नहर की बात सोचना ही व्यर्थ है। प्रथमतः जहां कुवाँ बन सकता है वहाँ नहर के मैं खिलाफ हूँ। इसका कारण भी मैं तुमको विस्तारपूर्वक लिख चुका हूँ। दूसरी बात यह है कि नहर की कोई भी योजना सरकार के बिना नहीं हो सकती है। अतः अपनी राष्ट्रीय सरकार होने पर ग्राम-सुधार योजना कैसी हो, इसका विचार करूँगा तब इस पर अपनी राय और विस्तार से भेजने की चेष्टा करूँगा। फिल-हाल उसे छोड़ देना ही ठीक होगा।

खाद—सिंचाई के बाद खेती की उन्नति के लिए खाद महत्व की चीज़ है। अतः अब थोड़ी देर हम इस पर विचार करें कि अपने साधनों से इस दिशा में क्या-क्या कर सकते हैं। मैंने अपनी योजना में पहले उद्योग का काम रक्खा है। उन्हीं उद्योगों के साथ खाद की उत्पत्ति भी की जा सकती है। जहाँ कहीं भी चमड़ा पकाने का उद्योग जारी किया जाय उसके साथ हड्डी की खाद बनाने का काम जारी करना चाहिए। इसके जारी करने में सामाजिक प्रथा के कारण कठिनाई विशेष न होगी। थोड़ी संस्कारगत कठिनाई तो हमारे व्यापक रूप से कार्यक्रम शुरू करने के साथ ही खतम हो जाती है। फिर हम उच्च वर्ण के लोगों को कुछ अभी से हड्डी छूने को नहीं कह रहे हैं। उद्योगों के विकास के साथ-साथ उस प्रकार के संस्कार में अपने आप ही परिवर्तन हो जायगा। तुम जब रणीवां गई थीं तो देखा ही होगा कि किस तरह स्थानीय उच्च वर्ण के युवकों ने चर्मालय में काम करना शुरू कर दिया था और इस कारण उन्हें समाज में किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। उसके लिए मुझे कुछ खास समाज-सुधार का अलग कार्यक्रम नहीं चलाना पड़ा

था। वल्कि अगर मैं अलग से इस प्रकार का काम चलाता तो उक्त परिवर्तन नहीं हो पाता और असर उलटा ही होता। आज भी देहातों में एक श्रेणी के लोग हड्डी बीन कर एकत्र करते हैं और उसे व्यापारियों के हाथ बेच आते हैं। ऐसे व्यापारी तमाम हड्डियों का ढेर विदेशों को भेज दिया करते हैं। मेरा प्रस्ताव केवल यह है कि गाँव-गाँव उन्हें एकत्र कराकर उनकी खाद बनवाई जाय। यह खाद बड़ी आसानी के साथ वन जाती है। थोड़े पत्तों आदि से आग लगा देने से हड्डियाँ टूटने लायक हो जाती हैं। इसके लिए पत्ते भी अधिक नहीं चाहिएँ। हड्डी के ढेर के नीचे और ऊपर तीन तीन इंच पत्ते से काम चलाया जा सकता है। फिर ढेंकी से या चूना सानने के पत्थर के बेलन मे चूर कर लिया जा सकता है। इसके लिए कई तरीके हैं लेकिन पत्रों में हम किस प्रकार की योजना वना सकते हैं, सिर्फ उसी पर विचार कर रहे हैं। अतः कुछ लोगों के तरीके लिख कर पत्रों का आकार वढ़ाना ठीक न होगा। हड्डी के अलावा दूसरी प्रकार की खाद भी वनाने की योजना आसानी से वन सकती है। गाँव में इधर-उधर काफी जंगल, खर-पत्ते आदि चीजें पड़ी रहती हैं। अगर स्थानीय समिति को प्रोत्साहन दिया जाय और युवकों को संघटित किया जा सके तो उनको वटोर कर कम्पोस्ट (compost) खाद वनाने का सिलसिला जारी किया जा सकता है। मैंने देखा है कि इस तरीके से विना साधन के ही काफी खाद वढ़ाई जा सकती है। इससे दूसरा फायदा यह होगा कि गांव की सफ़ाई आप से आप हो जायगी। अधिक कार्यक्रम के फलस्वरूप सफ़ाई हो जाने का यह भी एक उदाहरण है जिसका पहिले मैंने जिक्र नहीं किया था। नाबदान साफ़ करके उसका कीचड़ किस तरह से खाद वढ़ाने के काम आ सकता है, यह फैजावाद के ग्राम-सुधार के प्रयोगों का विवरण लिखते समय लिख ही चुका हूँ। इस प्रकार उद्योग के साथ और अलग से भी थोड़ी चेष्टा की जाय तो कुछ खाद की वृद्धि तो हम

आज की स्थिति में भी कर ही सकते हैं। बापू जी ने भी अपने लेखों-
द्वारा मनुष्य की विष्टा को किस तरह खेती के काम में इस्तेमाल
किया जा सकता है, इसका काफी प्रचार किया है। इस विषय पर
मेरा अधिक कहना बेकार है। वास्तव में मैले की हानि हमारे
राष्ट्रीय जीवन की सबसे बड़ी हानि है। चीन के किसान प्रसिद्ध हैं।
वे अपने मल-मूत्र को किसी तरह बेकार नहीं जाने देते हैं। प्रत्येक
किसान उसे अपने खेत में गाड़ देता है। वस्तुतः इस द्रव्य का खोना
हमारे लिए एक प्रकार से सोने का खोना है। विशेषज्ञों की राय है
कि एक आदमी की साल भर की टट्टी से ढाई मन खाद होती है।
जिसमें वनस्पति का क़ीमती खाद्य, नाइट्रोजन (Nitrogen) पोटाश
(Potash) तथा फास्फोरिक एसिड (Phosporic acid) बहुत अधिक
मात्रा में होता है। मलमूत्र का यों इस्तेमाल केवल खाद की समस्या
हल करने का सहायक ही नहीं होगा बल्कि गाँव के स्वास्थ्य की दृष्टि
से भी लाभदायक है। बापू जी इस ओर भारतवासियों का ध्यान
दिलाने में कभी नहीं थकते। केवल बापू ही क्यों संसार में जो
कोई भी सम्पूर्ण समाज-सुधार की बात सोचेगा उसका ध्यान इस
ओर जायगा। श्री फ्रेडरिक एंजेल्स ने भी शहर गांव की अलग-अलग
स्थितियों की बुराई बताते हुए कहा है—"ओनली थ्रू ऐन अमलग-
मेशन ऑव टाउन ऐंड कंट्री विल इट बी पासिबुल टु पुट ऐन एंड टु
दि करेंट पायज़निंग ऑव वाटर ऐंड स्वायल; ओनली इन दिस इट
विल बी पासिबुल टु अरेंज फार दि मासेस हू आर नाऊ क्राउडेड
इन पेस्टीलेंटियन टाउंस दैट देयर एक्सक्रेटा शैल बि टर्न्ड टु
यूज़फुल एकाउंट ऐज़ मैन्योर इनस्टेड ऑव् जेनेरेटिंग डिसीज़।"
अर्थात् आज पानी और मिट्टी जिस भाँति विषाक्त होती जा रही हैं
उसे गाँव और शहर के समन्वय द्वारा ही रोका जा सकता है। इस
तरीक़े से ही यह संभव होगा कि जो लोग रोगबहुल शहरों की घनी
बस्तियों में रहते हैं उनके मलमूत्र को रोग पैदा करने के साधन की

जगह लाभदायक खाद के रूप में परिवर्तित किया जा सके।"

लेकिन इस कार्यक्रम को जल्दी शुरू नहीं कर सकते हैं। लोग अपने संस्कारों तथा आदतों से मजबूर रहते हैं। अतः संघटन की दिशा में काफ़ी प्रगति होने पर ही इसे आरम्भ किया जा सकता है। अगर शुरू से ही हम साधारण रूप से प्रचार करते रहे और कार्यकर्ता अपनी आदत में परिवर्तन कर सके तो क्रमशः इस दिशा में निश्चित कार्यक्रम भी बनाया जा सकता है। इसमें कुछ विशेष पूंजी आदि का साधन तो चाहिये नहीं, केवल संस्कार को परिवर्तित करके आदत बदलवाने की बात है। इस सिलसिले में एक अनुभव की बात बता देना चाहता हूं। एक बार अपना वास्तविक हित समझ जायें और परम्परा तथा रूढ़ि की हिचक ज़रा भी ढीली हो जाय तो ग्रामवासी किसी भी काम को बड़े उत्साह से करने लगते हैं। अतः इस दिशा में हमारे काम करने के लिए विस्तृत क्षेत्र पड़ा है।

ऊपर बताये तरीके से हम खाद की वृद्धि के लिए कुछ न कुछ प्रयोग कर सकते हैं। खाद का मुख्य ज़रिया देहात के जानवर ही हैं और हमेशा रहेंगे। हम चाहे जितनी रासायनिक खाद तैयार करें, हमको खाद के लिए प्रधानतः गोबर, जानवरों का पेशाब आदि का भरोसा करना ही पड़ेगा। अतः हमारा अधिकांश ध्यान इस जरिये से प्राप्त खाद की ओर ही होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि भारत के प्रत्येक गांव के लोग गोबर का अधिकांश हिस्सा जला ही डालते हैं और पेशाब को गोशाला के नीचे जज्ब होने देते हैं। फिर भी मैं गांव की आज की दशा में इस दिशा में विशेष चेष्टा करने की सलाह नहीं दे सकता हूं। ग्राम-सुधार योजना ५-६ साल चल जाने के बाद जब गोपालन का व्यापक कार्यक्रम चलाया जाय तभी इस दिशा में कुछ किया जा सकता है। तब भी इस ओर व्यापक रूप से प्रगति नहीं हो सकेगी। ग्राम-सेवक तो इस बात का प्रचार झट करने लगते हैं कि गांव वाले कैसे बेवकूफ हैं कि गोबर जला देते हैं। लेखों-द्वारा,

भाषणों-द्वारा गांव के लोगों से इस प्रकार की बुद्धिहीनता का काम करने के लिए निषेध करते हैं। लेकिन प्रचार के जोश में वे भूल जाते हैं कि अगर गांव वाले गोबर न जलावें तो ईंधन कहां से लावें? सदियों की उदासीनता तथा जन-संख्या-वृद्धि से उत्तरोत्तर खेती की वृद्धि के कारण आज गांवों के आस-पास जंगलों का कोई निशान ही नहीं रह गया। तुम कहोगी—"हमारे यहां ज़मीन का पाँचवाँ हिस्सा तो जंगल ही है। फिर जंगल की कमी का रोना क्यों रोते हो।" खास तौर से जब तुम मध्यप्रांत में रहती हो और अपने आस-पास जंगल ही जंगल देखती हो तब तुम्हारे लिए ऐसा कहना स्वाभाविक ही है। लेकिन जंगल जो कुछ रह भी गया है वह भी हमारी आबादी के साथ फैला हुआ तो नहीं है। जहाँ आबादी है वहाँ जंगल नहीं और जहाँ जंगल है वहाँ आबादी नहीं। अगर सरकार अपनी होती तो रेल किराया आदि में सहूलियत कर के कुछ ईंधन आबादी के पास पहुँच भी सकता था। लेकिन आज तो उसकी भी कोई गुँजाइश नहीं। नतीजा यह होता है कि आबादी के पास लकड़ी नहीं मिलती है और जंगलों के पास ईंधन सामग्री बेकार जाती है। कुछ नहीं तो जंगल के पत्ते जितने नीचे सड़ते हैं उन्हें ही गोबर के साथ मिलाकर अगर कंडी बनाई जाय तो भी खाद के लिए काफ़ी गोबर बच जाय। लेकिन आज ऐसा नहीं हो पाता। जंगल के पास गाँव वाले ऐसा कर भी लेते हैं। लेकिन वहां गांव ही कितने हैं। अतः गांव में जाते ही गोबर न जलाने का बेकार प्रचार करने से क्या लाभ?

मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि आज की मजबूरी की दशा में जानवरों के ज़रिये जितनी खाद मिल रही है उसमें कुछ भी वृद्धि नहीं हो सकती है। खेती के और कार्यक्रम जैसे थोड़ी मात्रा में आज हम कर सकते हैं उसी तरह इस दिशा में कुछ होना तो सम्भव नहीं है। और वह काम कुछ इस प्रकार का हो सकता है:—

(१) जिस स्थान पर मवेशियों को बांधा जाता है उसके फर्श पर

मिट्टी डाल दी जाय। बीच-बीच में उसे खोद निकाल कर खेतों में डाला जा सकता है।

(२) जलाने के बाद जितना गोबर खाद के लिए रक्खा जाता है उससे घूर की उन्नति की जाय। प्रायः देखा गया है कि लोग घूर के लिए बहुत गहरा गड्ढ़ा खोदते हैं और बरसात का सारा पानी उसी में चला जाता है। कहीं-कहीं तो गोबर को एक जगह ढेर कर के रख देते हैं। इससे वर्षा के पानी से गोबर का बहुत सा कीमती हिस्सा बह कर नष्ट हो जाता है। अतः गांवों में संघटन की थोड़ी प्रगति के साथ-साथ व्यापक रूप से घूर-सुधार का कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। इसके लिए कम गहरा गड्ढ़ा बना कर चारों तरफ़ मेड़ बना देनी चाहिए। फिर उसे कूड़े के साथ गोबर को घोल मिला कर भर देना चाहिए और ऊपर से बन्द कर देना चाहिए।

बाग़बानी— गोबर तथा पेशाब के उचित इस्तेमाल की व्यवस्था तथा गोबर जलाने से रोकने का कार्यक्रम भविष्य के लिए छोड़ कर हमको बाग़बानी तथा ईंधन के लिए पेड़ लगाने की ओर जनता का ध्यान दिलाना चाहिए। क्योंकि जिस हद तक ईंधन की समस्या हल हो सकेगी उसी हद तक खाद भी सुलभ होगी। इस कार्यक्रम को हम बहुत जल्दी शुरू कर सकते हैं। यह काम ऐसा है कि सहयोग तथा संघटन की प्रगति काफ़ी हुए बिना ही शुरू किया जा सकता है। मैंने देखा है कि गांव में काफ़ी ऐसे लोग मिलते हैं जो थोड़ी मदद से पेड़ लगाने के लिए तैयार हो जाते हैं। पेड़ लगाने का संस्कार प्राचीन है। इसलिए भी लोग आसानी से झुक जाते हैं। आज वे उदासीन इसलिए नहीं कि उनमें इच्छा या संस्कार नहीं बल्कि इसलिए कि ग़रीबी के कारण उनमें किसी तरह का उत्साह नहीं। खेत जोतना, बोना, और काटने का काम परम्परा से मशीन की तरह करते आते हैं। अतः लोगों को जब इस ओर उत्साहित किया जायगा तो व्यक्तिगत रूप से ही इसके लिए बहुत से लोग तैयार हो जायँगे। ईंधन और

फल के वास्ते निम्न प्रकार के पेड़ लगाये जा सकते हैं। पेड़ के चुनाव में खास ध्यान इस बात की ओर होना चाहिए कि वे मवेशियों की खुराक के भी काम आवें।

बबूल, ढाक, आम, जामुन, बेल, गूलर, बेर, अमरूद, केला, महुआ, आँवला, अनार, कटहल, पपीता, इमली, नीबू, फालसा आदि इतने नाम केवल संकेत के लिए ही लिखे। वैसे तो स्थानीय परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के पेड़ लगेंगे। मैं अपने क्षेत्र के ही अनुभव से बता सकता था अतः इतने नाम लिख दिये। ईंधन के लिए मैंने प्रधानतः बबूल और ढाक की ही राय दी है। इसका कारण यह है कि इससे बहुत सी ख़राब ज़मीन भी काम में आ सकेगी और इनकी लकड़ी ईंधन के लिए अच्छी है। बबूल तो आर्थिक दृष्टि से भी फ़ायदे का है। उसकी मोटी लकड़ी खेती-सम्बन्धी औज़ार धन्नी, कोल्हू का सामान आदि बहुत से काम आती है। इसके अलावा चमड़ा पकाने में इसकी छाल मुख्य सामग्री है। हमारे-जैसे कृषि-प्रधान देश में चमड़ा पकाने का उद्योग किस तरह से गाँव-गाँव में फैलाना ज़रूरी है, उसके सम्बन्ध में अपनी राय मैं दे ही चुका हूँ। अतः आवश्यकता के साथ बबूल के प्रचार से इस आवश्यक उद्योग के लिए भी साधन सुलभ हो जायगा।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि आज की परिस्थिति में पेड़ लगाने की जगह कहाँ। खेत की भूख ने तो ग्रामीण क्षेत्र की सारी ज़मीन हड़प ली है। यह सच है कि दिन-दिन हमारी आबादी घनी होती जा रही है और खेती की भूख बढ़ती ही जाती है। लेकिन आज की दशा में भी अगर देहातों की निराशा और बेहोशी को हटाकर उत्साह तथा जीवन पैदा किया जा सके तो इस काम के लिए काफ़ी बेकार ज़मीन मिल सकती है। अवध का इलाका काफ़ी घनी आबादी का इलाका है यह तो तुम जानती ही हो। फिर भी मैंने देखा है कि देहातों में ऐसी ज़मीन बेकार है जहाँ पेड़ लग सकते हैं। जब कभी

किसी देहात की तरफ़ निकल जाओ तो देखोगी कि जगह-जगह काफ़ी ज़मीन बेकार पड़ी रहती है जिसे लोग जंगल कहते हैं। शुरू में जब मैंने अकबरपुर के इलाकों में जाना शुरू किया था उस समय जब लोग जंगल की बात करते थे तो मैं परीशान होता था; इधर जंगल है ही कहाँ ? मैं तो जंगल का मतलब हज़ारीबाग-जैसे जंगल समझता था। बाद को मालूम हुआ कि इधर के जंगल का मतलब उस परती ज़मीन से है जिस पर इधर-उधर दस-बीस, ढाक के छोटे-मोटे पेड़ हों। इनके अलावा भी बहुत सी ख़ाली ज़मीन है जिसे ऊसर कहते हैं। संयुक्तप्रान्त काफ़ी घनी आबादी का प्रान्त है, फिर भी जितनी ज़मीन खेती लायक है उसकी ८०.० °/ₒ ज़मीन पर ही आज खेती हो रही है। बाकी ज़मीन ख़ाली पड़ी हुई है। इसके अलावा जो ऊसर-बांगड़ ज़मीन खाली पड़ी है और जो खेती लायक नहीं है उसमें बहुत सी ऐसी भी ज़मीन मिलेगी जिसमें कोशिश करने से महुआ, ढाक या बबूल के पेड़ लग सकते हैं। रणीवाँ आश्रम जिस विस्तृत भूमि पर बना है वह भी तो वैसी ही बेकार ज़मीन थी। फिर भी तुमने देखा होगा कि उस पर किस प्रकार का बाग लगा हुआ है। अतः ज़मीन तो है, चाहिए केवल हमारे कार्यकर्ताओं की सूझ और ग्राम्य-समाज में उचित वातावरण। इस प्रकार पेड़ लगाने के काम में काफ़ी प्रगति हो जाने पर ही गोबर न जलाने का सफल प्रचार हो सकता है। इसलिए मैंने कार्यक्रमों के क्रम से खेती और बागबानी का काम साथ ही साथ रखा है।

गोपालन—खेती और बागबानी के साथ हमारी दृष्टि गोपालन की ओर स्वभावतः आकृष्ट होती है। इतना कर लेने के बाद ग्रामीण जनता का ध्यान भी इस ओर आसानी से चला जायगा। अतः अब गोपालन का कार्यक्रम शुरू करना आसान होगा। अब तक सहयोग-समितियों के संघटन की प्रगति काफ़ी बढ़ी हुई होगी। चर्खे के काम की व्यवस्था का काफ़ी हिस्सा अब तक ग्रामसमितियों की ज़िम्मेदारी

के अन्तर्गत हुआ रहेगा अतः इस कार्य-क्रम का, आरम्भ से ही ग्राम-समितियों के द्वारा, सहयोग के सिद्धान्त पर संघटन करना श्रेयस्कर होगा। वस्तुतः भारत-जैसे कृषिप्रधान देश में गोपालन का काम जितना भी किया जाय वह थोड़ा है। भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ "गो" शब्द पर सारे देश का दिल फड़क उठता था। गो माता की पूजा शायद इसी देश की विशेषता है। लेकिन आज उसी गो माता का क्या हाल है? हम जब देहातों में बकरी-जैसी छोटी, अस्थिचर्मावशेष गौवों को देखते हैं तो सोचते हैं कि गो माता की पूजा करने वाले भारत की गो जाति का यही आकार और प्रकार है! आज हमारी ही दशा क्या है? कहावत है कि "अभाव से स्वभाव नष्ट होता है।" इसी भारत भूमि में एक समय ऐसा था जब यह नियम बना था कि अमुक ऋतु में ही वह दुही जाय, और अमुक ऋतु में वह दुही भी इतनी जाय जिससे बच्चों को भरपेट पीने को मिल जाये और आज उसी माता की पूजा करने वाले फूँका प्रथा (कष्टदायक तरीका) का आम इस्तेमाल करने लग गये हैं।

अतः यह बात जरूरी है कि गोपालन के काम की बाबत हम गम्भीर रूप से विचार करें और हमें क्या और कितना करना चाहिए और कितना कर सकते हैं, इस पर ध्यान से सोचें। जमनालाल जी कितना अधिक याद आ रहे हैं। उस दिन शाम को जब मुलाकात हुई तो कितने आग्रह से कहने लगे—"धीरेन! तुमसे मुझे काफ़ी बातें करनी हैं। तुम्हारे प्रान्त में गो सेवा का कितना काम हो सकता है? अच्छा हो तुम मेरे यहाँ कल आ जाओ; वहीं खाना खाना और उधर से ही स्टेशन चले जाना।" दूसरे दिन सुबह उठा। खादी विद्यालय के विद्यार्थी चाहते थे कि मैं उनको ग्राम-सेवा की बाबत कुछ बताऊँ। सेठ जी के यहां जाना है, कहकर उनसे छुट्टी माँग रहा था। पर उन्होंने न माना और उसी समय सब एकत्र हो गये। जैसे-तैसे उनसे जल्दी छुट्टी लेकर वर्धा को रवाना हो गया। सीधे गो-

सेवा आश्रम गया। मालूम हुआ कि सेठ जी खाना खाने तक आ जायंगे। कुछ समय था; मैं नालवाड़ी चला गया; विनोवा जी से मिलकर आने में मुझे कुछ देरी हो गई। लौटकर मालूम हुआ कि सेठ जी अभी लौटे नहीं। मैंने देर तक प्रतीक्षा की। जब काफ़ी देरी हो गई तो सोचा कि कहीं वर्धा अपने बंगले पर तो नहीं रह गये? अतः मैंने खाना खा लिया और बंगले पर चला गया। बंगले पर भी वे नहीं थे। वहां मालूम हुआ कि कोठी पर कुछ काम से रुक गये और ४ बजे शाम को लौटेंगे। उस समय २॥ बजा था। मैंने सोचा अभी समय बहुत है। इतने में मगनवाड़ी ग्राम-उद्योग-संघ में कुमाराप्पा साहब से कुछ काम की बातें कर लूँ। मगनवाड़ी गया और दफ़्तर में बैठकर अपने प्रान्त के काम की बातें करने लगा। उनको भी बहुत सी बातें पूछनी थीं, अतः कुछ समय लग गया। एकाएक खादी भंडार के एक भाई ने आकर खबर दी 'सेठ जी का देहान्त हो गया!' खबर सुनकर हम दोनों स्तम्भित रह गये। उस पर विश्वास नहीं हुआ। उस भाई को फिर बुलाया। पूछा—"तुम्हें किसने भेजा? यह खबर किसने दी?" उसकी बातों से यकीन हो गया। हम दोनों भागे बजाजवाड़ी की ओर। पहुँच कर देखा, सब समाप्त है। वह दृश्य तुम्हें कैसे बताऊँ? लिखकर बताना मुश्किल है; जानकीबाई का कहना—"बचा दो बापू" कितना हृदय-विदारक था। माता जी का फूट-फूट कर रोना। बापू की सान्त्वना का क्या असर होता? माता का हृदय कैसे मान सकता था? आख़िर शवदाह के लिए लोग उन्हें उठा ले गये। सारी जनता साथ चली। मैं जा न सका। वहीं खड़ा रहा। याद नहीं, क्या सोचने लगा। केवल इतना ही जानता हूँ कि मुझसे साथ नहीं जाया गया और मैं स्तम्भित होकर वहीं खड़ा रहा। याद नहीं पड़ता, कितनी देर यों खड़ा रहा। फिर धीरे-धीरे मगनवाड़ी चला गया। वहां कोई भी नहीं था। केवल झवेर भाई की पत्नी थीं। खाना खाकर लेट गया। अकेले में सोचने लगा। सेठ जी

क्या थे, आज मालूम होता है। भारत ने किसे खोया? कांग्रेस का एक बड़ा स्तम्भ गिर गया और चर्खा संघ, ग्राम-उद्योग संघ का प्राण। सेठ जी बापू के रचनात्मक कार्यक्रम की जान थे। चर्खा संघ, ग्राम-उद्योग संघ तो चल निकला था। उन्होंने अब जीवन का अन्तिम कार्यक्रम गो-सेवा को बनाया था। इस योजना से भारत का सबसे आवश्यक और महत्व का अभाव पूरा हो जाता। काम व्यापक और कठिन था लेकिन सेठ जी की इच्छा शक्ति और मधुर व्यक्तित्व तथा साथ ही उनकी कर्म-कुशलता क्या न कर सकती थी? करीब २० साल पहिले उनसे परिचय हुआ था। फिर घनिष्ठता भी हुई। साथ काम किया। आश्रम वालों से वे कितना स्नेह रखते थे। मतभेद भी होता था, झगड़ा भी होता था लेकिन श्रद्धा की कमी कभी न हुई। ऐसा ही व्यक्तित्व था उनका!

मैं अकेले पड़ा-पड़ा सोचता रहा। क्या बताऊँ अगर मगनवाड़ी न जाकर सीधे बजाजवाड़ी चला जाता तो शायद मुलाकात हो जाती। आखिरी वक्त तो सामने होता। शायद गो-सेवा की कुछ बातें वे कह जाते लेकिन भविष्य कुछ दूसरा ही था। आखिरी वक्त की यही बात रह-रह कर याद आती थी—"तुमसे बहुत बातें करनी हैं। तुम्हारे प्रान्त में गोसेवा का कितना काम हो सकता है।" उसके बाद थोड़े ही दिन बाहर काम कर सका था लेकिन जब जब गोपालन की बात होती है सेठ जी याद आ जाते हैं। मगहर में गोरखपुर, बस्ती के लोगों से जब मैंने अपनी ग्रामोत्थान योजना के वास्ते १०० बीघा जमीन माँगी तो वहाँ के लोगों ने एक ५०० बीघा का जंगल रामनगर के पास दिखाया। जमीन देखते ही मैंने कहा—"सेठ जी होते तो मैं इसे ले लेता और गोपालन का प्रयोग करता।"

आज सेठ जी नहीं हैं लेकिन उनका गोसेवा संघ है। और उनकी अधिष्ठात्री देवी जानकीबाई हैं। हमको गाँव की प्रधान आवश्यकता के नाते और जमनालाल जी की यादगार में भी गोपालन का

व्यापक काम करना है। लेकिन आज उस विषय पर मैं अधिक लिख न सकूंगा। तबियत भी भर गई और कलम नहीं चलती है। आज यहीं खतम करता हूं। सबको नमस्कार। बच्ची को याद दिलाना। पता नहीं उसको याद है या नहीं। उसे बहुत बहुत प्यार।

---

[५]

गोपालन

५ मार्च, १९४४

पिछले पत्र में ग्राम सेवा के कार्यक्रमों की चर्चा करते हुए गोपालन पर पहुंचा था। इस सिलसिले में सेठ जी की बात याद आना स्वाभाविक ही था। उनके निर्वाण दिवस की कहानी कहकर पत्र समाप्त किया था। मैंने कहा था कि खेती और बागबानी के कार्यक्रमों के साथ गोपालन का काम स्वतः आ जाता है। हमारे देश में खेती का सारा काम गो जाति पर निर्भर करता है। अगर आवश्यकता के अनुसार ही अपनी योजना बनाना सम्भव होता तो मैं सबसे पहले गोपालन का ही काम लेता। अन्न मनुष्य की बुनियादी आवश्यकता है और बैल उस अन्न को पैदा करने का साधन। अतः हमारे देश के जीवन की जड़ बैल ही हैं। इसीलिए तो गो जाति को माता कहा गया है। इसकी रक्षा और पालन के लिए भारत के सपूतों ने क्या क्या त्याग नहीं किया। इसीलिए कि वे आत्म-रक्षा का उपाय गोरक्षा समझते थे।

प्राचीन काल में गो-सेवा

यहां धन गोधन ही से नापा जाता था। कौन कितना धनी है, जानने के लिए यह देखा जाता था कि उसके पास कितना गोधन है। दुर्योधन विराट् राज्य से गोधन ही उठा लाया था। जब गोधन की इतनी मर्यादा थी तो स्वभावतः गोपालन के प्रति हमारे यहां पर्याप्त ध्यान था। प्राचीन मौर्यकाल में तो इसके लिए राज्य की तरफ से खास महकमा था। उसका काम था यह देखना

कि कहाँ कितने गाय-बैल हैं। उनके लिए कितने चारागाह चाहिए, उन्हें कितनी खुराक चाहिए, किसान उसी हिसाब से खुराक देता है या नहीं। यहां तक निश्चित कर दिया जाता था कि एक चराने वाले के जिम्मे कितने जानवर रहेंगे। गोपालन के विशेषज्ञों की एक जाति ही अलग थी। उनका काम था कि घूम-घूमकर जहाँ आबहवा, चारागाह आदि के लिए अनुकूल परिस्थिति हो वहां जाकर गोजाति की नस्ल सुधारें। और सुधरी हुई नस्ल को देहातों में पहुँचा आवें। लेकिन आज उनकी क्या दशा है, उसे शब्दों में वर्णन करना असम्भव है। तुमने भी तो इधर काफ़ी देहातों में दौरा किया। कहीं ऐसे भी गाय-बैल नज़र आये हैं जिनकी तमाम हड्डियां दूर से गिनी न जा सकें? देहातों में अच्छी गायें रहेंगी भी कहां से? अच्छे पिता-माता से ही तो अच्छी संतान होगी। अच्छी खुराक से ही न अच्छा शरीर बनेगा? माता पिता अच्छे हों तो कैसे? गांव तो गरीबी की चरम सीमा पर पहुँचे हुए हैं। अगर कहीं कभी अच्छी गाय इत्तिफाक से मिल भी जाती है तो उसे शहर के ग्वाले खरीद ले जाते हैं और बेरहमी से खून की आखिरी बूँद दूध के रूप में खींच लेकर जब दूध बन्द हो जाता है तो कसाई के हाथ बेच देते हैं। और फिर देहात से दूसरी गाय खरीद लाते हैं। मिलिटरी डेरी वाले भी अच्छी गाय छाँट और खरीद कर विदेशी सांड़ से मिश्रित करके उसे नष्ट कर देते हैं। क्योंकि विदेशी सांड़ के व्यवहार से एक दो बार ही अच्छा

अच्छे नस्ल की गायों का अभाव

दूध मिल सकता है। फिर बीमार पड़कर देशी गाय खराब हो जाती है। इस तरह लगातार जब शहर वाले और मिलिटरी वाले गांव की चुनी हुई अच्छी गायों को बाहर भेजते जायँगे तो जो रद्दी किस्म की गायें बाकी बच जाती हैं उन्हीं से न गाँव की गायों की नस्ल बनेगी? और खुराक? इस विषय पर कहना ही क्या है? गांव के जानवर एक तरह से उपवास ही करते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। जहाँ

आदमी भूखों मर रहे हैं वहां जानवर को कौन खाना देगा ? बँगला में एक कहावत है "चाचा आपन वांचा ।" यह अक्षरशः सत्य है । दुनिया में अपना पेट भर कर ही लोग दूसरों की ओर देख सकते हैं । बंगाल का हाल आज कल अखबारों मे निकलता है । कितनी करुण कहानी है । माता-पिता भूख के मारे सन्तान वेचने निकलते हैं । स्नेह, प्रेम आदि की बात भूख के आगे सब स्वाहा हो जाती है । अतः ग्राम-सुधार का चाहे जितना प्रचार करें आज की स्थिति में जानवरों को खाने को मिलना कठिन है । आबादी इतनी घनी होती जा रही है कि अनाज बोने के लिए जमीन नहीं मिलती । फिर चरी के लिए परती कहां से छूट सकती है ? आजकल वैज्ञानिक युग में आंकड़ों को देख कर स्थिति को समझने का रिवाज हो गया है । अतः प्रान्तों के चरागाह के अंकों पर एक बार नज़र डाल लो । नीचे-लिखे हिसाब से किस प्रान्त के जानवरों के लिए चारे की भूमि कितनी है इसका अंदाज मिल जायगा ।

प्रान्त	जानवर लाख में	भूमि एकड़ लाख में	चरागाह प्रति जानवर
आसाम	१००	२४२	२'४०
बंगाल	१०८	३३	.३०
बिहार उड़ीसा	८८	५६	.६३
बम्बई	३८	३३	.८७
मध्यप्रांत	५६	१०७	१.६०
मद्रास	७५	७६	१'००५
पंजाब	६०	६२	१'००३
युक्तप्रान्त	६१	५२	.५८

ऊपर के आंकड़ों से मालूम होगा कि हमारे यहाँ चरने के लिए कितनी वन-भूमि है । इन अंकों से भी ठीक पता नहीं चलेगा क्योंकि हिसाब में तो औसत भूमि का ही ब्योरा बताया गया है । लेकिन

वस्तुतः इतनी भी भूमि चरने के लिए नहीं है । इस वात को भी थोड़ा समझ लेना चाहिए कि चरागाह के लिए भूमि प्रधानतः जंगली क्षेत्र में ही होती है । और तुम्हें मालूम ही है कि सरकार की कृपा से उन में वहुत से क्षेत्रों में लोगों को जानवर चराने का हक हासिल ही नहीं है । इस तरह अगर सही स्थिति का विचारपूर्वक अंदाज किया जाय तो अधिकांश मवेशियों को बिना चरागाहों के ही गुजर करनी पड़ती होगी ।

चरागाह की ऐसी स्थिति के कारण हमारे अधिकांश जानवरों को इतने चारे से ही जीवन धारण करना पड़ता है जितना उनके मालिक किसान अपनी खेती से वचाकर उनके लिए खाद्य सामग्री वोते हैं ।

चारे की कमी

लेकिन जैसा कि अभी मैंने कहा है किसान जव खुद भूखों मरते हैं तो जानवरों कि लिए कहाँ तक पैदा करें । वे उनकी चरी के लिए उतना ही छोड़ते हैं जिससे कम में उनका प्राण वचना असम्भव होता है । वल्कि कुछ प्रान्तों में प्राण धारण के लिए जितनी चाहिए उतनी जमीन भी उनकी चरी के लिए नहीं छोड़ी जाती है । और यह स्थिति आवादी वढ़ने के साथ-साथ दिन व दिन और भयंकर हो रही है । यहाँ अनाज की पैदावार भी इस प्रकार की है कि उनसे जानवरों को खाने के लिए कुछ विशेष नहीं मिलता है । वस्तुतः अव ऐसी परिस्थिति आ गई है कि जव तक हम अपनी खाद्य सामग्री के लिए ऐसे अनाज न पैदा करें जो वाजरा की तरह अनाज और चरी दोनों के काम आ सके तव-तक हमारे पशुओं का वचाना संभव नहीं होगा । यही कारण है कि हमारे यहाँ गाय-बैलों की मृत्यु-संख्या वहुत अधिक है । अभी थोड़े दिन पहिले सरकारी मारकेटिंग ' वोर्ड की चमड़ा-सम्वन्धी एक रिपोर्ट पढ़ रहा था । उसमें जानवरों की मृत्यु-संख्या का जो अनुपात बताया गया है उसको देखकर प्रत्येक भारतवासी को चिंतित होना चाहिए कि कितनी विराट आर्थिक हानि हो रही है । तुम्हारी जानकारी

के लिए मैं नीचे अंक दे रहा हूँ।

प्रान्त	कुल गाय बैल (लाख)	सालाना मुर्दार चमड़ा (लाख)
पंजाब	६७.६	५.२
मद्रास	१७७.६	३०.१
मध्यप्रान्त	११६.५	१२.२
युक्तप्रान्त	२३७.७	११.२
विहार	१३६.४	१२.४
उड़ीसा	४४.८	४.०
बंगाल	२५८.३	२४.६
आसाम	५४.५	३.८
बम्बई	८४.८	६.०२

इसके उपरान्त प्रायः जव जानवर मरने के करीब हो जाते हैं तो कसाई को वेच दिये जाते हैं। ऊपर के अंकों से मालूम होगा कि हमारे प्रान्तों में कितने जानवर मरते हैं। ये अंक भी चमड़े के बाज़ार की रिपोर्ट से लिये गये हैं। इसके अलावा कितने ऐसे मवेशियों की मृत्यु हो जाती है जिनका हिसाव बाज़ार के अंकों में आ ही नहीं पाता है। इन अंकों से यह भी साफ हो जाता है कि जिस प्रान्त में खुराक कम है उसी प्रान्त की मृत्यु-संख्या का अनुपात अधिक है। और प्रान्तों का पूरा हाल तो मैं जानता नहीं लेकिन युक्तप्रान्त के पूर्वी ज़िलों का हाल तो मैं देखता ही रहता हूँ। देहातों में घूमने से चरी के खेत मुश्किल से दिखाई देंगे। अच्छे किस्म की चरी तो इधर वोते ही नहीं। दाना खली तो नहीं के बराबर देते हैं। कितना चारा बोते हैं इसका अंदाज़ इधर के तीन ज़िलों की औसत से मिलेगा।

गोंडा १.५ % जमीन
वस्ती १.६ % जमीन
गोरखपुर १.० % जमीन

} इस हिसाव से औसत १०० जानवर के खाने के लिए ५.२४ एकड़ ज़मीन पड़ती है।

इसी से तुम मालूम कर सकती हो कि हमारी गायों को खाने को कितना मिलता है।

अतः गाँव में जब अच्छी गाय रह ही न जाती हों और जो रह भी जाती हों पर उनको खाने को न मिलता हो तो हम अच्छी नस्ल की गायें और बैल कहाँ से पावेंगे ?

इन्हीं सब कारणों से मैं कह रहा था कि अगर सिर्फ आवश्यकता के महत्व पर ही योजना बनानी होती तो मैं सब से पहले गोपालन को ही लेता। लेकिन मैंने लगभग सबसे बाद में ही गोपालन के कार्यक्रम को शुरू करने की सलाह दी है। इसका भी ख़ास कारण यह है कि गोपालन केवल सहयोग-समिति द्वारा ही सम्मिलित ढंग से चल सकता है। इसके लिए चारा आदि की व्यवस्था, नस्ल की उन्नति, दूध, बैल, चमड़ा आदि के बाजार आदि के लिए उन्नत ढंग के संघटन की आवश्यकता है। चर्खा, उद्योग, शिक्षा व संस्कृति, कृषि व बाग़बानी आदि कार्यक्रम उचित ढंग से ४-५ साल चलाने के बाद गाँव के संघटन की स्थिति ऐसी होगी कि हम गोपालन का काम सफलता के साथ चला सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि जब तक गाँव में इस किस्म का संघटन कायम न हो तब तक हम हाथ पर हाथ धर कर बैठ जायँ। आख़िर जहाँ भी हमारे कार्य-कर्ता रहते हैं वहाँ ख़ुद कुछ दूध घी खाते ही हैं; उतनी ही खरीद के लिए ऐसे आदमी ठीक करना चाहिए जो हमारे बताये मुताबिक गोपालन के लिए तैयार हों। इससे उसके फायदों को देख कर दूसरों को भी शिक्षा मिल सकती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि हम कैसे गाय-बैलों की नस्ल का प्रसार करें। हमारे यहाँ गो जाति की दोहरी उपयोगिता है:—१—दूध २—खेती।

दूध के लिए गोपालन मुख्यतः शहरों में और देहात के धनी कहलाने वाले घरों में ही होता है। गांव में दूध के लिए इसकी कोई कीमत नहीं

है। मैं जहां-जहां भी गया हूं दूध के लिए भैंस पालने का ही रिवाज पाता हूं। ग्रामीण जनता को दूध पीने का तो मौका मिलता ही नहीं, न वे पीने की हैसियत ही रखते हैं। अतः उनको दूध की आवश्यकता घी बेचने के लिए ही होती है। भैंस के दूध में घी अधिक होता है इसलिए वे भैंस पालना ही पसन्द करते हैं। वे गाय पालते अवश्य हैं। लेकिन सिर्फ बैलों के लिए। नतीजा यह होता है कि जब बछड़ा पैदा होता है तो वे गाय को कुछ खिलाते भी हैं और दूध न दुह कर बछड़े के लिए छोड़ देते हैं ताकि बैल उन्हें मिल सकें। आज हमारी ग्रामीण जनता के लिए दूरदर्शी होना असम्भव है इसलिए जब बछिया पैदा होती है तो वे न गाय को ही ठीक से खिलाते हैं और न बछिया के लिए दूध ही छोड़ते हैं। स्वल्पाहार के कारण वैसे ही गाय दूध कम देती है। उसे भी किसान दुह लेता है जिससे कभी अबेर सबेर उसके बच्चे दूध की शक्ल देख लें। वे ऐसा इसलिए करते हैं कि बछिया से उनको कोई दिलचस्पी नहीं। फिर जितने दिन गाय दूध नहीं देती उतने दिन तो ईश्वर ही उसे बचाता है। नतीजा यह होता है कि दिन ब दिन हमारी गायों की हालत खराब ही होती जाती है। आखिर जो बछड़े पैदा होंगे वह इन्हीं गौओं से ही न होंगे? फलतः किसान दोनों से हाथ धो बैठते हैं; न दूध मिलता है, न अच्छे बैल। तुम कह सकती हो दूध भैंस से मिल ही जाता है। लेकिन जरा यह तो बताओ कि तुम्हारे देश में कितने किसान ऐसे हैं जो भैंस और गाय दोनों पाल सकते हैं। जो थोड़े लोग पाल भी लेते हैं तो उन्हें गायों की बछियों और भैंसों के बच्चों को मार ही डालना पड़ता है क्योंकि जिनकी उपयोगिता नहीं उन्हें बैठे कौन खिलायेगा? इस प्रकार हमारी ग्रामीण आर्थिक स्थिति में कितनी भारी हानि होती है। अगर थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि किसान भैंस और गाय दोनों रख सकता है, फिर भी गाय की तात्कालिक उपयोगिता न रहने से

दूध के लिए गोपालन प्रथा का ह्रास

निःसन्देह लोग उसकी उपेक्षा करेंगे और खेती के लिए जो बैल मिलेंगे वे सब इन्हीं उपेक्षिता गौओं की सन्तान होंगे। अतः अच्छे बैल पाने की समस्या जहां की तहां रह जाती है।

अतएव गोपालन की किसी प्रकार की योजना बनाने से पहले यह तय कर लेना होगा कि हमें किस हेतु गोपालन करना है। गांव की उपर्युक्त स्थिति पर विचार करने से यह साफ हो जाता है कि हमें दूध और खेती की आवश्यकताओं को देखने से काम न चलेगा। अगर दूध के लिए भैंस पाल कर खेती के लिए गाय पालेंगे तो कभी हमारा उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। आज कल केन्द्रीय असेम्बली में दूध देने वाले जानवरों की हत्या बन्द करने का कानून बनाने की बात चल रही है। ऐसा कानून बनाकर असेम्बली के सदस्य दया और उदारता का ही काम करेंगे। लेकिन ज़रा गौर से सोचो तो सही जब गौओं की हत्या कानूनन बन्द हो जायगी तो हमारे गोरक्षक हिन्दू किसान भाइयों की क्या दशा होगी। आज तो फालतू गौओं को हत्यारे के हाथ बेंच कर धर्म के साथ आँख मिचौनी खेल कर बेकार गौओं को बैठाये खिलाने से अपनी जान छुड़ा भी लेते हैं। लेकिन कानून से जब उनकी धर्म-रक्षा पूरी हो जायगी तो उन पर जो बोझ आ पड़ेगा उससे उनकी प्राण-रक्षा कौन करेगा।

गोदुग्ध के प्रचार की ज़रूरत

अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम दूध के लिए भी गोपालन का प्रचार करें। ऐसा करने से हमारा ध्यान गौओं की उचित सेवा की ओर जायगा जिसके परिणाम स्वरूप से अच्छे बैल मिलते रहेंगे। हमारी योजना में चेष्टा होनी चाहिए कि हम ऐसी नस्ल की गाय पैदा करें जिसकी सन्तान दोनों कामों के लिए उपयोगी हो। यह तभी हो सकेगा जब हम गाय के दूध की ओर अधिक ध्यान दें और भैंस का पालना घटाते चलें और आखिर भैंसों की संख्या नाम मात्र रह जाय। इधर बापू ने गाय के घी और दूध के सेवन का ज़ोरों से प्रचार करना शुरू

किया था तो हमारे बहुत से मित्र उसे हिन्दूपन समझते थे। वे अगर हमारे देहातों की स्थिति का अध्ययन करें और ज़रा हिसाब से सोचने की चेष्टा करे तो उन्हें मालूम हो जायगा कि बापू गाय के घी और दूध का महत्व बढ़ाने के लिए इतनी कोशिश क्यों कर रहे हैं।

दुःख की बात यह है कि हमने अपना दिमाग़ विलायत वालों के हाथ बेंच दिया है। हमारे वैज्ञानिक विशेषज्ञ लोग भी, जो सरकारी महकमो में काम करते हैं, अपने सारे प्रयोग की भित्ति विलायती प्रयोगों की नकल के आधार पर रखते हैं। वे हमारे देहात की परिस्थिति और समस्याओं का ख्याल नहीं करते और अपने तरीके का प्रचार करते हैं। आज किसी भी पढ़े-लिखे मित्र से बात करो तो वह झट कहेंगे कि "गो जाति की नस्ल सुधारो।" "नस्ल सुधारो" तो एक प्रकार का नारा हो गया है। और यह नस्ल कैसे सुधारी जाय? अच्छे साँड़ गाँव-गाँव छोड़ कर। खास कर जब लार्ड लिनलिथगो ने कह दिया है तो कहना ही क्या? चारों तरफ से आवाज़ उठ रही है—"अच्छे साँड़ की व्यवस्था करो।" जब गैर-सरकारी शिक्षित जनों की यह दशा है तो सरकारी महकमा के लोगों की बात क्या कहें। उनके लिए दूसरी बात सोचना अधर्म सा हो गया है। कुछ दिन इस

नस्ल सुधारने की समस्या

बात की धूम रही कि विलायती स्थूलकाय साँड़ मँगाये जायँ। लेकिन इसका प्रचार करने वाले यह नहीं देखते कि विलायती साँड़ से देशी गौओं की जो सन्तान होती है वह २-१ बार अच्छा दूध देकर फिर बेकार हो जाती है। और उसके पैदा हुए बैल तो काम ही नहीं कर पाते हैं। जो लोग विलायती तरीके से हमारी समस्या हल करना चाहते हैं वे भूल जाते हैं कि हमारी आवश्यकता और उनकी आवश्यकता एक नहीं है। उनको चाहिए दूध और मक्खन और हमको चाहिए दूध और हल चलाने के लिए मज़बूत और गाड़ी के लिए तेज़ बैल। अतः जहां उनको स्थूलकाय गाय-बैल की आवश्यकता है

वहां हमको चाहिए कि गाय काफ़ी दूध दे और बैल मध्यम और पुष्ट शरीर वाले मज़बूत हों। हमारी और उनकी समस्या में एक भेद और है। युरोप और अमेरिका उद्योग-प्रधान देश हो गये हैं। कृषि का अब उनके यहां विशेष महत्व नहीं रह गया है। जहां हमारे यहां ७५% आबादी जमीन पर गुजर करती है वहां इंगलैंड में खेती पर भरोसा करने वाली आबादी केवल साढ़े ग्यारह प्रतिशत है अतः वे मवेशियों की खूराक पैदा करने के लिए काफी जमीन छोड़ सकते हैं। वे उनके चरने के लिए परती भी छोड़ सकते हैं। और हमारे यहाँ कितनी ज़मीन उनके हिस्से पड़ती है, इसे तुमने देख ही लिया है। इसलिए हमारे यहां के जानवर ऐसे होने चाहिए जो कम ज़मीन से भी अपनी पुष्टि कर सकें। अतः आज-कल जो धूम का प्रचार हो रहा है कि कहीं से भी अच्छे सांड़ों को उन इलाकों में भेजा जाय जिधर की गायें कमज़ोर और छोटी हों, यह कुछ ग़लत दिशा की चेष्टा है। वास्तव में नस्ल सुधारना तो दूर रहा उतने बड़े सांड़ यहां की गायों के काम के ही नहीं थे। फिर मान लो, काम के हों भी लेकिन जब उस सांड़ की पैदा की हुई बड़े डील-डौल वाली सन्तान भूखी रह गई तो ताक़त कहां से लावेगी। अतः अगर गाय बैलों की हालत सुधारनी है तो हमको समस्या की जड़ से सुधार शुरू करना चाहिए। हमको देहात की असली स्थिति को समझ कर ही समस्याओं का हल निकालना चाहिए। हमेशा सांड़ बाहर से आवें और गाय हमेशा भूखी, कमज़ोर और छटनी वाली हो तो अनन्त काल तक उन्नति नहीं हो सकती। नस्ल तभी सुधर सकती है जब सांड़ और बैल उत्तरोत्तर अच्छे होते जायँ। गाय अच्छी तभी रह सकती है जब देहाती लोगों की प्रवृत्ति गो सेवा की ओर हो। गो सेवा की प्रवृत्ति पैदा करने के लिए गाय के दूध के प्रति किसानों की दिलचस्पी होनी चाहिए और यह दिलचस्पी तभी हो सकती है जब गाय के दूध और घी का बाज़ार हो। केवल गो माता कह कर सेवा-वृत्ति नहीं जगाई

जा सकती। गो माता का संस्कार तो हिन्दुओं का कल्पित संस्कार है और उस संस्कार को समाज-हित और रक्षा के लिए हम सिर्फ परम्परा से भोगते आये हैं। लेकिन जो हमारी असली माता है, जो हमारी कर्मधारिणी है वह मां जब बूढ़ी हो जाती है तो हम तभी उसकी सेवा करते हैं जब उसके पास कुछ जेवर हो, कुछ रक़म हो। धन से रहित माताओं की क्या-क्या दुर्दशा होती है यह तुम देखती ही हो। फिर यह कैसे उम्मीद की जा सकती है कि केवल गो माता की भावना ही लोगों को गो सेवा के प्रति प्रेरित करेगी। अतः गो जाति की उन्नति के लिए सबसे पहला काम यह होना चाहिए कि हमारी गो माता के पास जेवर हो, रक़म हो, अर्थात् आवश्यकता इस बात की है कि जो गो माता की सेवा करना चाहते हैं उनको अपनी गाय का दूध बेंच कर पैसा मिले। जो लोग चाहते हैं कि भारत के सात लाख गांवों की दुर्दशा दूर हो, जो चाहते हैं कि हमारी खेती की उन्नति हो, जो चाहते हैं कि गोजाति की नस्ल सुधरें, जो चाहते हैं कि गौवों की हत्या न होने पाये, जो आज असेम्बली में दूध देने वाले ज़ानवरों की हत्या न होने देने का प्रस्ताव लाते हैं वे गाय का दूध और घी इस्तेमाल करके उसकी मांग पैदा करें। हमारे देश में बहुत से अमीर भाई हिन्दुत्व का ख्याल करके पिंजरापोल खुलवाते हैं; गोशालाओं में दान देते हैं। उनसे मेरा नम्र निवेदन है कि अगर वे पिंजरापोल न भी खुलवायें और भैंस के दूध और घी के बदले गाय का दूध और घी ही इस्तेमाल करें तो अधिक गो-सेवा कर सकेंगे। और ऐसा न करके हज़ार पिंजरापोल खोलने पर भी गोरक्षा की दिशा में इंच भर भी आगे नहीं बढ़ सकेंगे।

अतएव गोपालन के लिए हमारी जो योजना होगी उसके प्रधानतः दो हिस्से होंगेः—

१—गाय के दूध के उचित बाज़ार का संघटन।

२—योग्य मार्ग से नस्ल सुधारने की चेष्टा।

आज हमारे देश में दूध की उत्पत्ति औसत ५०० पौंड प्रति गाय और ७०० पौंड प्रति भैंस प्रति वर्ष है। यानी औसत एक गाय प्रति दिन ग्यारह छटाँक होता है। अगर वैज्ञानिक ढंग से गो-सेवा का प्रचार किया जाय तो इस औसत को काफ़ी बढ़ाया जा सकता है। फ़ीरोज़पुर को एक साहिवाल गाय साल में ७००० पौंड यानी प्रति दिन औसत नौ सेर नौ छटाँक दूध देती थी। अगर यह माना जाय कि वह आधे समय ही दूध देती थी तो दिन में दूध होता था १६ सेर के करीब। लेकिन यह एक ख़ास उदाहरण है। तुम्हारी सेवाग्राम की गोशाला के पारनेरकर भाई का कहना है कि थोड़ी चेष्टा करने से प्रति दिन एक गाय की औसत तीन साढ़े तीन सेर तक जा सकती है। इस सिलसिले में एक बात कह देना चाहता हूँ कि बहुत से विशेषज्ञों का यह अनुभव है कि गाय का औसत दूध जिस हिसाब से बढ़ाया जा सकता है उस हिसाब से भैंस का दूध नहीं बढ़ सकता है। पारनेरकर भाई से मेरी बात हुई थी। उनकी भी राय इसी क़िस्म की है।

दूध की पैदावार के साथ-साथ हमको गाय के दूध और घी की बिक्री की भी उसी प्रकार व्यवस्था करनी होगी, जिस तरह खादी की बिक्री की व्यवस्था की गई है। चर्खा संघ, ग्राम उद्योग संघ, तालीमी संघ के कार्यकर्त्ताओं को तथा अन्य सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं को, जो ग्राम-उत्थान से दिलचस्पी रखते हैं, ठीक उसी तरह केवल गाय का दूध और घी का ही व्यवहार करना चाहिए जिस तरह वे शुद्ध खादी के सिवाय दूसरा कपड़ा नहीं पहनते हैं। मैं समझता हूँ, गो-सेवा संघ इस दिशा में कुछ प्रगति कर पाया है।

अब रही नस्ल सुधारने की बात। इस विषय में ग्राम-सेवक को बड़ी सावधानी से काम करना होगा। अनाज का बीज एक साल बोने के बाद दूसरे साल बदला भी जा सकता है। लेकिन गाय की नस्ल एक दिशा में बदल जाने के बाद ग़लत मालूम पड़े तो आसानी से फिर से सुधारना सम्भव न होगा। विलायती सांड़ों का कतई प्रयोग

नहीं करना चाहिए। देशी साँड़ों को चुनने में भी इस बात का ध्यान रखना होगा कि वे स्थानीय गौओं के लिए उपयोगी होंगे या नहीं। फिर उससे जो बछड़े पैदा होंगे वे स्थानीय जलवायु तथा खूराक कहां तक बरदाश्त कर सकते हैं, इसको देखना होगा। इस दिशा में मेरी सलाह यह है कि ग्राम-सेवक साँड़ों के लिए इधर-उधर निगाह न दौड़ाकर जिस ज़िले में काम करते हैं उसी ज़िले में अच्छे साँड़ों की खोज करें। मैंने देखा है, सभी क्षेत्रों के गाँवों में एकाध अच्छी गाय और बछड़े दिखाई देते हैं। हमारा काम होगा उचित संघटन से अच्छी गौओं को गाँव से बाहर जाने से रोकना और अच्छे साँड़ों को अच्छी गायों के साथ संयुक्त करना। स्थानीय गाय-बैल-साँड़ उस स्थान पर रहने के आदी हो गये हैं अतः अगर हम ठीक से खूराक प्राप्त करने का संघटन कर सकें और अच्छी गाय और बैल की छँटनी करने का कार्यक्रम चलाते रहें तो कुछ दिन में नस्ल की काफ़ी उन्नति हो सकेगी। अगर हम स्थानीय नस्ल की छँटनी का प्रयोग सही तरीक़े से, वैज्ञानिक ढंग से, करें तो हमको दूध वाली गाय और जोतने के लिए मजबूत बैल मिल जायँगे। इसके लिए सरकारी विशेषज्ञों से भी हम परामर्श करेंगे। सिर्फ हमारा दृष्टिकोण और हेतु भिन्न होगा। सरकारी विशेषज्ञों के अलावा देहातों में उन जातियों में, जिनका पेशा प्राचीन काल से गोपालन रहा है, बहुत से प्रवीण लोग ऐसे मिलेंगे जो किसी विशेषज्ञ से कम नहीं हैं। बल्कि वे हमारे देहातों की आज की परिस्थिति में अधिक सही सलाह दे सकेंगे। हमारे कार्यकर्त्ताओं को उनसे भी काफी मदद मिलेगी। यह सच है कि आज उन कंजर जातियों की संख्या बहुत कम है जो प्राचीन काल में गोजाति की नस्ल की हिफ़ाज़त करते थे। फिर भी अगर ढूंढ़ा जाय तो आज भी हमारी सलाह के लिए ऐसे लोग मिल सकते हैं। भारत की इस मरी हुई हालत में भी आज ऐसे लोग हैं जिनके गोपालन-सम्बन्धी ज्ञान की तारीफ विलायती विशेषज्ञ लोग भी करते हैं।

इस विषय पर रायल एग्रीकलचरल कमीशन क्या कहता है, देखो—
"अगर संयुक्तप्रान्त के पनवार, पंजाब के हरिआनो और साहिवाल, सिन्ध के थारपारकार, मध्यभारत के मालवी, गुजरात के कांकरेज़, काठियावाड़ के गीर, मध्यप्रान्त के गौवलव, मद्रास के अंगोलों के इतिहास की खोज की जाय तो मालूम होगा कि उनकी विशेषता के कारण वे पेशेवर जातियां हैं जो पहले भारत में आम तौर पर घूमा करती थीं लेकिन खेती की वृद्धि के साथ साथ जो अब गोपालन का काम छोड़ती जा रही हैं। ग्रामीण जनता में वे ही जातियां थीं जो गोपालन का अच्छा ज्ञान रखती थीं और गाय और सांड़ों को छांटने तथा उन्हें पालने की कला को वे इतनी अच्छी तरह जानती थीं कि ऊँची नस्ल के जानवर पैदा कर सकती थीं।" आज भी मैंने देखा है पंजावी बंजर जाति के लोग अच्छे किस्म के वैल हमारे प्रान्त में घूम घूम कर बेंचते हैं। हमारा काम होगा इन जातियों को अच्छी गाय पालने के लिए प्रोत्साहित करना और देहातों में ग्राम समितियों के द्वारा गोपालन का प्रसार करना। केवल वे ख़ास जातियाँ ही हमारी सहायक होंगी, यह बात भी नहीं। वल्कि सारी जनता हमको सिखाने का काम कर सकती है। वस्तुतः उसकी सहायता विना समस्या पूर्ण रूप से हम समझ भी नहीं सकते। हम चाहे जितने वैज्ञानिक ज्ञान के पंडित हों, चाहे जितने अनुभवी हों, हमारा दृष्टिकोण हमेशा एकरुखा ही रहता है। हम जो कुछ देखते हैं ऊपर-ऊपर से ही देख पाते हैं। तुम कहोगी जनता की दृष्टि भी तो एकरुखी है। वह भी तो सिर्फ नीचे ही नीचे देख पाती है। तुम्हारा कहना विल्कुल ठीक होगा। मैं इसे मानता हूँ। लेकिन ऊपर और नीचे दोनों ही तो रुख हैं। दोनों मिल कर ही तो पूर्ण स्वरूप होता है। अतः अगर हमको सम्पूर्ण दृष्टि से काम करना है तो जहाँ हम अपने ज्ञान से ग्रामवासी को सिखाने की चेष्टा करते हैं वहां हमको पद-पद पर उनके ज्ञान से सीखकर अपने ज्ञान को पूर्ण करने का यत्न करते रहना पड़ेगा। और मैं तो ऐसा

कहूँगा ही क्योंकि मैंने जो कुछ सीखा या समझा है सारा उन से ही न ?

मैं सभी विषयों पर थोड़ा थोड़ा लिखना चाहता था लेकिन गोपालन पर कुछ ज्यादा लिख गया। इसका कारण यह है कि जैसा मैंने अभी कहा है गाय हमारे सब सुधारों की बुनियाद है। मुझको कुछ ज्यादा कहना इसलिए भी पड़ा कि प्रथमतः आज का चालू ख्याल तोड़कर लोगों से भैंस का व्यवहार छुड़ाना है और दूसरे आज कल ग्राम सुधार के सिलसिले में गाय की नस्ल सुधारने की जो भी चेष्टा की जाती है वह सब गलत दिशा में हो रही है, इसको स्पष्ट करना है। तुम कह सकती हो कि जब देहात के सभी लोग जानते हैं कि भैंस के दूध में घी अधिक होता है इसलिए आर्थिक दृष्टि से भैंस ही फायदे की है तो उसके बदले में गाय पाल कर देहाती क्यों हानि उठाने जायँ। लेकिन आम तौर से जिस अर्थशास्त्र की बात लोग कहते हैं वह अहीरी अर्थशास्त्र है, ग्रामीण अर्थशास्त्र नहीं है। अहीर को तो तात्कालिक लाभ ही देखना है। गाँव की या खेती की हालत देखने की जरूरत ही क्या ? किसानों में भी न इतनी योग्यता है और न सब्र है कि वे दूरदर्शिता का हिसाब लगा सकें। सिर्फ कितना घी होता है वही जोड़ते हैं। लेकिन अगर यह जोड़ा जाय कि जितने भैंसे होते हैं उन्हें कुछ दिन बेकार खिलाकर नष्ट करने में कितना कितना खाद्य बेकार जाता है, गाय की जितनी बछिया होती है उनको नष्ट करने से पहले कितना खिलाना पड़ता है, गाय को ठीक से न पालने से जो घटिया बछड़ा पैदा होता है उसका दाम कितना कम मिलता है और इस तरह कमजोर बैलों के कारण हम को कितने अधिक बैल रखने पड़ते हैं और उनके लिए कितनी अधिक खूराक जुटाना पड़ती है तथा कमजोर बैल से जुताई ठीक न होने के कारण जमीन की पैदावार में कितनी कमी हो जाती है तो मालूम हो जायगा कि किस का पड़ता क्या है। केवल बैलों की घटिया तादाद के कारण कितना नुकसान होता है,

जानते हो? जहां १०० एकड़ जमीन के लिए केवल २० अच्छे बैलों की आवश्यकता होती है वहां आज हमारे यहां ३०।४० के करीब हैं। लेकिन देहाती जनता इतना हिसाब नहीं लगा सकती। अतः हमारा काम होगा कि उनको सब चीजों का केवल हिसाब ही न बतायें बल्कि उनके सामने कुछ उदाहरण रख कर कायल करें।

मैंने गोपालन के सिलसिले में इसलिए भी कुछ ज्यादा कहा है कि अपनी योजना की जिस स्थिति में मैंने गोपालन का कार्यक्रम शुरू करने की बात की है उस स्थिति में गांव की सहयोग-समितियाँ कुछ संघटित हुई रहेंगी। और दूसरे उद्योगों के रहने से उनकी आर्थिक स्थिति, सहयोग वृत्ति तथा योग्यता की उन्नति हुई रहेगी। ऐसी स्थिति में समितियां गोपालन का कुछ व्यापक परिमाण में काम करने में समर्थ भी होंगी।

गोपालन की एक योजना

इस प्रकार कुछ काम हो सकता है। समिति की ओर से पूँजी तथा अन्य साधन के हिसाब से कुछ अच्छी गायें लेकर सदस्यों को किस्त पर दी जायँ। क़िस्त की रकम वे दूध से पूरी कर सकेंगे। समिति की ओर से दूध का घी खोवा आदि बाज़ार के अनुसार सामान बनाकर बेंचना होगा। जब तक हम गोपालन का काम शुरू करेंगे तब तक विभिन्न ग्राम-समितियों-द्वारा तथा सदस्यों के परिवारों द्वारा चलाये भिन्न भिन्न उद्योगों के बाज़ार के लिए किसी किस्म की बिक्री-यूनियन का संघटन भी हुआ होगा। इन्हीं यूनियनों के द्वारा घी आदि की बिक्री की व्यवस्था करनी होगी। इस तरह मान लो कि २० गाँव की एक सर्किल सोसाइटी इस काम को शुरू करती है। और इस सोसाइटी के पास इतना साधन हो गया है कि वह २० गाय खरीद सकती है। २० गायों को २० सदस्यों को इस शर्त पर दिया जायगा कि वे अमुक दाम पर दूध देकर गाय का दाम पूरा कर दें। सदस्यों पर दूसरी शर्त यह होगी कि वे समिति के निर्देशानुसार इन गायों की सेवा करें। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक

होगा कि कुल गायों को एक ही गाँव में दिया जाय। इसमें कोई झगड़े की बात ही नहीं उठेगी क्योंकि सोसायटी की शर्त मान कर गौवों को लेने के लिए विभिन्न गाँव के लोगों में प्रतियोगिता होने की गुंजायश कम है। शुरू शुरू में किसी एक प्रगतिशील गाँव को तैयार करने में कुछ कठिनाई होगी। मैंने एक ही गाँव में कुल गौवों को देने की सलाह इसलिए दी है कि इससे हम कई समस्याओं का हल निकाल सकेंगे। और एक गाँव मे सब गौओं के रहे बिना सोसाइटी के निर्देशानुसार उनको पालने की शर्त पूरी होना सम्भव नहीं होगा। एक गांव में ही कुल गौओं को रखने के, मेरी समझ में, ये फायदे होंगे:—

१—गांव भर की गौवों के लिए समिति के ओर से चारा-दाना की व्यवस्था तथा बीमारों की देख-भाल आसानी से हो सकेगी।

२—सम्मिलित वायुमंडल होने से गांव के लोगों को गोपालन का वैज्ञानिक ज्ञान देने का ठीक प्रबन्ध किया जा सकता है।

३—उसी गांव की ग्राम-समिति की ओर से इन गौओं के बीच एक अच्छा सांड़ रखवाने का प्रबन्ध किया जा सकता है।

सर्किल सोसाइटी अपने यहां सिर्फ घी बनाने की व्यवस्था करके मक्खन निकालने के बाद जो दूध बचेगा उसे उन्हीं सदस्यों के हाथ बेंच देगी और घी की बिक्री का प्रबन्ध करेगी। इससे कम से कम मक्खन निकाला हुआ दूध तो सदस्यों के बच्चों को पीने के लिए मिल ही जायगा। इसके उनके स्वास्थ्य पर भी अच्छा असर होगा। मैंने संक्षेप में गांव में किस प्रकार से काम करना होगा, इसका संकेत किया। यह कोई ब्योरेवार योजना नही है। मैं पूरी योजना भी तो यहाँ बनाने के लिए नहीं बैठा हूँ। "हम किस तरीके से ग्राम-सुधार करें" इसका एक अन्दाज़ तुमको देने के लिए इन पत्रों को लिख रहा हूँ। इसके लिए जितना संकेत मैंने किया है उतना काफी होगा।

तुमको इस बात की परीशानी होती होगी कि इस बीच में ग्राम-

-समिति, सर्किल सोसाइटी के यूनियन की बात कहाँ से टपक पड़ी। मैंने पहले एक पत्र में लिखा था कि जब हम अपनी योजना की शुरुआत में चर्खे का काम आरम्भ करेंगे तभी से चर्खा समितियाँ कायम करके क्रमशः छोटी-छोटी ज़िम्मेदारियाँ उन पर डालेंगे। उस पत्र में यह भी लिखा था कि बाद को यही समितियाँ गांव के तमाम उद्योगों तथा सुधार-कार्य के लिए सहयोग-समितियों के रूप में परिणित होंगी। फिर इन्हीं के द्वारा सम्मिलित सोसाइटियाँ बन सकेंगी। लेकिन इन संघटनों की बाबत आज लिखना शुरू करूँगा तो पत्र बहुत बड़ा हो जायगा। अतः इनकी क्या रूप-रेखा होगी और उन्हें हम किस प्रकार और किस क्रम से संघटित कर सकेंगे, इत्यादि बातें आगे कभी लिखूंगा।

इस पत्र को समाप्त करने से पहले हमारे देहातों की एक परिस्थिति का ज़िक्र करना शायद लाभप्रद होगा। यद्यपि इस समस्या को हल करने की कोई संयोजित चेष्टा करना सरकारी मदद के बिना सम्भव नहीं फिर भी समस्या की जटिलता की बाबत हमारे ग्राम-सेवक जानकारी रखें तो अच्छा होगा। देहात के सम्बन्ध में जिसको ज़रा भी जानकारी है उसे मालूम है कि कमज़ोर बैल से बहुत कम खेत जोता जा सकता है। इस कारण हमको ज़रूरत से अधिक बैल रखने पड़ते हैं। इसलिए हमारे यहाँ प्रति जानवर थोड़ा चरागाह और थोड़ी ज़मीन दाना के लिए पड़ती है। इस समस्या का हल मैंने बताया है कि हमको अच्छे बैलों का प्रबन्ध करके घटिया बैलों की तादाद घटाना चाहिए। शाही कृषि-कमीशन का भी कहना है कि भारतीयों को खेत के बैलों की संख्या घटाकर उनकी कार्यशक्ति बढ़ाने की चेष्टा करनी ही होगी। लेकिन ऊपर से देखने से यह समस्या जितनी आसान मालूम पड़ती है वास्तव में उतनी आसान नहीं है। तुमको तो मालूम ही है कि हमारे यहाँ खेती पर कितनी घनी आबादी गुज़र करती है। इसका नतीजा यह हुआ है कि ठीक से गुज़ारा करने के लिए किसी के पास काफ़ी खेत नहीं हैं। ख़ास तौर से हमारे प्रान्त की स्थिति तो

अजीब है। एक किसान के हिस्से में २॥ एकड़ ज़मीन भी मुश्किल से पड़ती है। इस कारण भी किसान को अच्छे बैलों से दिलचस्पी नहीं है। जिनके पास अधिक खेत हैं उनकी तादद ही कितनी है? भारत की प्राचीन सम्मिलित परिवार की प्रथा भी तो अब रह नहीं गई। अब तो दो भाई एक में नहीं रहते। अतः खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े अलग-अलग मालिकों के अधीन हो गये हैं। सहयोग की कोई भावना है ही नहीं। ऐसी हालत में प्रत्येक किसान को अपने अलग-अलग बैल की व्यवस्था करनी पड़ती है। इससे बैलों की तादाद अनिवार्यतः बढ़ गई है। फिर थोड़ी ज़मीन के लिए छोटे कमज़ोर बैल काफ़ी होते हैं। और कम खूराक वाले होते हैं। हमारे छोटे किसानों को वैसे बैल ही फायदे के पड़ते हैं। ऐसी हालत में शाही कमीशन के साथ सुर मिलाकर यह कह देने से कैसे काम चलेगा कि भारत को बैलों की तादाद घटाकर कार्यशक्ति बढ़ानी चाहिए। जब किसान के पास काम ही नहीं है तो कार्यशक्ति बढ़ाकर क्या फायदा होगा। और जब छोटे-छोटे स्वतंत्र किसानों की तादाद इतनी अधिक है तो बैलों की तादाद कम करने से उनका बँटवारा किस प्रकार होगा। अतः अगर वस्तु स्थिति पर विचार किया जाय तो हमारे गांव में बैलों की उन्नति की या तादाद घटाने की गुंजाइश कहाँ? तुम कहोगी "जिस किसान के पास ज़मीन कम है उसकी बात तो मैं समझ सकती हूँ लेकिन जिनके पास ज्यादा ज़मीन है वे क्यों छोटे बैल रखते हैं। २ जोड़े छोटे बैल के बजाय १ जोड़े बड़े बैल क्यों नहीं रखते हैं?" तुम्हारा ऐसा सोचना ठीक है। लेकिन समुद्र के बीच तो सब ही खारा पानी मिलेगा न? वहां मीठा पानी एक घड़ा भी चाहोगी तो नहीं मिलेगा। यह तो तुमको मालूम ही है तुम जिन बड़े किसानों की बात करती हो वैसे किसान १००।२०० किसानों के बीच कहीं एकाध मिलेंगे। वे सिर्फ अपने लिए एक-दो जोड़े अच्छे बैल पैदा करने की अलग व्यवस्था थोड़े ही रख सकते हैं? उनको तो जानवर की जो आबादी मौजूद है उसी में अपने

काम के बैलों को छांटना पड़ेगा फिर आदमी जिस वायुमंडल में रहता है उसका दृष्टिकोण भी वैसा ही हो जाता है। कंगालों की बस्ती में किसी के पास २।४ पैसे हो जायँ तो वह अपने को कुबेर का सगा भाई ही समझने लगता है। जहां सारी आबादी में बकरे-जैसे बैल ही दीख पड़ते हैं वहां किन्हीं एक दो के पास थोड़े भी मोटे-ताजे बैल हो जाते हैं तो वह समझता है कि इससे बेहतर बैल ब्रह्मांड में कहीं नहीं मिल सकते। कहीं इत्तिफाक़ से किसी किसान के घर पर कुछ पढ़े- लिखे लोग गये वा बाहरी दुनिया की हवा खा आये तो कभी कभी अपनी खेती के लिए बड़े-बड़े बैल लाते जरूर हैं। लेकिन उनको काफ़ी मुसीबत उठानी पड़ती है। कभी कोई बैल बीमार पड़ा या मर गया तो सारे क्षेत्र में जोड़ा मिलाना मुश्किल हो जाता है। अतः जो समझदार भी हैं वे भी स्थानीय अच्छे बैलों से बढ़कर बड़े बैल लाने में घबड़ाते हैं। इतना तो मैंने परिस्थिति को समझाने के लिए लिखा। बड़े किसानों की स्थिति आम स्थिति नहीं है। साधारण स्थिति तो वही है जो पहले बताई गई।

कार्यकर्त्ता जब गोपालन के कार्य को आरम्भ करेगा तो स्वभावतः उसको उल्लिखित परिस्थिति दीख पड़ेगी। ऐसी हालत में वह परीशान हो जायगा। सोचेगा कि फिर गोजाति की नस्ल सुधारने में क्या लाभ? जब कोई उपयोगिता ही नहीं है तो ऐसा कार्यक्रम बेकार क्यों चलाया जाय? या समस्या का समाधान करने के लिए जिन कारणों से परि-स्थिति ऐसी जटिल हो गई है उन कारणों को हटाने के चक्कर में क्यों न पड़ा जाय? लेकिन वे लाख कोशिश करें, जमीन जितनी है उतनी ही रहेगी और आबादी घटने के बजाय बढ़ती ही जायगी। हमारे देहातों के बैलों की तादाद घटाकर कार्य शक्ति बढ़ाना तभी सम्भव होगा जब कम से कम उतनी खेती सम्मिलित व्यवस्था में हो जितनी एक जोड़ा उन्नत बैल को पूरा काम देने के लिए काफी हो। यह तभी हो सकेगा जब गाँव में सम्मिलित खेती का प्रबन्ध किया जा सके लेकिन

इस काम के लिए आज हमारे पास कोई शक्ति नहीं है। इस किस्म का कार्यक्रम तो वही सरकार उठा सकती है जो जनता के प्रतिनिधियों द्वारा संचालित हो, जो कानून-द्वारा खेत जोतने वालों को बराबरी की हैसियत से आपस में सहयोग करने के लिए अपनी अपनी ज़मीन का मालिक बना दे। आज की ज़मींदारी प्रथा के अन्तर्गत किसान को अपनी जमीन का चाहे जिस तरह बँटवारा करने का हक़ ही कहाँ? हमारी संस्थाएँ तो उतना ही काम कर सकती हैं जितने के लिए उन में शक्ति है।

फिर भी मैंने अपनी संस्थाओं-द्वारा चलाई ग्राम-सुधार योजना में गोपालन के काम को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। समाधान करने की शक्ति या साधन हमारे पास नहीं है, इसका मतलब यह नहीं होता कि देश के सामने समस्या ही नहीं है। समस्या तो है ही; उसका हल भी निकालना ही होगा। हम लोग अपने साधन से जिस परिमाण में काम कर सकते हैं उससे गांव की विभिन्न समस्याओं का हल नहीं होता है। जो कुछ करते हैं वह प्रयोग मात्र है। हम अपने प्रयोग से केवल देश की विभिन्न समस्याओं को सुलझाने का रास्ता ढूँढ़ निकलते हैं, जिससे जब जिसे जरूरत हो वह उस रास्ते से आगे बढ़ सके। हमारी गोपालन-योजना भी उसी प्रयास का प्रयोग मात्र है। हमारे संघटन के अन्तर्गत जितना काम होगा उससे अगर उन थोड़े बड़े किसानों की समस्या कुछ हल हो जाय तथा ग्रामीण जनता की व्यावहारिक शिक्षा तथा सही रास्ते की ओर दृष्टि हो जाय तो वह अपनी सफलता के लिए काफी अच्छा नतीजा होगा। अतः हमारे कार्यकर्त्ताओं को समस्याओं की विशालता और जटिलता से न घबड़ाकर जो रास्ता सही है उसी दिशा में प्रयोग करना होगा।

गोपालन के कार्यक्रम के साथ-साथ हमारे सामने मृत जानवरों का प्रबन्ध करने का काम स्वतः आ जाता है। पहले ही एक पत्र में मैंने लिखा था कि हम उद्योग का क्रम ऐसा रखें जिससे एक दूसरे से

मृत पशुओं के चमड़े का उपयोग

सम्बन्धित रहें। भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए मृत गाय बैल की आर्थिक उपयोगिता के प्रति खास तौर पर ध्यान देना आवश्यक है लेकिन दुःख की बात यह है कि इस उद्योग के प्रति हम दुनिया में सब से ज्यादा उदासीन हैं। तुमको मालूम ही होगा कि संसार में जितने गाय, बैल, भैंस आदि जानवर हैं उनके ३० सैकड़ा केवल भारत में ही हैं और संसार में जितना चमड़ा होता है भारत का हिस्सा उसकी तिहाई से भी ज्यादा है। लेकिन हमारे देहाती इससे ज़रा भी लाभ नहीं उठाते। जात-पांत का ऐसा चक्र बना रक्खा है कि जिनमें बुद्धि है, आर्थिक साधन हैं, कौशल है और समाज में प्रतिष्ठा है उनको मृत जानवर से कोई दिलचस्पी नहीं। मर जाने पर जानवर ऐसे लोगों के हाथ जाकर पड़ता है जो हमेशा समाज में दलित होने के कारण शोषित हैं, दरिद्र हैं, जाहिल हैं। उनके पास न साधन है, न वह कौशल जिससे वे बुद्धि-पूर्वक मृत जानवर का उचित इस्तेमाल कर सकें। नतीजा यह होता है कि जब कोई जानवर मरता है तो वह किसी प्रकार उसका चमड़ा उधेड़ कर किसी व्यापारी को नाम मात्र दाम पर बेंच आते हैं। उन्हें यह देखने की भी आवश्यकता नहीं होती कि चमड़ी निकालते समय कहीं कट न जाय, छेद न हो जाय या मांस लगा न रह जाय। वे इसका विचार ही नहीं करते कि ठीक ढंग पर चमड़ा निकालने से और ज्यादा दाम मिलेगा। और उनको इस बात की फिक्र ही क्यों हो। एक तो ज्ञान के अभाव से वे इन बातों की बारीकियों को जान नहीं सकते। दूसरे यह कि सारा माल मुफ़्त मिलता है। जो चमार उस चमड़े को पकाने का काम करते हैं वे भी साधन तथा ज्ञानहीन होने के कारण उसे इस तरह पकाते हैं कि वह बाज़ार में अधकच्चे माल के नाम से घोषित होता है और विदेश जाकर वही पक्का माल बनकर हमारे यहां वापस आ जाता है। इस प्रकार हमारे यहां जितना माल होता है उसका लगभग ४० सैकड़ा

कर समझ सकती हो कि हमको इस दिशा में कितनी चेष्टा करनी होगी। यह सच है कि मैंने इतने ही या इससे ज्यादा महत्व के कामों के लिए आज परीशान न होकर भविष्य सरकार के लिए छोड़ देने की सलाह दी थी। लेकिन मैं समझता हूँ गाँव के कुआँ सुधारने का काम हम आज की परिस्थिति में भी व्यापक रूप से कर सकते हैं। मैंने देखा है कि थोड़ा संघटन हो जाने पर और सामान सुलभ होने पर लोग उत्साह के साथ यह काम करते हैं। अतः मेरा विश्वास है कि अगर उचित अवसर पर यह काम शुरू किया जाय तो गांव की समितियों की मार्फत बिना बाहरी मदद के इसे बहुत हद तक सफल बनाया जा सकता है।

ग्राम-सगठन की रूप-रेखा—पिछले महीने के पत्र में मैंने देहातों की कुछ समितियों का ज़िक्र किया था। उसके साथ ही मैंने उन समितियों की रूप-रेखा बताने का वादा किया था। हमने प्रथम से ही सारी सुधार-योजना गांव की आन्तरिक शक्ति संघटित करके उसी की मार्फत चलाने का ध्येय रक्खा था। क्योंकि स्वावलम्बन के सिद्धान्तानुसार हमको समाज की बुनियाद से काम शुरू करना होगा। हमारा अन्तिम ध्येय केन्द्र तन्त्र को क्रमशः घटाकर आदर्श स्थिति में उसे शून्य कर देना है। अतः हमारी व्यवस्था ऐसी हो जिससे समाज क्रमशः व्यक्ति-स्वावलम्बन की ओर अग्रसर हो। यही कारण है कि हम सब से पहले गांवों की मूल जन-संख्या को स्वावलम्बी बनाने की कोशिश करते हैं; फिर ग्राम-समिति तथा सर्किल सोसाइटी की ओर बढ़ते हैं। मैंने पहले भी कहा है कि हम गाँव में काम करने के लिए सबसे पहले चर्खे के उद्योग से आरम्भ करेंगे क्योंकि यही एक उद्योग है जिसमें गाँव का प्रत्येक परिवार शामिल हो सकता है। अतः सर्वप्रथम व्यक्तिगत रूप से जितने घरों में सम्भव हो सकेगा चर्खा चलाकर उनके कते हुए सूत की बुनाई-बिक्री आदि की व्यवस्था अपनी संस्था द्वारा की जायगी। फिर कातने वालों की एक समिति बनाकर, सूत-सुधार, कातने वालियों

जानवर की सिर्फ चर्वी से ही ?) के करीब आमदनी हो सकती है। चमड़े के लीज और टुकड़ों से लाखों रुपये का सरेस हम न केवल अपने काम के लिए ही बना सकते बल्कि फालतू माल बाहर भी भेज सकते हैं। इसके अलावा सींग तांत का काम आदि और बहुत से उद्योग चल सकते हैं। वास्तव में मृत जानवर से ही हम देहातों को उद्योगमय बना सकते हैं। मृत जानवरों का ठीक से उपयोग न कर सकने से हमको कितनी हानि होती है, इसका हिसाब लगाना शुरू करेंगे तो घबड़ा जाओगी।

जहाँ तक गिनती की जा सकी है हमारे यहां हर साल दो करोड़ सत्तावन लाख जानवर मरते हैं। इनके चमड़े की ठीक व्यवस्था न होने से हमारे गांवों का कम से कम प्रति फर्द २) का नुकसान होता है। उसके अलावा प्रति जानवर मांस से आठ आने, हड्डी से एक रुपया, चर्वी से एक रुपया, सींग पुट्ठा आदि से चार आने मिल सकता है। इस प्रकार हम आज प्रति जानवर २ रु०) + ॥) + १) + १) + ।) यानी पौने पांच रुपये हानि उठा रहे हैं अर्थात् हमको कुल ४॥।) × २५७००००० = १२, १८, १२,०००) वार्षिक हानि होती है। इतनी रकम तो हम केवल संघटित रूप से मृत देह की व्यवस्था करने से ही बचा सकते हैं। लेकिन अगर हम चमड़े का उद्योग चलाकर कुल चमड़ों को पक्के माल के रूप में बेंचें और उतनी खाद के कारण खेती की पैदावार की जो वृद्धि होगी उसका हिसाब जोड़ें, विभिन्न प्रकार के उद्योगों में कितनी आमदनी होगी और कितनी बेकारी दूर होगी, उसका विचार करें तो हमारी बचत कितनी गुना बढ़ जायगी, इसे तुम समझ ही सकती हो। इस तरह जब मृत जानवर की कीमत काफी बढ़ जायगी तो आज जैसे बुड्ढे जानवर को काट डालने के लिए मजबूर हो जाते हैं वैसा नहीं करना पड़ेगा। दूसरा यह है कि जब लोगों को मुर्दार चमड़े का उम्दा माल मिलता रहेगा तो वे

यह भयंकर हानि !

कत्ल किये हुए जानवर के चमड़े की मांग नहीं करेंगे। अतः हमारी योजना में गोपालन के साथ मृत जानवर के उद्योग की व्यवस्था होनी चाहिए।

यह पत्र बड़ा हो गया। सोचा था, इसी पत्र में बाकी सब कार्यक्रम पर विचार समाप्त कर दूंगा। लेकिन यह विषय इतना व्यापक था कि इसी ने सारा समय ले लिया। अतः इस पत्र को आज समाप्त करके अगले महीने और विषयों पर विचार करने की चेष्टा करूँगा।

---

[६]

यातायात और जल की व्यवस्था

१—४—४४

यातायात—तुम्हारा पत्र मिला। तुम लोग मेदनीपुर ज़िले में नई तालीम का प्रयोग शुरू कर रहे हो, जानकर खुशी हुई। इसका मतलब यह कि अब अपने तालीमी संघ के तने से शाखाएँ पर शाखाएँ फूटनी शुरू हो गई हैं। यह अवस्था सुखकर है। हमारे प्रान्त में कब प्रयोग होगा? मैं अब भी समझता हूँ कि तालीमी संघ की प्रयोगशाला हमारे ही प्रान्त में होनी चाहिए। हिन्दुस्तान तालीमी संघ का काम हिन्दुस्तानी भाषा में ही न होगा? और हिन्दुस्तानी भाषा का प्रधान अड्डा युक्तप्रान्त ही तो है।

अब हम लोग सब जेल के अन्दर ही अन्दर नये आर्डिनेंस में फिर गिरफ़्तार हुए हैं, ऐसा सुनने में आया है। पता नहीं इस बीच कितने कानून बदलेंगे और बनेंगे? चाहे जो कुछ कानून बनें बिगड़ें, हमारे लिए उनका कोई मूल्य नहीं। हमें नज़रबन्द रहना ही है फिर वे चाहे जो कहकर रक्खें। लोमड़ी भेड़ को खायेगी ही। दलील क्या होती है, यह भेंड़ के लिए कोई दिलचस्पी की बात नहीं। हां, अब

हमें गर्मी में वाहर सोने को मिलेगा। खाने को आलू भी मिला करेगा। महीने में एक वार सम्बन्धियों से मुलाकात हो सकेगी और एक पोस्टकार्ड ज्यादा लिखने को मिलेगा। अव सरकार अखवार भी देगी, यह भी सुना है। इतनी वात खुशी की है। वाकी जेल जीवन जैसा था, वैसा ही है। हां, मालूम हुआ है कि सरकार अव एक प्रमाण पत्र भी हमको देगी जिसमें हमारे वन्द रहने का कारण रहेगा। यहां कोई भी उसके लिए फिक्र नहीं करता। सव जानते हैं कि वही लोमड़ी जैसी ही कोई दलील होगी।

अव तक जो पत्र मैं तुमको लिखता रहा उनमें हम ग्राम-सुधार के लिए क्रमशः उद्योग, शिक्षा व संस्कृति, सफाई व स्वास्थ्य, कृषि व वागवानी तथा गोपालन पर अपने विचार प्रकट करते रहे। इतने कार्यक्रमों का संघटन हो जाने पर गाँवों की स्थिति ऐसी होनी सम्भव है कि हम कुछ ऐसे कार्यक्रम भी शुरू कर सकें जिनके लिए गांव भर की सहयोग वृत्ति तथा सार्वजनिक लाभ के वास्ते व्यक्तिगत त्याग की तैयारी की आवश्यकता हो। ऐसा काम है गाँव की यातायात की समस्या हल करना। तुम जव रणीवां आई थीं तो देखा होगा कि आश्रम तक जाने में रास्ते भर कितनी तकलीफ हुई थी। परीशान होकर वापस जाते समय तुमने पैदल जाना ही पसन्द किया था। फिर भी तुम ऐसे मौसम में गई थीं जव सूखा था। खेत खाली होने के कारण वैलगाड़ी चाहे जिस गाँव में जा सकती थी। वरसात में तो पैदल चलने के अलावा दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। रणीवाँ जाने में रास्ते का जो हाल तुमने देखा था वह भी हमारे ग्रामों के हिसाव से अच्छा था। अधिकांश गांवों की उससे भी वदतर हालत रहती है। पर यातायात की कठिनाई को उसी तरह से रहने देकर औद्योगिक प्रगति करना एक प्रकार असम्भव नहीं है।

गाँव के रास्तों की दुर्दशा

अधिकतर लोगों की तो यह राय है कि यातायात की सुविधा पहले

होनी चाहिए, फिर उद्योगों का संघटन शुरू करना चाहिए। आज जो सरकारी तथा गैरसरकारी ग्राम-सुधार कार्य हो रहा है उसमें सड़क बनाने और सुधारने का काम प्रथम और मुख्य माना गया है। देहात की सड़कों को दुरुस्त करना इतना महत्व का होने पर भी मैंने ग्राम-सुधार योजना में यह कार्य-क्रम सबसे अखीर में रखा है। इसका कारण मैं पहले एक पत्र में बता चुका हूं। अगर हम चाहते हैं कि ग्राम-सुधार का काम ग्रामीण जनता की शक्ति का विकास करके करें तो ऐसे कार्यक्रम बाद को ही रखना होगा। क्योंकि जब तक गांव के लोगों में संघटन की प्रथा न जारी होगी तब तक कोई सम्मिलित काम नहीं हो सकता। आज जो सड़क आदि का काम होता है वह कहीं-कहीं पैसे की इमदाद से एकाध सड़क मरम्मत कर देने का ही है। इस दिशा में कोई व्यापक योजना तो देहात की जनता की आर्थिक स्थिति, शिक्षा, संस्कृति तथा संघटन शक्ति की उन्नति के साथ ही हो सकती है।

मैं कह रहा था कि यातायात की समस्या हल करने के लिए हमको चाहिए गांव भर का सम्मिलित प्रयास, संघटित परिश्रम और कुछ लोगों की उतनी ज़मीन जो सड़क बनाने के लिए ज़रूरी हो। अब तक मैंने जितने कार्यक्रमों का ज़िक्र किया है उनके बाद जनता में इतनी सार्वजनिक भावना पैदा होगी जिससे वे लोग खुशी से इतना त्याग सबके भले के लिए करेंगे, ऐसा मेरा अनुभव है। अगर छान-बीन के साथ खोज की जाय तो मालूम होगा कि प्रथम दृष्टि से यहाँ यह जितनी त्याग की बात मालूम होती है वस्तुतः इस जमीन छोड़ने के मसले पर उतने त्याग की आवश्यकता न होगी। प्रथमतः सड़क निकालने की योजना ऐसी बनाई जाय जिसमें अधिकतर हिस्सा परती, जंगल आदि पड़े। इसके अलावा अगर पटवारी के नक्शों को देखा जाय तो मालूम होगा कि अधिकांश गांवों में ऐसा डहर मौजूद था जो किसी की व्यक्तिगत भूमि नहीं समझा जाता था। उतना डहर

छोड़ा जाता था यातायात की सुविधा के लिए। वह ग्राम पंचायत के अधीन था और उसका संस्कार गांव वाले मिलकर करते थे। लेकिन गाँव का स्वाभाविक संघटन नष्ट हो जाने पर उस भूमि को आस-पास के किसानों ने अपनी भूमि में मिला लिया। आज भी अगर जरीबी नक्शा निकाला जाय तो उतना डहर अलग मालूम हो जायगा। यह भूमि आज भी कानूनन सर्वसाधारण की सम्पत्ति है। हमारा ग्राम-संघटन पुनर्जीवित होने पर उन डहरों को फिर से सर्वसाधारण को वापस करना कठिन नहीं होगा। लेकिन इतने दिनों से उसका दख़ल भोग करते रहने पर अब किसान उसे अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति ही समझने लगे हैं और अब उसे छोड़ना उतना ही अखरेगा जितना उनको अपनी जमीन छोड़ने में अखरता।

मार्गों का पुनरुद्धार चार साल पहले जब मैं फैजाबाद में इन डहरों की खोज करके उनके पुनरुद्धार के काम में लगा था तो किस तरह उनके कब्जेदार लोग झगड़ा करते थे और हमको अधिकारियों की मदद से भी कहीं-कहीं सफलता नहीं मिलती थी, इसकी पूरी कहानी मैं तुमको पहले लिख चुका हूँ। अतः यद्यपि उस सर्वसामान्य सम्पत्ति को अपनी जमीन में मिलाना किसानों के लिए बेजा दख़ल है फिर भी आज उसे फिर से सर्वजनिक काम में देना उनके लिए त्याग की ही बात होगी।

अतएव यद्यपि दूसरे कार्यक्रमों-द्वारा हमनें गाँव की स्थिति में काफी सुधार कर लिया है तथापि हमको यह काम काफी सँभाल कर करना होगा। इस विषय में जल्दबाजी करने पर गांव में झगड़ा होने का डर रहेगा। गाँव की पंचायत में कई आदमी होंगे। मान लो उनमें से दो आदमी की जमीन सड़क के लिए जरूरी है। ऐसी हालत में अगर कोई ऐसा प्रस्ताव हुआ कि अमुक-अमुक टुकड़े सड़क के लिए लिये जायँ तो झट वे दो आदमी समझ बैठेंगे कि 'यह प्रस्ताव फलाँ शख्स ने हमारी हानि करने की नीयत से किया है।' इस तरह

झगड़ा खड़ा होकर गांव के संघटन की हानि हो सकती है। हमारे कार्यकर्त्ताओं को हमेशा ख्याल रखना चाहिए कि वे जो संघटन गाँव में कायम कर रहे हैं उनकी स्थिति बहुत नाजुक है। प्रथमतः उनके संघटन के लिए सरकारी कानून का बन्धन नहीं है और वह सम्पूर्ण जनता की सद्भावना पर ही निर्भर है। दूसरी बात यह है कि हम अपने थोड़े साधनों से थोड़े ग्रामों में ही संघटन कायम कर सकेंगे। उनके अलावा उन देहातों के चारों तरफ़ विस्तृत क्षेत्र के देहातों के लोग पुराने तरीके से जीवन बिताते होंगे। उनकी मनोवृत्ति का असर हमारे संघटन के अन्तर्गत देहातों पर पड़ना अनिवार्य है। जो कुदरती असर पड़ता है उसके अलावा भी दूसरे गाँव के लोग जब देखते हैं कि अमुक गाँव उन्नति कर रहा है तो वे हर तरह से कोशिश करते हैं कि बना हुआ संघटन टूट जाय। इस प्रकार दूसरे गाँव की ईर्ष्या के कारण काफ़ी सफल संघटन टूटने का अनुभव मुझको अपने कार्यक्रम में हुआ है। इसके अलावा अगर वह गाँव किसी की ज़मींदारी में (आज प्रायः सभी गाँव किसी न किसी ज़मींदार के ही हैं) पड़ता है तो ज़मींदार ऐसा मौका हमेशा ढूँढ़ा करता है जिससे झगड़ा हो जाय। फिर जब सरकार जनता की नहीं है और जनता के शोषण पर ही कायम है तब भला सरकारी महकमों के लोग कैसे हमारे संघटनों को पनपने देना चाहेंगे। पुलिस, कानूनगो, जरायत के कर्मचारी, को-आपरेटिव विभाग के लोग सभी अपने-अपने ढंग से कोशिश करते हैं कि किसी प्रकार गाँव वालों का स्वतन्त्र संघटन बनने न पावे। अतः सड़कों के लिए किसी किस्म का नक्शा बनाते समय परिस्थिति का ध्यान बहुत सावधानी के साथ रखना होगा। इसका क्रम कुछ इस प्रकार हो सकता है :—

प्रथमतः गाँव के नौजवानों को सम्मिलित करके गाँव के उन डहरों का संस्कार किया जाय जिन पर कोई खेती तो नहीं करता है लेकिन जिनकी ऐसी हालत हो गई है कि वे काम में नहीं आ

सकते हैं। इन सड़कों के भी कई प्रकार हैं :—

(१) ऐसी सड़कें हैं जो आम तौर पर तो ठीक काम लायक हैं लेकिन कहीं-कहीं कटकर इतना गड्ढा हो गया है कि बरसात में ऊपर से चलना असम्भव हो जाता है।

(२) ऐसी जो अभी तक किसी के ख़ास दख़ल में तो नहीं गई हैं लेकिन लोगों ने अपने खेत की खाईं बनाने के लिए उन्हीं से मिट्टी खोद-खोद कर उनकी सतह इतनी नीची कर दी है कि अब वे वह सड़क न रहकर गांव भर के पानी का निकास हो गई हैं।

(३) कुछ ऐसी हैं कि अभी पूरे तौर पर खेतों के गर्भ में तो नहीं चली गई हैं लेकिन इतनी पतली हो गई हैं कि उन पर बैलगाड़ी नहीं चल सकती। मालूम होता है, लोगों ने इतनी मेहरबानी उन सड़कों पर केवल बैलों के निकास के लिए ही कर रक्खो है। हमको क्रमशः प्रथम, दूसरे और आख़िर में तीसरे प्रकार की सड़कों की मरम्मत का काम लेना चाहिए, जिससे लोगों में धीरे-धीरे बढ़ने का हौसला हो।

उक्त तीन क़िस्म की सड़कों का जीर्णोद्धार होने के बाद नई सड़क या डहर बनवाने की योजना बनानी चाहिए। उसका नक्शा ऐसा बनाना चाहिए जिससे अधिकांश बाग, परती, ऊसर या जंगल जैसी ज़मीन पड़े जो खेती के काम में न आती हो, जिससे खेत में से कम से कम हिस्सा लेना पड़े। इसके आगे आज हम नहीं जा सकते। जिस सड़क के लिए अधिकांश ज़मीन खेत में से लेनी पड़े उसे जिला बोर्ड या सरकार ही कर सकती है। हमारे कार्यकर्त्ता या ग्राम-पंचायत ज़िला बोर्ड से मिलकर ऐसी सड़क बनवाने की कोशिश अवश्य करें लेकिन अपनी ओर से उसकी चेष्टा करने में सफलता नहीं मिल सकेगी। मेरे कहने का मतलब यह है कि हमको ऐसे छोटे-छोटे काम करने होंगे जो हमारी ग्रामीण जनता की आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक स्थिति के अनुकूल हों। बड़ी सड़क की बात हम को सोचना ही नहीं है। हमारा काम केवल गांव से बाहर निकलने के रास्ते का प्रबन्ध

करना मात्र है। अगर हम अपनी योजना के अन्तर्गत कुछ गांवों में इतनी ही सफलता प्राप्त कर सकें तो बहुत होगा। बाकी काम सरकार पर छोड़ देना होगा। यातायात की योजना आरम्भ करते समय ग्राम-सेवक को इतना सतर्क ज़रूर कर देना है क्योंकि कितने ग्राम-सेवक एक गाँव की सड़क की समस्या हल करने में सोचते हैं कि कम से कम स्टेशन तक तो सड़क बन ही जानी चाहिए। चाहे वह स्टेशन ४।६ मील दूर ही क्यों न हो। मैं जब उनको ऐसे विचार की व्यर्थता बताना चाहता हूँ तो वे प्रायः यह दलील करते हैं कि अगर लोगों को स्टेशन तक जाने का रास्ता न मिले तो गांव से निकास ही होकर क्या लाभ ? ऊपर से सोचने पर उनकी दलील कुछ सही मालूम पड़ती है। लेकिन व्याव-हारिक दृष्टि से ऐसा करना सम्भव नहीं है। प्रथम हमारे पास इतना साधन नहीं है। द्वितीय ऐसी सड़क पर कई गाँव पड़ेंगे। हमको प्रधानतः गांव के सम्मिलित परिश्रम से ही काम करना है। अभी इतना सम्भव नहीं होगा कि गांव के लोगों को अपने गांव की सीमा छोड़कर बाहर परिश्रम करने को ले जा सकें। अतः इस दिशा में हमको गाँव की हद के अन्दर ही रहना श्रेयस्कर होगा। इस प्रकार एक क्षेत्र में अधि-कांश डहर और सड़क बन जाने से उन ग्रामों के सम्मिलित संघटन, जिला बोर्ड या सरकार से तमाम क्षेत्र के लिए केन्द्रीय सड़क की मांग रखने की शक्ति प्राप्त करेंगे। वे जब अपने संघटन से गाँव के अन्दर की सड़कों को ठीक कर लेंगे तो जिला बोर्ड के लिए उनकी मांग की उपेक्षा करना कठिन होगा। क्योंकि उनकी मांग के पीछे केवल अपनी सड़क बना लेने की बात ही तो नहीं रहेगी। इस बीच जो औद्योगिक उन्नति हो जायगी उससे भी केन्द्रीय सड़क की माँग का बहुत बड़ा और माकूल कारण उनका रहेगा।

ईंट भट्ठा का उद्योग—सड़क की योजना के साथ पानी की व्यवस्था करने का काम साधारणतः आ जाता है। पानी का काम भी सुधार-योजना की उसी अवस्था में हो सकता है जिस में हम

यातायात का काम शुरू करते क्योंकि इसमें भी कुछ सम्मिलित परिश्रम की आवश्यकता है। हां, यातायात के काम से यह काम ज़रूर कुछ आसानी से हो सकता है। एक तो इसमें उतने अधिक सार्वजनिक श्रम की आवश्यकता नहीं है। दूसरे जब किसी कुएँ का जीर्ण संस्कार कराना होगा तो किसी से कुछ त्याग तो कराना नहीं। फिर कुआँ किसी ख़ास आदमी की सम्पत्ति होने से उसे ख़ूब दिलचस्पी रहती है। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से मैं दोनों को एक साथ ही लेने का पक्षपाती हूं। पिछले एक पत्र में मैंने किसानों को फ़ुर्सत के समय करने लायक कामों में भट्ठे के काम का जिक्र किया था। उद्योग के कार्यक्रमों को शुरू की अवस्था में प्रारम्भ करने की ही बात थी। अतः जब तक कुएँ का कार्यक्रम शुरू करना होगा तब तक भट्ठों का उद्योग काफ़ी प्रगति कर जायगा। इस कारण भी कुँओं की मरम्मत करना आसान हो जायगा। मेरा तो विश्वास यह है कि एक बार इसका आन्दोलन चल जाय और साथ ही ईंट आदि सामान सुलभ हो जायँ तो लोग आप से आप अपने कुओं की मरम्मत करेंगे।

ईंट के भट्ठों के नाम से तुम को कुछ आश्चर्य होता होगा। तुम कहोगी चर्खा तथा अन्य ग्राम-उद्योग का काम तो समझ में आता है, यह ईंट के भट्ठे से क्या लाभ ? इससे गाँव की आर्थिक स्थिति में किस प्रकार की उन्नति होगी ? उनको बेंच कर कहाँ से आमदनी होगी ? किसी के लिए ऐसा सोचना शायद स्वाभाविक है। लेकिन जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ कि हमारा उद्देश्य तिजारत नहीं, ग्राम-सुधार है। और स्वावलम्बन के आधार पर देहातों का आर्थिक, सामाजिक, संस्कृतिक तथा राजनैतिक सुधार करना है। हम बाज़ार का संघटन तो ज़रूर करते हैं लेकिन उसका अधिक महत्व प्रारम्भिक दशा में ही रहेगा। बाद को गाँव में उत्पादित माल का अधिकाश तो गांव के ही इस्तेमाल के लिए बनेगा। फिर उद्योग केवल उन्हीं चीज़ों के लिए थोड़े ही किया जाता है जिनकी बिक्री बाहर हो। गाँव की

उपयोगी चीजों की उत्पत्ति भी तो उद्योग है। गाँव में विस्तृत रूप से नये-नये उद्योगों के चलाने के कारण कारख़ाने आदि के बनाने में काफी ईंट की ज़रूरत पड़ेगी। कृषि-सुधार कार्य में भी अधिक कुएँ बनवाने का कार्यक्रम रहेगा। सुधार का वायुमंडल पैदा होने पर सड़क मरम्मत तथा निर्माण कार्य में कदाचित् पुलियाँ भी बनानी पड़ेंगी। अभी मैंने जो गाँव के कुओं की मरम्मत करने का ज़िक्र किया था उनके लिए ईंट की आवश्यकता होगी। इन कामों के लिए गांव में ईंटों का सुलभ होना जरूरी है। जो लोग गांव में रहते हैं उनको मालूम है कि बाहर से ईंट मंगाना कठिन है। एक तो ईंट का दाम ही अधिक होता है; दूसरी बात यह है कि दूर होने के कारण ईंट के दाम से ढोने की मज़दूरी अधिक हो जाती है। अधिकांश ग्रामों के लिए तो रास्ते के अभाव से दूर से लाना भी कठिन हो जाता है। जब तक गाँव रहेगा, तब तक गड्ढे रहेंगे। हम ज्यादा से ज्यादा इनकी शक्ल आदि में कुछ उन्नति कर सकते हैं। इस दिशा में मैंने जो कुछ प्रयास किया था उसका अनुभव तुमको लिखा ही है। मिट्टी की भीत उठाने के कारण घरों के आस-पास छोटे-बड़े गड्ढे हो जाते हैं; उनमें स्थायी रूप से गन्दगी सड़ती है। ख़ास तरह से उन प्रान्तों की बात तो कहना ही बेकार है जहां वर्षा काफ़ी होती है और भारत के अधिकांश प्रान्त वर्षा-प्रधान हैं। गड्ढों का इस तरह से सड़ते रहना बीमारी का कारण होता है। खाद के घूर को लोग हटाने का तो प्रस्ताव करते हैं, लेकिन इन गड्ढों को भला हटाकर कहाँ ले जायँगे? देहातों में मिट्टी का घर बनाने का तरीक़ा आज जैसा जारी रहा तो इनका क्रमशः बढ़ते जाना अनिवार्य है। इनसे स्वास्थ्य-सम्बन्धी जो हानि है वह तो है ही; गड्ढों की बढ़ती के साथ-साथ आबादी के अन्दर काफी स्थान बेकार होता जायगा, जिसका कुछ दूसरा उपयोग हो सकता है।

ग्राम-सुधार कार्य के सिलसिले में नाबदान का पानी बहाने के

लिए पक्की नालियों का प्रस्ताव हम हमेशा करते रहते हैं लेकिन जब तक गाँव के मकान बनाने की पद्धति बदली न जाय तब तक स्वाभाविक विकास के अभाव में इस कार्य में हमेशा कठिनाई रहेगी। गाँव में किसी मकान का जब कोई अंश ख़राब हो जाता है तो लोग उसे नष्ट कर उसकी मिट्टी उसी स्थान पर फैला देते हैं और उसी पर नई भीत खड़ी कर देते हैं। नतीजा यह होता है कि आस-पास की ज़मीन की सतह ऊँची हो जाती है और नावदान नीचा हो जाता है, जिससे पानी न निकल कर वहीं सूखता रहता है।

ईंटों के मकान बनाने का प्रोत्साहन दो

इनका परिहार इसी से हो सकता है कि लोगों में ईंट के मकान बनाने की प्रथा प्रचलित हो जाय। मैंने ग्राम-उद्योगादि के जिन कार्यक्रमों के बारे में लिखा है उनके कारण लोगों की आर्थिक तथा संस्कृतिक स्थिति अच्छी होने पर उन्हें इस ओर प्रोत्साहित करना कठिन न होगा। साथ ही यदि पुरानी भीत गिराते समय मिट्टी को पास के गड्ढे में डालने का रिवाज हो जाय तो धीरे-धीरे गड्ढे भी भरते जायँगे और जगह समतल होती जायगी। पक्की दीवारों की संख्या बढ़ जाने पर गाँवों का दृश्य भी बदल जायगा और देहाती जनता का जीवन सुरुचिपूर्ण होता जायगा। यह सच है कि हमारी कोशिशों के बाद गाँवों में बहुत से कच्चे मकान बनेंगे पर उनके लिए मिट्टी लेने की व्यवस्था ग्राम-समिति की निश्चित योजना के अनुसार करनी होगी। निश्चित स्थान पर निश्चित विधि और नाप से यदि मिट्टी ली जायगी तो उससे बने गड्ढे धीरे-धीरे तालाब का रूप ले सकेंगे। मछली पालकर और अन्य उपायों से उसके पानी को साफ रखना कठिन न होगा। यह सच है कि सभी स्थानों से मिट्टी न लेने से लोगों को कभी-कभी दूर से मिट्टी लानी पड़ेगी लेकिन जिन्दगी भर के आराम के लिए एक बार थोड़ा तकलीफ़ करना अच्छा ही है। इतनी तकलीफ के लिए उनको समझाना कठिन न होगा।

पक्की ईंटों के सुलभ होने पर गाँवों की और कई समस्याएँ हल होती रहेंगी। आज जो नावदान का पानी सड़ता है, पक्की नाली बन जाने से इस दिशा में सफ़ाई रखना आसान हो जायगा। पशुओं के रहने का फ़र्श पक्का होना कितना आवश्यक है यह मैं कह ही चुका हूँ। इससे सफ़ाई और खाद की प्राप्ति दो लाभ हैं। इस प्रकार ईंट की सुलभता से गाँव की बनावट में सर्वतोमुखी सुधार होना सम्भव है।

भट्ठों की स्थापना से कृषि को भी लाभ पहुँच सकता है। कृषि के प्रोग्राम पर विचार करते समय मैंने तालाबों के महत्व की बाबत ज़िक्र किया था। जितना पानी बेकार बह जाता है उसमें से कुछ अगर रोका जा सके तो सिंचाई की समस्या का एक बड़ा हिस्सा हल हो सकता है। यही कारण है कि पुराने समय में बड़े-
भट्ठों की स्थापना बड़े तालाब खोदने की प्रथा थी। तालाब खुदवाने से अन्य लाभ के पुण्य की बहुत प्रशंसा की गई है। आबपाशी के साथ-साथ लोग तालाबों में मछली पाला करते थे। इस प्रकार खाद्य भी मिलता था। अब गरीबी और जहालत के कारण वे तालाब भी पटकर ऐसी हालत में हो गये हैं कि किसान उनसे कोई फ़ायदा नहीं उठा पाते। वे तो जहां कहीं ऊँची जगह पाते हैं वहां फसल बो देते हैं। और इस प्रकार "कुछ नहीं तो थोड़ा थोड़ा" के न्याय के अनुसार थोड़ा बहुत अनाज पैदा कर लेते हैं। मैंने देखा है कि गाँव के लोग तालाब खोदने की वृत्ति को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं पर गरीबी और संघटन के अभाव से वे ऐसा कर नहीं पाते। अगर यह सुना जाता है कि कहीं कोई तालाब खुदवा रहा है या पुराना भठा हुआ तालाब साफ करवा रहा है तो उसकी प्रशंसा दूर दूर तक होती है। रणीवाँ का तालाब तो तुमने देखा है। जब हम उसे खुदवाते थे तो दूर-दूर से लोग देखने आते थे और प्रशंसा करते थे। ग्राम-सुधार के लिए तालाब का होना कितना आवश्यक है, इसको लोग पूरे तौर से

महसूस करते हैं। लेकिन आज गाँवों की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि तालाब फिर से आसानी से खुदवाये जा सकें। तालाबों की मिट्टी अधिकांश चिकनी होती है। लेकिन जहाँ ऐसे तालाब मिलें जिनकी मिट्टी ईंट के काम में आ सकती हो तो उनका उपयोग करके भट्ठे बनाये जायँ। इससे एक साथ दो काम होंगे। भट्ठे बन जायँगे और तालाबों का पुनरुद्धार हो जायगा इसके अलावा जो भट्ठा नई ज़मीन खोदकर बनेगा उस जगह भी आसानी से तालाब बन सकता है।

जल की व्यवस्था—मैं गाँवों में शुद्ध पानी की व्यवस्था करने की बात कर रहा था। बीच में प्रसंगतः भट्ठे और तालाबों की बात आ गई। मैं कह रहा था कि यातायात के प्रोग्राम के साथ ही इस कार्यक्रम को लेना है क्योंकि दोनों ही ग्राम-सुधार योजना की एक ही अवस्था में आरम्भ करने लायक हैं। आज अधिकांश गाँवों के कुओं की दशा ऐसी है कि तबीयत घबड़ा जायगी। कहीं-कहीं २-४ अमीर घरों के सामने के कुएँ ऐसे होते हैं जिनकी जगत् बनी होती है। उनमें से भी ७५ सैकड़ा ऐसे होंगे जिनका पाट टूटा है और अन्दर पानी मरता है। बाकी जितने कुएँ हैं उनमें किसी किस्म की

कुओं की दुर्दशा

जगत् नहीं है। उनके किनारों की सतह इतनी नीची है कि बरसात में गांव का पानी बहकर उनमें चला जाता है और पानी के साथ गांव भर की गन्दगी भी उन्हीं के अन्दर जाती रहती है। आज कल लोग न नया कुआँ खुदवाते हैं, और न पुरानों की मरम्मत कराते हैं। अधिकांश कुओं के कोठे सड़ गये हैं और लोना या नोना लगकर घिस गये हैं। उनके दरारों से किस्म किस्म के पेड़ निकल पड़े हैं और कुएँ के अन्दर रोशनी और हवा का भी रास्ता बन्द कर दिया है। कोठे के अन्दर की यह स्थिति तो उन अमीर घरों के भी अधिकांश कुओं की है जिनकी जगत् बनी हुई है।

ऊपर की बातों से पानी की समस्या की भयंकरता का अन्दाज़

'फल यह हुआ कि ग्राम-उद्धार विभाग उद्धार विभाग न हो कर गांव की ऊपरी सफ़ाई के लिए दान-विभाग हो गया और वास्तविक ग्राम-सुधार न होकर उसका नाटक होने लगा।

फिर जिस पद्धति से काम किया गया उसमें दया और करुणा का भाव भले ही रहा हो उससे ग्राम-वासियों की उस अन्तःशक्ति का उद्‌बोध नहीं हो सकता था जो उन्हें अपने पैरों पर खड़ा कर सकती। मैं यह कह ही चुका हूँ कि गांव वालों का उद्धार उनकी अपनी अन्त-र्निहित शक्ति से ही होगा और जब वे स्वावलंबन के महत्व को समझेंगे तभी उस स्थिति को पलट सकेंगे जो उनके पतन का कारण हो रही है। उपदेश देकर और करुणा दिखाकर उनको असहाय ही बनाया गया। सदा की भाँति वे यही समझते रह गये कि कोई बाहर से आकर उनके कष्ट दूर कर देगा और वे स्वयं निकम्मे तथा निर्बल हैं। इस प्रकार गाँव का उद्धार होने वाला नहीं है। पंचायत का सहज और स्वाभा-विक विकास हुए बिना पंचायत घर किस काम का? ग्राम-वासियों की शिक्षा, संस्कृति और चरित्र का विकास हुए बिना कुएँ की जगत, पुल और पक्की गली एक बार बन जाने पर भी टिक न सकेगी। ऐसी दशा में पुलों और कुवों की ईटें निकाल कर वे अपना चूल्हा या नाली बना लेंगे। यह ठीक है कि उन्हें आराम का सामान चाहिए। लेकिन हम उन्हें दान देकर तो उसे पूरा नहीं कर सकते। हमको ऐसी परि-स्थिति पैदा करनी है कि वे सामान वे खुद अपनी शक्ति से ही जुटा सकें।' केवल भारत के लिए ही नहीं, संसार के उन देशों के लिए भी, जहाँ दिन-दिन राष्ट्र के सर्वांगीण जीवन की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार द्वारा करने की चेष्टा हो रही है, वहाँ के चिन्ताशील लोग इसी सिद्धान्त का प्रचार करते हैं। श्री बर्नार्ड शा को तो सभी जानते हैं। लोगों को आराम की सामग्री के प्राप्ति के सम्बन्ध में वे कहते हैं:—"There should be more food, more clothing, better houses, more security, more health, more virtue, in a word more prosperity.

के सूत की जाँच आदि की जिम्मेदारी उन पर डालनी होगी। फिर धीरे-धीरे रात्रि-पाठशाला लेकर क्रमशः अधिक कार्यक्रमों का भार मेरे पिछले पत्रों के बताये क्रमानुसार उनको सौंपा जा सकता है। कार्यक्रमों की वृद्धि तथा संघटन की मज़बूती के साथ उत्तरोत्तर अधिक परिवार के लोग समिति में शामिल होकर क्रमशः यही समिति सम्पूर्ण गाँव की समिति तथा पंचायत बन जायगी। ग्राम-समितियों के संघटन की इकाई बन जाने पर कुछ गाँव मिलाकर सर्किल सोसाइटी और कुछ सर्किल सोसाइटियां मिलाकर एक यूनियन के रूप में, इस तरह क्रमशः ऊपर की कमेटियों का संघटन किया जा सकता है। इन समितियों का विधान तथा नियम क्या होगा, आज मैं क्या बताऊँ? यह तो जब इस प्रकार का संघटन वास्तविक क्षेत्र में किया जायगा तो स्थानीय परिस्थिति तथा जनता की मानसिक स्थिति देखकर ही किया जायगा। मैं सिर्फ़ इसका निर्देश करना चाहता हूँ कि जो भी विधान बने वह ऐसा होना चाहिए कि हरेक समिति अपनी आन्तरिक व्यवस्था के लिए स्वतन्त्र हो। ऊपर की कमेटियां केवल सहायक रूप में होंगी। ऐसा न करने से हमारा स्वावलम्बन का आदर्श सफल नहीं होगा।

धीरे-धीरे उक्त कमेटियों को अपनी-अपनी योग्यतानुसार विभिन्न कार्यक्रम का भार देते रहना चाहिए जिससे कुछ साल में समस्त कार्यक्रम की जिम्मेदारी वे ले सकें। समितियों का काम समस्त सामाजिक, सार्वजनिक प्रोग्राम तथा उन उद्योगों का संचालन है, जिनके लिए सम्मिलित संचालन की आवश्यकता हो या जिनको चलाने के लिए साधन की आवश्यकता तथा खतरे की संभावना हो, या जिन्हें आम तौर से व्यक्तिगत रूप से चलाना वांछनीय न हो सके। यानी मेरे पहले बताये उद्योगों की श्रेणियों में, जिन्हें मैंने ग्राम-उद्योग कहा है, उनका संचालन समितियों के जिम्मे रहेगा। इनमें कौन उद्योग या प्रोग्राम ग्राम-समिति, कौन सर्किल सोसाइटी तथा कौन यूनियन आदि के मातहत होगा, इसका निर्णय इस समय नहीं किया

जा सकता। काम की व्यापकता तथा विभिन्न समितियों के सामर्थ्य के अन्दाज से उनका श्रेणी-विभाग करना होगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि उन उद्योगों की व्यवस्था किस प्रकार की होगी जिन्हें मैंने 'कुटुम्ब उद्योग' कहा है। उन्हें तो व्यक्तिगत परिवार स्वतन्त्र रूप से चलायेंगे। फिर क्या वे संघटन-हीन हालत में ही रहेंगे? मेरे ख्याल से उनमें अलग-अलग उद्योग चलाने वालों की अलग-अलग समितियाँ बन जायँ तो अच्छा होगा। जैसे लोहार-बढ़ई समिति, कागजी समिति, तेलघानी समिति आदि। ऐसा विधान बनाया जा सकता है जिससे विभिन्न सर्किल सोसाइटियों के समान ये समितियाँ भी केन्द्रीय यूनियन में शामिल हो सकें। हाँ, अगर चाहो तो इतनी शर्त रख सकते हो कि इस प्रकार की शुद्ध उद्योग-समितियाँ यूनियन में केवल उद्योग-सम्बन्धी प्रश्नों पर ही अपनी राय दे सकें। समितियों के खर्च के लिए सदस्यों से उनसे उत्पादित सामान का कुछ अंश चन्दा रूप में लिया जा सकता है। इतने से मैं ग्रामों में किस प्रकार का संघटन कायम करने की कल्पना करता हूँ, इसका अन्दाज मिल गया होगा। वस्तुतः इन बातों को अधिक ब्योरेवार बताना इन पत्रों में सम्भव नहीं है। वास्तविक क्षेत्र में सही योजना बनाते समय ऊपर लिखे संकेत के अनुसार संघटन की रूप-रेखा, विधान और नियमादि का ब्यौरा निश्चित किया जा सकेगा।

मैंने पिछले एक पत्र में पंचायत की मार्फत गांव का झगड़ा तय करने के लिए जल्दी न करने की सलाह दी थी। समिति में जब हम उपर्युक्त संघटन सफलता के साथ कर लेंगे तो गांव के झगड़े आदि अनुशासन का प्रोग्राम ले सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि अगर हमारी योजना पूरी होने में दस साल लग जायँ तो दस साल तक हम गांव के अनुशासन-सम्बन्धी प्रश्नों की उपेक्षा ही करते रहें। जिन गांवों में समिति पर जनता का विश्वास होने लगेगा उनमें समिति-द्वारा झगड़ा आदि का निबटारा थोड़ा-बहुत तो होगा ही।

जब किसी व्यक्ति या संस्था पर जनता का विश्वास होने लगता है तो लोग स्वभावतः अपने मामलों को उसके पास ले आते हैं और उसके फैसलों का सम्मान करते हैं। इस प्रकार जैसे जैसे हमारा संघटन मज़बूत होता जायगा वैसे-वैसे अनुशासन-सम्बन्धी काम समितियों पर अपने आप आता जायगा। इस कार्यक्रम की स्वाभाविक प्रगति को हमारे कार्यकर्ता अपनी सहायता से आगे भी बढ़ा देंगे। मेरा कहना केवल यह था कि आज जैसे गांव में पहुँचते ही ग्राम-सेवक पंचायत के झगड़ों को कार्यक्रम के रूप में अपने हाथ में लेने लगते हैं वह तरीका गलत है। संयोजित रूप से अनुशासन-सम्बन्धी व्यापक प्रश्न को हम ग्राम-संघटन का ढांचा पूर्ण और मज़बूत होने पर ही उठा सकते हैं। ऐसे समय हमारा काम आसान भी होगा क्योंकि तब तक समितियां अपने नैतिक बल से इस दिशा में काफ़ी प्रगति किये हुए रहेंगी और गांवों का सही और स्वाभाविक नेतृत्व भी प्राकृतिक हुआ रहेगा। हां, गांव की समस्या का एक बड़ा अंश रह गया। वह है देहातियों के क़र्ज़ का प्रश्न। हमारे देहाती कितने क़र्ज़ के भार से लदे हुए हैं, इसका अन्दाज़ तो करीब करीब सभी को है। यद्यपि इसका हिसाब जोड़ना संभव नहीं है तथापि लोगों ने जो अन्दाज़ लगाया है वह लगभग १२०० करोड़ रुपये का है। इसके अलावा अरबों रुपयों का लेन-देन तो स्त्रियां पर्दे के भीतर-भीतर करती रहती हैं, इनका तो कोई हिसाब ही नहीं लगा सकता है। लेकिन यह प्रश्न इतना जटिल और साधन-सापेक्ष्य है कि इसे हम अभी कर ही नहीं सकते हैं। इसलिए मैंने इस प्रश्न को जानकर ही छोड़ दिया है। इसका हल तो राष्ट्रीय सरकार ही कर सकती है। अतः हमारे कार्यकर्त्ताओं को सावधान कर देना चाहिए कि वे आवेश में आकर इस मसले में फँस न जायँ।

मैं समझता हूँ, कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम की संस्थाओं के द्वारा जितना काम हम कर सकते हैं उसके लिए मैं अपना विचार

प्रगट कर चुका हूं। मैंने जो कुछ कहा है वह अपने अनुभव के आधार पर ही कहा है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से शायद मेरी राय ठीक न साबित हो। लेकिन मेरे-जैसा देहाती सेवक शास्त्रों को कहां तक जान सकता है। मैंने जो विचार समस्याओं के समाधानों के लिए किया है वह परिस्थिति तथा साधन के अनुसार ही किया है। लेकिन तुम लोग शास्त्रीय कसौटी पर इनकी परीक्षा तो कर ही सकते हो और इसमें जो कुछ सार हो उन्हें भी अलग कर सकते हो।

अब यह प्रश्न उठता है कि अगर कोई छोटी स्वतन्त्र संस्था हो तो क्या करेंगे? उनके लिए भी मेरी सलाह है कि वे इसी प्रकार की योजना बनायें। हां, स्थानीय परिस्थिति के अनुसार प्रोग्राम के क्रम में अन्तर कर सकते हैं। लेकिन दृष्टिकोण और आदर्श तो ऊपर बताये अनुसार ही हो। आखिर मैंने तुमको कोई योजना तो नहीं भेजी है। योजना बनाने में किन-किन बातों का ध्यान देना चाहिए उन पर विचार मात्र किया है और मैंने जो विचार किये हैं, वे दोनों प्रकार की संस्थाओं के लिए लागू हैं। अगर सरकार जनता की हो तो इसमें अन्तर अवश्य होगा। लेकिन वह अन्तर भी कार्यक्रमों के सिलसिले और समूह में ही होगा; दृष्टिकोण और सिद्धान्त में नहीं। उद्देश्य तो वही ग्रामवासी को स्वावलम्बी बनने की ओर ले जाना होगा। राष्ट्रीय सरकार कायम हो जाने पर ग्राम-सुधार योजना किस प्रकार हो, उसकी आज एक कल्पना मात्र कर सकते हैं। असली विचार तो उस समय की परिस्थिति को देख कर ही हो सकता है। फिर भी कोशिश करूंगा कि मैं अपनी कल्पना का नक्शा तुमको भी भेजूं। लेकिन उसे फिर कभी लिखूंगा। आज पत्र यहीं ही खत्म करता हूं।

---

[८]

प्रान्त के देहातों की हालत

२५—४—४४

पहली तारीख को मैंने तुमको एक पत्र लिखा था। मिला होगा। आज से हमको बाहर सोने को मिलता है। यह पत्र मैं बाहर बैठकर ही लिख रहा हूँ। डेढ़ साल से ऊपर हो गये रात को आसमान का तारा कैसा होता है, नहीं देखा था। आज नज़रबन्दों के लिए एक खास त्यौहार का दिन है। सभी बैरकों के अड़गड़े गुलज़ार दिखाई देते हैं। इधर गर्मी के कारण रात को पढ़ना-लिखना बन्द-सा हो गया था। अब रात ही पढ़ने लिखने के लिए खास समय हो गया। मैंने भी सोचा ऐसा अच्छा मौका क्यों छोड़ा जाय, पत्र ही लिख डालूँ लेकिन समझ में नहीं आ रहा है, क्या लिखूँ। पिछले पत्र में मैंने वादा किया था कि सरकार-द्वारा किस प्रकार से ग्राम-सुधार का काम किया जा सकता है, इसपर मैं तुमको अपने विचार लिखूँगा। सन् १९२१ से आज तक का सारा अनुभव लिख डाला। उन अनुभवों के आधार पर मैंने यह भी लिख भेजा कि हमको ग्राम-सुधार की योजना किस आदर्श, दृष्टिकोण तथा प्रकार से बनानी चाहिए। इस तरह पिछले पत्रों में मुझको जितना कहना था, कह डाला। मैंने कहा था कि ग्राम-सुधार का काम दो ज़रियों से किया जा सकता है। एक अपनी संस्था द्वारा और दूसरा राष्ट्रीय सरकार द्वारा। मैंने सरकार के साथ राष्ट्रीय जान कर ही जोड़ा है क्योंकि आज जैसी विदेशी सरकार द्वारा ग्राम-सुधार योजना कैसे चल सकती है? विदेशी सरकार का हित ग्राम-उजाड़ में ही पूरा हो सकता है; वह ग्राम-सुधार कैसे कर सकती है। पंजाब में मि० ब्रायेन अंग्रेज़ कर्मचारी थे। उनमें ग्राम-सुधार का जोश था। एक सरकारी उच्च कर्मचारी, उसपर अँग्रेज़ अतः वे जितना चाहते थे उतना साधन सरकार से मिल सकता था।

फिर भी आखिर उनको कहना पड़ा, कि ग्राम-सुधार का काम सरकारी महकमा और अफसरों-द्वारा नहीं हो सकता। इसका मतलब यह नहीं है किसी भी सरकार द्वारा ही नहीं हो सकता। चाहे वह ब्रायेन साहब हों चाहे कोई साहब हों, जब तक सरकार का हित और जनता का हित एक दूसरे के विरोधी हैं तब तक सरकारी महकमे कहने को ग्राम-सुधार के महकमे रहेंगे लेकिन असलियत में वे ग्राम-बिगाड़ योजना के एजेंट का ही काम करेंगे। उनकी योजना बड़े-बड़े सैद्धान्तिक शब्दों से भर-पूर रहेगी लेकिन उनका कार्यक्रम हमेशा देहाती जनों को उत्तरोत्तर पंगु बनाने का ही रहेगा। लेकिन कुछ लोगों का खयाल ही ऐसा हो गया है कि किसी भी सरकारी महकमा द्वारा ग्राम-सुधार नहीं हो सकता; वह सही नहीं है। अगर ऐसा होता तो तुर्की, रूस, और कनाडा के कार्यक्रम सफल न हो पाते। सवाल सरकारी और गैर-सरकारी का नहीं है। सवाल यह है कि जो लोग सुधार-कार्य करेंगे उनका ध्येय क्या है, उनका आदर्श क्या है और उनका हित किसमें है। स्वभावतः राष्ट्रीय सरकार का उद्देश्य और आदर्श नीतिपूर्ण होता है और उसका हित जनता के हित में ही है। फिर जब सरकार ही जनता की होगी तो उसके कर्मचारियों को जनहित-व्रती ही होना ही पड़ेगा।

ग्राम-सुधार बनाम सरकार

मैं अब तक तुमको जो कुछ लिखता रहा वह सब अपनी संस्थाओं-द्वारा काम करने की बात थी। उतना लिखना मेरे लिए आसान था क्योंकि इतने साल तक मैंने जो कुछ देखा, जो कुछ किया, या जो कुछ सोचा सब अपनी संस्था के अन्तर्गत रह कर ही किया। इसलिए मेरा सारा अनुभव संस्था के साधन के मुताबिक काम करने का ही है। कांग्रेस सरकार के ज़माने में सरकारी महकमा की मार्फत ज़रूर कुछ प्रयोग किया था लेकिन पिछले दिनों जो कांग्रेस सरकार थी वह कुछ राष्ट्रीय सरकार तो थी नहीं। उस समय हमारे मंत्रियों का इतना

अधिकार ही कहाँ था कि वे जन-हित की दृष्टि से ही सारी व्यवस्था करते। अतः उस अनुभव से मुझको लाभ ज़रूर हुआ था फिर भी एक सही जनता की सरकार क्या कर सकती है उसका पूरा-पूरा अनुभव नहीं मिल सकता था। लेकिन साधारण रूप से देहाती समस्याओं को मैंने जैसा समझा है और ग्रामीण जनता को जितना पहिचान सका हूँ उसके आधार पर हम अपनी सरकार-द्वारा किस प्रकार से और क्या-क्या कर सकते हैं उसकी कल्पना मात्र हो सकती है। इस पत्र में मैं उसी की कुछ झलक देने की चेष्टा करूँगा। इस सिलसिले में एक बात ध्यान में रखनी होगी कि मैं जो कल्पना करूँगा वह अपने उद्देश्य, दृष्टिकोण तथा सिद्धान्त के अनुसार ही होगी। और तुम को मालूम ही है कि मैं उसी मार्ग से चलना चाहता हूँ जो मेरे विचार से बापू का बताया हुआ मार्ग है और जिसका ज़िक्र मैंने जेल से प्रथम पत्र में किया था। अतः मैं जिस प्रकार योजना बनाने का विचार करता हूँ उसका मूल होगा ग्राम-स्वावलम्बन।

संघटन के दो भाग

यह सच है कि हमारे भविष्य की राष्ट्रीय सरकार प्रारम्भ में किस प्रकार की होगी, यह हमको पता नहीं है। उसकी रूपरेखा तो भारतीय जनता तय करेगी। लेकिन विधान चाहे जिस प्रकार का बने यह तो तय ही है कि हमारी सरकार का रूप कुछ संघराष्ट्र के तरीके का होगा। उसमें हर एक प्रान्त अपनी-अपनी आन्तरिक व्यवस्था करेगा। हमारा भी आदर्श तो यही है कि जहाँ तक हो सके संघटन के नीचे की इकाई अपनी भीतरी व्यवस्था के लिए स्वतंत्र हो। अतः हम जो ग्राम-सुधार योजना की कल्पना करेंगे वह किसी एक प्रान्त के लिए होगी। दूसरे प्रान्तों की बातों की जानकारी मुझको है ही क्या? अतः मेरे लिए अपने प्रान्त की स्थिति पर विचार करना आसान होगा। मैंने पहले ही कहा है किसी योजना बनाने से पहले हमको जिस क्षेत्र के प्रोग्राम बनाना है उसकी मौजूदा स्थिति का अध्ययन करना

होगा। फिर हमको यह सोचना होगा कि हम कितने साल की योजना बनावें। योजना का समय तय करने के लिए हमको यह तय करना होगा कि हमारा ध्येय क्या है ? फिर हमको इस बात पर विचार करना होगा कि हमारा मार्ग क्या होगा और संघटन का कल-पुर्ज़ा किस प्रकार का है। इस संघटन के दो विभाग होंगे (१) सरकारी व्यवस्था-सम्बन्धी और (२) देहाती समिति आदि का। एक निरीक्षण तथा सहायता के लिए, और दूसरा संघटन तथा व्यवस्था के लिए होगा।

मैं लिख चुका हूँ कि सरकार-द्वारा भी जो ग्राम सुधार का काम होगा उसका सिद्धान्त तथा तरीका वही होगा जो हम अपनी संस्थाओं में बर्तते हैं। केवल फ़र्क़ यह होगा कि जिन समस्याओं को हमने अपने साधन के बाहर का कर छोड़ दिया है उन्हें भी इस योजना में सम्मिलित करना होगा और हमने जैसे मूल उद्योग चर्खा को लिया है उसी प्रकार सरकारी योजना में मूल उद्योग खेती को लेकर बाकी उद्योगों को उसी से सम्बन्धित करना होगा। उद्योग के सिलसिले से एक और बात का ध्यान होना ज़रूरी है। हमको पहले ही तय करना होगा कि किस उद्योग को विकेन्द्रित ग्राम-उद्योग के रूप में चलाया जाय और किस उद्योग को केन्द्रीय उद्योग के रूप में चलाना होगा। इनकी सूची बताना कठिन है। समय आने पर उन्हें तय करना होगा। इस समय कुछ सिद्धान्तों पर विचार करना काफ़ी होगा।

पिछले एक पत्र में मैंने ग्राम-उद्योगों को तीन श्रेणियों में बाँटा है और इस बँटवारे में एक सिद्धान्त निश्चित किया था। ग्राम-उद्योग तथा केन्द्रीय उद्योग के बारे में भी हमें उसी तरह के सिद्धान्त के आधार पर निश्चय करना होगा। मैं शुरू से ही कहता रहा कि जहाँ तक सम्भव हो हमको आवश्यक सामान ग्राम-उद्योग के ज़रिये यानी विकेन्द्रित प्रणाली से प्राप्त करने की चेष्टा करनी है। लेकिन कुछ उद्योग ऐसे हैं जिनके लिए प्रकृति ने हमको कच्चा माल केन्द्रित रूप से ही दिया है या जिनके उत्पादन

में दूर दूर के साधनों की आवश्यकता हो या जिनकी उत्पत्ति में खतरा ज्यादा हो या जिनकी उत्पत्ति के लिए इतनी ज्यादा शक्ति की आवश्यकता हो जो मनुष्यों या पशुओं के परिश्रम से प्राप्त होना सम्भव नहीं है, उन्हें हमेशा केन्द्रीय उद्योगों के रूप में, जन-सेवा के सिद्धान्त से, चलाना होगा। कुछ ऐसे उद्योगों के उदाहरण के लिए खानों का काम, लोहे और इस्पात का काम, रेल तार का काम, जहाज़ मोटर आदि के काम का उल्लेख किया जा सकता है। इसके अलावा अधिकांश दैनिक आवश्यकता के सामान तो ग्राम-उद्योग से ही प्राप्त हो सकते हैं। ग्राम-उद्योगों के प्रकार तथा कुछ मुख्य उद्योगों की सूची मैं पहले पत्र में लिख चुका हूँ। हम इस समय केवल ग्राम-सुधार योजना पर विचार कर रहे हैं। अतः केन्द्रीय उद्योग हमारे विचार के बाहर की चीज़ है। हाँ, उनमें कोई ऐसा उद्योग हो, जिसपर देहाती कार्यक्रम का कुछ आधार हो तो उसपर थोड़ा विचार कर लिया जायगा।

मौलिक आधार

मैंने कहा है कि सुधार-योजना बनाने से पहले हमको अपने गाँव की मौजूदा स्थिति जान लेनी चाहिए। जिस प्रान्त की योजना बनानी है उसका क्षेत्रफल क्या है, आबादी कितनी और किस प्रकार की है, लोगों के पेशे क्या हैं, औसत आमदनी क्या है, उस आमदनी का खर्च किस प्रकार का है; उसका कितना खाते हैं और दूसरे काम में कितना लगाते हैं, लोगों पर कर्ज़ा है तो कितना है, मुख्य उद्योग खेती का क्या हाल है, कितनी खेती लायक ज़मीन है, कितने में खेती होती है, खेती-सुधार में क्या-क्या बाधाएँ हैं—साधन की कमी के कारण या जानकारी की कमी के कारण या कानूनी बाधा के कारण; पशुओं की क्या तादाद है, उनकी हालत क्या है, चरागाह कितना है, जंगल कितना है, उनमें उद्योग के लिए क्या क्या सामान मिल सकता

जाँच और जानकारी

है, इनमें से कुछ बातों की तो समय-समय पर जाँच पहले से होती रहती है, कुछ चीजों की जाँच राष्ट्रीय सरकार को नये सिरे से करना है। इसके मतलब यह नहीं है कि राष्ट्रीय सरकार कायम होते ही केवल जाँच ही करती रहे और सम्पूर्ण स्थिति की जाँच होने पर ही कोई काम शुरू करे। शुरू में तो जितनी बातों की जानकारी है उसी के आधार पर काम शुरू करना होगा। इसके अलावा नई सरकार को पिछले महकमों को देखना होगा कि वे कितना और किस दृष्टिकोण से काम करते हैं। उन्हें सुधारा जा सकता है या बदलना ज़रूरी है। नई परिस्थिति में नये-नये दृष्टिकोण के लिए तथा नई आवश्यकताओं के लिए जो कार्यकर्त्ता अब तक काम करते थे उन्हीं से काम चल जाएगा या दूसरे लोगों को तैयार करना होगा।

यहाँ जेल में बैठ कर संयुक्तप्रान्त की आज की स्थिति ऊपर लिखी बातों पर क्या है, ठीक-ठीक बताना मुश्किल है। फिर भी जितना मालूम है उस पर विचार कर लेना ही ठीक होगा। बाकी बातों की जाँच तो जब अपनी सरकार होगी तो आसानी से हो जायगी। आज अगर कुछ मुख्य बातों की बाबत ठीक-ठीक स्थिति मालूम कर लें तो हम किस तरह की योजना बनावें, यह सोचना हमारे लिए आसान हो जायगा। अतः मैं नीचे अपने प्रान्त की हालत की कुछ मुख्य बातों पर प्रकाश डालने की कोशिश करता हूँ।

क्षेत्रफल तथा आबादी—प्रान्त का क्षेत्रफल १०६२४७ वर्गमील है और आबादी ५,५०,२०,६१७ है यानी प्रति वर्गमील की आबादी ५१८ है। इस आबादी में ४४५ शहरों की ६८,५५,२६८ और १०२३८८ ग्रामों की ४,८१,६५,३४९ है। अर्थात् गाँव की आबादी कुल आबादी की ८७ सैकड़ा है। हमको इसी ८७ प्रतिशत आबादी के भविष्य की बात सोचना है। इस प्रान्त के गांवों की आबादी में प्रत्येक १००० पुरुष में ९५४ स्त्रियाँ हैं। इस हिसाब से औसत प्रति गाँव की आबादी ४७० पड़ती है। प्रति गाँव की जन-संख्या का बँटवारा

इस प्रकार है :—

अवस्था	कुल	स्त्री	पुरुष
बूढ़े (६० से ऊपर)	२९	१५	१४
प्रौढ़ (१६ वर्ष से ६० तक)	२५३	१२४	१२९
लड़के (७ वर्ष से १५ तक)	१२२	६०	६२
बच्चे (जन्म से ६ तक)	६६	३२	३४

तुमको मालूम होगा कि हमारा प्रान्त खेती-प्रधान प्रान्त है। सरकारी रिपोर्टों से मालूम होगा कि इस प्रान्त की कुल आबादी की ७३ सैकड़ा खेती से गुजारी करती है। यानी देहाती जनसंख्या का साढ़े तिरासी सैकड़ा लोग खेती पर भरोसा करते हैं। अगर ५ व्यक्ति का परिवार माना जाय तो प्रति गाँव की बस्ती ९४ परिवारों की होती है। इसमें साढ़े अठत्तर परिवार खेती करते हैं। बाकी साढ़े तेरह परिवार क्या करते हैं, इसका हिसाब ठीक-ठीक मैं नहीं दे सकता। शायद किसी ने इसका हिसाब लगाया भी न होगा। मैं समझता हूँ, इनमें अधिक से अधिक २ या ३ परिवार कुछ उपयोगी काम करते होंगे और बाकी बैठ कर साढे अठत्तर किसान परिवारों पर बोझ बने हुए हैं। जो लोग उपयोगी काम में लगे हैं उनमें कुछ तो बाहर नाई, धोबी आदि सेवा का काम करते हैं और बाकी कुछ न कुछ उद्योग में लगे हुए हैं। लेकिन उद्योग के नाम से गाँव में है ही क्या? प्राचीन गृह-उद्योग में जो कुछ थोड़ा बहुत जिन्दा रह गया है वह सब बाज़ार की सहूलियत के कारण शहर और कस्बों में ही केन्द्रित हो गया है। यहाँ तक कि सार्वजनिक आवश्यकता का उद्योग बुनाई भी कस्बों और शहरों में ही रह गई है। गाँवों में जो बुनकर थे उनमें अधिकांश खेती में चले गये हैं या खेती के साथ कुछ लोग अबेर-सबेर कभी-कभी बुनाई भी कर लेते हैं। इसके अलावा देहातों में ग्रामीण आवश्यकता के लिए कहीं-कहीं कुछ लोहार, बढ़ई, कुम्हार, चर्मकार बसे हुए दीख

पड़ते हैं। लेकिन उनके काम को हम उद्योग न कह कर किसानों की सेवा कहें तो शायद अधिक सही होगा। कहीं कहीं एक आध स्थान पर प्राचीन उद्योग का ध्वंसावशेष रह गया है। लेकिन उनकी संख्या इतनी थोड़ी है कि उनसे प्रति गाँव के हिसाब में कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

आमदनी—वस्तुतः भारत के लोगों की औसत आमदनी क्या है, इसका हिसाब अर्थशास्त्री अब तक शायद ही ठीक से कर पाये हैं। इस मामले में भिन्न-भिन्न पंडितों का भिन्न-भिन्न मत है। कोई ३०) सालाना कहता है तो कोई ७०) तक बताता है। इस तरह विभिन्न अर्थशास्त्रियों की राय के अनुसार हमारी औसत आमदनी ३०) से ७०) प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष है। लेकिन यह आमदनी भारत की सारी आबादी का औसत है। यह तो तुमको मालूम है कि आज के केन्द्र-वाद के जमाने में धन भी प्रधानतः शहरों में ही केन्द्रित है। गाँव के किसी को कुछ आमदनी होने भी लगे तो वे गाँव छोड़ कर शहर में आकर बसने लगते हैं। इसलिए उपर्युक्त हिसाब से गांव की आमदनी का कुछ भी अन्दाज़ नहीं कर सकोगी। मुझको मालूम नहीं, किसी ने भारत के गावों का अलग हिसाब लगाया है या नहीं। हाँ, सन् १९३१ में एक सज्जन ने एक हिसाब अन्दाज़ से निकाला था। इनका कहना है कि खेती करने वालों की प्रति व्यक्ति आमदनी ४२) सालाना है। लेकिन उनके हिसाब से भी ठीक अन्दाज़ा लगाना कठिन है। प्रथमतः उन्होंने खेती की कुल उत्पत्ति पर अपना आधार रक्खा है, उनमें से कितना हिस्सा गाँवों के किसानों के पास रहता है और कितना शहर के व्यापारी महाजन आदि के पास चला जाता है, कितने हिस्से उन जमींदारों के हैं जो शहरों में रहते हैं। फिर यह आमदनी उनकी है जो खेती करते हैं। जो १०-१२ परिवार ग्रामों में वैसे ही बेकार रहते हैं वे भी इसी आमदनी में हिस्सा बटाते हैं। इसके उपरान्त उन्होंने उत्पत्ति का बँटवारा उतनी ही आबादी में किया जो १९२१ की थी।

दस साल में जो आबादी बढ़ी उसका हिसाब नहीं किया गया। इस प्रकार अगर सही स्थिति की जाँच की जाय तो आमदनी और कितनी कम हो जायगी, इसका अन्दाज़ तुम खुद कर सकती हो।

आज ही मैं लखनऊ के हिन्दुस्थान नामक एक साप्ताहिक पत्र में (२१ अप्रैल सन् १६४४) श्री राधाकमल मुखर्जी का एक लेख पढ़ रहा था। उसमें उन्होंने कहा है भारत के खेतिहर परिवारों की औसत आमदनी ६०) प्रति परिवार प्रतिवर्ष है। श्री राधाकमल मुखर्जी का हिसाब काफ़ी सही माना जा सकता है। उन्होंने कई वर्ष तक और कई बार भारत के देहातों की आर्थिक परिस्थितियों की जाँच खुद की है। अतः उनका कहना प्रामाणिक है। ५ व्यक्ति का परिवार मान कर उनके हिसाब से प्रति व्यक्ति आमदनी १८) होती है। यह आमदनी खेतिहरों की है; अगर इसमें बेकार आबादी शामिल की जाय तो और कम हो जायगी। मध्य-प्रान्त की कांग्रेस सरकार ने श्री कुमारप्पा की प्रधानता में एक कमेटी मुकर्रर की थी। उन लोगों ने ६०६ गाँवों की सम्पूर्ण जाँच की थी। उनका कहना है कि मध्यप्रान्त के गाँवों की औसत सालाना आमदनी लगभग १२) है। अगर यह मान लें कि मध्य-प्रान्त हमारे सूबे से गरीब है और श्री कुमाराप्पा तथा श्री मुखर्जी के रिपोर्टों पर विचार करें तो हम आसानी से यह मान सकते हैं कि युक्तप्रान्त की ग्रामीण जनता की औसत आमदनी १५) वार्षिक प्रति व्यक्ति है।

रहन-सहन—अब देखना यह है कि इस १५) में वे गुज़र किस तरह करते हैं? क्या खाते हैं, क्या पहनते हैं और कैसे घर में रहते है? लेकिन इसमें देखना ही क्या है? मकान की बात तो पूछो मत, एक लम्बी दीवार; उस पर फूस का या ईख के सूखे पत्ते का छाजन, सो भी चारों ओर चूता रहता है। दरवाजा बाँस की कइनों का एक टट्टर। फैजाबाद के देहातों में घूमने की कहानी मैंने तुमको लिखी थी; उन पत्रों में इन घरों का बयान काफी किया था। अतः उन्हें फिर दोहराना

बेकार है और यह दुःख की कहानी जितनी कम कही जाय उतना ही अच्छा। और वस्त्र! वह तो नहीं के बराबर है। गांव में किस तरह लोग जाड़े में रात भर आग के सामने बैठकर और दिन में धूप खाकर दिन काटते हैं उसका हाल पहले लिख चुका हूँ। भारत के औसत कपड़े की खपत १३ गज़ में से शहर वालों का हिस्सा निकाल देने से गाँव की औसत शायद ८ या ६ गज़ प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष की हो और इस प्रान्त की हालत इससे कुछ भिन्न तो है नहीं। अब रह गया भोजन। जहाँ एक व्यक्ति की कुल सालाना आमदानी १५) मात्र है वहां के लोगों के भोजन का क्या हिसाब लगाया जाय। तुम तो गृहस्थी चलाने वाली हो। सुनते हैं तुम लोग (स्त्री जाति) घर को इस तरह चलाती हो कि दूसरों को पता नहीं चलता। लेकिन तुम लोग भी इसका अन्दाज़ नहीं कर सकतीं कि इतने में परिवार का भोजन किस तरह हो सकता है। अगर ३-४ रुपये अन्य आवश्यकताओं में खर्च हों तो भोजन के लिए १) मासिक भी तो नहीं बचता है। हमारे पढ़े-लिखे भाई-बहिन गाँव की गन्दगी देखकर कहने लगते हैं कि इस गन्दगी के बीच रहकर लोग बीमार होकर मर क्यों नहीं जाते और गाँव के लोग जिन्दा रहते हैं इसी पर आश्चर्य होता है। अगर उन शिक्षित भाइयों को भोजन की स्थिति मालूम हो जाय तो मारे डर के गाँव को जाना ही नहीं चाहेंगे। क्योंकि उनको विश्वास ही नहीं होगा कि गांव में जो लोग दीख पड़ते हैं वे जीवित मनुष्य हैं। उनको यह शक होगा कि ये कहीं मृत ग्रामवासी की प्रेतात्मा तो नहीं हैं। क्योंकि वे जीवित मनुष्य होते तो क्या खाकर जिन्दा रहते? भोजन-सम्बन्धी स्थिति, जो रिपोर्टों में दिखाई पड़ती है, गांव की स्थिति नहीं है क्योंकि रिपोर्टों में हमेशा जितना प्राप्त भोजन है उसे कुल आबादी से तकसीम किया जाता है। शहर और गांव का अनुपात अलग कहाँ रहता है। इसलिए भी समस्या की भीषणता मालूम नहीं पड़ती। वैसे गाना गाने के लिए ही देहात "सुजलां सुफलाँ शस्य श्यामलां" है।

वास्तविक स्थिति तो है—"पानी पानी हर हर पानी। चारों ओर पानी। लेकिन पीने को बून्द भर भी नहीं।" जैसा श्री डवलू० एस० व्लंट नाम के एक अंग्रेज महाशय बहुत साल पहले, जब कि गाँव में खाना आज से कहीं अधिक था, यहाँ की हालत देखकर बोल उठे थे—"हम ने अपनी रैय्यत को हिंसा से, मृत्य-भय से बचाया लेकिन भूख से मृत्यु भय को बढ़ाया ही है।" मालूम नहीं उक्त महाशय की आत्मा आज क्या कह रही होगी। आख़िर हिंसा से कितने आदमी मरते हैं? कहीं एकाध फौज़दारी हो जाय तो सनसनी फैल जाती है। लेकिन भूखे करोड़ों की मौत हो जाती है और पता ही नहीं चलता है। इसीलिए बापू ने अंग्रेज़ों से कहा है—"अगर कोई चार्ज लेने वाला नहीं है तो तुम अराजकता के हाथ मुल्क को छोड़ चले जाओ। वह स्थिति हमारे लिए आज से कहीं अच्छी होगी।"

अगर सारे भारत के अनाज का हिसाब देखा जाय तो हमारी कुल उत्पत्ति ६—७ करोड़ टन के करीब होगी। इसमें जितना विदेश चला जाता है, जितना बीज के लिए रक्खा जाता है, जितना यातायात में नष्ट होता है, जितना पशुओं के लिए अलग किया जाता है उनको घटा दिया जाय तो ५ करोड़ टन से भी कम बचेगा।

देहात के लिए अन्न और दूध का औसत

अगर कम से कम आवश्यकता का हिसाब जोड़ा जाय तो हमको ६ करोड़ टन के करीब चाहिए। इस कमी में से शहर का अनुपात निकालने पर देहात के लिए आधा भी भोजन नहीं बचता है। हमारे प्रान्त की भी यही हालत है। दूध-घी का हिसाब भी इसी तरह का है। तुम लोगों को ख्याल है कि पंजाब और युक्तप्रान्त में लोग घी-दूध खूब खाते पीते हैं। लेकिन स्थिति कुछ और है। युक्तप्रान्त में १० करोड़ मन दूध होता है जिसमें ५० लाख मन के करीब तो घी-दूध में बाहर चला जाता है। अतः ६॥ करोड़ मन दूध साढ़े पाँच करोड़ आबादी के लिए बचता है। यानी १ मन २६ सेर सालाना। अगर सब को बराबर मिले तो

हर व्यक्ति का ३ छटाँक होता है। उसी में से चाहे पिओ चाहे घी बनाओ, चाहे और कुछ। लेकिन तुमको मालूम है कि इसका ७५ सैकड़ा शहर में ही दूध या घी के रूप में खर्च हो जाता है। इस तरह देहात में मुश्किल से १ छटाँक दूध प्रति व्यक्ति के लिए बचता है। इतने में तुमको हमारे प्रान्त के देहात की आमदनी, और वे क्या खाते हैं, आदि की स्थिति का अन्दाज़ हो गया होगा।

घर-द्वार पिछले पत्र में मैंने देहात के रास्तों का जिक्र किया था; शहरी भाई इन रास्तों के मारे गाँव जाना ही नहीं पसन्द करते हैं। दूसरों की बात छोड़ दो; हमारे कांग्रेसी भाई, जिनका दावा देहातियों की सेवा करने का है, सड़कों के न होने से गाँवों में जाने में घबड़ाते हैं। रणीवाँ जाने और देखने के इच्छुक होने पर भी जब लोग रास्ते की बात सुनते थे, तो वहाँ जाना स्थगित कर देते थे। इधर जब हम लोगों ने सड़क आदि की थोड़ी सहूलियत कर दी थी तब लोग कुछ-कुछ आने लगे थे। लेकिन गाँव की हालत अगर देखी जाय तो रास्ते की कठिनाई उसके आगे कोई चीज ही नहीं है। और हो भी कैसे? जहाँ आमदनी का यह हाल है, वहाँ घर बनावें कहाँ से? एक दो मुखिया, नम्बरदार को छोड़ किसी के पास ठिकाने का घर नहीं है। थोड़ी सी मिट्टी की दीवार और ऊपर से घास या ईख के पत्ते का छाजन। अधिकांश घर ऐसे हैं। वे घर भी इतने चूते हैं कि बरसात में रात भर जागकर ही काटनी पड़ती है। पश्चिमी ज़िलों में कुछ घर ज़रूर इससे अच्छे हैं। लेकिन वे भी मिट्टी के ढेर ही हैं। पशुओं को घर के अन्दर रखने की बात मैं पहले लिख चुका हूँ। घरों में कहीं भी किसी किस्म के रोशनदान न होने पर इस प्रकार पशुओं का बाँधना अस्वास्थ्यकर है, सो तुम समझ सकती हो। उतने छोटे घर के एक कोने पर ही खाना पकाने का चूल्हा भी होता है। दूसरी निकलने की जगह न होने से घर भर में धुआँ भर जाता है। मवेशियों की गन्दगी के साथ जब इस धुआँ का

हर व्यक्ति का ३ छटाँक होता है। उसी में से चाहे पिश्रो चाहे घी बनाओ, चाहे और कुछ। लेकिन तुमको मालूम है कि इसका ७५ सैकड़ा शहर में ही दूध या घी के रूप में खर्च हो जाता है। इस तरह देहात में मुश्किल से १ छटाँक दूध प्रति व्यक्ति के लिए बचता है। इतने में तुमको हमारे प्रान्त के देहात की आमदनी, और वे क्या खाते हैं, आदि की स्थिति का अन्दाज़ हो गया होगा।

घर-द्वार — पिछले पत्र में मैंने देहात के रास्तों का जिक्र किया था; शहरी भाई इन रास्तों के मारे गाँव जाना ही नहीं पसन्द करते हैं। दूसरों की बात छोड़ दो; हमारे कांग्रेसी भाई, जिनका दावा देहातियों की सेवा करने का है, सड़कों के न होने से गाँवों में जाने में घबड़ाते हैं। रणीवाँ जाने और देखने के इच्छुक होने पर भी जब लोग रास्ते की बात सुनते थे, तो वहाँ जाना स्थगित कर देते थे। इधर जब हम लोगों ने सड़क आदि की थोड़ी सहूलियत कर दी थी तब लोग कुछ-कुछ आने लगे थे। लेकिन गाँव की हालत अगर देखी जाय तो रास्ते की कठिनाई उसके आगे कोई चीज ही नहीं है। और हो भी कैसे? जहाँ आमदनी का यह हाल है, वहाँ घर बनावें कहाँ से? एक दो मुखिया, नम्बरदार को छोड़ किसी के पास ठिकाने का घर नहीं है। थोड़ी सी मिट्टी की दीवार और ऊपर से घास या ईख के पत्ते का छाजन। अधिकांश घर ऐसे हैं। वे घर भी इतने चूते हैं कि बरसात में रात भर जागकर ही काटनी पड़ती है। पश्चिमी ज़िलों में कुछ घर ज़रूर इससे अच्छे हैं। लेकिन वे भी मिट्टी के ढेर ही हैं। पशुओं को घर के अन्दर रखने की बात मैं पहले लिख चुका हूँ। घरों में कहीं भी किसी किस्म के रोशनदान न होने पर इस प्रकार पशुओं का बाँधना अस्वास्थ्यकर है, सो तुम समझ सकती हो। उतने छोटे घर के एक कोने पर ही खाना पकाने का चूल्हा भी होता है। दूसरी निकलने की जगह न होने से घर भर में धुआँ भर जाता है। मवेशियों की गन्दगी के साथ जब इस धुआँ का

होता है उसी में लोग आबदस्त लेते हैं, बर्तन माँजते हैं, धोबी का कपड़ा धुलता है, सुअर लोटते हैं और पशुओं को पानी पिलाया जाता है। और कभी-कभी लोग भी उसी में डुबकी लगाकर नहा लेते हैं। गड्ढों की हालत पश्चिमी ज़िलों से पूर्वी ज़िलों में ज्यादा भयानक है क्योंकि पश्चिमी इलाकों में फिर भी पानी सूखकर वैशाख-जेठ की धूप तो लग जाती है।

ऐसे घरों में कितना सामान होगा, इसका अन्दाज़ लगाना कठिन नहीं होना चाहिए। बर्तनों में जिनके पास कुछ सामान पीतल का हो तो वे अच्छी दशा में हैं, ऐसा कहा जा सकता है। नहीं तो मिट्टी के बर्तन ही काफी हैं। मैंने देखा है कि ग्राम-उत्थान के प्रचारार्थ जो लोग गांवों में जाते हैं वे प्रायः गाँव के लोगों के ज़ेवर-प्रेम के खिलाफ़ खूब ज़ोरों से प्रचार करते हैं। यह बात गाँवों का उद्धार करने वालों के लिए नशा सा बन गया है। लेकिन ज़रा खोज तो करो; उनके पास जेवर नाम से है क्या चीज। सोने का जेवर तो किसी के पास है ही नहीं। जो कुछ सोना था वह तो पिछले दिनों सरकार की "मुद्रा-राक्षस" की कृपा से बाहर भेजकर हमारे लोगों ने, सरकारी मेम्बरों की भाषा में, विपुल सम्पत्ति का लाभ उठा लिया है। जो कुछ बचा था वह भी इस लड़ाई में हिन्दुस्तान की सरहद, अफ्रिका, इटली और हांगकांग की रक्षा में समाप्त कर देना पड़ा। तिस पर जो कुछ खुर-चन बाकी रहा वह सब जापानी बम से पिघलने न पावे, इसलिए इँगलैंड में सुरक्षित रक्खा हुआ है। इस प्रकार सोना शायद कहीं किसी कोने-खाँचे में एकाध दाना अटका रह गया होगा। लेकिन महाजनों की सर्वशोषणी दृष्टि से वह बचा है या नहीं, कौन बतावे? जब कर्ज का पैसा पूरा होगा तो उतना "स्वर्ण कण" वापस हो जायगा, यह आशा कई पुश्त तक तो रहती ही है। आज जिसके पास थोड़ा चांदी का जेवर है वे लोग भाग्यशाली कहलाते हैं। बाकी लोगों के पास जो रह गये हैं वे हैं कांसा, पीतल आदि धातुओं के

वने जेवर। लुटेरों के जाल से छनकर जो कुछ वचा है उसे ग्रामवासी अपने उद्धारकों के और सेवकों के प्रचार की आँधी से उड़ने न दे सकें तो गनीमत है।

वाकी सामान में एक चक्की, एकाध हल और मरियल बैल दिखाई देंगे। कहीं एकाध फटी कथरी और गुदड़ी भी दीख पड़ती है, सो भी सब के घर नहीं।

कर्ज़--गाँवों के कर्ज की हालत तो मैं पहले ही लिख चुका हूँ। यहाँ केवल इतना कहना काफ़ी होगा कि सन् ३० तक हमारे प्रान्त के गाँवों पर १२४ करोड़ का कर्ज़ा था। उसके बाद मंदी के कारण देहाती जनता की हालत अधिक खराव हुई। उसका कोई हिसाव मुझको मालूम नहीं। लेकिन जिस अनुपात से वाद को कर्ज की रकम वढ़ी है उससे अगर १७० करोड़ का कर्ज है, ऐसा कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। यह कर्ज भी उनको अठारह से सैंतीस सैकड़ा तक के चक्रवृद्धि सूद के हिसाव से मिला है। जिस परिस्थिति में लोगों को कर्ज लेना पड़ता है उसको देखते हुए सूद पर रुपया मिल जाता है, यही गनीमत है। उनके पास है क्या जिसके आधार पर वे महाजन को विश्वास दिला सकें। उनकी आमदनी, भोजन-वस्त्र का और उनके घर-दुआर सामानादि का हाल तो देखा। ऐसी हालत में महाजन भला किस भरोसे कम सूद पर रुपया दें? आखिर वे कुछ अपना दिवाला निकालने के लिए तो वैठे नहीं हैं? उनको तो रुपया न मिलने का खतरा हमेशा बना रहता है। इसलिए वे इतना सूद ले लेते हैं जिससे डूबन्त रकम की हानि भी पूरी हो सके। आज की परिस्थिति में लोग महाजनी के खिलाफ़ बैंकों तथा कोआपरेटिव क्रेडिट सोसाइटी का बेहद प्रचार करते हैं। मुझको पूरा विश्वास है कि ऐसे ग्रामीण बैंक अगर आज स्थापित किये जायँ तो महाजन जितने लोगों को कर्ज़ देता है उनमें से ६५ सैकड़ा लोगों को कर्ज़ ही नहीं मिलेगा क्योंकि बिना सम्पत्ति के ऐसा सभ्य बैंक क़र्ज़ देगा ही,

नहीं। आज जो गाँवों में को-आपरेटिव सोसाइटियाँ हैं उनको भी तो मैंने आम तौर पर पंद्रह सैकड़ा सूद पर रुपया देते देखा है। हालाँ कि उनको रुपया वसूल करने का इतना ज़बरदस्त कानूनी हक प्राप्त है। देशी महाजनों के अलावा एक प्रकार का कर्ज़ और है। वह है अफ़गान महाजनों का, जिनको इधर आगा कहते हैं। उनके सूद की दर और वसूली का तरीका और भी भयंकर है। वे आम तौर पर दो आना प्रति रुपया प्रति मास लेते हैं। हिसाब से डेढ़ सौ रुपया सैकड़ा पड़ा। और वसूली का तरीका क्या है, यह तुम्हें लिखकर क्या बताऊँ। कौन नहीं जानता है?

खेती-बारी—वस्तुतः देहात की स्थिति का मतलब खेती-बारी की ही स्थिति है। पहले ही मैंने कहा है कि साढ़े तिरासी सैकड़ा लोग खेती पर भरोसा करते हैं। इस खेती की हालत क्या है, उसे भी देख लो। पंजाब के श्री डार्लिंग साहब के हिसाब से इस प्रान्त के प्रति किसान को ढाई एकड़ भूमि पड़ती है। तुमको मालूम है, युक्तप्रान्त जमींदारी-प्रधान प्रान्त है। अगर उन ज़मींदारों की, जिनके पास बड़ी-बड़ी सीरें हैं, भूमि घटाकर जोड़ा जाय तो युक्तप्रान्त में प्रति किसान के पास औसत जमीन शायद ही दो एकड़ रह जाय। यहां के छोटे-छोटे खेतों की हालत मैंने पहले ही लिखी थी। दो एकड़ खेत अगर ६-७ जगहों में बँटा हो तो उस छोटेपन का अन्दाज कर सकती हो। मैंने सैकड़ों ऐसे टुकड़े देखे हैं जिन पर बैल हल लेकर घूम ही नहीं सकते और फावड़े से ही उन्हें गोड़ना पड़ता है।

इस प्रान्त की कुल ज़मीन ६,७६,८६,०८० एकड़ है। जिसकी ५७.१ सैकड़ा यानी ३८,८५५, ७४४ एकड़ खेती लायक है। जितनी ज़मीन खेती लायक है उसका ६१.६ सैकड़ा ज़मीन पर आज कल खेती हो रही है। इस प्रकार आज हमारे प्रान्त में ३५,६१६,२०० एकड़ जमीन पर पैदावार होती है। खेती लायक जमीन के २२.६ सैकड़ा पर दो बार अनाज बोया जाता है। इस हिसाब से प्रति गांव में औसत

२४७.८ एकड़ पर खेती होती है और ३२.३ एकड़ खेती लायक ज़मीन बेकार पड़ी है। इसका मतलब यह नहीं है कि हर गाँव में ३२. ३ एकड़ खेती लायक जमीन खाली पड़ी है। अलग-अलग ज़िले की अलग-अलग स्थिति है। जैसे नैनीताल, झांसी और मिर्जापुर जिले में क्रमशः खेती लायक ज़मीन के ७८.६,७६.५ और ७८.२ प्रतिशत जमीन पर ही खेती होती है। अतः इन ज़िलों में जितनी खाली जमीन है उतनी खाली ज़मीन दूसरे ज़िलों में नहीं है। अलमोड़ा ज़िले में जितनी ज़मीन खेती लायक है सब पर खेती हो रही है। इस तरह अगर देखा जाय तो औसतन २५ एकड़ जोतने लायक ज़मीन प्रति ग्राम खाली होगी।

उपर्युक्त ज़मीन का हिसाब मैंने १६४१ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट के अंकों के अनुसार किया है। लेकिन युक्तप्रान्त सरकार की खेती-संघटन कमेटी १६४३ के लोगों ने कुछ ऐसी जमीन का भी हिसाब किया है जिसको कोशिश करने से खेती के काम में लाया जा सकता है। उन्होंने खेती लायक, लेकिन खेती नहीं होती है ऐसी, ज़मीन को दो हिस्सों में बांटा है। एक ऐसे ऊसर, जिन्हें काम में लाया जा सकता है; दूसरा मामूली। उनके हिसाब पड़ी हुई जमीन इस प्रकार है :—

मामूली जोतने लायक ६,८६६ ४५२ यानी ६६.३ एकड़ प्रति गाँव।

ऊसर जोतने लायक ५,१००,६२१ यानी ४६.८ एकड़ प्रति गाँव।

दोनों हिसाब मिलाकर हम अपने प्रान्त की खेती लायक ज़मीन का इस प्रकार बँटवारा कर सकते हैं। मैं प्रायः प्रति गांव की औसत लगा कर ही बताने की चेष्टा करूँगा जिससे समझने में आसानी हो।

प्रति ग्राम की औसत

कुल रक़बा ६६४.१ एकड़

परती आसानी से खेती होने लायक ३१.३ एकड़

खेती होती है ३४७.८ एकड़
जिन्हें खेत बनाया जा सकता है ९४.० एकड़
ऐसे ऊसर जिनको खेत बनाया जा सकता है ४९.८ एकड़

जिस जमीन पर खेती होती है उसमें से ८५.८ एकड़ पर साल में दो फस्लें होती हैं। इस प्रकार आज फस्ल के लिए प्राप्त कुल जमीन ४३३.३ एकड़ है।

एक बात का ख्याल रखना। मैंने ऊपर का जो हिसाब प्रति गांव का बताया है वह यह मान कर कि सारी खेती लायक जमीन गांव की है। लेकिन ऐसा नहीं होता। तुमने देखा है, छोटे शहरों के अन्दर भी काफी खेती होती है। लेकिन प्रथमतः उनका हिसाब अलग मिलाना मुश्किल है और वह जमीन अनुपात से इतनी कम है कि उसे प्रान्त के १०२३८८ गांवों में बांटने से वह नहीं के बराबर होगी। इसलिए उसे मैंने अपने हिसाब में छोड़ दिया है।

मैंने कहा है कि २ फस्लवाली ज़मीन को जोड़ने पर इस प्रान्त के प्रति ग्राम में ४३३.३ एकड़ ज़मीन पर ४७० आदमियों के गुज़र के लिए अनाज पैदा होता है। केवल ४७० आदमी क्यों; उसी ज़मीन पर उनका भी गुज़र होता है जो देहात के मत्थे शहर में बैठ कर खाते हैं। और अनुपात से उनका ही हिस्सा ज्यादा है।

उक्त जमीन पर फस्ल का बँटवारा इस प्रकार है:—

फस्ल	प्रतिशत	एकड़
गेहूं	१७.६	७६.२१
जव	८.६	३७.२५
चना	१२.४	५३.६८
चावल	१६.८	७२.७५
ज्वार	४.१	१७.७७
बाजरा	४.९	२१.६२

जोन्हरी	४.५	१६.५०
सरसों	.३	२.३०
अलसी	.३५	२.८२
तिल	.७५३	३.२४
अन्य तेलहन	.४०	१.७३
कपास	१.४७	६.३७
तम्बाकू	.२१	.६०
चारा	३.४७	१५.०२
सन	.४८	२.०७
नील	.००२	.०१
फल-तरकारी	.६४	४.०३
कोदो	२.४४	१०.७७
सावाँ	१.३०	५.६३
आलू	.३४६	१.५०
अफीम	.०६	.२६
मटर	६.५	२८.१५
अरहर-उर्द	५.५	२३.८२
ईख	५.०	२१.६३
मसाला	.६७६	४.२०

प्रान्त भर की मुख्य पैदावार का हिसाब इस प्रकार हैः—

अनाज	पैदावार हजार मन	अनाज	पैदावार हजार मन
गेहूँ	७४६७६	सरसों	१३६५६
जव	३५१२७	अलसी	४२३६
चना	४४२२१	तिल	३१०५
चावल	५४४५६	कपास	२८६५
ज्वार	११७७२	तम्बाकू	१७०१

बाजरा	८७२१	ईख	८३७२७
जोन्हरी	२०५२१		

कुल खर्च प्रान्त में ७३३११७ हजार मन

ऊपर के अंक इतने बड़े हैं कि एक दम से पैदावार की हालत की धारणा करना कठिन है। खेती की हालत का अन्दाज़ उसकी प्रति एकड़ पैदावार के हिसाब से ही लगाया जाता है। वस्तुतः कहाँ की खेती कैसी है, इसका मिलान लोग प्रति एकड़ क्या पैदावार है, इस बात से ही करते हैं। अतः तुम भी इस प्रान्त के कुछ मुख्य अनाजों की पैदावार कितनी है देख लो तो आगे योजना बनाने पर आसानी से विचार कर सकोगीः—

अनाज	पैदावार प्रति एकड़	अनाज	पैदावार प्रति एकड़
गेहूँ	६ मन २६ सेर	अन्य तेलहन	४ मन २० सेर
जव	६ मन २६ सेर	कपास	४ मन ३३ सेर
चना	७ मन ३१ सेर	तम्बाकू	१६ मन २२ सेर
चावल	७ मन २० सेर	मटर	७ मन ३० सेर
ज्वार	५ मन १२ सेर	आलू	७५ मन
बाजरा	३ मन २५ सेर	ईख	३६८ मन
जोन्हरी	१० मन ५ सेर	सरसों	५ मन १८ सेर
अलसी	४ मन २१ सेर	तिल	२ मन ४ सेर

इन अंकों से मालूम होगा कि हमारे यहाँ औसत पैदावार कितनी कम है। ऊपर के हिसाब से यह न समझना कि यहाँ की ज़मीन खराब है या यहाँ के किसान बेवकूफ़ हैं। मैंने देखा है, यहाँ ही किसान प्रति एकड़ १५-१६ मन गेहूँ, २० मन धान, १२५ मन आलू और ६०० मन गन्ना पैदा करते हैं। कम पैदा होने के कई कारण हैं। प्रधान कारण है किसानों की गरीबी। उनको न तो उपयुक्त खाद मिलती है और न पानी। फिर बहुत कम जमीन होने से मजबूरन जिस जमीन में जो

अनाज अच्छा नहीं हो सकता है, उसमें भी वही अनाज बोना पड़ता है, नहीं तो खायें क्या? लगान कानून के कारण भी अधिकांश किसानों को जमीन की पैदावार बढ़ाने में दिलचस्पी नहीं है। इन नाना बाधाओं से किसानों को गुजरना पड़ता है। इन बाधाओं की कहानी अगर पूरी पूरी बताने लगूँ तो यह पत्र समाप्त ही न हो पायेगा। अतः उन बाधाओं की बात दूसरे किसी अवसर पर छोड़ इस पत्र में गाँव की आर्थिक स्थिति पर ही कुछ दो-चार बातें बताने की चेष्टा करूँगा।

खाद—खेती बारी का मुख्य साधन खाद-पानी है, यह शायद ही किसी को मालूम न हो। अतः हमको 'यह देखना है कि हमारे प्रान्त में खाद पानी की क्या स्थिति है। पिछले एक पत्र में मैंने कहा है कि हमारे गाँवों में अधिकांश गोबर का कंडा बनाकर जला देते हैं। युक्तप्रान्त पुराना देश है। भारतीय इतिहास के प्रथम युग से ही इसी गंगा यमुना के कंठ पर लोग रहते आये हैं। अतः स्वभावतः इस भूमि पर जंगल बहुत कम रह गया है। ज़मीन के उपजाऊ होने तथा नदीतट पर होने से यहाँ की आबादी भी घनी है। इस कारण लोगों ने अधिक से अधिक जंगल काट कर खेत बना लिये हैं। अब आबादी के अन्दर कोई जंगल रह ही नहीं गया है। वैसे ही इस प्रान्त में कुल इलाके के बीसवें हिस्से से भी कम जंगल रह गया है। फिर यह जंगल भी जंगली इलाकों में केन्द्रित है। अतः उन जंगलों का भी फायदा आम आबादी के लोग विशेष नहीं उठा सकते हैं। इसलिए मैंने कहा है कि जिन इलाकों में लकड़ी है, वहाँ आबादी नहीं, जहाँ आबादी है वहाँ लकड़ी नहीं। अतः आज जलाने के लिए केवल गोबर का कंडा ही रह गया है। गाँव में चले जाओ तो क्या देखोगे? जिधर निगाह उठाओ उधर ही ऊँचे-ऊँचे ढेरों में कंडे भरे पड़े देखोगे। आज गोबर का मुख्य उद्देश्य कंडा हो गया है। ग्रामवासी केवल उतने ही दिन गोबर खाद के लिए रखते हैं जितने दिन कंडा पाथना सम्भव नहीं होता। अगर बरसात में गोबर

रोली लगने का डर न होता तो शायद लोग छप्पर के नीचे कंडा पाथने की व्यवस्था करते। कंडा कितने दिन पाथा जाय, उसका एक नियम पुराने जमाने से चला आता है। हमारे देश में हर चीज के लिए त्यौहार अनुष्ठानादि की व्यवस्था की गई थी ताकि उसके ज़रिए आर्थिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की व्यवस्था नियमित रीति से चल सके और साथ ही उत्सवादि के अनुष्ठान से सांस्कृतिक विकास तथा विनोद व अवकाश का मौका मिले। जिस दिन भ्रातृ-द्वितीया का अनुष्ठान होता है उसी दिन यहाँ यमद्वितीया का उत्सव होता है। उस दिन स्त्रियाँ गोधन कूटती हैं। तुमने कभी गोधन कूटना देखा है? बनारस में रहते समय देखा होगा। उस दिन वे गोबर का एक लम्बा पिंडा बनाती हैं, फिर उसकी छोटी-छोटी चकती बना कर सब अपने यहाँ ले जाती हैं। उसके बाद की एकादशी का दिन देवोत्थान एकादशी कहलाता है, यानी देवता लोग जो बरसात के मारे सोये पड़े रहते हैं, उस दिन उठते होंगे। देवता चाहे जो कुछ करते हों, इससे मुझको बहुत दिलचस्पी नहीं है। मैं तो नरनारायण का उपासक हूँ। मुझको देखना है कि नरजाति उस दिन से क्या करने लगती है। उसी दिन से कंडा के लिए गोबर जमा करने का विधान है। फिर होली से पहले ही कंडा पाथ कर सुखा लेना है और गाँव में जो मंदिर-जैसे ऊँचे-ऊँचे ढेर दिखाई देते हैं, वैसा बना डालना है। इसका मतलब यह है कि कम से कम होली के १५ दिन पहले ही कंडा पाथना बन्द करना ज़रूरी है। इस प्रकार कार्त्तिक सुदी एकादशी से लेकर फाल्गुन की अमावस्या तक यानी साल में चार माह गोबर से कंडा बनाया जाता है। यह अनुशासन उस समय का है जिस समय लोग गोधन से धनी थे। लोग गाय-भैंस दूध के लिए रखते थे। वे अगर सिर्फ आठ माह का गोबर ही खाद के लिए रखते तो काफी खाद खेती के लिए हो जाती थी। लेकिन आज तो वह हालत रह नहीं गई है। आज जो कुछ जानवर गाँव में

हैं वे सब खेत जोतने के लिए जितने बैलों की आवश्यकता है उतने भर के लिए काफी होते हैं। अतः आज की आवश्यकता इस बात की है कि लोग सारा गोबर खाद के लिए छोड़ दें। लेकिन छोड़ना तो दूर रहा पुराने नियम पर भी लोग कायम नहीं रह पाते हैं। उस नियमानुसार तो केवल वे ही चल पाते हैं जो अच्छे जमींदार हैं और जिनके पास पलाश आदि की लकड़ी जलाने के लिए है। बाकी लोग, जिनके पास लकड़ी नहीं, तब तक कंडा पाथते रहते हैं जब तक बरसात के कारण कंडा पाथना असंभव नहीं हो जाता। इस तरह आज अधिकांश गोबर कंडा में चला जाता है। फिर अगर हम कुल गोबर की खाद बना डालें तब भी हमारे प्रान्त भर में २,६४, १८,०२,००० मन खाद होगा। और हमारी आवश्यकता है प्रति एकड़ ३०० मन के हिसाब से १०,६६,५७,६०,००० मन खाद की। मैंने ३०० मन का ही हिसाब रक्खा है क्योंकि साधारणतः अच्छी खेती के लिए इतनी खाद से काम चल जाता है। वैसे तो विशेषज्ञ लोग कम से कम ५०० मन प्रति एकड़ खाद की आवश्यकता बताते हैं। इस प्रकार गोबर का कंडा पाथने के अलावा लोग जलाने की धुन में उन गोबरों को भी बीन डालते हैं जो मैदान या जंगलों में चरते समय पशुओं के मल के रूप में गिरते हैं। अगर उसे पड़ा रहने दें तो भी वह परोक्ष रूप से जमीन के नीचे वहकर कुछ फैलाता ही। नहीं तो मैदान की घास ही ठीक से जमने पाती। इसके अलावा मृत पशु का हाड़-मांस किस प्रकार बेकार जाता है, यह मैं लिख ही चुका हूँ।

सिचाई—पानी के मामले में हालत और भी ख़राब है। यहां किसान को मुख्यतः वर्षा पर ही भरोसा करना पड़ता है। केवल हमारे प्रान्त की ही नहीं बल्कि सारे भारत की यही दशा है। भारत में जितनी खेती होती है उसके पाँचवे हिस्से में ही सिंचाई हो पाती है। हमारे प्रान्त में सिंचाई का प्रबन्ध अच्छा है, ऐसा कहा जाता है।

लेकिन यहाँ भी जितनी खेती होती है उसके तिहाई हिस्से में ही सिंचाई की जाती है। कितनी जमीन किस प्रकार से सींची जाती है उसका ब्यौरा यों है :—

सिंचाई का जरिया	रकबा सिंचाई का एकड़ में	
सरकारी नहर से	३७,६२,१६३	कुल जोड़
खास नहर (व्यक्तिगत नहर) से	३६,४३१	१,१९,१७,५८९
खास तालाबों से	५८,२२२	यानी जितनी जमीन
कुओं से	५५,५४,०५१	पर खेती होती है
दूसरे जरियों से	२५,०६,८९०	उसका ३३.६ सैकड़ा

ऊपर के हिसाब से मालूम होगा कि हमारे यहाँ सिंचाई के ४ जरिये हैं। (१) नहर (२) कुआँ (३) खास तालाब और (४) झील, ताल, नाला आदि। नहरें अधिकतर पश्चिमी जिलों में हैं। इधर ५।६ साल से फ़ैजाबाद ज़िले में भी नहर बनी है। सरकारी सिंचाई की दर ६) प्रति एकड़ ईख के लिए और ३) रुपये एकड़ अन्य अनाजों के लिए है। कुछ सिचाई प्राइवेट नहरों से भी होती है।

तुमको याद होगा तुम जब रणीवाँ से चाचिकपुर गाँव को जा रही थीं तो रास्ते में कुछ सूखे कुएँ देखकर पूछा था कि लोग इनको ठीक क्यों नहीं कर लेते हैं। उसपर साथ गाँव के जो दो भाई थे उन्होंने कहा था कि वे अब इतने गरीब हो गये हैं कि भठा हुआ कुआँ खोदना उनके लिए सम्भव नहीं है। पुराने ज़माने में हमारे यहाँ बहुत कुएँ थे। गाँव की सार्वजनिक अवनति के साथ-साथ कुएँ भी हज़ारों की तादाद में भठ गये। वस्तुतः अगर खोज की जाय तो मालूम होगा कि हम एक गाँव से दूसरे गाँव को जाने में जो सूखे कुएँ देखते हैं उतने ही कुएँ बेकार नहीं हुए हैं बल्कि उनसे कहीं ज्यादा तादाद में भठे हुए कुओं की ईंट निकाल कर उन्हें लोगों ने खेत में मिला लिया है। इसका कारण गरीबी तो है ही लेकिन एक दूसरा

बड़ा कारण यह है कि पुराने समय में सम्मिलित परिवारों की चलन होने के कारण एक एक परिवार के पास ज्यादा खेत था और वे खेतों के बीच कुएँ बनाते थे । लेकिन बाद को खेतों का बँटवारा होते-होते एक कुएँ के आस-पास की ज़मीनें ऐसे विभिन्न व्यक्तियों के हाथ चली गई हैं कि बाद को किसी को उन कुओं से कोई दिलचस्पी नहीं रही । और वे क्रमशः मरम्मत बिना भठते चले गये । इस तरह खेती का छोटे-छोटे हिस्सों में बँटना भी कुओं के भठने का एक बड़ा कारण है । यह सच है कि बाद को नये कुएँ भी बनते गये हैं लेकिन बनने की तादाद भठने की संख्या से बहुत कम है । अब इस प्रान्त में कुल १,४०,००० कुएँ रह गये हैं । उनकी भी हालत बहुत अच्छी नहीं है । आज किस तरह सिंचाई होती है, यह तुमने देखा ही है । सच पूछो तो अधिकांश सिंचाई को जो आज होती है, सिंचाई न कहकर छिड़काव कहा जा सकता है । ऐसा छिड़काव करने पर भी प्रति कुआँ औसत पाँच ही एकड़ सिंचाई पड़ती है । वस्तुतः अगर कुआँ में पानी बढ़ाया जाय और रहट की सिंचाई हो तो एक कुएँ से २० एकड़ ज़मीन की अच्छी सिंचाई हो सकती है ।

प्रान्त के तालाबों की हालत कुँओं से भी खराब है । वस्तुतः पहले जमाने में तालाब आबपाशी का बहुत बड़ा जरिया होता था । उनका महत्व कहीं-कहीं कुँओं से भी ज्यादा था । खास तौर से पूर्वी जिलों में जिधर निकल जाओ हर मील में ४-६ तालाब दिखाई देंगे । लेकिन सब पट गये हैं । कुएँ तो फिर भी लोग बहुत कुछ कायम रक्खे हुए हैं, नये भी बनवाये हैं लेकिन तालाबों की ओर तो ध्यान ही नहीं । बल्कि दिन-दिन उनके अस्तित्व के चिह्न भी लुप्त होकर खेतों में मिलते चले जा रहे हैं । आज जितने तालाब हैं भी वे इतने छिछले हो गये हैं कि उनसे मुश्किल से मटर की एक सिंचाई लोग कर पाते हैं । इस प्रान्त में ऐसे तालाबों की सख्या कितनी है, मुझको मालूम

नहीं लेकिन मैंने जितना देखा है उससे निःसंकोच कह सकता हूँ कि अगर उनकी हालत अच्छी होती तो आज जितनी सिंचाई तालावों से होती है उससे ७-८ गुनी सिंचाई हो सकती थी। फैजावाद जिले में ही आज की हालत में भी झील तालाव आदि से ६१५,३२० एकड़ की सिंचाई होती है।

इसके अलावा हमारे प्रान्त के पश्चिमी ज़िलों में बिजली के ट्यूब वेल का प्रचार इधर कुछ सालों से हो रहा है। उसके अंक मुझको मालूम न होने से मैं तुमको भेज नहीं सका। किसी सरकारी खेती-विभाग की रिपोर्ट से देख लेना।

पशु—गाँव के पशुओं की स्थिति खेती की परिस्थिति के अन्तर्गत है। अतः इसी सिलसिले में प्रान्त के जानवरों की हालत देख लें तो अच्छा होगा। हमारे गाँव के पशुओं की हालत मैं पहले भी लिख चुका हूँ अतः आज सिर्फ युक्तप्रान्त में कितने कौन जानवर हैं और वे कितना काम तथा पैदा करते हैं, इसका हिसाव वताकर इस प्रश्न को समाप्त करूँगा।

इस प्रान्त के कुल जानवरों की संख्या इस प्रकार है:—

साँड़	२,४०,०००
बैल	१०२,७१,०००
गाय	६२,३३,०००
भैंसा	७,८१,०००
भैंस	४०,८२,०००
वछड़ा पंड़वा आदि	१०२,५६,०००
भेंड़	२२,३१,०००
वकरियाँ	६५,६३,०००
घोड़े	४,६७,०००
गधे और खच्चड़	२,७१,०००
ऊँट	२६,०००

इन जानवरों में गाय और भैंस मिलाकर १००,२७४,००० मन दूध देतीं हैं। यानी औसत प्रति पशु ६ मन २६ सेर प्रति वर्ष दूध होता है। इस हिसाब से गाय भैंस मिलाकर एक सेर एक छटांक प्रति दिन का औसत पड़ा। यद्यपि हमारा प्रान्त दूध-घी के लिए खास प्रान्त कहा जाता है पर यह औसत बहुत कम है।

ऊपर का हिसाब सारे प्रान्त का है। अलग से देहातों के पशुओं की संख्या का नहीं किया गया है। लेकिन जिस अनुपात से शहर और गाँव के पशुओं को देखा जाता है उसके अन्दाज़ से गाँव की आवादी करीव इस प्रकार होगी :—

पशु	तादाद कुल प्रान्त	तादाद प्रति ग्राम
साँड़	२०४७७६	२
वैल	८६००५६१	८४
गाय	५४२६५६४	५३
भैंसा	६१४३२८	६
भैंस	३५८३५८०	३५
वछड़ा-पँड़वा	८६००४६२	८४
भेड़	१६४५३७२	१६
वकरी	५५२८६२३	५४
घोड़ा-घोड़ी	१०२३८८	१
ऊँट	२०००	

कुल जोड़—३३८

गाँव में दूध की पैदावार प्रति पशु प्रान्त के औसत से बहुत कम होगी। मैंने पहले ही कहा है कि शहर के ग्वाले हमेशा देहातों से छाँट कर अच्छे पशु ले जाया करते हैं। इस तरह शहर में चुनी हुई अच्छी दूध देने वाली गाय-भैंसें ही रहती हैं। दूसरी वात यह है शहर के ग्वाले विना दूध वाला पशु रखते ही नहीं; वे एक बार कसके

दूध ले लेने के बाद उसे बेच देते हैं। उन्हें या तो काट दिया जाता है या देहातों को फिर बेचा जाता है। इस प्रकार बिना दूध देने वाली गाय-भैंसों के न होने से भी शहर की औसत पैदावार बहुत अधिक बढ़ जाती है। अगर हिसाब लगाया जाय तो तुमको मालूम हो जायगा कि गाँव की गाय-भैंस शायद ही औसत ३ पाव प्रति दिन से अधिक दूध देती होंगी। यह हुई दूध देने वाले जानवरों की हालत। अब जरा बैलों की कहानी सुनो। इस मामले में हमारे प्रान्त के दो हिस्से होते हैं। पूर्वी ज़िलों का और पश्चिमी ज़िलों का हिसाब इतना भिन्न है कि अगर एक साथ औसत निकाला जाय तो समझना कठिन होगा। इसलिए मैं दोनों क़िस्म के ज़िलों का हिसाब अलग-अलग बताने की कोशिश करूँगा। वैसे अगर औसत निकालना चाहती हो तो प्रति ग्राम ३४७८ एकड़ ज़मीन के लिए बैल और भैंसा मिला कर ६० पशुओं पर ४५ हल काम में आते हैं यानी एक हल से ७.८ एकड़ खेती की जाती है। लेकिन कुल बैल हल तो नहीं चलाते हैं। कुछ गाड़ी में काम करते हैं, कुछ तेली की घानी इत्यादि दूसरे कामों में भी चलते हैं। उन्हें अगर घटा दिया जाय तब एक हल के लिए औसत साढ़े सात एकड़ के करीब पड़ जायगी। मैं पश्चिमी और पूर्वी ज़िलों का हिसाब अलग से चाहता था। वह इस प्रकार है :—

इलाका	प्रति हल भूमि जुताई (एकड़)	मवेशियों की खुराक के लिए कुल भूमि का अनुपात प्रतिशत	१०० दूध देनेवाले जानवरों के लिए चारा की भूमि एकड़
पश्चिमी ज़िले	८.५६	१६.६	७६.६८
पूर्वी ज़िले	५.२४	१.५	५.२४

—खेती-सुधार कमेटी यू० पी० १९४२

ऊपर के अंकों से मालूम होगा कि आज हमारे प्रान्त में मवेशियों के लिए कितनी कम जमीन पर खूराक पैदा करते हैं। ऐसी हालत में वे कम काम करेंगे इसमें संदेह ही क्या है। यद्यपि पश्चिमी ज़िलों की हालत कुछ अच्छी है लेकिन मिश्र आदि देशों की तुलना में यह इलाका भी बहुत पीछे है। इसके अलावा हमारे प्रान्त में चरागाह केवल ५२ लाख एकड़ ही है। इस ५२ लाख एकड़ पर १०३,१५,००० गाय-भैंसें और ८७,६४०० भेंड़-बकरियाँ चरने के लिए हैं। इतना कम चरागाह भी सारे प्रान्त में समान बँटा हुआ नहीं है। इस चरागाह का अधिकांश जंगल के पास और नदी के किनारों पर ही होगा। इसलिए अधिकांश देहातों में चरागाह नहीं के बराबर ही होगा। जब पशुओं की खूराक इतनी कम है और दूध के लिए गाँव का कोई महत्व नहीं तो लोग गौओं को कसाई के हाथ बेंच दें, इसमें आश्चर्य ही क्या है। फलतः सारे प्रान्त में हर साल ४,८०,००० गौओं की मांस के लिए हत्या की जाती है।

जंगल—हमारे प्रान्त के जंगल प्रधानतः हिमालय की तराई, विन्ध्य गिरिमाला, बुन्देलखंड आदि इलाके में ही हैं। प्रान्त के कुल क्षेत्रफल का ४.८ हिस्सा जंगल है। अब तक इस प्रान्त के जंगलों का इस्तेमाल केवल लकड़ी के लिए ही है। उद्योग के लिए जंगलों से क्या-क्या कच्चा माल मिल सकता है इसकी पूरी जाँच भी नहीं हुई है। लोग कुछ स्थानीय माल की बावत ज़रूर जानते हैं लेकिन कोई संयोजित जाँच की चेष्टा हुई है, यह मुझको मालूम नहीं हुआ। इसलिए इस प्रश्न पर रोशनी डालना मेरे लिए सम्भव नहीं है।

शिक्षा—पिछले एक पत्र में मैंने लिखा था कि हमारे प्रान्त में शिक्षा कितनी कम है। गाँवों में ढूँढ़ने से एक मिडिल पास आदमी मिलेगा; स्त्रियों की तो कोई बात ही नहीं। फैजाबाद में मैं जब स्त्री-सुधार योजना का प्रयोग कर रहा था उस समय ग्राम-सेविका शिक्षा-शिविर के लिए कितनी कोशिश करने पर भी दर्जा ४ पास ५० स्त्रियां

मिल नहीं सकीं और फिर मुझको करीब अशिक्षिता स्त्रियों को ही तैयार कर परीक्षा पास करने का प्रबन्ध करना पड़ा। अगर हम सारे प्रान्त के साक्षर तथा शिक्षित लोगों की संख्या की ओर देखें तो अवाक् होना पड़ेगा। वस्तुतः अंग्रेज़ी राज्य में शिक्षा की जितनी अवनति हुई है शायद किसी बात की उतनी न हुई होगी। यह अवनति खास तौर पर देहातों में अधिक हुई; शहरों में राज्य-संघटन का केन्द्र होने के कारण कुछ शिक्षा उन्होंने अपने ढंग से दी भी है पर गाँव से मतलब ही क्या? पहले हमारे यहाँ जगह-जगह पाठशालाएँ चलती थीं। वहाँ के गुरु वास्तविक गुरु थे। वे विद्या-दान के लिए ही पाठशाला चलाते थे, व्यापार के लिए नहीं। यही कारण था कि गाँव-गाँव शिक्षालयों का प्रचार था। पाठशाला के प्रति जनता में आदर-भाव इस तरह कूट-कूट करके भर दिया गया था कि आज भी पाठशाला के नाम पर गरीब से गरीब देहाती घर से कुछ न कुछ दान मिल जाता है। तुम कह सकती हो कि उस पुरानी प्रणाली की शिक्षा से आज की प्रगतिशील दुनियां में क्या लाभ? यह ठीक हो सकता है कि उस शिक्षा से आज की दुनियां में विशेष लाभ नहीं लेकिन जो सार्वजनिक शिक्षालयों का स्वाभाविक संघटन था, शिक्षक की जो सेवा वृत्ति तथा विद्यादान की भावना थी, पाठशालाओं के संचालन के लिए जैसा सहज तथा स्वाभाविक आर्थिक प्रबन्ध था अगर वह कायम रह पाता तो तुम उसी में समयोपयोगी पद्धति से भी शिक्षा दे सकतीं। आज जब कुछ होता ही नहीं है तो अच्छी बुरी बातों का कोई सवाल ही नहीं उठता।

इस प्रान्त में कुल ४०,६७,४०० पुरुष और ६,३०,८६७ स्त्रियाँ साक्षर हैं। कुल आबादी के पुरुष तथा स्त्रियों का अनुपात क्रमशः १०.८ और २.३ है। कुल साक्षरता का अनुपात सम्पूर्ण आबादी का ८.४ प्रतिशत है! यह अनुपात भारत के औसत से भी कम है। सारे भारत में सन् ३१ तक साक्षर आबादी का अनुपात ११ सैकड़ा था। अब तो कुछ बढ़ा ही होगा। इस प्रकार भारत की साक्षरता से हमारे

प्रान्त की साक्षरता करीब ४ सैकड़ा कम है। लेकिन मर्दुमशुमारी की रिपोर्टों में उन्हीं को साक्षर कहा गया है जो किसी तरह अपना नाम लिख सकते हैं। मैंने पिछले पत्रों में साक्षर उनको कहा है जो किताब पढ़ना और अच्छी तरह लिखना जानते हैं। अगर मेरा हिसाब न भी लिया जाय तो दर्जा २ बिना पास किये हुए लोगों को साक्षर तो तुम कह ही नहीं सकती हो। प्रान्त भर में कितने लड़के और लड़कियाँ दर्जा २ से एंट्रेंस तक के स्कूलों में जाते हैं, उसका हिसाब देखने से असली शिक्षा का कुछ अन्दाज़ हो सकेगा—

कक्षा	लड़के	लड़कियाँ	कुल
२	१८०,२७५	२५,०२३	२०५,२९८
३	१३५,०२८	१४,३०८	१४९,३३६
४	१००,५२१	९,७३४	११०,२५५
५	५०,९७७	४,६८९	५५,६६६
६	४५,८४२	३,८०४	४९,६४६
७	४३,९२६	१,८४८	४५,७७४
८	१४,८५८	१,३६३	१६,२२१
९	१३,६३०	६०७	१४,२३७
१०	१२,३१४	५३८	१२,८५२
११	३,९९३	३११	४,३०४
१२	३,९३६	१९५	४,१३१
	६,०५,३००	६२,४२०	६,६७,७२०

साधारणतः इन दर्जों में १० साल से २२ साल तक की उम्र के लड़के-लड़कियां ही पढ़ते हैं। और उनकी प्रान्त भर की आबादी १,१८,८४,४५३ है। यानी इस उम्र की आबादी के ६ सैकड़ा लड़के स्कूल में पढ़ते हैं। तुम्हें मालूम ही है कि पढ़ाई अधिकतर शहरों में ही होती है। अगर शहर की आबादी घटाकर जोड़ा जाय तो यह

अनुपात ४ सैकड़ा से भी कम हो जायगा। यह पढ़ाई भी ऐसी है कि लड़के दुनियाँ का कुछ सीख नहीं पाते हैं। लड़कियों की तो कोई बात ही नहीं। रामायण, महाभारत की कहानी तक वे नहीं जानती हैं। इस सिलसिले में एक मजेदार बात तुमने कभी देखी है? हमारे उन नौजवानों को जो स्कूलों में पढ़ते हैं, गाँव की साधारण बातों का भी ज्ञान नहीं होता है और तमाशे की बात यह है कि यह न जानना भी उनके लिए एक गुण-सा है। हमारे स्कूलों में इसी प्रकार साधारण बातों को न जानने के गुण का आज कल इतना महत्व हो गया है कि देहाती नौजवान भी जो स्कूलों की शिक्षा पाते हैं जब अपने सम्बन्धियों के बीच बैठते हैं तो वे साधारण सांसारिक और गृहस्थी के बातों को, जिन्हें वे जानते और समझते भी हैं, न जानने का ढोंग करते हैं। ऐसे भोले बनकर पूछते हैं मानो वे बातों को जानते ही नहीं। इस तरह न जानने का नाटक करके वे अपने सम्बन्धियों पर यह असर डालना चाहते हैं कि वे शिक्षित और सभ्य हो रहे हैं। मैंने देखा है कि यह हाल केवल हाई स्कूल या इंटर कालेज के लड़कों का ही नहीं; बहुत से मिडिल में पढ़ने वालों में भी यह रोग फैल रहा है।

खेती-प्रधान प्रान्त होने पर भी यहाँ खेती-शिक्षा की विशेष व्यवस्था नहीं है। जो है भी वह सब जराअत महकमा के कर्मचारी बनाने की मशीन मात्र है। साधारण खेतिहार श्रेणी के लोगों की शिक्षा तो हो ही नहीं पाती। इस प्रान्त में कृषि-शिक्षा के लिए तीन ही स्थान हैं:—

१—कानपुर का कालेज २—बुलन्दशहर का स्कूल और कालेज और ३—गोरखपुर का स्कूल। ये इतने खर्चीले हैं कि इस किस्म की शिक्षा सार्वजनिक होना असम्भव है। तीनों शिक्षालयों के प्रति विद्यार्थी के लिए प्रति वर्ष केवल सरकारी खर्च ही इस प्रकार है:—

१—कानपुर कालेज	६२४)	इसके अलावा छात्रों का अपना खर्च भी होता है
२—बुलन्दशहर स्कूल	३६३)	
३—गोरखपुर स्कूल	४२७)	

इतने खर्च से कितने खेतिहरों की शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है, तुम समझ सकती हो।

ग्राम-उद्योग की शिक्षा का तो कोई केन्द्र आज है ही नहीं। हम लोगों ने रणीवां में कुछ ग्राम-उद्योगों की शिक्षा का प्रबन्ध किया था। उन्हें तो सरकार ने ८ अगस्त के प्रस्ताव के बहाने खतम ही कर दिया है। कांग्रेस सरकार कुछ चमड़ा और कागज़ बनाना सिखाने की व्यवस्था कर रही थी। लेकिन वह आज मृतप्राय ही है।

बेकारी—आज संसार में अगर कोई एक चीज़ सारे राजनीतिज्ञों, अर्थशास्त्रियों, समाजसेवियों, साहित्यकों, कवियों, पंडितों, पादरियों और जितने सज्ञान लोग हैं उन सबको परेशान करती है तो वह है 'बेकार-समस्या।' यही एक समस्या हल कर सकने न कर सकने पर साम्राज्यों और सरकारों का बनना बिगड़ना निर्भर करता है। जो सरकार इसी एक समस्या को हल कर लेती है उसकी वाहवाही संसार भर में होती है। जब आज यह समस्या इतने महत्व की हो गई है तो किसी राष्ट्र की पुनर्गठन-योजना का मध्य बिन्दु इसी प्रश्न का बन जाना स्वाभाविक ही है। ऐसी हालत में अगर हमको अपने प्रान्त की ग्राम-सुधार योजना पर विचार करना है तो पहले देख लेना चाहिए कि इस प्रान्त के देहातों में बेकारों का अनुपात क्या है। शायद ऐसा कोई अर्थशास्त्री न बचा होगा जिसने इस प्रश्न पर ग़ौर से विचार न किया हो और इसका हिसाब निकालने की चेष्टा न की हो। वस्तुतः जितना समय बीत रहा है उतनी ही बेकारी हमारे देश में बढ़ रही है। आबादी की वृद्धि के साथ-साथ जहाँ एक तरफ़ प्रति परिवार ज़मीन का रकबा घटता जा रहा है, वहाँ कर्ज की बढ़ती और जमींदारी प्रथा की मेहरबानी से दूसरी तरफ़ खेतीहीन आबादी बढ़ती जा रही है। नतीजा यह होता है कि खेतीहीन आबादी बढ़ने पर भी जमीन के लिए मजदूर की माँग घटती जा रही है। जब लोगों के पास इतने थोड़े खेत

रह गये कि अपने परिवार में ही आदमी ज़रूरत से ज्यादा हैं, तो उनको मजदूरों की जरूरत ही क्या है? सारे भारत में १६२१ में प्रति १००० आबादी में २६१ खेतीहीन मज़दूरों की संख्या थी वह बढ़कर सन् १६३१ में ४०७ हो गई थी। आज १६४४ में क्या हाल होगा? यह संख्या ६००।७०० हो गई होगी। श्री राधा-कमल मुखर्जी का कहना है कि हमारे प्रान्त में सन् १६११ में ४,५५२, ०४३ मजदूर खेतों में मजदूरी करते थे और सन् २१ में ४,०३५, ८८७ मजदूर काम करते थे। इसका मतलब यह हुआ कि प्रति १० साल में ११.३ सैकड़ा मजदूर खेत में काम करने से वंचित होते जा रहे हैं। सन् १६२६ के बाद तो यह अनुपात और भी बढ़ गया होगा। क्योंकि मंदी के कारण लोग अपने हाथ से ही ज्यादा काम करने लगे हैं। लेकिन इस प्रकार के हिसाबों से भी असली स्थिति का पता नहीं चल सकता। क्योंकि इस प्रकार जितने भी हिसाब लगाये गये हैं सब ऊपर ऊपर से ही परिस्थितियों को देखकर लगाये गये हैं। इन हिसाबों में यह देखने की चेष्टा नहीं की गई है कि कितने परिवार खेती में और अन्य उपयोगी कर्म में लगे हैं; खेती में मौसम के हिसाब से कितने दिन काम के हैं और कितने दिन खाली हैं और कितने लोग जरूरत न होने पर भी मजबूरन खेत में बेकार काम करते रहते हैं। इत्यादि। लेकिन अगर हमको ठीक-ठीक हिसाब लगाना हो तो उतने से ही काम नहीं चलेगा। हमको यह भी देखना है कि जितने आदमी "खेती में लगे हैं" ऐसा मालूम होता है, दर असल उतने आदमी लगाने चाहिएँ या नहीं। सदियों से अधिक आदमियों से कम खेती का काम करते रहने से स्वभावतः काम की गति में जो कमी आई है या गरीबी के कारण जो काहिली और सुस्ती आ गई है उसकी वजह से जो ज़रूरत से कुछ ज्यादा आदमियों की किसी काम के लिए आवश्यकता होती है उसे अगर आज हम छोड़ भी दें तब भी इतना तो जोड़ना ही चाहिए कि गांव

की आज की आबादी की शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार गांवों में जितनी खेती होती है उसमें कितने आदमी लगने चाहिएँ। और उससे ज्यादा आदमी अगर मजबूरन उसमें पड़े हैं तो उन्हें बेकारों में गिनना चाहिए। इधर जेल में खाली बैठे-बैठे मैंने दूसरा एक हिसाब निकाला था। वह शायद तुम्हारे लिए दिलचस्प हो। अतः मैं उसकी नकल नीचे लिख देता हूँ।

इस हिसाब में मनुष्य और पशुओं के श्रम की गति आज की गति के अनुसार रक्खी है। मेरा अनुभव पूर्वी ज़िलों का ही है। इसलिए मैंने यह गति पूर्वी ज़िलों के हिसाब से ही रक्खी है। अगर पूरे प्रान्त का हिसाब लिया जाय तो औसत गति मेरे हिसाब से ज्यादा ही होगी। लेकिन मैंने उसे छोड़ ही दिया है जिससे लोग यह न कह सकें कि मैंने बेकारी का हिसाब बढ़ाकर रक्खा है। केवल हल की गति पूरे प्रान्त की औसत के हिसाब से लगाई गई है। जो हिसाब किया है उसे असली हालत से कम ही समझना। खेती की भिन्न-भिन्न क्रियाओं का नाम मैंने अपने तरफ के जिलों का ही रक्खा है। आशा है तुम उन्हें समझ सकोगी। हिसाब में मैंने काम की कुल हाज़िरी लगाई है, बाकी समय बेकारी का ही समझना चाहिए। काम का हिसाब इस प्रकार है :—

(१) पशुओं का चराना—वैसे तो १०० पशुओं को एक चरवाहा काफी होना चाहिए। लेकिन आज की परिस्थिति में १० पर एक चरवाहा का हिसाब किया गया है।

	गांव के पशुओं की संख्या	आवश्यक		
		पुरुष	स्त्री	किशोर
गाय	६५	२	१	३
भैंस	२४	१	०	२

बकरी	५०	१	१	३
भेंड़	१००	१	१	२
	कुल	५	३	१०

साल भर की हाजिरी

पुरुष	२५५५
स्त्री	२५५५
बालक	६५३०

१० बालक में ६ से १० साल तक के बालक ३ और ११ से १५ तक के ७ होंगे।

खेती के लिए आवश्यक आदमी और पशु

जेठ

निरवाही (घास-खर की सफाई) २७१ एकड़	कुल हाज़िरी			
	पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
खाद ढोवाई, धान, ज्वार, बाजरा, जोन्हरी, तिल, मसाला, कोदो, सावां, सरसों १८०.४ एकड़	२१७	...	...	...
४५ एकड़ गाड़ी से $\left(\frac{४५ \times ५}{६}\right)$ ३८ गाड़ी	७६	...	...	७६
१३५.३४ एकड़ आदमी से ८ आदमी प्रति एकड़	५४२	५४१	...	...
कपास ६.३७ जोताई ४ बाह (१ हल = $\frac{१}{२}$ एकड़ प्रति दिन)	३२	...	...	६४

सिंचाई कपास, ईख, ज्वार ३४·४ एकड़				
बैल से ८ एकड़ (२ आदमी, ४ बैल = १ एकड़)	२४	...	...	३२
आदमी से २६·४ एकड़ (१ एकड़ ८ आदमी)	१७१	४०	...	...
जोड़	१०६२	५८१		१७२

अषाढ़

	पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
अधनी धान बेहन जोताई बोआई १ एकड़ ४ बार	५	...	...	१०
अधनी धान जोताई २४·७५ एकड़ १ बाँह	३१	...	...	६२
भदही धान ४८ एकड़ जोताई बोआई ३ बाँह	१८०	...	...	३६०
भदही धान घूर दहानी या बदहनी	४८	...	...	६६
ज्वार बाजरा ३६·३६ एकड़ जोताई-बोआई ३ बाँह	१४८	...	...	२६६
अरहर उर्द २३·६२ एकड़ जोताई-बोआई ३ बांह	८६	...	...	१७८
चरी १५·०२ एकड़ जोताई बोआई ३ बांह	५६	...	...	११२
जोन्हरी १६·५० एकड़ ,, ,, ३ बांह	७३	...	...	१४६
तिल ३·२४ एकड़ ,, ,, ३ बांह	१२	...	...	२४
सनई १६ एकड़ ,, ,, २ बांह	४०	...	...	८०
तरकारी मसाला ४ एकड़ जोताई बोआई ४ बांह	२०	...	...	४०
तरकारी मसाला सोहनी गोड़ाई	५०	५०	...	...

मकई अरहर धूर दहानी ३१'५ एकड़	३२	...	...	६४
कपास, जोन्हरी २५'८७ एकड़ गोड़ाई २ वार	४११	...	...	...
सावाँ कोदो १६'४ एकड़ वोआई २ वांह	४१			
जोड़	१२३६	५०	...	१५५०

सावन

	पुरुष	स्त्री	किशोर	वैल
अघनी धान २४'७५ एकड़ जोताई	३२	...	...	६४
,, ,, ,, वोआई	१४०	१४०	...	...
भदोंही ४८ एकड़ सोहनी २ वार (११ पु० १५ स्त्री ६ वच्चा २ ए०)	५२८	७२०	४३२	...
,, उर्द सोहनी ११.८२ एकड़	१३२	१८०	१०८	...
ज्वार वाजरा ३६.३६ एकड़ सोहनी	४३८	५६२	३५५	...
तम्बाकू ६ एकड़ जोताई ४ वार	४५	...	...	६०
मसाला तरकारी ४ ए० सोहनी गोड़ाई आदि	४४	६०	३६	...
सनई उलटना १४ एकड़	१८	...	...	३६
तिल ३.२४ एकड़ सोहनी २ वार	३६	४६	२६	...
सावाँ कोदो १६.४, सोहनी १ वार	७०	८०	२०	...
कुल जोड़	१४८३	१८२१	६८०	१८०

भादों

	पुरुष	स्त्री	किशोर	वैल
गेहूँ ७६.२१ ए० जोताई वोआई ४ वाँह	३८१	...	...	७६२
भदोही ४८ एकड़ सोहनी १ वार (२ पु० ३ स्त्री १ लड़का प्रति एकड़)	९६	१४४	४८	...
जोन्हरी रखवाली (३० आदमी ३० दिन)	१५०	२५०	५००	...

सरसों २.६ एकड़ जोताई ४ बाँह	१३	...	...	२६
तम्बाकू .६ एकड़ जोताई २ बाँह	२	...	...	४
सावां ५.५३ एकड़ कटाई (१ एकड़ में ६ आदमी)	१०	१६	५	...
कुल जोड़	६७५	४१०	५५३	७६२

कुआर

	पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
कपास ६.३७ एकड़ चुनाई ३ बार (४ स्त्री ४ लड़के)	...	७७	७७	...
गेहूँ ७६.२१ एकड़ जोताई ४ बाँह	३८१	...	...	७६२
भदोंही ४८ एकड़ कटाई (प्रति ए० ४ पु० ५ स्त्री २ लड़के)	१९२	२४०	९६	...
” ” दँवाई (प्रति एकड़ ३ पु० ५ स्त्री ६ बैल)	७२	४८	...	१४४
मकई १९.५ एकड़ कटाई (प्रति एकड़ ३ पु० २ स्त्री १ लड़का)	५९	३९	२०	...
कोदो उर्द २२.५९ एकड़ कटाई (प्रति एकड़३ पु० ४ स्त्री १ लड़का)	६८	९०	२३	...
सावां कोदो उर्द २८.२२ एकड़ दँवाई	४२	२८	...	८४
तम्बाकू ·९ एकड़ जोताई २ बाँह	२	...	...	४
भदोंही, मकई, सावां कोदो ८३.९ एकड़ जोताई २ बाँह	२१०	...	...	४२०
खाद, ढोवाई, गेहूँ, चना, मटर, तम्बाकू, तरकारी, मसाला, अलसी आलू २०४.३१ – ५१ गाड़ी से $\frac{५१ \times ५}{६}$ गाड़ी = ४३ गाड़ी	८६	...	...	८६

	पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
१५३.३१ एकड़ आदमी से (प्रति एकड़ ४ पु० ४ स्त्री)	६१३	६१३	...	...
कुल जोड़	१७२५	११३५	२१६	१५००

कार्तिक

	पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
तरकारी मसाला सोहनी गोड़ाई आदि ४ एकड़	२०	२५	१०	...
गेहूँ ७६.२१ एकड़ जोताई बोआई ४ बाँह	३८१	...	...	७६२
चना, मटर, जव, अलसी, तम्बाकू, आलू १२४.३५ ए० जोताई ४ बाँह	६२२	...	...	१२४४
तोरी २.६० एकड़ कटाई	१३	१३	...	...
आलू १.५ एकड़ बोआई (२५ आदमी १ एकड़ में)	२०	१८	...	...
" " मिट्टी चढ़ाई (१६ आदमी १ एकड़ में)	२०	४	...	...
" १.५ एकड़ सिंचाई .५ एकड़ बैल से २ वार	३	...	...	४
" " " १ एकड़ आदमी से २ वार	१२	४	...	...
मसाला तरकारी खुदाई कटाई झाँई आदि	२५	२५	५	...
मसाला तरकारी ४ एकड़ जोताई ४ बाँह	२०	...	...	४०
कपास चुनाई ६.३७ एकड़ ५ वार (प्रति एकड़ ६ स्त्री ५ बच्चे)	...	१६१	१५१	...
जोड़	१३३६	२८०	१६६	२०५०

अगहन

	पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
सिंचाई-गेहूँ, चना, मटर, जव, आलू, तम्बाकू अलसी, मसाला, तरकारी २०४·३१ एकड़				
५१ एकड़ बैल से	१५३	...	...	२०४
१५३·३१ एकड़ आदमी से	६२०	३०६	...	...
अघनी धान २४·७५ एकड़ कटाई	६६	१२४	४६	...
अघनी धान २४·७५ एकड़ दँवाई	३७	२५	...	७५
ज्वार, बाजरा, कटाई ३६·३६ एकड़	१५८	१६७	७६	...
ज्वार, बाजार, दँवाई ३६·३६ एकड़	६०	४०	१२०	...
खाद ढोवाई ११ एकड़ ईख				
३ एकड़ गाड़ी से	४	...	...	४
खाद ढोवाई ११ एकड़ ईख				
८ एकड़ आदमी से	३२	३२	...	...
तिल कटाई ३·२४ एकड़	६	१२	५	...
तिल दँवाई ” ”	३	२	...	६
ईख जोताई २ बार १०॥ एकड़	२७	...	...	५४
जोड़	१५०२	७३८	१३३	४६३

पौष

	पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
सिंचाई गेहूँ, आलू, तम्बाकू ७८·६१ एकड़				
२० एकड़ बैल से	६०	...	...	८०
५८·६१ एकड़ आदमी से	३१५	११७	...	...
ईख १०·८३ एकड़ कटाई छिलाई २५ दिन	१००	८०	३०	...
ईख ” ” पेराई गुड़ बनाई २५ दिन	१५०	१००	५०	२००

मकई १६·५ पिटाई	५०	५०	२०	...
फुटकर काम तरकारी मसाला	५०	५०	...	...
जोड़	७६२	३६७	१००	२८०

माघ

	पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
आलू तम्बाकू सिंचाई २·४ एकड़				
एक एकड़ बैल से	३	...	...	४
१·४ एकड़ आदमी से	६	३	...	...
ईख कटाई छिलाई	१००	८०	३०	...
ईख पेराई गुड़ बनाई	१५०	१००	५०	२००
ईख १०·८३ एकड़ जोताई २ बांह	२८	...	...	५६
फुटकर काम तरकारी मसाला	५०	५०	...	...
जोड़	३४०	२३३	८०	२६०

फाल्गुन

	पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
आलू तम्बाकू सिंचाई २·४ एकड़				
१ एकड़ बैल से	३	...	...	४
१·४ एकड़ आदमी से	६	३	...	...
ईख कटाई छिलाई	१००	८०	३०	...
ईख पेराई गुड़ बनाई	१५०	१००	५०	२००
ईख जोताई ३ बांह	४१	...	...	८२
ईख बोआई	३३	११	...	६६
फुटकर काम तरकारी मसाला	५०	५०	...	...
जोड़	३८६	२४४	८०	३५२

चैत

	पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
कटाई, गेहूँ, मटर, चना, जव अलसी १६८·११ ए०	७००	७००	...	...
तम्बाकू ·६ एकड़ कटाई	५	५	...	...
आलू १·५ एकड़ खोदाई	१०	८	...	...
अरहर १२ एकड़ कटाई ६ आदमी प्रति एकड़	३६	३६	...	...
गन्ना सिंचाई ११ एकड़				
३ एकड़ बैल से	६	...	...	१२
८ एकड़ आदमी से	४३	२१	...	...
जोड़	८५३	८२०	...	१२

वैशाख

	पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
दँवाई चना, मटर ८१·८३ एकड़	१०५	१००	...	२४६
दँवाई गेहूँ, ७६·२१ एकड़ (६ आदमी ४ स्त्री १२ बैल = १ एकड़)	४५७	३०५	...	६१४
अलसी २·८२ एकड़ दँवाई	३	२	...	६
अरहर १२ एकड़ पिटाई (४ पुरुष ४ स्त्री = १ एकड़)	४८	४८	...	...
तम्बाकू ·६ एकड़ कटाई	५	५	...	...
गन्ना १०·८३ एकड़ २ बार				
बैल से	६	...	...	१२
आदमी से	४३	२१	...	...
जव ३७·२५ एकड़ दँवाई	२२३	१४६	...	४४७
जोड़	७८८	६३०	...	१६२५

प्रति गाव की खेती पर की औसत कुल आबादी साढ़े अठत्तर परिवार की लोक-संख्या ३९२ है जिसमें उम्र और स्त्री पुरुष का अनुपात इस प्रकार है :—

उम्र	कुल	पुरुष	स्त्री
७० से ऊपर बूढ़े	१०	५	५
१६ से ७९ प्रौढ़	२३२	११८	११४
११ से १५ किशोर	४६	२४	२२
६ से १० बालक	४८	२५	२३
जन्म से ५ तक बच्चे	५६	२९	२७

स्कूल जाने वाले कुल लड़के

दर्जा ४ तक		१३,०२,१३९
दर्जा ५ से ७ तक		१,६२,७१०
	जोड़	१४,६४,९५५
इसमें शहर के करीब के लड़के		२,००,०००
	शेष—	१२,६४,९५५

यानी प्रति ग्राम १२ जिसमें किशोर ३ और बालक ९ होंगे।

साल भर के काम के दिन

माह	हाजिरी पुरुष	हाजिरी स्त्री	हाजिरी किशोर	हाजिरी बैल	दिन पुरुष	दिन स्त्री	दिन किशोर	दिन बैल
जेठ	१०६२	५८१	...	१७२	७.१	५.१	...	१.९
अषाढ़	१२३६	५०	...	१५५०	१०.५	.५	...	१७.२
सावन	१४४३	१८२१	६६०	११०	१२.२	१६.०	२१.३	१.२
भादों	६७५	४१०	५५३	७६२	५.७	३.६	१२.०	८.८
कुआर	१७२५	११३५	२१६	१५००	१४.४	९.१	४.७	१६.७
कार्तिक	११३६	२८०	१६६	२०५०	९.६	२.४५	७.३	२२.८
अगहन	१५०२	७३८	१३३	४६३	१३.७	६.५	३.०	५.१
पौष	७६२	३९७	१००	२८०	६.६	३.५	२.२	३.१
माघ	३४०	२३३	८०	२६०	३.०	२.१	१.८	३.०
फाल्गुन	३८६	२४४	८०	३५२	३.३	२.१	१.८	३.६
चैत	८५३	८२०	१८४	१२	७.२	८.०	४.०	.२
वैशाख	७८८	६३०	...	१६२५	६.८	५.५	...	१८.०
				जोड़ =	१००.१	६५.३५	५४.५	१०१.६
पशु चराना	१८२५	१०९५	२५५५		१५.५	९.६	५५.५	...
विद्यालय	...	...	१०९५					
				कुल =	११५.६	७४.९५	११०.०	१०१.६

आज जितनी खेती होती है उस पर काम के दिन का हिसाब इस तरह निकलता है। लेकिन इस हिसाब से भी बेकारी का अन्दाज़ लगाना शायद ठीक न हो। मैंने जो काम के दिन लगाये हैं उनमें कई बातों का ख्याल नहीं किया क्योंकि उनका ब्योरा मुझे प्राप्त नहीं है। लेकिन अपने अनुभव से तुमको कुछ अन्दाज दे ही सकता हूँ। जिस तरह की खेती आधार पर काम की हाजिरी जोड़ी गई है वह उन काश्तकारों की है जो खुशहाल हैं और जिनके पास खाद पानी का साधन है। लेकिन तुमको मालूम है कि हमारे प्रान्त में अधिकांश किसान गरीब और साधनहीन हैं। न तो वे ज़मीन को इतनी बार जोत सकते हैं और न उतना पानी ही सींच सकते हैं। ६५.४% ज़मीन पर तो पानी की सिंचाई की व्यवस्था ही नहीं है। इसका मतलब यह है कि केवल ३४.६% ज़मीन पर, जिसके लिए सिंचाई का प्रबन्ध है, भी ग़रीब किसान अनुपात से कम पानी सींच पाते हैं। फिर मैंने सारी ज़मीन की सिंचाई की मज़दूरी कुएँ के हिसाब से जोड़ी है। लेकिन हकीकत यह नहीं है। तालाब से सिंचाई में मज़दूरी बहुत कम लगती है। नहर की और पहाड़ या तराई के इलाकों की सिंचाई में तो मज़दूरी नहीं के बराबर लगती है। इसके अलावा तराई, माँझा या कछार के इलाकों की खेती में कुछ विशेष परिश्रम ही नहीं है। जो लाखों बीघा ताल-तलइयां हैं उनमें तो केवल बीज छींट देने का ही काम रहता है। अगर इन सारी बातों का हिसाब कहीं से ठीक-ठीक मिल सके तो तुम देखोगी कि मैंने जो काम के दिन बताये हैं उनमें और वास्तविक स्थिति में करीब २५% का अन्तर पड़ जायगा। इसलिए परिस्थिति को समझने के वास्ते तो तुम ऊपर बताये दिनों से १५ सैकड़ा दिन निःसंकोच घटा सकती हो। खेती के काम, पशु चराने आदि के अलावा गृहस्थी के और काम भी रहते हैं। उन्हें भी जोड़ लेना चाहिए। खेती के काम में १५ सैकड़ा घटाकर और अन्य कार्यक्रमों को जोड़कर काम के दिन इस प्रकार होंगे :—

काम	दिन पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
खेती	८५	५६	४६	८६
पशु चराना	१६	१०	५६	...
स्कूल	...	...	२४	..
मकान तथा अन्य निर्माणों की मरम्मत	६	४	४	...
मेंड़ बँधाई	८	...	४	...
लकड़ी काटना चीरना	४	...	४	२५/१०
अनाज ढोवाई बाजरा की	३	...	...	३५/१०
आतिथ्य	...	१२	५	...
त्यौहार	७	१०	७	...
बीमारी सुश्रूषा	१०	३०	१०	...
मकान की सफाई	३	८	५	...
अनाज सफ़ाई अलग से	...	७	...	...
प्रसूती	...	१०	...	...
फुटकर काम	६	१५	१०	...
बैलगाड़ी	३	...	१	४
कंडा पाथना	...	२०	...	...
	१५१	१८४	१७६	९१

बेकारी के दिन

पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
२१४=६ माह	१८१=६ माह	१८९=६ माह	२७४=९ माह

अगर ९० बैल-भैंसों के खाली समय के लिए खूराक पैदा करने वालों को बेकारी में जोड़ना हो तो जो परिस्थिति पैदा होगी उससे घबड़ाकर कहीं पागल न हो जाना। अगर पुरुषों का एक माह का

समय दीगर काम के लिए निकाल दिया जाय तो कुल आवादी ६ माह वेकार रहती है।

यह वेकारी तो केवल उन ७८॥ परिवारों के लोगों की है जो खेती पर गुज़र करते हैं। इसके अलावा प्रति ग्राम के ६४ परिवार में से और १५॥ परिवार वचते हैं। उनकी हालत पर भी विचार करना आवश्यक है। इनमें से ३.४ परिवार तो नाई, धोवी, कँहार, लोहार वढ़ई, कुम्हार आदि के रूप में वहीं ७८॥ अध-भूखे परिवारों से नोच कर किसी प्रकार गुजारा करते हैं। वे भी किसी न किसी काम में लगे रहते हैं, ऐसा मान लो। इस प्रकार विभिन्न कामों के लिए साढ़े पाँच परिवारों को घटाने पर भी १० परिवार के लिए एक मात्र काम "जय सीताराम" भजना हो है।

उपर्युक्त हिसाव से सारे प्रान्त की ग्रामीण जनता की वेकारी किस प्रकार होगी, उसका अन्दाज़ लगा सकती हो। अगर प्रति ग्राम की वेकारी को प्रान्त भर के १०२३८८ ग्रामों से गुणा किया जाय तो परिस्थिति इस प्रकार होगी:—

७८॥ परिवारों के १, २०, ८१, ७८४-प्रौढ़ पुरुष ६ माह यानी ६०, ४०, ८९२ प्रौढ़ पुरुष सम्पूर्ण वेकार रहते हैं।

१,१६,७२,२३२ प्रौढ़ स्त्रियाँ ६ माह यानी ५८, ३६, ११६ प्रौढ़ स्त्रियाँ सम्पूर्ण वेकार रहती हैं।

४७,०६,८४८ किशोर ६ माह यानी २३,५४,६२४ किशोर सम्पूर्ण वेकार रहते हैं।

यानी कुल संख्या २,८४,६३,८६४ में कुल १,४२,३१,६३२ आदमी सदा-वेकार रहते हैं।

जो दस परिवार राम-भरोसे पड़े हैं उनमें १५ × १०२३८८ यानी १५,३५,८२० प्रौढ़ पुरुष, १४.४ × १०२३८८ = १४,७४,३८७ प्रौढ़ स्त्रियाँ और ५.८ × १०२३८८ = ५,९३,८५० किशोर हैं। अर्थात् उन में कुल सत्तम वेकार आवादी की संख्या ३६,०४,०५७ है। इस तरह

हमारे प्रान्त की देहाती जनता में १,७८,३५,६८६ श्रम करने लायक आबादी साल में ३६५ दिन बेकार बैठी रहती है। यानी श्रम करने लायक कुल आबादी के ६२ सैकड़ा के करीब लोग खाली रहते हैं। जो लोग बाहरी रिपोर्टों के आधार पर ही सारा हिसाब लगाते हैं वे यह कह सकते हैं कि मेरा यह हिसाब एक देहाती का पागलपन है। हो सकता है. वे कोई २—४ ऐसे कामों के नाम बता दें जिन्हें मैंने अपने हिसाब में शामिल नहीं किया। अगर थोड़ी देर के लिए मैं उन मित्रों से समझौता करना चाहूँ तो ज्यादा से ज्यादा २८,३५,६८६ की संख्या कम होगी। फिर भी डेढ़ करोड़ आदमी ने कम बेकार नहीं हैं, यह साबित करना किसी जादूगर की भी शक्ति से बाहर है। क्या तुमको मालूम है, इतने आदमी दुनियाँ में मिलकर क्या कर सकते हैं? अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में लड़ाई ने पहले उद्योगों में लगे कुल मजदूर १,५८,७५,००१ ही थे, जिसमें पुरुष, स्त्री और किशोर सब शामिल हैं। इतने आदमी मिलकर जो सामान पैदा करते हैं उसने अपने देश की मांग पूरी करने के बाद फालतू माल को सारे ब्रह्मांड के बाजारों में खपाने की आवश्यकता पड़ जाती है। और हमारे देश के केवल एक प्रान्त की सिर्फ देहाती जनता में उतनी ही सक्षम आबादी बेकार पड़ी है। इतनी बेकारी ही बस नहीं है। इस पर बैलों का खाली समय भी जोड़ना है। तुमने देख लिया कि हमारे प्रान्त में प्रति ग्राम ९० बैल-भैंस ६ माह के लिए बेकार हैं। अगर मान लें कि उनको महीने में ५ रोज़ आराम की आवश्यकता है तो भी वे ७ माह बेकार हैं ही। इस हिसाब से प्रति ग्राम (९० × ७) ÷ १२ =५२ यानी प्रान्त भर में ५३,२४,१७६ बैल-भैंस की सम्पूर्ण शक्ति बेकार पड़ी है। आज कल औद्योगिक दुनियाँ में शक्ति के नाप की ८ इकाई १ घोड़े की शक्ति के बराबर समझी जाती है। १।। करोड़ मनुष्य शक्ति और आधा करोड़ बैल शक्ति मिलाकर कितने घोड़ों की शक्ति के बराबर होती है उसका अन्दाज कर सकती हो? आज मनुष्य-

समाज औद्योगिक कार्य के लिए शक्ति के अनुसन्धान के पीछे पागल हो रहा है। तेल, कोयला, पानी और विद्युत् से उसकी प्यास नहीं मिट रही है; वह समुद्र की लहरों से शक्ति निकाल कर उसे इस्तेमाल करने के फेर में है। उससे ज़रा पूछो कि भारत के एक एक प्रान्त के इतने जीवित प्राणियों की वेकार शक्ति का वे किस तरह उपयोग करने को कहते हैं? वचपन में एक कहानी पढ़ी थी। किसी ने तपस्या करके एक ऐसे दैत्य को नौकर रख लिया जो इच्छा मात्र प्रकट करने से आवश्यकता पूरी कर सकता था। उस दैत्य की एक खास शर्त यह थी कि अगर उसे आवश्यकता पूरी करने को काम न मिले तो वह मालिक की गर्दन तोड़ देगा। आज मनुष्य-समाज अपने आराम के लिए तपस्या करके जिन दानवी शक्तियों को नौकर रखता जा रहा है उनकी भी क्या वही खास शर्तें देखने में नहीं आती हैं? अगर आवश्यकता-पूर्ति के लिए काम न मिले तो अपने मालिक मनुष्य-समाज़ के नाश के लिए वे विध्वंसकारी युद्ध-सामग्री वनाने लग जायँगी। क्योंकि इन दानवों की नौकरी की शर्त ही ऐसी है कि उन्हें तुम खाली न वैठने दो।

लिखते-लिखते वहुत लिख गया। अव समाप्त करना ही ठीक होगा। अतः आज विदा। सव भाई-वहिनों को नमस्कार।

---

[६]

सुधार की समस्याएँ

३—५—४४

गत महीने की २५ तारीख को एक लम्बा पत्र लिखा था; मिला होगा। आज फिर इतनी जल्दी लिखने वैठ गया। वहुत सी बातें

दिमाग़ में आ रही थीं। सोचा, उन्हें भी लिख भेजूँ। पिछले पत्र में मैंने अपने प्रान्त की वर्त्तमान स्थिति पर कुछ प्रकाश डालने की कोशिश की थी। वस्तुतः ग्राम-निर्माण की दृष्टि से अगर परिस्थिति को जानना हो तो हर प्रश्न पर जाँच करना जरूरी है। आज उसकी सुविधा तो है नहीं। अतः जहाँ तक सम्भव हो सका कुछ सरकारी रिपोर्टों से और कुछ अपने अनुभव से स्थिति को देखने की कोशिश की गई है। मैंने जो हिसाब निकाला है वह अधिकतर अनुभव के आधार पर ही बनाया गया है। आज सरकारी रिपोर्टों में जो आँकड़े निकलते हैं मेरा हिसाब उनसे कम प्रामाणिक नहीं है। मैंने तो फिर भी अपने निजी अनुभव तथा जिम्मेदार मित्रों के अनुभव के आधार पर ही विभिन्न अंकों को निकाला है। लेकिन जो आँकड़े सरकारी रिपोर्टों में दर्ज किये जाते हैं उन्हें कैसे एकत्र किया जाता है, मालूम है? एक जिले का अफ़सर नीचे वाले डिप्टी के पास कागज भेजता है, डिप्टी कानूनगो के पास और कानूनगो पटवारी के पास कागज भेज देता है। ये पटवारी किस तरह इन जाँच-रिपोर्टों को लिखते हैं, यह तुम्हें मालूम हो तो परीशान हो जाओगी। ये पटवारी महाशय कलम और खाता लेकर अपने घर के सामने दालान में बैठते हैं और जो मन में आता है दर्ज कर डालते हैं। अधिक खेत में कम पैदावार और कम खेत में ज्यादा पैदावार लिखना तो मालूमी बात है। तुमने आमतौर पर बूढ़ियों को माला फेर कर पूजा करते देखा है न? जिस तरह वे राम नाम के साथ घर-गृहस्थी की सारी खुराफात की बातें करती हैं—झगड़ा करती हैं, गाली देती हैं और साथ-साथ माला भी फेरती रहती हैं, ठीक उसी तरह ये पटवारी लोग लोगों से हर तरह की बात-चीत, झगड़ा, गाली आदि के साथ-साथ रजिस्टर में दर्ज भी करते चलते हैं। रजिस्टरों के पिछले पन्नों को बिल्कुल कोरा रख कर अगले पन्ने पर कुछ का कुछ दर्ज करके सिर्फ उन्हीं पन्नों को खोलकर कचहरी के सामने गवाही दे आने तक का उदाहरण विरल नहीं है। अतः

जो चित्र मैंने अपने प्रान्त का दिया है उसे प्रायः सही समझना। कम से कम उसे भविष्य-योजना पर विचार करने का आधार तो मान ही सकती हो। वैसे तो जब राष्ट्रीय सरकार होगी तो उसको सारी बातों की खोज फिर से करनी ही पड़ेगी।

प्रान्त की मौजूदा परिस्थिति की जानकारी कर लेने के बाद हम को अपनी समस्याओं पर विचार कर लेना चाहिए। हमको करना क्या है? हर तरह की समस्याओं और अपने उद्देश्य पर विचार कर लेने के बाद ही उनके समाधान की बात सोची जा सकती है। अतः आज मैं इन्हीं बातों पर विचार करने की कोशिश करूँगा।

अन्न, वस्त्र तथा आश्रय मनुष्य की तीन बुनियादी आवश्यकताएँ हैं। सबसे पहले हमको इन्हीं तीन प्रश्नों पर विचार करना है। वस्तुतः अगर इनका हल हम कर लें तो पूरी तरह सुखी हो सकते हैं। हमें यह देखना है कि समस्त आबादी के स्वस्थ जीवन-धारण के लिए कितने और किस प्रका के भोजन की आवश्यकता है और उसमें कितना अनाज, कितना दूध-घी, कितना नमक-मसाला, कितना फलादि चाहिए। फिर सिर्फ आबादी की भोजन-सामग्री मानव की मौलिक से ही बस नहीं होता। हमें यह भी देखना है कि आवश्यकताएँ भोजन के अलावा, मवेशियों के लिए, बीज के लिए, रिजर्व के लिए और दूसरी-दूसरी मदों के लिए कितनी और सामग्री चाहिए। आज से जो बढ़ती सामग्री की आवश्यकता होगी वह कहाँ से आवेगी। आज जितनी जमीन है उसी पर खेती की पैदावार बढ़ाकर कुल आवश्यक अनाजादि सामग्री पूरी हो सकेगी क्या? अगर पैदावार बढ़ाई जा सकती है तो किस हद तक? इससे आवश्यकता अगर पूरी न हो तो और खेत कहाँ से आवे? फल के लिए जमीन का प्रबन्ध कैसे किया जाय? पैदावार बढ़ाने के लिए और क्या क्या साधन चाहिएँ, कितनी खाद और पानी चाहिए। वे साधन कहाँ से आवें? क्या खेती के आज के तरीके पर ही साधन

बढ़ाने से काम चलेगा या तरीकों को ही बदलना है ? अगर तरीका बदलना है तो उसकी रूप-रेखा क्या हो ? आज के तरीके में क्या-क्या दोष हैं ? क्या रुकावटें हैं ? आज जिस तरह छोटे-छोटे टुकड़ों में ज़मीन बँटी है उसे कैसे मिलाया जाय ? इस प्रकार चकबन्दी के लिए अनुकूल परिस्थिति है या नहीं । अगर नहीं है तो इसे बदलकर चकबन्दी करना श्रेय होगा क्या ? अगर श्रेय है तो किस उपाय से उसे करना है ? आज कानूनी बाधाएँ क्या हैं ? किसानी कानून में आज जैसी ज़मींदारी तथा विभिन्न किस्म की काश्तकारी दर काश्तकारी आदि

कुछ प्रश्न

का सिलसिला कायम रहते हुए चकबन्दी की योजना चल सकती या नहीं । यदि नहीं चल सकती तो उसमें किस प्रकार से और क्या क्या तब्दीलियाँ करनी हैं । खेती अलग-अलग काश्तकार-द्वारा अलग हो या सम्मिलित । अगर सम्मिलित खेती ही श्रेय है तो इसके होने में क्या-क्या बाधाएँ हैं । कितनी कानूनी बाधा है, कितनी सांस्कृतिक ? अगर सम्मिलित खेती होती हो तो क्या ज़मीन की मिल्कियत सम्मिलित हो ? या ज़मीन की मिल्कियत व्यक्तिगत रूप से रखकर सहकारी सिद्धान्त पर सम्मिलित खेती हो ? इस प्रकार के संघटन का क्या स्वरूप हो ? उसका निरीक्षण आदि कौन करे ? व्यक्तिगत रूप से औसत कितनी ज़मीन का प्रबन्ध प्रति किसान परिवार के लिए करना होगा ? विभिन्न अनाजों की खेती का बँटवारा किस अनुपात से करना होगा ? आज जितने खेत पर दोहरी या तेहरी खेती होती है उससे ज्यादा खेत पर एक से अधिक फसल हो सकेगी या नहीं ? इस प्रकार खेती किस हद तक बढ़ाई जा सकती है ? इसके साथ ही हमें इस बात पर विचार करना है कि क्या कुल भूमि पर हमेशा खेती होती रहे या कुछ साल बाद बारी बारी से आराम देने के लिए परती छोड़ी जाय ।

आज प्रान्त में खेती के लिए हलादि जिन औजारों का इस्तेमाल होता है वे काफ़ी हैं या उनको बदलना होगा ? बदलना श्रेय होगा

या नहीं ? अगर बदलना हो तो कितना साधन चाहिए ? उतना साधन प्राप्त हो सकेगा क्या ? अगर साधन बिना बदला नहीं जा सकता हो या हमारी खेती की स्थिति को देखते हुए उन्हें बदलना श्रेय न हो तो मौजूदा औजारों में क्या-क्या परिवर्तन करना होगा।

मज़दूरों की समस्या क्या है ? खेती मज़दूरों से कराई जाय या खुद किसान काम करें ? अगर मज़दूर चाहिएँ तो किस स्थिति में और किस अनुपात से ? ऐसे मज़दूरों की मज़दूरी क्या होनी चाहिए ?

तीन साल पहले आगरा जेल से मैं जो पत्र लिखता था उसमें हमारे यहाँ की जमींदारी प्रथा की हानियों का जिक्र रहता था। हमको भावी व्यवस्था की योजना बनाते समय इस समस्या पर विचार कर लेना होगा। यह प्रथा रहेगी या हटेगी ? अगर हटेगी तो उसका क्या तरीका होगा ? मौजूदा जमींदारों को क्या मुआवज़ा मिलेगा ? उनके लिए रोजी की समस्या किस प्रकार हल होगी ? जमींदारी हटने पर सरकारी वसूल तहसील पर क्या असर पड़ेगा ? आज कितनी मालगुज़ारी सरकार को मिलती है और किसान कितना लगान देता है ? लगान के अलावा गैरक़ानूनी तरीके से कितनी रकम और जमींदार को देनी पड़ती है। जमींदारी प्रथा हटने पर सरकार किसान से कितना लगान लेगी, इत्यादि बातों पर बिना विचार किये एकाएक कोई योजना बना लेने पर वह व्यावहारिक नहीं हो सकेगी।

तुमको मालूम है, हमारा प्रान्त गाय-भैंस के लिए काफी मशहूर है। वैसे तो पंजाब और सिन्ध की गायें ही अच्छी होती हैं, लेकिन बाहर युक्तप्रान्त से ही घी आदि सामान का चालान जाने से यह प्रान्त काफ़ी विख्यात है। इस दिशा में हमको सोचना है कि जितने बैल और भैंसे आज जोताई के लिए हैं वे काफ़ी हैं या उन्हें बढ़ाना होगा। किस तादाद में बढ़ाना है या इनकी नस्ल सुधार कर इनकी कर्मशक्ति को बढ़ाना है ? ऐसा सुधार किस तरीके से किया जा सकता

है ? उन्नत बैलों के एक जोड़ा से कितने एकड़ खेत जोता जा सकेगा ? उस हिसाब से कितने बैल चाहिएँ ? आज जितनी तादाद है उससे अधिक या कम ? अगर कम चाहिएँ तो किस उपाय से यह

साधनों का सवाल

तादाद घटाई जा सकती है ? बैलों की नस्ल-सुधारने के लिए अनिवार्यतः गौओं के प्रति ध्यान देना होगा। इस प्रकार जो गौओं की संख्या बढ़ेगी उनका क्या करना होगा ? उन्हें रखना होगा या कटवा डालना है ? अगर रखना है तो भैंसों के उपरान्त ही रखना होगा क्या ? इस समस्या पर हमें भलीभाँति विचार करना है क्योंकि आज घी के लिए भैंस ही पसन्द की जाती है। अगर हमारे पसन्द-मुताबिक भैंस के घी-दूध का ही इस्तेमाल करने के लिए भैंसों की तादाद बढ़ानी पड़े तो भैंस के उपरान्त गौओं को किस प्रकार रक्खा जा सकता है ? दोनों को रखने के लिए हमारे पास काफी चारा हो सकेगा क्या ? बढ़ते दूध का बाजार हमको मिल सकेगा क्या ? अगर चारा का साधन नहीं है और दूध का बाजार नहीं है तो गाय और भैंसों में किसे तरजीह देना है ? इस प्रश्न पर आर्थिक, खाद्य गुण, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सभी दृष्टियों से विचार करना होगा। पशुओं को कितनी खूराक पानी चाहिए ? आज जितना चारा है उससे अधिक चारा कैसे पैदा हो ?

केवल साधन के प्रश्न हल होने पर ही खेती की समस्याओं का हल नहीं हो जाता। आज जो प्रति ग्राम ७८।। परिवार खेती में लगे हैं क्या सभी हमारी संयोजित खेती के काम में लग जायँगे ? अगर नहीं तो जितने परिवार आज फालतू खेती के सहारे पड़े हैं उनको निकालने का क्या प्रबन्ध होगा ? उनको दूसरा क्या काम देना होगा ?

भूमि का भार कैसे कम हो ?

वस्तुतः आज प्रायः सभी लोग यह महसूस करते हैं कि खेती पर आदमी का बोझ बहुत ज्यादा है। लेकिन वे सब इसलिए किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं कि उनके सामने खेती में से आबादी को निकाल

कर क्या काम दें, इसका स्पष्ट जवाब नहीं है। अतः देहाती समस्याओं का हल अधिकतर इस बात पर निर्भर करता है कि जमीन पर के इस बोझ को किस तरह हल्का किया जा सकता है। खेती की उन्नति की समस्या पर विचार करने के बाद हमको उन ज़मीनों की समस्या पर सोचना होगा (१) जो खेती लायक हैं लेकिन किन्हीं कारणों से आज लोग उनमें खेती करते नहीं, (२) जो खेती लायक हैं लेकिन अब तक उन्हें खेत के लिए तैयार नहीं किया जा सका और (३) जो आज ऊसर हैं लेकिन वैज्ञानिक तरीके से खेती लायक बनाई जा सकती हैं। उनमें से किस किस्म की और कितनी हमें अभी खेती में शामिल करनी है, कितनी और किस किस्म की ज़मीन पर बाग तथा ईंधन के लिए पेड़ लगाने हैं, और किस किस्म की और कितनी ज़मीन आगे आने वाली बढ़ती आबादी के लिए छोड़नी है। आखिर हम कोई भी योजना बनावेंगे तो उसकी अवधि १०।१५ साल तक की हो ही जायगी। उससे कम में कोई पुनर्गठन की योजना तो बन नहीं सकती है। ऐसी हालत में जब तक हमारी योजना पूरी होगी तब तक आबादी भी काफी बढ़ जायगी। उस बढ़ती आबादी का हिसाब जोड़कर ही जमीन का हिसाब करना है। केवल क्या चाहिए, इसका हिसाब लगाने से भी काम नहीं चलेगा। देखना यह पड़ेगा कि नई ज़मीन को खेत में मिलाने के लिए कितने और किस प्रकार के साधनों की आवश्यकता होगी। हमारी स्थिति में वे प्राप्त हो सकेंगे या नहीं। अगर प्राप्त होंगे तो उन साधनों को कोई दूसरी अधिक उपयोगी और आवश्यक योजना में लगाना तो श्रेय नहीं है।

खेती की समस्याओं पर विचार के सिलसिले में स्वभावतः ईंधन की समस्या सामने आ जाती है। ईंधन की समस्या के साथ लकड़ी की समस्या गुँथी हुई है। अतः हमको यह देखना है कि आज हमारे प्रान्त में जितने जंगल हैं उन्हें हम किस तरह इस्तेमाल कर सकते हैं? जंगल की व्यवस्था किस प्रकार हो? ज्यादा से ज्यादा ईंधन कैसे प्राप्त

किया जा सकता है। मकानादि के लिए लकड़ी की व्यवस्था किस तरीके से हो, जिससे जंगलों पर बोझ कम पड़े। जंगलों की लकड़ी कितनी दूर तक भेजी जा सकती है। उसके लिए क्या-क्या ज़रिये काम में लाये जा सकते हैं?

मैंने कहा है कि खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए खाद और पानी का माकूल प्रबन्ध करना हमारा सर्वप्रथम कार्य होगा। सवाल यह है कि उन्हें किस तरह प्राप्त किया जा सकेगा। खाद के लिए हड्डी, टट्टी आदि चीजों का इस्तेमाल आज की सामाजिक परिस्थिति में कहाँ तक सम्भव हो सकेगा। इनके लिए क्या क्या बाधाएँ हैं; उन्हें पार करने का क्या उपाय है? रासायनिक खाद काम में लाना चाहिए क्या? अगर चाहिए तो किस हद तक? कहाँ तक उनका प्रचार श्रेय होगा? पानी के लिए नहर, बिजली-द्वारा चालित ट्यूबवेल, कुआँ, तालाब, नदी, नाला आदि साधनों का स्थान क्या है? कहाँ किस प्रकार की व्यवस्था श्रेय होगी? इन प्रश्नों पर इतना मतभेद है, इतने ग़लत ख्यालात हैं कि पूर्णरूप से विचार किये बिना किसी प्रकार की योजना आरम्भ करने का मैं पक्षपाती नहीं हूँ।

खेती की समस्याओं पर विचार करने के बाद हमें यह देखना होगा कि भोजन-सामग्री और किन उपायों से प्राप्त की जा सकती है? मछलियों की खेती कैसे बढ़ाई जा सकती है? अंडे आदि मांसाहारों का सामान कितना और किस तरह पैदा किया जा सकता है। मांस के लिए पशुओं को पालना कहाँ तक श्रेय और सम्भव होगा?

आज संसार भर में इसी बात पर आँसू बहाया जाता है कि भारत के लोग भूखे हैं, नंगे हैं। दुनियाँ के सामने यह बात इतनी ज्यादा प्रगट हो चुकी है कि यह भूख और नंगापन पैदा करने वाले बृटिश प्रभु लोग भी वैसे नहीं तो आँख में मिर्चा लगाकर भी थोड़ा आँसू बहा डालते हैं। अतः वस्त्र की समस्या हमारे लिए अन्न-समस्या जितना ही महत्व का प्रश्न है। हमको इस बात का विचार कर हिसाब

लगाना होगा कि हर आदमी को कितना कपड़ा चाहिए ? इतना कपड़ा कहाँ से आवेगा ? चर्खा कौन चलावेगा ? किस समय चलावेगा ? उसके लिए रुई कहाँ से प्राप्त होगी ? आज इसकी कला मृतप्राय है। उसे बढ़ाने का क्या उपाय है ? कला-विशेषज्ञ कहाँ से आवेंगे ? कौन बीनेगा ? कौन बिनावेगा ? क्या सब लोग कातेंगे ? या खास लोगों के लिए सिर्फ कताई का ही काम मुकर्रर किया जायगा। इत्यादि प्रश्नों का उत्तर संतोषजनक रूप से अपनी योजना में होना चाहिए।

रहने के लिए घर-द्वार कैसा हो ? आज के घर आवश्यकता की दृष्टि से नाकाफी हैं। जो हैं वे इस ढंग से बने हुए हैं कि स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक हैं। ऐसी हालत में करना क्या ? सब घरों को तोड़ कर नये घर बनवाने होंगे ? अगर ऐसा नहीं करना है तो आज के मकानों को किस प्रकार से संशोधित किया जा सकता है। ग्राम का नकशा क्या होगा। मवेशी कहाँ रहेंगे ? आबादी की ज़मीन की सतह कैसे ठीक हो ? गड्ढे गढ़इयों को बन्द करना है या संशोधन करना है। अगर बन्द करना चाहिए तो मकानों के बनाने का क्या इन्तजाम होगा। जिनके पास संतोषजनक घर नहीं हैं उनके लिए नये मकान बनाने चाहिएँ क्या ? ऐसे कितने नये मकान चाहिएँ ? जैसे मकान बनेंगे उनके लिए कितनी जमीन चाहिए ? उतनी ज़मीन आबादी के अन्दर है या नहीं ? अगर नहीं है तो क्या करना होगा ?

अन्न, वस्त्र और आश्रय की समस्याओं पर विचार करने के बाद हमको दूसरी आवश्यकताओं की बात सोचनी है। दूसरे ग्राम-उद्योग क्या-क्या हो सकते हैं ? उनकी रूपरेखा क्या हो, उन्हें कहाँ-कहाँ किया जाय ? सब चीज़ें सब जगह हो सकती हैं या कुछ चीज़ें कुछ खास स्थानों में ही बन सकेंगी ? जिन चीजों को बनाना सब जगह सरल है उन्हें विस्तृत रूप से सभी जगह बनाने की व्यवस्था की जाय

या खास-खास उद्योगों के लिए ख़ास-ख़ास केन्द्रों का संगठन किया जाय। उन्हें व्यक्तिगत रूप से चलाया जाय या सहयोग-समितियों की मार्फत। उत्पत्ति के प्रकरण में कितना भाग व्यक्तिगत व्यवस्था से हो और कितना भाग समिति का। सरकार की ओर से कुल उद्योग चलाना श्रेय होगा क्या? कच्चे माल का कहां से और किस प्रकार संग्रह किया जाय, उन्हें कौन स्टाक करे? माल का बँटवारा किस तरह हो; उसके लिए किस प्रकार का संघटन हो सकता है? उद्योग-शिक्षा की क्या-क्या व्यवस्था सम्भव है; उसके लिए तरीका क्या होगा? इसकी रूपरेखा और सिलसिले पर भी विचार करना पड़ेगा। उपर्युक्त बातों पर कोई निश्चित सिद्धान्त तय करने से पहले देखना होगा कि कौन-कौन उद्योग आज मौजूद हैं और उनकी दशा क्या है; कौन-कौन मृतप्राय हैं, जिन्हें प्रसारित करने की आवश्यकता है। कौन-कौन उद्योग मर चुके हैं और उन्हें पुनर्जीवित करना है। क्या ऐसी भी किसी चीज़ की आवश्यकता है जिसकी उत्पत्ति कभी होती ही नहीं थी और आज उसके लिए नये उद्योग की सृष्टि करनी होगी। अपनी योजना के लिए यह भी तय करना होगा कि कौन-कौन उद्योग पहले शुरू करना है और किस क्रम से दूसरे उद्योगों का प्रसार किया जायगा। ग्राम-उद्योग की योजना के लिए यह आवश्यक है कि हम यह जान लें कि सारी उत्पत्ति के लिए क्या क्या कच्चा माल चाहिए और उन्हें प्राप्त कहाँ से किया जाय? कितनी खेती और बाग़ से पैदा करना होगा, कितना और क्या-क्या सामान प्रान्त के अन्दर के जंगलों से प्राप्त किया जा सकेगा, कितना प्रान्त के बाहर से मँगाना होगा।

हम चाहे जितना स्वावलम्बन के आधार पर अपनी योजना बनावें, गाँव में उत्पन्न हुए माल में से देहात की आवश्यकता पूरी करने के बाद जो माल बचेगा उसकी बिक्री का क्या प्रबन्ध होगा, इसको भी तय करना होगा। सहयोग-समितियाँ बनेंगी या बनियों को बेच देना

होगा। अगर वनियों की मार्फत बेचना होगा तो उन पर कुछ अनुशासन होगा या नहीं। अगर अनुशासन रखना है तो कौन इसकी ज़िम्मेदारी ले—सरकार या उत्पादक समितियाँ ?

मैंने पिछले पत्र में बताया है कि बेकारी की समस्या जटिल है और हमारे प्रान्त की बेकारी की स्थिति कितनी भयानक है। हमको इस प्रश्न पर गम्भीर विचार करना होगा कि जितनी आबादी है उस को किस तरह काम में लगाया जाय। जितने परिवार खेती में लगेंगे वे ज़मीन पर पूरा काम पा सकते हैं क्या ? अगर खेती से पूरा काम सम्भव नहीं है तो खाली समय में किसान क्या करें ? खेती में खपने के बाद बाकी आबादी के लिए क्या-क्या व्यवस्था सम्भव है। कितने ग्राम-उद्योगों में खपेंगे और कितने नौकरी-चाकरी में, कितने जंगल की व्यवस्था में लगेंगे और कितने बड़े-बड़े केन्द्रीय उद्योगों में काम करेंगे ? मज़दूरों की मज़दूरी का क्या सिद्धान्त हो ? उस सिद्धान्त से चलने पर काम चलेगा या नहीं ? इन सब बातों का पूरा-पूरा विचार करना होगा। क्योंकि बेकारी की समस्या हल करने और न करने पर ही इस योजना की सफलता और विफलता निर्भर करती है।

स्वास्थ्य की समस्याएँ क्या-क्या हैं ? ग्रामीण जनता का सुधार किस तरह हो सकेगा ? नाबदान कैसा बने ? गलियों का संस्कार कैसे हो ? नालियों के पानी का क्या-क्या उपयोग हो सकता है। टट्टियाँ कैसे बनें ? उनका इस्तेमाल किस प्रकार हो, इस प्रश्न को हल करने में प्रथा का अड़ंगा दूर किया जा सकेगा क्या ? इस कठिनाई को कैसे पार किया जा सकेगा ? खेल-कूद व्यायामादि का संघटन करना होगा क्या ? अगर करना है तो किस प्रकार ? आमोद-प्रमोद के लिए किस-किस प्रकार के कार्यक्रम बनाये जा सकेंगे ? प्रसूति और शिशुपालन की शिक्षा किस प्रकार की हो ? क्या प्रसूतिगृह अलग बनाना है ? जब सब स्त्री पुरुषों के लिए काम निश्चित करने बैठेंगे और सब लड़कों को पढ़ने भेज देंगे तो छोटे बच्चों की देख-भाल कौन करेगा और उसका

तरीका क्या होगा। डाक्टर वैद्य धात्री आदि की कैसी व्यवस्था करनी होगी। सारी आवादी की आवश्यकता के लिए काफी हों, इतने डाक्टर वैद्य आदि आज प्रान्त में हैं क्या ? अगर नहीं हैं तो नये लोगों को तैयार करने के लिए शिक्षा का क्या प्रवन्ध हो ? कहाँ तक विश्वविद्यालयों में प्रवन्ध हो सकेगा, कितनों को व्यक्तिगत रूप से डाक्टर वैद्यों के साथ-साथ शिक्षा दी जा सकेगी ? वरसात के पानी के निकास की व्यवस्था किस प्रकार हो ? पानी का स्वाभाविक ढाल है या नहीं, इसकी जाँच करनी है । अगर नहीं है तो जो पानी रुकता है उससे किस प्रकार की समस्याएँ पैदा होती हैं। उनका हल क्या हो सकता है ? क्या गड़ैयाँ खाल आदि के सुधार का कुछ प्रवन्ध हो सकता है ? फसली और संक्रामक रोगों का क्या क्या प्रतीकार संभव है और उनकी व्यवस्था किस प्रकार की हो ?

शिक्षा और संस्कृति की उन्नति कैसे की जाय ? कितने वच्चों को पढ़ाया जा सकेगा; कितने विद्यालयों की आवश्यकता होगी ? किनकी किनकी पढ़ाई की व्यवस्था की जाय ? आज प्रौढ़ साक्षरता की वहुत धूम सुनाई देती है। कहाँ तक उन्हें पढ़ाया जा सकता है ? साक्षर वनाकर छोड़ देना है या उसे कायम करने के लिए कुछ खास कार्यक्रम रखना होगा ? प्रौढ़ों के लिए और वच्चों के लिए पढ़ाई के रास्ते में क्या-क्या क्या रुकावटें हैं और उन्हें किस प्रकार से पार किया जा सकता है ? किस प्रणाली की शिक्षा होनी चाहिए ? किस प्रकार के और कितने साधनों की आवश्यकता होगी ? शिक्षा के कौन-कौन विभाग होंगे; रूप रेखा क्या होगी ; इस पर विचार करने के वाद हमको यह तय करना होगा कि औद्योगिक, कृषि-सम्वन्धी, सांस्कृतिक और साधारण शिक्षा सवके लिए विद्यालयों का प्रवन्ध करना होगा या कुछ शिक्षा ग्रामीण कार्यों के साथ-साथ होती रहेगी। इसके लिए गाँव का वायुमंडल किस प्रकार का वनाना होगा ? अनुष्ठानादि की मार्फत भी सांस्कृतिक शिक्षा हो सकती है; उन्हें किस तरह संघटित किया जा

सकेगा ? इतने विस्तृत पैमाने में शिक्षा का प्रसार करने के लिए जितने शिक्षकों की आवश्यकता होगी उनके लिए आज की पढ़ी हुई जनता की तादाद काफी है क्या ? अगर काफी नहीं है तो किस तरह शिक्षा-प्रसार की व्यवस्था की जाय ? अगर तादाद काफी है तो क्या उनकी शिक्षा तथा दृष्टिकोण हम जिस प्रकार की शिक्षा का प्रस्ताव करते हैं, उसके अनुकूल है ? अगर नहीं है तो उनको अपने तरीके की शिक्षा देने के योग्य बनाने का क्या प्रबन्ध हो सकता है ? शिक्षा के प्रश्न पर विचार करने के साथ ही ग्रामीण सामाजिक जीवन का संघटन किस प्रकार का किया जा सकता है और उसकी रूप-रेखा क्या होगी ? नाटक समाज, भजन-मंडली, ग्रामसमिति आदि संस्थाओं का संघटन किस प्रकार होगा, इन बातों का भी निर्णय करना है।

मैंने पहले के एक पत्र में लिखा था कि हमारे देहातों में सड़कों का प्रायः पूर्ण रूप से अभाव है। अगर हमको आवश्यक सामान ग्राम-उद्योग से ही प्राप्त करना है और सांस्कृतिक विकास करना है तो यातायात की सुविधा होना अनिवार्य है। इसके लिए हमें सड़क किस प्रकार की बनानी है और कितनी सड़क बनानी है, इसका हिसाब लगा लेना है। हमारे गरीब देश की परिस्थिति में उन्हें बनवाने का क्या तरीका हो सकता है।

गाँव के झगड़े-फ़साद कौन तय करेगा, यह भी एक जटिल प्रश्न है ? उसके लिए पंचायतों का संघटन किस तरह हो सकता है ? पंचायत सम्बन्धी आज की परिस्थिति को किस प्रकार तब्दील किया जा सकता है ? गुलामी के कारण इस दिशा में खराबियाँ आ गई हैं उन्हें किस तरह दूर किया जा सकता है ?

आज गाँव की आर्थिक स्थिति जैसी है उसके रहते हुए हम किस तरह संघटन चला सकते हैं ? आज जिस प्रकार कर्ज लोगों पर लदा हुआ है उससे किस तरह छुटकारा मिल सकता है ? भविष्य में कर्ज की व्यवस्था कैसे होगी; महाजनों को संघटित करना होगा या जनता

अपनी सोसाइटी की मार्फत व्यवस्था कर सकेगी ? अगर उनको अपना प्रबन्ध करना है तो उसके लिए पूंजी कहाँ से आवेगी ?

सारी योजना चलाने के लिए संघटनों का स्वरूप किस प्रकार हो सकता है ? सरकारी संघटन कैसा हो और ग्रामीण व्यवस्था किस प्रकार की हो ? ग्राम-संघटनों पर किस हद तक सरकार का कंट्रोल हो ? दोनों व्यवस्थाओं का पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार का होना चाहिए ? सरकारी तथा ग्रामीण संघटनों को चलाने के लिए जो खर्च होगा वह रकम कहाँ से और कैसे वसूल की जाय ? जो सुधार-योजना बनेगी उसके लिए कितनी पूंजी चाहिए ? वह पूँजी कहां से प्राप्त की जायगी ? इत्यादि बातों पर पूर्ण रूप से विचार कर लेने पर ही हम भावी व्यवस्था के बारे में कोई निश्चित नीति तय कर सकेंगे। वस्तुतः अब तक सारी सुधार योजनाएँ, इसी बात पर खत्म कर दी जाती हैं कि सरकार के पास पैसा नहीं। पिछले दिनों कांग्रेस सरकार का भी यही रोना था। तुम योजनाएँ तो लम्बी लम्बी बना सकती हो लेकिन साथ-साथ इसका भी व्यावहारिक प्रस्ताव होना चाहिए कि योजना चलाने के लिए पैसा कहां से आवे ? और वह पैसा जुटाने में जनता पर कर-भार बढ़ न जाय, इसका भी ख्याल रखना है। कार्यक्रमों के संचालन के अलावा जब हमारी परिस्थिति ऐसी है कि गांव में कोई काम है ही नहीं और सभी काम नये सिरे से करना है तो पूंजी की समस्या जटिल होगी। इसलिए ही मैं पूंजी और खर्च के सवाल को महत्व देता हूँ।

मेरे इस प्रकार एक सांस में इतनी समस्याओं और प्रश्नों का जमघट लगाते देख तुम परीशान होती होगी। कहोगी, भले आदमी प्रश्न पर प्रश्न करते ही चले जा रहे हैं, कहीं रुकोगे भी ? लेकिन अगर प्रान्त भर के देहातों को फिर से गढ़ने के लिए क्या तरीका होगा, उस पर विचार करना है तो ये सब प्रश्न तुम्हारे सामने निश्चित रूप से आवेंगे ही। वस्तुतः अगर हम ऊपर-लिखे प्रश्नों का

संतोषजनक उत्तर दे सकें तो वही हमारे काम की योजना हो जायगी। लेकिन अगर मैंने प्रश्नों का स्तूप बहुत भारी बना दिया है तो आज अब और नहीं लिखूँगा। कुछ समय इन पर विचार कर लो, फिर मैं अपने विचार प्रकट करने की चेष्टा करूँगा।

---

[१०]

समस्याओं का समाधान

४-६-४४

पिछला पत्र लिखे एक माह से अधिक हो गया है। अब तक तुमने उसमें लिखे प्रश्नों पर विचार कर लिया होगा। आज के पत्र में मैं कुछ अपनी बताई समस्याओं पर क्या करना चाहिए, यह लिखने की चेष्टा करूँगा।

आवश्यक भोजन सामग्री—मैंने कहा है सबसे पहले हमको भोजन के प्रश्न पर ही विचार करना है। यह सभी जानते हैं कि हमारे यहाँ खाना सबको नहीं मिलता है। इस प्रान्त को लोग हिन्दुस्थान का अनाज गोदाम कहते हैं। फिर भी यहां की क्या परिस्थिति है, पहले के पत्र में लिख चुका हूँ। भारत में केवल ३९% लोगों को पेट भर खाना मिलता है। बाकी ४१% को थोड़ा खाना मिलता है और २०% तो प्रायः अनशन में ही काटते हैं। यह राय मेरी नहीं है बल्कि-मेजर जेनरल सर मेगा की है जो इंडियन मेडिकल सर्विस के डाइरेक्टर-जेनरल थे। यह हिसाब शहर और गांव दोनों का है। केवल गांव का हिसाब अगर अलग जोड़ा जाय तो हालत इससे भी ख़राब होगी। अपने प्रान्त की ही स्थिति को अगर लिया जाय तो मालूम होगा कि यहां अनाज की कितनी कमी है। युक्तप्रान्त की सरकार ने खेती की जांच करने के लिए १९३९ में एक कमेटी बनाई थी। उसका कहना है कि हमारे प्रान्त में २,३५,०१,००० मन आटा और दाल

की कमी है जब कि यह हिसाब लगाने के लिए प्रति व्यक्ति की खुराक मानी गई है ८ छटांक अनाज, और २ छटांक अन्य सामग्री। लेकिन यह सब हिसाब, आज साधारणतः जो भोजन का प्रकार है, उसी पर लगाया गया है। हमको अगर भावी समाज को बनाना है तो हमारी भोजन-सामग्री इस प्रकार की और ऐसी होनी चाहिए जिससे हमारी समस्त जनता शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य अच्छी तरह कायम रख सके। खाना कितना होना चाहिए, उसका माप दुनिया में खाने के शक्ति-मान से किया जाता है। यानी अमुक खाद्य में कितनी शक्ति का तापमान होता है। सन् १६४३ में संसार के विशेषज्ञों ने यह तय किया था कि प्रति बालिग़ पुरुष के लिए विभिन्न आबोहवा के लिहाज़ से २५०० से ४५०० क्यालोरी, प्रति स्त्री के लिए २१०० से ३००० क्यालोरी और बच्चों के लिए १२०० से १८०० क्यालोरी शक्ति के भोजन की आवश्यकता है। अभी कुछ दिन पूर्व भारत के बड़े-बड़े व्यापारियों ने एक योजना देशभर के लिए बनाई है। उन लोगों ने विशेषज्ञों से राय लेकर, भारत की आबोहवा का विचार करके औसत प्रति मनुष्य के लिए २६०० क्यालोरी के शक्तिवाले भोजन की आवश्यकता बताई है। कुछ बरबादी का हिसाब लगाकर वे कहते हैं कि हमको २८०० क्यालोरी वाले भोजन की आवश्यकता होगी। इतनी शक्ति के लिए निम्नलिखित भोजन चाहिए:—

अनाज ८	छटांक	तरकारी	३ छटांक	दूध	४ छटांक
दाल १½	,,	फल	१ ,,	या मांस, मछली	
चीनी १	,,	तेल घी	¾ ,,	या अंडा १¼ छटांक	

यह हिसाब हमारे देश के भोजन-विशारदों का है।

अपने प्रान्त की देहाती जनता के लिए क्या भोजन होगा, तय करते समय हमें ऊपर बताई भोजन-शक्ति के माप का ख्याल तो करना

होगा लेकिन खाद्य-सामग्री का तर्ज यहां के लोग जिस प्रकार खाना खाने के आदी हैं उसके हिसाब से रखना पड़ेगा। भोजन के केवल शक्ति-माप से ही हम अपने स्वास्थ्य को ठीक नहीं रख सकते। शक्ति-माप चाहे काफी हो लेकिन भोजनान्तर अगर उसे हम पचा नहीं सके तो हमारा स्वास्थ्य कभी ठीक नहीं रह सकता। पचाने में भोजन में तृप्ति और संतोष का कम हिस्सा नहीं है। खाद्य सामग्री के तबियत के अनुकूल करने के लिए जरूरी है कि हम जो कुछ खायँ तृप्ति के साथ खायँ। अतः हमारे भोजन का तर्ज ऐसा होना चाहिए जिससे हमारी जनता अपनी आदत के अनुसार पसन्द भी करे। इन सारी बातों का विचार करके मेरे ख्याल से इस प्रान्त की देहाती जनता के लिए निम्नलिखित हिसाब से भोजन-सामग्री चाहिए। इसमें शक्तिमान, स्वाद, आदत सबका उचित ख्याल रखा गया है:—

	आवश्यकता		
व्यौरा सामान	प्रति बालिग़ १६ से ऊपर	किशोर व बालक ६ से १५ साल	प्रति बच्चा ० से ५ साल तक
आटा	एक पाव	ढाई छटांक	एक छटांक
चावल	एक पाव	ढाई छटांक	एक छटांक
अन्य अनाज	आध पाव	डेढ़ छटांक	आधा छटांक
दाल	डेढ़ छटांक	एक छटांक	आधा छटाँक
तरकारी	छः छटांक	छः छटांक	दो छटांक
मसाला	¾ तोला	¾ तोला	×
नमक	डेढ़ तोला	डेढ़ तोला	आधा तोला
तेल	आधा छटांक	आधा छटांक	डेढ़ तोला
घी	डेढ़ तोला	डेढ़ तोला	आधा तोला
पूर्ण दूध	आध पाव	तीन छटांक	ढाई पाव
अपूर्ण दूध	डेढ़ पाव	डेढ़ पाव	आध पाव

मीठा	एक छटांक	एक छटांक	एक छटांक
तम्बाकू	आधा तोला	चौथाई तोला	×
फल	आध पाव	तीन छटांक	एक छटांक
खटाई	आधा तोला	चौथाई तोला	×
पकाने के लिए लकड़ी	डेढ़ सेर	डेढ़ सेर	तीन पाव

नोट—पौने चार छटांक दूध के स्थान पर एक छटांक गोश्त, मछली या अंडे से काम चल सकता है।

मैंने मसाला बच्चों की आवश्यकता में शामिल नहीं किया है। लेकिन जब प्रति बच्चे के लिए तरकारी आध पाव और दाल आधी छटांक का हिसाब किया गया है तो कुछ मसाला उसमें पड़ेगा ही। इतना मसाला बालिग और किशोर के लिए जो अनुमान किया गया है, उसमें से बच जायगा। लकड़ी का हिसाब कुछ ज्यादा ही रक्खा गया है। कारण यह है कि इस हिसाब से लकड़ी की व्यवस्था करने पर भी कुछ कम ईंधन मिलने की संभावना हो सकती है।

बच्चों की ख़ूराक की तालिका में अपूर्ण दूध का समावेश देख कर तुम्हें शायद अच्छा न लगे। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। तुम लोग माता की जाति हो, बच्चों के मामले में तुम लोगों का चौकन्ना रहना स्वाभाविक ही है। लेकिन गौर से विचार करने पर डर की कोई बात नहीं मालूम होगी। बच्चों के लिए तो अपूर्ण दूध का अनुपात और भी बढ़ाया जा सकता है। लेकिन सावधानी के लिए मैंने सिर्फ आध पाव प्रति बच्चा रक्खा है। वस्तुतः पूर्ण और अपूर्ण दूध का असर बच्चों पर क़रीब क़रीब बराबर पड़ता है। डाक्टर एन. सी. राइट की रिपोर्टों को इस विषय में काफी प्रमाणित माना जाता है। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में बच्चों को तीन माह तक पूर्ण तथा अपूर्ण (मक्खन निकाला हुआ) पिलाने के प्रयोग का नतीजा बताया है। वह इस प्रकार है:—

	पूर्ण दूध से वृद्धि (औसत)		अपूर्ण दूध से वृद्धि औसत	
	ऊँचाई	वज़न	ऊँचाई	वज़न
बच्चे	.६७ इंच	३.८४ पौंड	.६१ इंच	४ ७७ पौंड
बच्चियाँ	.४१ —	५.५४ पौंड	.८० इंच	४.८० पौंड

ऊपर के अंकों से मालूम हो जायगा कि पूर्ण और अपूर्ण दूध का असर बच्चों पर करीब-करीब बराबर होता है। बल्कि अपूर्ण दूध का असर कुछ अच्छा ही हुआ है। सम्भव हो सकता है कि दूसरों स्थानों का अनुभव इससे थोड़ा भिन्न हो लेकिन दोनों प्रकार के दूध का असर लगभग समान होगा, इतना तो माना ही जा सकता है। इसका कारण भी साफ है। जहाँ पूर्ण दूध अधिक पुष्टिकर है वहाँ वह अधिक दुष्पच भी है। अपूर्ण दूध के आसानी से पच जाने के कारण उसमें जितनी कमी है उतने अधिक अनुपात मे खाद्यगुण शरीर को मिल जाता है। इसलिए दोनों में पुष्टि के लिहाज से विशेष अन्तर नहीं पड़ता है। हाँ, एक बात का ख्याल रखना। कहीं यह न समझ बैठना कि बड़ों के लिए यानी जिनकी पाचन शक्ति अधिक है यही बात लागूहोगी। फिर भी बड़ों के लिए मैंने अपूर्ण दूध का अनुपात ही अधिक रक्खा हैं इस पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। खाद्य गुण के विशेषज्ञों का कहना है कि प्रति व्यक्ति को ४ छटाँक पूर्ण दूध पुष्टि के लिए काफी हैं। मैंने बालिगों के लिए पूर्ण २ छटाँक और अपूर्ण ६ छटाँक तथा किशोर व बालकों के लिए पूर्ण ३ छटाँक और अपूर्ण ६ छटांक दूध की व्यवस्था का प्रस्तव किया है। दोनों दूध इस परिमाण में देने पर ४ छटाँक पूर्ण दूध से जो पुष्टि मिलती है उससे कहीं अधिक लाभ होगा।

मेरी तालिका के हिसाब से खुराक की खाद्य शक्ति का क्या परिमाण है उसकी जांच करने का साधन मेरे पास यहाँ है नहीं। तुम किसी संस्था की मार्फत इसकी जाँच करा लो लेकिन मेरा अन्दाज यह है कि इसकी खाद्य शक्ति ३००० क्यालोरी से कम न होगी।

ऊपर की तालिका के आधार पर सारे गाँव की तथा प्रान्त की भोजन-सामग्री की आवश्यकता इस प्रकार होगी :—

सामान	बालिग (२८२)	किशोर बालक (१२२)	बच्चे (६६)	योग
आटा	६४३।ऽ२॥	१७३॥ऽ७॥—	३७॥ऽ५॥=	८५४॥ऽ५।॥≡
चावल	६४३।ऽ२॥	१७३।॥ऽ७।॥—	३७॥ऽ५।॥=	८५४॥ऽ५।॥≡
दाल	२४१।ऽ६॥≡	६६॥ऽ२	१८।॥ऽ२।॥—	३२६॥ऽ५॥=
अन्य अनाज	३२१।॥ऽ६।	१०४ऽ५।—	१८।॥ऽ२।॥—	४४४।॥ऽ४।=
तरकारी	६६४।॥ऽ८।॥	४१७ऽ८।॥	७५।ऽ१।	१४५७॥ऽ८।॥
मसाला	२४ऽ५	६।॥ऽ४।॥≡	...	३३।॥ऽ६।॥≡
नमक	४८।ऽ	१६॥ऽ६।॥=	४ऽ४।॥≡	७२ऽ४।॥—
तेल	८०।ऽ६॥—	३४।॥ऽ६॥—	१२।ऽ४।॥	१२७।॥ऽ२।॥=
घी	४८।ऽ	१६॥ऽ६।॥=	४ ऽ४।॥=	७२ऽ४।॥—
मीठा	१६०।॥ऽ३=	६६॥ऽ३=	३७॥ऽ५॥=	२६८ऽ१।॥≡
तम्बाकू	१६ऽ३।—	३।ऽ१।—	×	१६।ऽ४॥=
फल	३२१॥ऽ६।	२४८।॥ऽ।=	३७॥ऽ५॥=	५६८ऽ२।
खटाई	१६ऽ३।—	३।ऽ१।—	×	१६।ऽ४॥=
पूर्ण दूध	३२१॥ऽ६।	२०८।॥ऽ।=	३७॥ऽ५॥=	५६८ऽ२।
अधूरा दूध	६६४।॥ऽ८।॥	४८७ऽ१।॥=	७५।ऽ१।	१५२७ऽ१।॥=
लकड़ी	३८५६।॥ऽ५	१६६६।॥ऽ५	४५१।ऽ७॥	५६८१।ऽ७॥

आटे में गेहूं ४१३), जव २२६), ज्वार ५०), बाजरा १००), और जोन्हरी (मकई) ६२॥।)५॥।≈ होगी। चावल में धान ६५४), सावाँ १००), टाँगुन बाजरा कांदो आदि १००॥।)५॥।≈ होंगे। अन्य अनाजों में—चना २१६), मटर १५०), जोन्हरी ७५॥।)४।≈ होगी। और दाल में—अरहर १३५), मूँग-उर्द १२५), और चना ६६॥)५॥।≈ होगा।

पूर्ण दूध में २८०) दूध के बदले ८०) गोश्त मछली अंडा की आवश्यकता है।

ऊपर की तालिका के देखने से मालूम होगा कि खाद्य सामग्रियों को पाने के लिए तीन मुख्य साधनों की आवश्यकता है—(१) खेती (२) बाग़ तथा जंगल (३) और पशु।

(१) खेती—खेती के ज़रिये जो खाद्य-सामग्री प्राप्त है उसे प्रधानतः चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं:—(१) अनाज (२) मीठा (३) तेल और (४) तरकारी। तम्बाकू भी खेती से प्राप्य है। लेकिन आज की परिस्थिति में आवश्यक सामग्री होने पर भी उसे हम ठीक खाद्य-सामग्री नहीं कह सकते। वस्तुतः हमारी कोशिश यही होनी चाहिए कि इसका व्यवहार क्रमशः कम होता जाय।

अब हमको देखना है कि खेती से हमें कुल कितनी सामग्री लेनी है। इसका हिसाब करने के लिए हमें भोजन के अलावा कितना शहर की आबादी के लिए, कितना बीज के लिए और कितना खराब मौसम के रिजर्व के लिए और सामान चाहिए, इसका अन्दाज करना है। सन् १९४१ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट को देखने से मालूम होगा कि हमारे प्रान्त की शहरी आबादी देहाती आबादी की करीब १४ सैकड़ा पड़ती है। लेकिन शहरवालों को पैदावार की सभी चीजें गाँव के लोगों के साथ समान मात्रा में आवश्यक नहीं होंगी। खाने-पीने के मामले में उनका तर्ज-तरीका गाँववालों से भिन्न है। अतः उनकी आवश्यकताओं का अन्दाज करते समय इस बात का विचार

करना आवश्यक है कि वे कौन सामान किस मात्रा में इस्तेमाल करेंगे।

संयुक्त प्रान्त की सरकार ने सन् १६३६ में जो खेती-संघटन कमेटी बनाई थी उसने हिसाब जोड़कर बताया है कि इस प्रान्त की खेती के लिए पैदावार का औसत साढ़े सात प्रतिशत अनाज बीज के लिए आवश्यक है। मैंने अपने हिसाब में इसी अनुपात से बीज का परिमाण निकाला है; इसमें जो कुछ थोड़ी-बहुत भिन्नता भिन्न-भिन्न अनाज के लिए होगी, वह नगण्य है।

अब रही सूखा-पाला आदि दैव-दुर्घटना के लिए रिज़र्व की बात। तुम्हें मालूम है कि हमारे देश की खेती प्रधानतः वर्षा पर ही निर्भर करती है लेकिन प्रकृति ने इस देश को वर्षा कुछ अजीब ढंग से दी है। यहाँ की वर्षा का औसत परिमाण ४५ इंच सालाना है। सम्पूर्ण खेती के लिए इतनी वर्षा की आवश्यकता भी नहीं है लेकिन हमारी ऋतुएँ इतनी असमान हैं कि हम अपने देश की वर्षा को पूरा २ काम में नहीं ला सकते। खेती के शाही कमीशन का कहना है कि इधर हमारे देश में जितना पानी बारिश का होता है उसमें से ३५% तो ज़मीन सोख ही नहीं पाती और बहकर फिर समुद्र में जा मिलता है। और अपने साथ वहां ज़मीन पर की सारी उर्वरता भी ले जाता है। इस देश में बहुत थोड़े समय में बहुत अधिक वर्षा होने के कारण थोड़े समय के लिए भी अगर अतिवृष्टि या अनावृष्टि हो जाती है तो सारा पंजा चौरस ही हो जाता है। ऐसी हालत में हमारी किसी भी योजना में दैव-दुर्घटना के लिए रिज़र्व का स्थान बहुत महत्व का है। सौभाग्यवश हमारे प्रान्त में साधारणतः इस प्रकार की दुर्घटनाएँ कम होती हैं, फिर भी कुछ हिस्सों में कभी-कभी भयानक अकाल की परिस्थिति पैदा हो जाती है। पिछले ४०-५० साल का अनुभव यह है कि इस प्रान्त के किसी किसी हिस्से में प्रति ६ से १० साल में एक बार भयानक दुर्घटना हो जाती है। अगर यह मान

लिया जाय कि ऐसी दुर्घटनाओं में साधारण पैदावार की २५ % पैदावार ही रह जाती है तो अब तक की परिस्थिति में प्रति वर्ष आवश्यकता का १० सैकड़ा सामान रिजर्व रखते जाने पर ही काम चल सकता है। लेकिन योजनानुसार यातायात की सुविधा की मात्रा काफी बढ़ जायगी जिससे जल्दी से दूसरे क्षेत्रों से मदद पहुँचाना आसान हो जायगा। अतः हमको इस मद में औसत सारे प्रान्त की औसत के आधार पर ही निकालना है। फिर हम जब सारे क्षेत्र का पुनर्गठन करेंगे तो सिंचाई आदि का माकूल इन्तज़ाम करके वर्षा की असमानता से बचत का उपाय करेंगे ही। फिर भी मेरी समझ में कम से कम भोजन के लिए जितना सामान चाहिए उसका ४ प्रतिशत सामान तो रिजर्व के लिए आवश्यक होगा। इस प्रकार प्रान्त को प्रति ग्राम कुल अनाज और उसके लिए भूमि निम्नलिखित मात्रा में चाहिए।

कौन अनाज	भोजन	छीजन ४%	बाहर के लिए प्रतिशत	बाहर के लिए तौल	जोड़	बीज ७ प्रतिशत	कुल जोड़	पैदावार प्रति एकड़	आवश्यक भूमि एकड़ में
गेहूँ	४१३ऽ	१६ऽ	१५.०	६३ऽ	४९२ऽ	३७ऽ	५२८ऽ	१३ऽ	४०.३
धान	२२६ऽ	९ऽ	६.०	१४ऽ	२५२ऽ	१९ऽ	२७१ऽ	१३॥ऽ	२०.७
ज्वार	५०ऽ	२ऽ	४.०	३ऽ	५४ऽ	४ऽ	५८ऽ	७ऽ	८.४
बाजरी	१००ऽ	४ऽ	४.०	४ऽ	१०८ऽ	८ऽ	११६ऽ	५ऽ	२.२
चना	२०७ऽ	१२ऽ	१०.०	२०ऽ	२४९ऽ	२४ऽ	२७३ऽ	१०॥ऽ	२५.८
जोन्हरी	१४०ऽ	५ऽ	५.५	८ऽ	१५३ऽ	११ऽ	१६४ऽ	१३॥ऽ	१२.१
मटर	१५०ऽ	६ऽ	८.०	१३ऽ	१६९ऽ	१३ऽ	१८२ऽ	१०॥ऽ	१७.४
चावल	६५४ऽ	२६ऽ	१५.०	९८ऽ	७७८ऽ	५६ऽ	८३४ऽ	१० ऽ	८३.४
सावाँ	१००ऽ	४ऽ	×	..	१०४ऽ	८ऽ	११२ऽ	१४ ऽ	८.०
कोदों	१०१ऽ	४ऽ	×	..	१०५ऽ	८ऽ	११३ऽ	१४ ऽ	८.१
अरहर	१६९ऽ	७ऽ	१०.०	१७ऽ	१९३ऽ	१४ऽ	२०७ऽ	१२ ऽ	१७.२
उर्द	११२ऽ	४ऽ	१०.०	११ऽ	१२७ऽ	९ऽ	१३७ऽ	९ ऽ	१५.१
मूंग	४४ऽ	२ऽ	१०.०	५ऽ	५१ऽ	३ऽ	५४ऽ	९ ऽ	६.०

मैंने आवश्यक भूमि के लिए पैदावार की प्रति एकड़ मात्रा आज की स्थिति से ३० सैकड़ा के करीब अधिक रक्खी है। वैसे तो खाद और पानी की व्यवस्था करके ५० सैकड़ा पैदावार बढ़ाई जा सकती है लेकिन सावधानी के लिए बढ़ती की मात्रा को ३० सैकड़ा रखना अच्छा है। इसके उपरान्त पशुओं के खाने के लिए दाना के रूप में कुछ और अनाज की आवश्यकता होगी, उसका हिसाब बाद को लिखूँगा।

मीठा में हम गुड़ और चीनी का ही व्यवहार करते हैं। इसके लिए मुख्य साधन गन्ना ही है। हमारा प्रान्त इसकी खेती में विशेष स्थान रखता है। वस्तुतः अगर यह कहा जाय कि सारे भारत के लिए इसकी खेती केवल बिहार और युक्तप्रान्त में ही होती है तो कोई अत्युक्ति न होगी। ईख के अलावा इस प्रान्त में खजूर और ताड़ के पेड़ भी काफी हैं। इसमें से भी गुड़ और चीनी मिल सकेगी। जब देश में राष्ट्रीय सरकार होगी तो शराबबन्दी का कार्यक्रम अवश्य ही चलेगा। वैसी हालत में आज जितना खजूर और ताड़ का रस शराब बनाने में नष्ट हो जाता है वह सब गुड़ और चीनी बनाने के काम आ सकेगा लेकिन ताड़ और खजूर खेती की चीज़ नहीं हैं। इसलिए उन्हें खेती में शुमार नहीं करूँगा। इस मद से जितना गुड़ बनेगा, वह हमारी योजनानुसार आमदनी के अलावा होगा। यहाँ अपने काम के लिए कितना गन्ना चाहिए, उसी का हिसाब करना है।

खाद्य-सामग्री की आवश्यकता की तालिका में मीठे की कुल आवश्यकता २३८ मन बताई गई है। देहातों में गुड़ और चीनी दोनों चीज़ों का इस्तेमाल होगा। इनकी मात्रा गुड़ के लिए २००ऽ और चीनी के लिये ६८ऽ होनी चाहिये। इसके लिए गन्ने की आवश्यकता इस प्रकार होगी :—

भोजन के लिए २८६०ऽ गन्ना { २००ऽ गुड़ के लिए १६००ऽ
{ ६८ऽ चीनी के लिए १२६०ऽ

रिजर्व के लिए ४% ११४ऽ गन्ना

शहर के लिए २०% ५७२)

३५४६) + २६६) बीज के लिए = ३८१२)

५३७) प्रति एकड़ की पैदावार के हिसाब से ७.२ एकड़ भूमि चाहिए।

भोजन के लिए आवश्यक १२७ मन २२ सेर १४ छटांक तेल की उत्पत्ति में तीन सौ तिरासी मन २८ सेर १० छटांक सरसों चाहिए। इसके आधार पर कुल सरसों की आवश्यकता इस प्रकार होगी।

भोजन ३८४)
रिजर्व ४% १५)
शहर के लिए १८% ६८)
} ४६७) + ३४) बीज के लिए = कुल ५०१)

इसी प्रकार तरकारी, मसाला और तम्बाकू की आवश्यकता निम्नलिखित मात्रा में होगी :—

सामान	भोजन	शहर के लिए प्रतिशत	शहर के लिए तौल	जोड़	कुल जोड़	पैदावार प्रति एकड़	आवश्यक भूमि एकड़
तरकारी	१४५८)	२·०	२९)	१४८७)	१४८७) जिसमें ५००) आलू होगा	आलू १००)	५·०
मसाला	३४)	२०.०	७)	४१)	४२)	८)	५·६
तम्बाकू	२०)	२०.०	४)	२४)	२४)	२५)	१·०

नोट—इनके अलावा रिजर्व के लिए १ मन मसाला, १ मन तम्बाकू और बीज के लिए २ मन मसाले की ज़रूरत होगी।

मैंने अपने हिसाब में शहर के लिए केवल २% सब्जी की खपत होगी, ऐसा बताया है। तुम कह सकती हो कि जब शहर में गांव की आबादी की १४% लोक-संख्या है-तो इतनी कम सब्जी से काम कैसे चलेगा ? यह ठीक है कि शहरवालों को कुछ अधिक सब्जी चाहिए लेकिन तुमने देखा है कि शहर की आबादी के अन्दर भी तरकारी की खेती होती रहती है। और अधिकांश तरकारी वे स्वयं अपने यहां कर लेते हैं ऐसी हालत में वे गांव से शाक-भाजी बहुत कम लेंगे। देहात में भी जमीन के परिमाण का हिसाब करते समय मैंने सिर्फ आलू के लिए ही जमीन की आवश्यकता बताई है। इसका कारण यह है कि मैं अपनी योजना में गांव की रचना इस ढंग से करना चाहता हूँ जिससे घरों के साथ साथ उनके काम की तरकारी हो जाय। आज भी अधिकांश देहातों में आबादी के अन्दर ऐसी ज़मीन पड़ी है जो सब्जी के लिए इस्तेमाल हो सकती है। जब आबादी की रचना की बात लिखूंगा तो इस बात पर प्रकाश डालने की कोशिश करूँगा। फिलहाल इतनी कैफियत काफी होगी।

उपर्युक्त अनाज आदि सामग्री के अलावा हमें पशुओं के लिए दाना भूसा चरी खली नमक आदि सामान भी चाहिए। इनका अन्दाज़ तभी लग सकता है जब अपने काम के लिए प्रति ग्राम कितने जानवर चाहिए, इसका अन्दाज़ लग जाय। पहले यह देखा जाय, हमें दूध कितना चाहिए।

एक सेर दूध में सवा छटांक मक्खन निकलता है। बाकी पौने पन्द्रह छटांक अपूर्ण दूध होता है। यानी पौने पन्द्रह छटांक अपूर्ण दूध के लिए १ सेर पूर्ण दूध की आवश्यकता होगी। अतः १५२७ मन ११ सेर १४ छटांक अपूर्ण दूध के लिए १६५७ मन पूर्ण दूध चाहिए। इस तरह गोश्त के लिए २८० मन दूध काटकर कुल २२८४ मन दूध की आवश्यकता होगी। गांव के लोग गाय भैंस बकरी और भेंड़ का दूध इस्तेमाल करते हैं। आज प्रति गांव औसत १९ भेंड़ और

५४ बकरियाँ हैं। बकरियों की तायदाद बढ़ाने के लिए हमारे सामने कोई हेतु नहीं है। लेकिन ऊनी माल और खाद आदि के लिए भेंड़ की तादाद बढ़ाने में लाभ हो सकता है। मेरा अनुभव है कि अगर हम प्रति गांव ५० बकरियाँ और १०० भेंड़े पालें तो गाँव का काम चल सकेगा। दूध के लिए हमें भैंस के स्थान पर गाय को ही तरजीह देनी है, यह मैं पहले ही लिख चुका हूँ लेकिन सवाल यह है कि क्या हम अपनी योजना में भैंस का कोई स्थान ही न रक्खें ? चाहे जितनी कोशिश करें १५ साल में भैंस का अन्त नहीं हो सकेगा। हाँ, उन्हें घटाना तो आवश्यक है ही। व्यावहारिकता की दृष्टि से दूध के लिए निम्नलिखित संख्या में जानवरों का रखने को प्रस्ताव हम करते हैं:—

२२८४ मन दूध प्रति वर्ष के लिए आवश्यक जानवर

संख्या जानवर		औसत दूध प्रति दिन	कुल दूध प्रतिवर्ष
भैंस	२४	ऽ३ सेर	६५७ऽ
बकरी	५०	ऽ॥ ,,	२२८ऽ५
भेंड़	१००	ऽ। ,,	२२८ऽ५
गाय	६५	ऽ२ ,,	११८६।ऽ

आज भारत में दूध का औसत प्रति गाय ५०० पौंड और प्रति भैंस ७०० पौंड बताया जाता है। यह औसत आज की दुर्दशा का है। १०—१५ साल संयोजित चेष्टा के बाद यह औसत तिगुना होना आसान होगा। अतः मैंने अपनी योजना में, गाय और भैंस का जो औसत प्रति दिन का रक्खा है उस हिसाब से वार्षिक १४०० पौंड और २२०० पौंड का औसत पड़ेगा।

उपर्युक्त पशुओं के अलावा खेती के लिए बैल और भैंसों की भी आवश्यकता होगी।

आवश्यक भोजन पाने का उपाय

आज हमारे प्रान्त में औसत प्रति ग्राम ३४७.८ एकड़ ज़मीन पर खेती हो रही है। जिसमें २२.६ सैकड़ा जमीन पर अर्थात् ८६.८ एकड़ पर दोहरी खेती होती है। अर्थात् कुल ४३३.६ एकड़ जमीन जोतनी पड़ती है। इतनी जमीन जोतने के लिए आज ४५ जोड़े बैल और भैंसे काम कर रहे हैं। इस तरह आज के बैल से हम प्रति हल ९.६ एकड़ ही जमीन जोत पाते हैं। यह काम बहुत कम है, ऐसा सर्वमान्य है। अपनी योजनानुसार सुधरे हुए बैल अधिक काम कर सकेंगे। शुरू शुरू में जो जमीन पहले जोती जा रही है, हम अपने आवश्यक सामान पाने के लिए उसकी उन्नति करेंगे। परिमित खाद पानी की व्यवस्था करके हम अपनी पैदावार आज से ३० शत बढ़ायेंगे और करीब २३२.२ एकड़ में दोहरी खेती करके कुल ५८० बीघा जमीन जोत सकेंगे। यह किस प्रकार होगा, उसका ब्यौरा फिर लिखूँगा। फिलहाल इतना बता देना काफ़ी है। गौ जाति की नस्ल सुधार कर हम कम से कम १५॥ एकड़ जमीन एक हल से जोत सकेंगे। इस हिसाब से हमको सिर्फ ३७ जोड़े हल की आवश्यकता है। अब सवाल यह है कि इसमें कितने बैल हों और कितने भैंसे। हमको दूध के लिए ६५ गायें चाहिएँ। जानकार लोग कहते हैं कि गौ जाति में बछड़े और बछिया करीब-करीब समान संख्या में पैदा होती हैं। अभी केन्द्रीय असेम्बली की बहस के रुख से मालूम होता है कि गौओं की हत्या कानून से बन्द कराने के पक्ष में करीब सभी चिन्ताशील हिन्दुस्तानी हैं। अतः खाने के लिए जो कुछ भी जानवर काम में आवेंगे वे सब बैल ही होंगे। इस तरह जहाँ गाय की आबादी ६५ होगी, वहां बैल की ६० से अधिक नहीं होगी। बाकी १४ भैंसें होंगी। और २४ भैंस की आबादी में १४ भैंसा का होना अनुपात से ठीक भी पड़ेगा। इतने पशुओं के साथ बछड़ा, बछिया, पाड़ा, पाड़ी आदि बच्चे ९० की संख्या में होंगे। फुटकर जानवरों में

प्रति गांव का औसत १ घोड़ा और २ ऊँट माना जा सकता है।

इतने पशुओं के भोजन की व्यवस्था करनी है। इनके लिए हमें चाहिए चरी, भूसा, खली, दाना, दाल की भूसी और नमक। प्रत्येक जानवर को स्वस्थ और सबल रखने के लिए कितना सामान चाहिए और उस हिसाब से कुल कितने सामान की आवश्यकता होगी उसकी व्यौरेवार तालिका नीचे दी जाती है :—

प्रति जानवर आवश्यक भोजन (प्रति दिन)

जानवर	चरी एकड़ में	भूसा पुआल आदि	खली	दाना	भूसी	नमक
बैल	$\frac{1}{6}$	ऽ६॥	ऽ।	ऽ॥	ऽ।	ऽ—
गाय	$\frac{1}{10}$	ऽ५	ऽ।	ऽ।=	ऽ।	ऽ—
भैंस	$\frac{1}{6}$	ऽ६॥	ऽ।	ऽ॥	ऽ।	ऽ—
भैंसा	$\frac{1}{6}$	ऽ६॥	ऽ।	ऽ॥	ऽ।	ऽ—
भेंड़	...	...	...	ऽ=	ऽ।=	ऽ०॥
बकरी	...	...	...	ऽ=	ऽ।=	ऽ०॥
घोड़ा	...	ऽ५	ऽ।	ऽ२	ऽ१	ऽ=
बच्चे	$\frac{1}{12}$	ऽ३	...	ऽ=	ऽ=	ऽ½

पशुओं की कुल वार्षिक आवश्यकता

सं० पशु	चरी एकड़ में	भूसा आदि	खली	दाना	भूसी	नमक
बैल ६०	१०.०	३५५९)	१६७)	२७४)	१३७)	३४)
गाय ६५	६.५	२९६५॥)५	१४८॥)	२२२॥)५	१४८॥)	३७)
भैंस २४	४.०	१४२४)	५४॥।)	१०९॥)	५४॥।)	१४)
भैंसा १४	२.५	८३०)	३२)	३४)	३२)	८)
भेड़ १००	...	...	...	११४)	३४३)	२९)
बकरी ५०	...	...	...	५७)	१७२)	१४)
बच्चे ९०	७.५	२५२३)	...	१०५)	१०५)	२६)
घोड़ा १	...	४६)	२)	१६)	८)	१)
साँड़ १	१७	५१)	...	६)	२)	॥)
	३०.६७	११४०९॥)५	३७४)	९६७॥।)५	१००२)	२०५॥)

अनाज की कुल आवश्यकता—इस हिसाब से हमारे प्रांत को भोजन-सम्बन्धी कितना अनाज चाहिए, उसका अन्दाज किया जा सकता है। परिस्थिति को समझने के लिए इसे थोड़ा स्पष्ट करना शायद आवश्यक होगा। मैंने जिस प्रकार अलग-अलग हिसाब बताया है उससे एक साथ स्थिति समझना शायद तुम्हारे लिए आसान न होगा। वास्तव में असली बात समझने की यह है कि हमको प्रत्येक

मनुष्य और पशु के लिए स्वास्थ्यकर भोजन के वास्ते कुल कितना सामान चाहिए और आज प्रान्त भर में कितना पैदा होता है, जिससे यह अन्दाज लग सके कि हमको करना क्या है ? अगर तुम प्रधानतः अनाज की ओर नजर डालोगी तो स्थिति साफ हो जायगी। हमारी भोजन-सामग्री में प्रधान वस्तु अनाज ही है अतः तुम्हारी जानकारी के लिए हमको कितना अनाज चाहिए और कितना आज मिलता है, इसका हिसाब भेज रहा हूँ। इससे तुम ठीक-ठीक समझ सकोगी कि कितने सामान की कमी है और कितना काम हमको करना है। यह हिसाब निम्न प्रकार है।

प्रति ग्राम के लिए आवश्यक अनाज

नाम अनाज	मनुष्यों के लिए मनों में	जानवरों के लिए मनों में	आज की उत्पत्ति मनों में
गेहूँ	५२८	...	७४३·०५
जव	३७१	...	३४८·२२
चना	३७३	६५	४१६·०२
चावल	८३४	...	५४५·६२
ज्वार	५८	...	६३·२६
बाजरा	११६	...	७८·३७
जोन्हरी	१६४	१४५	१६५·००
कोदो	११३	...	१०७·७०
सावाँ	११२	...	५६·३०
मटर	१८२	१५१	२०४·०६
अरहर	२०७	...	...
उर्द-मूँग	१३६ ५४	... ...	७३·८७
जव केराई		८३०	...
योग	३१४८	१२२१	२६६३·५३

इस प्रकार प्रति ग्राम अनाज की आवश्यकता कुल ४४६६९८ की है और पैदावार कुल २६३४८ की है। अतः हमारे प्रांत के प्रति ग्राम १५०५८ अनाज की कमी पड़ती है। अर्थात् हमारे प्रांत में अगर सबको स्वास्थ्यकर भोजन देना है तो आज जितना अनाज पैदा होता है उसके उपरान्त १५,४०,६३,६४० मन और चाहिए। अगर हम प्रांत से बाहर जाने वाली अनाज की मात्रा से, बाहर से आनेवाली अनाज की मात्रा घटा दें तो प्रांत की खाद्य-सामग्री की कमी के परिमाण में (१,५५,८५,००० मन—१,१२,४८,००० मन=)४२,३७००० मन और बढ़ जायेंगे।

इन हिसाबों से तुम समझ सकती हो कि आम तौर पर लोगों का जो ख्याल है कि "अगर हमारा अनाज विदेश जाने से रोका जाय तो हम सारे देश को पेट भर खाना दे सकते हैं" कितना ग़लत है। मैंने काफ़ी पढ़े-लिखे लोगों को भी इस प्रकार की बातें कहते सुना है। इस तरह का ख्याल इतना गहरा है कि हमारे राष्ट्रीय कार्यकर्ता देहाती सभाओं में भाषण देते समय यहाँ तक कह डालते हैं कि अगर हमारा अनाज विदेश जाने से रोक दिया जाय तो हम एक साल पैदा करके तीन साल बैठकर खा सकते हैं। देखो, हमारी जनता कितनी घोर गलतफ़हमी में पड़ी हुई है। यह पन्द्रह-सोलह करोड़ मन अनाज की कमी उस प्रांत की है जिसे लोग भारत का गल्ला-गोदाम कहा करते हैं। भला बताओ अगर भारत की परिस्थिति का हिसाब लगाया जाय तो क्या दशा मालूम होगी ?

जमीन का हिसाब और कृषि-सुधार—अब सवाल यह है कि यह बढ़ती अनाज आवे कहां से ? इस प्रश्न से स्वभावतः हमारा ध्यान प्रांत मे प्राप्य ज़मीन की ओर जाता है। मैंने पहले के पत्र में बताया है कि हमारे प्रांत में प्रति ग्राम ३४७.८ एकड़ में ही खेती होती है। अगर ८५.८ एकड़ दोहरी खेती की ज़मीन भी जोड़ी जाय तो कुल ४३३.६ एकड़ पर ही कुछ पैदावार हो रही है। इसके अलावा प्रति

ग्राम—(१) ३२.३ एकड़ ज़मीन ऐसी है जिस पर खेती हो सकती है लेकिन सामान्य साधन न होने से लोग जोतते नहीं (२) ६६.३ एकड़ ऐसी ज़मीन है जिसे विशेष-साधनों से खेती के उपयुक्त बनाया जा सकता है और (३) ४६.८ बीघा ऐसा ऊसर है जिसे वैज्ञानिक आविष्कारों का इस्तेमाल करके, काम में लाया जा सकता है।

अगर खेती की उन्नति करनी है तो किसी न किसी तरह गोबर जलाना बन्द करना ही है। इसका मतलब यह है ईंधन के लिए हमको लकड़ी चाहिए। फिर खाद्य की तालिका में देखा होगा कि मैंने योजना में हर एक मनुष्य के लिए फल व खाना अनिवार्य बताया है। इसलिए फल और जंगल के लिए पेड़ लगाना जरूरी है। अतः ३२.३ एकड़ ज़मीन तो बाग और जंगल के काम में ही समाप्त हो जायगी। बाकी दो किस्म की ज़मीनों में से थोड़ा-थोड़ा करके नया खेत बनाया जा सकता है। लेकिन हमको अपनी प्रस्तावित स्थिति पर पहुँचने में कम से कम १५ साल लग जायँगे। तब तक हमारी आबादी भी काफ़ी बढ़ जायगी। यह ठीक है—शिक्षा, संस्कृति और आर्थिक स्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ आबादी की वृद्धि की गति कुछ कम हो सकती है। फिर भी वृद्धि तो होगी ही। इस तरह जो नया उपज ड्योढ़ी करो खेत बनता जायगा उसे नई आबादी के लिए छोड़ कर ही अपनी समस्या हल करनी होगी। इसका मतलब यह होता है कि आज जितने खेत जोते हैं उतने पर ही खेती की उन्नति करके हमें अनाज तथा अन्य भोजन सामग्री पूरी करनी होगी। यानी आज प्रति एकड़ जितनी औसत पैदावार है हमें उसकी ५०% पैदावार और बढ़ानी है। इसके दो उपाय हो सकते हैं। प्रथमतः प्रति एकड़ पैदावार आज जितनी है उसमें वृद्धि हो, फिर आज जितनी जमीन पर दोहरी खेती होती है उससे अधिक कोशिश इस बात की करनी होगी कि कुछ जमीन पर तीन फसलें भी हो सकें।

जमीन की पैदावार बढ़ाने के लिए प्रथमतः तीन उपाय बताये जाते हैं—(१) पुराने तरीके के हल आदि औजारों को तब्दील करके आजकल की मशीनों-द्वारा खेती का काम करना। (२) आज जो छोटी छोटी टुकड़ियों में जमीन बँटी है उन्हें मिलाकर चकबंदी करना और (३) खाद तथा पानी की माकूल व्यवस्था करना।

ग्राम-सेवा के काम के सिलसिले में मैंने जितने लोगों से बात की हैं प्रायः सबका ही कहना है कि "इस तरह पुराकालीन हल आदि से जमीन को बिना ठीक से जोते हुए, किस तरह खेती सुधर सकती है। आज की वैज्ञानिक दुनियाँ मे जो कुछ उन्नत मशीनों का आविष्कार हुआ है उन्हे इस्तेमाल किये बिना हमारा उद्धार नहीं हो सकता है।" इत्यादि। हमारे देश की दुर्दशा देखकर, और युरोप की खुशहाली से मिलान करके लोगों का ऐसा सोचना स्वाभाविक ही है। लेकिन किसी चीज़ पर एकांगी विचार करके निश्चय करना ठीक नहीं।

पश्चिमी देशों मे हमारी परिस्थिति की भिन्नता

पश्चिमी देशों की परिस्थिति हमारे देश से भिन्न है। वहाँ दो ही प्रकार की परिस्थितियाँ हैं। युरोप और अमेरिका के खुशहाल देशों को तुम प्रधानतः दो श्रेणी में बाँट सकती हो। एक ऐसे मुल्क जिनपर आबादी बहुत थोड़ी है और इस्तेमाल करने के लिए प्रकृति की देन आबादी के अनुपात से अपार है। दूसरे ऐसे मुल्क जिनपर आबादी तो घनी है लेकिन लूटने के लिए साम्राज्य का विस्तार अपार है। अतः इन दोनों श्रेणियों में से एक के साथ भी भारत नहीं ठहर सकता है। हमारे यहाँ आबादी घनी है; लूटने के लिए न कोई साम्राज्य होनेवाला है न हम उसे श्रेय समझते हैं। अतः यहाँ की परिस्थिति और समस्या मौलिक है और हमें समाधान के लिए मौलिक रीति से विचार करना होगा। न तो हमको आवेश में आकर कुछ कर डालना है और न दूसरी परिस्थिति वाले देशों की नकल ही करना है। अतएव यह कहकर कि दूसरे

देशों में ट्रैक्टर आदि मशीनों से करीब हाथ भर मिट्टी की गोड़ाई करके फस्ल की जड़ों को खुराक लेने के लिए बहुत ज्यादा मौका देते हैं और थोड़ी जमीन पर अधिक फस्ल पैदा कर लेते हैं, और हमारा किसान सदियों की रूढ़ि का गुलाम बनकर नाखून बराबर हल से दो-तीन इंच जमीन जोतकर फस्ल को बढ़ने नहीं देता तथा अपनी जमीन से थोड़ा-बहुत पैदा करके, सन्तोष कर लेता है, अफसोस करने से कोई लाभ नहीं। अगर हम इन बातों को सोचकर, अपने यहाँ बड़ी-बड़ी मशीनें लाने की कोशिश करने लगेंगे तो हम थोड़े हिस्सों में अपना खाका, यूरोप के ढंग बना ज़रूर लेंगे लेकिन अपनी समस्याओं को हल नहीं कर सकेंगे। हमें इस सवाल पर गम्भीर विचार करके ही किसी नतीजे पर पहुँचना पड़ेगा।

वस्तुतः केवल पैदावार के अनुपात से ही खेती के तरीकों की अच्छाई या बुराई का फैसला करना गलत होगा। पैदावार केवल ज़मीन की जोत पर ही निर्भर नहीं है। भूमि के प्रकार, जलवायु तथा ज़मीन की प्राचीनता और नवीनता पर भी पैदावार निर्भर रहती है। इसके उपरांत किसानों के साधन की स्थिति भी उपज के मामले में महत्व का स्थान रखती है। किन्हीं दो मुल्कों या दो भूमियों की तुलना करते समय उपर्युक्त समस्त बातों का ध्यान रखना होगा। स्पेन में चावल की प्रति एकड़ उपज अमेरिका की तिगुनी है लेकिन कौन नहीं जानता कि यांत्रिक खेती अमेरिका में कहीं ज्यादा उन्नत है। अपने यहाँ ही देखो, एक जिले से दूसरे ज़िलों की पैदावार में भिन्नता हो जाती है। इसका मतलब यह नहीं कि ज़िले-ज़िले में हल भिन्न हैं या किसानों की योग्यता में कमी-बेशी है। तुमको मालूम है कि अमेरिका के कैलिफोर्निया के बागवान बड़े योग्य और उनके ढंग बिल्कुल वैज्ञानिक हैं। क्या वे हमारे देश के मुकाबले आम की फस्ल पैदा कर सकते हैं? मैंने सुना है कि अमेरिका में

उपज अधिक होने के और भी कारण हैं

गेहूँ की दो फस्लें एक ही भूमि में होती हैं। हमारे देश की वरसात की तर्ज और आवहवा इस प्रकार की है कि एक फुट क्या दस हाथ खोदकर ज़मीन वनाने पर भी एक रवी के अलावा दूसरे किसी मौसम में गेहूँ नहीं पैदा हो सकता। ज्यादा खुदाई की वात भी शिक्षित जनता की एक प्रकार की माया ही है। कहीं कहीं अधिक गहरी जोताई से लाभ के वजाय हानि होती है। वंवई की अधिकांश भूमि ऐसी है कि अगर तुम तीन चार हाथ से अधिक जोताई की चेष्टा करोगे तो पत्थर और वंजर ही मिलेगा और थोड़ी जोताई से जो कुछ फस्ल मिल सकती है उससे भी हाथ धोना पड़ेगा। फिर ज़मीन की प्राचीनता और नवीनता पर भी पैदावार निर्भर रहती है यह कौन किसान नहीं जानता। तुम देहातों में चले जाओ और किसानों से वात करो। हर स्थान का हर किसान कहेगा कि अगर उनके पास इतनी ज़मीन हो कि वारी-वारी से कुछ हिस्सा तीन-चार साल में एक वार परती छोड़ सकें तो विना मेहनत के पैदावार वढ़ सकती है। गोरखपुर के श्री महावीर प्रसाद पोद्दार को तो तुम जानती हो। वे हमारे साथ इसी जेल में थे। उन्होंने एक जंगल खरीद लिया था और उसे कटवाकर खेत वनवाया है। उनका कहना था कि दो-तीन साल से विना खाद और विशेष परिश्रम से दूनी पैदावार होती है। भारत की खेतिहर सभ्यता हज़ारों वर्ष पुरानी है। यहां कव से खेती की कला का विकास होना प्रारंभ हुआ है इतिहास भी आजतक इसकी ठीक-ठीक गवाही नहीं दे सका है। अलग-अलग पंडित अलग-अलग वात वताते हैं; मोहनजो दड़ो के शिलालेखों के पढ़े जाने पर क़ौन कौन विचित्र घटनाओं का आविष्कार होगा, इसका तो अभी कोई ठीक ही नहीं है। लेकिन यह वात तो सर्वमान्य है कि भारत और चीन संसार के सवसे प्राचीन खेतीप्रधान देश हैं। अतः यहां की भूमि की उर्वरा शक्ति का अत्यधिक ह्रास स्वाभाविक है। यह राय केवल मेरी नहीं वल्कि दुनिया के सभी विशेषज्ञों की है। चौधरी मुख्तियारसिंह, जो युक्तप्रान्त सरकार की खेती

सुधार कुमेटी के चेयरमैन थे, 'एग्रीकल्चरल ट्रिब्यूनल ऑव् इनवेस्टिगेशंस' के १६ पृष्ठ से निम्नलिखित वाक्य उद्धृत करके इस बात की पुष्टि करते हैं—"नये मुल्कों की ताज़ी ज़मीन अपने अंदर पुंजीभूत उर्वरता के कारण अपेक्षाकृत थोड़े परिश्रम से ही सस्ते में अधिक पैदावार तैयार कर सकती है।" उनका कहना है—"जो लोग भारत की पैदावार की आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, अमेरिका आदि देशों की पैदावार से तुलना करते हैं वे भूल जाते हैं कि इन मुल्कों की ज़मीन को खेती के लिए तोड़े अभी एक शताब्दी भी नहीं हुई है अतः वहां अधिक पैदा होना आश्चर्य की बात नहीं।" (चौधरी मुख्तारसिंह रूरल इंडिया पृष्ठ १३)

उपर्युक्त बातों के अलावा किसानों की आर्थिक स्थिति भी पैदावार घटाने का कम कारण नहीं है। यहां कितनी आबादी है और उस कारण किसानों के पास कितनी कम ज़मीन है, इसका हाल मैं लिख चुका हूँ। खेती के शाही-कमीशन ने अपनी रिपोर्ट के ७५५ पृष्ठ पर लिखा है—"यह स्पष्ट है कि जहाँ जमीन पर की बढ़ती आबादी के बोझ के कारण किसानों को खराब ज़मीन जोतने के लिए मजबूर हो जाना पड़ता है, वहां की औसत उत्पत्ति में कमी हो जाती है।" मैंने देखा है, किसान कितने ही स्थानों पर, निदान ऊसर पर ही, अनाज बो देते हैं। हमारे प्रान्त के मनुष्य और पशुओं की बेकारी की मात्रा कितनी है, यह तो मैंने तुम्हें लिखा ही है। ऐसी हालत में किसान बैठे रहने से ऊसर बंजरों को जोतकर बीज डाल देना ही लाभप्रद समझते हैं। क्योंकि कुछ नहीं से बीज के उपरांत कौर भर अन्न भी तो अच्छा ही है। हमारे शिक्षित भाई, जो केवल रिपोर्टों के पन्ने ही उलटते हैं, भूल जाते हैं कि यहाँ की औसत पैदावार के हिसाब में इस प्रकार की "मजबूरन उत्पत्ति" ('डिसट्रेसड प्रोडक्शन') भी शामिल है। ऐसी खेती हमारे प्रान्त में लाखों बीघे की है। कम खेती होने के कारण खेती के प्रकार में भी फर्क हो जाता है। विदेशी

हमारे किसानों की विशेषताएँ

औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था के कारण हमारी देहाती जनता के पास खेती के सिवा दूसरा कोई धंधा नहीं रह गया है। अतः उन्हें थोड़ी ज़मीन से ही अपना सारा काम चलाना पड़ता है। उनके पास विभिन्न अनाजों के लिए विभिन्न प्रकार की जमीन तो है नहीं। इसलिए वे एक ही ज़मीन पर कई प्रकार के अनाजों की खिंचड़ी बनाकर वो देते हैं। इससे खाने के लिए न सही कम से कम देखने के लिए कुछ अन्न तो हर मौसम में मिल जाता है। हम में से किसी को भी अगर किसानों में रहने का सौभाग्य हुआ हो तो उन्होंने देखा होगा कि सामा काटने के वाद जब उसे वे खाकर खत्म कर डालते हैं तथा कुवारी धान की कटाई में थोड़ी देर हो जाती है और जब किसान भूखे रहकर या आमकी गुठली खाकर "कटिया" की वाट देखता रहता है तब वहाँ उसी बीच घर पर कोई अतिथि आ जाय तो उसका चेहरा कितना मलीन, कितना दीन हो जाता है। और जब हमारे अधिकांश किसानों के पास दो एकड़ से कम ज़मीन है तो प्रायः सभी जमीन पर ऐसा अनाज बोना पड़ता है जैसा उस ज़मीन पर बोना नहीं चाहिए था। इस कारण भी हमारी औसत पैदावार बहुत थोड़ी हो जाती है। फिर यहाँ खाद-पानी की कितनी कमी है, यह तुमको मालूम हो ही गया है। वाहरी मुल्कों से तुलना करते समय इन वातों को भूलने से कैसे चलेगा? यूरोप और अमेरिका के किसानों में प्रत्येक के पास काफ़ी ज़मीन है। उन मुल्कों में या तो आवादी का वोझ स्वभावतः नाम मात्र है या सारे संसार के वाजारों में माल वेचने के लिए अधिकांश जन-संख्या को उद्योग में ठेलकर जमीन पर के बोझ को नाम-मात्र वनाये रखा गया है। वहाँ के किसानों को मजबूरन ऊसर-बंजर नहीं जोतना पड़ता। काफी जमीन होने से जिस खेत पर अनाज अधिक पैदा हो सकता है वहाँ उसे बो सकते हैं। वे ज़मीन को वारी-वारी से परती छोड़ सकते हैं और खाद पानी की माकूल व्यवस्था

कर सकते हैं। विदेशों में किसानों के पास कितनी ज़मीन है उस का कुछ हिसाब देखना चाहती हो तो नीचे की तालिका की ओर एक नजर डाल लो—

इंग्लैंड और वेल्स में—

प्रति किसान की जमीन का परिमाण	कुल किसानों का अनुपात
१ एकड़ से ५ एकड़ तक	१·१ प्रतिशत
५ एकड़ से २० एकड़ तक	५·० प्रतिशत
२० एकड़ से ५० एकड़ तक	६·७ प्रतिशत
५० एकड़ से १०० एकड़ तक	१६·० प्रतिशत
१०० एकड़ से १५० एकड़ तक	१४·५ प्रतिशत
१५० एकड़ से ३०० एकड़ तक	२६·० प्रतिशत
३०० से ऊपर	२४·७ प्रतिशत

जर्मनी में -

१। एकड़ से नीचे	१·१ प्रतिशत
१। एकड़ से ५ एकड़ तक	४·३ प्रतिशत
५ एकड़ से १२॥ एकड़ तक	१०·४ प्रतिशत
१२॥ एकड़ से ५० एकड़ तक	४८·५ प्रतिशत
५० एकड़ से १२५ एकड़ तक	२१·४ प्रतिशत
१२५ एकड़ से २५० एकड़ तक	७·६ प्रतिशत
२५० एकड़ से ऊपर	२१·२ प्रतिशत

और हिन्दुस्थान में—

१ एकड़ से कम	२३ प्रतिशत
१ एकड़ से ५ एकड़ तक	३३ प्रतिशत
५ एकड़ से १०, एकड़ तक	२० प्रतिशत
१० एकड़ से ऊपर	२४ प्रतिशत

ऊपर की तालिका से स्पष्ट हो जायगा कि इस दिशा में दूसरे मुल्कों से हमारी कोई तुलना ही नहीं की जा सकती।

फिर क्या यह बात सच है कि हमारे यहाँ की पैदावार इतने भयानक रूप से कम है? श्री चौधरी मुख्तारसिंह ने हमें एक तुलनात्मक हिसाब बताया है। उससे तुम जान सकोगी कि जिस कम पैदावार के लिए लोग इतना हल्ला मचाया करते हैं वह कहाँ तक सही है। उनकी तालिका इस प्रकार है :—

नाम मुल्क	गेहूँ बुशेल में	अन्य अनाज बुशेल में	जव बुशेल में	चावल पौंडों में
हिंदुस्तान	११·४	१३·६	१६·२	८·६३
कनाडा	१६·६	४४·३	२५·४	—
युक्तराष्ट्र अमेरिका	११·६	२७·८	२४·८	१०.७६
मेक्सिको	५·०	११·८	—	६.८२
फ्रांस	१३·६	१७·८	२५·६	—
स्पेन	६·६	२२·२	२१·२	३२.७०
पुर्तगाल	१७·२	—	११·३	१२.२२
रूस	१०·१	१७·४	१२·८	—
अफ्रिका	१०·६	—	१२·३	—
आस्ट्रेलिया	६·८	१६·५	६·४	—

अभी श्री टाटा आदि ने जो १५ वर्षीय योजना बनाई है उसमें सन् १६३६-४० का जो हाल का हिसाब बताया गया है उसमें भी गेहूँ की पैदावार प्रति एकड़ इस प्रकार है:—

देश के नाम	गेहूँ टनों में
संयुक्त राष्ट्र	०·३७ टन
कनाडा	०·५२ टन
आस्ट्रेलिया	०·४२ टन
भारत	०·३२ टन

कनाडा, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका, रूस और आस्ट्रेलिया में मशीन की वैज्ञानिक खेती की पराकाष्ठा है। जमीन की नवीनता, वारिश की समता और साधन की अधिकता के होते हुए भी अगर मशीन की खेती का नतीजा भारत की तुलना में इतनी ही भिन्नता रखता है तो मैं कहूँगा कि हमारे किसानों को तालीम देने के लिए विदेशी लियाकत की आवश्यकता नहीं है। परम्परा से खेती करते हुए भारत के किसानों में अनुभव के आधार पर खेती कला के ज्ञान का संस्कार-सा वन गया है। वर्षा की असमानता, सिंचाई की कमी, ज़मीन के टुकड़ों में बँटे होते हुए भी जिस निपुणता से यहां के लोग खेती करते हैं उसे देखकर विदेशी विशेषज्ञ स्तंभित हो जाते हैं। हमारे किसानों का ज्ञान कितने ऊँचे दर्जे का है, इस वात की तारीफ डाक्टर भोयेलकर साहव की विस्तृत रिपोर्ट तथा खेती की शाही-कमीशन की रिपोर्ट के पन्नों में भरी पड़ी है। घाघ की खेती-सम्वन्धी जिन उक्तियों का लोग मज़ाक उड़ाते थे, वर्षों की वैज्ञानिक खोजों के वाद उन्हें आज सही वताना पड़ रहा है। इन वातों से समझा जा सकता है कि दूसरे

वैज्ञानिक खेती बनाम यांत्रिक खेती

मुल्कों में अगर कुछ अधिक पैदावार है भी तो वह मशीन की जोताई के कारण नहीं है वल्कि उचित मात्रा में खाद-पानी की व्यवस्था तथा जमीन और फस्ल के उचित वँटवारे के कारण है। नई जमीन की जो खास सहूलियत है उसे तो घलुये में भी डाल सकती हो। वस्तुतः मशीन की खेती की वावत हमारी पढ़ी-लिखी जनता में वहुत गलत-फहमी है। वे वैज्ञानिक खेती और यांत्रिक खेती में कोई फर्क नहीं करते हैं। वस्तुतः वैज्ञानिक खेती विल्कुल अलग चीज़ है। वैज्ञानिक खेती के मतलव हैं—कितना खाद कितना पानी और ज़मीन की कैसी स्थिति (जिस पर खाद-पानी आदि पौधों के उपयोगी-पदार्थ कायम रह सकें) आदि के ज्ञान के साथ खेती। मशीन की खेती तो खेती की विभिन्न प्रक्रियाओं को जल्दी करने का उपाय-

मात्र है, पैदावार बढ़ाने का नहीं। हम बिना मशीन के वैज्ञानिक खेती कर सकते हैं और मशीन से अवैज्ञानिक खेती भी हो सकती है। मशीन की जोताई में विशेष नाम न होने पर भी पश्चिम के देशों में उत्तरोत्तर मशीनों की वृद्धि ही होती जा रही है। इसका वास्तविक कारण पैदावार बढ़ाना नहीं है बल्कि मज़दूरों की कमी करना है। हम अपने यहां मज़दूरों की कमी तो तब करने की सोचेंगे जब सब खाली आदमी काम में लगने के बाद भी काम बाकी रह जायगा। तब तक तो हमको मौजूदा औज़ारों से संतोष करके उन साधनों की पूर्ति में सारी शक्ति लगा देना है जिनके न होने से किसान इच्छानुसार खेती करने से मजबूर हो जाते हैं।

मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि हमको अपने हल आदि औजारों में सुधार करने की आवश्यकता नहीं है। सुधार की चेष्टा तो करना ही है। प्रान्तीय सरकार को इस विषय के प्रयोग के लिए विशेष विभाग खोलना पड़ेगा। मेरा कहना केवल इतना ही है कि हमें आँख मूंद कर विज्ञान के नाम पर दूसरे देशों में इस्तेमाल होने वाले औजारों की नकल नहीं करनी है। हमें अपने देश की सारी परिस्थिति से सामंजस्य रख कर अपने प्रयोग तथा खोज के काम चलाने होंगे।

अभी थोड़ी देर हुई, मैं लिख चुका हूँ कि हमारे यहां वर्षा काफी होने पर भी सारी बरसात थोड़े दिनों में समाप्त हो जाने के कारण बहुत सा पानी बह कर समुद्र में चला जाता है। नतीजा यह होता है कि दूसरे मौसम में जमीन की नमी बनाये रखना हमारी खेती की एक विशेष समस्या है। जिन देशों में पानी सालभर में बँट कर बरसता है और हिम के कारण दूसरी ऋतुओं में भी जमीन को नमी मिलती रहती है उन देशों में गहरी खुदाई करके ज़मीन को उलटने वाला हल फायदे का होता है। लेकिन हमारे देश में, जहाँ बरसात थोड़े दिन होती है और बाकी मौसिम की आबहवा

विदेशी हल और यहाँ की भूमि

काफी रूखी होती है वहाँ सीधी और थोड़ी गोड़ाई से भी लाभ हो सकता है। यहाँ उलटने वाले हल से लाभ के बजाय हानि ही होगी। रही जमीन को भुरभुरा बनाने की बात। जहाँ आदमी और बैल बेकार बैठे रहते हैं वहाँ एक बार के बजाय कई बार जोतने से जमीन उतनी ही भुरभुरी हो जाती है जितनी उलटने वाले हल से हो सकती है। इस तरह किसान जमीन को इच्छानुसार भुरभुरी बना कर भूमि की नमी कायम रखते हैं। केवल बेकार आदमी और बैलों को काम में लगे रहने की ही बात नहीं है बल्कि रबी के लिए खेत जोताई का मौसम ऐसा होता है कि जमीन में नमी पहुँचा कर उसे बनाये रखने के लिए भी बार-बार जोत कर उस पर बेलन या हेंगा चलाना आवश्यक होता है। कार्तिक के महीने में संध्या से रात तक जोतकर रात भर की ओस पड़ जाने के बाद सुबह सूर्योदय से पहले ही बेलन या हेंगे से प्रतिदिन खेतों को दबाते हुए तुमने देखा ही होगा। ऐसा करने से काफी नमी जमा हो जाती है। साथ ही खेत काफी भुरभुरा भी हो जाता है। गेहूँ के खेत को यहां के किसान इतना नरम बना देते हैं कि यह कहावत मशहूर है कि बने खेत पर भरा हुआ घड़ा गिरने से अगर टूट जाय तो समझना चाहिए कि खेत तैयार ही नहीं हुआ है। तुम कह सकती हो कि अगर सिंचाई का पूरा प्रबन्ध हो जाय तो सींचकर उलटने वाले हल से जोतकर भी तो जमीन को उतना ही नरम बनाया जा सकता है और साथ ही नमी भी काफी कायम की जा सकती है। लेकिन सींचकर जोतने से वह बात पैदा नहीं हो सकती है। सिंचाई से जमीन में नमी के साथ सर्दी भी आ जायगी जो कि रबी के बीज के लिए लाभदायक नहीं होती। उसे तो नमी के साथ-साथ गर्मी भी चाहिए और उस गर्मी को कायम रखने के लिए आज के तरीके सर्वोत्तम हैं। हाँ, बरसात के दो माह जोतने के लिए उलटने वाले हल से लाभ होता है। वर्षा के दिनों में बार बार उलटने पर काफी दूर तक जमीन सड़ जाने से लाभ हो सकता है। लेकिन एक तो साल में दो

माह का समय इतना कम है और उन दिनों में जोतने के लिए खेत इतने कम खाली होते हैं कि इतने थोड़े लाभ के लिए किसान से कई प्रकार के औजारों के रखने की आशा करना बेकार हैं। यही कारण है कि खेती के शाही कमीशन ने राय दी है कि "यद्यपि भारत की जमीन पर कभी-कभी उलटने वाला हल चलाने से लाभ होना निःसन्देह है, तथापि उनको अधिक समय तक ऐसी जोताई की आवश्यकता है जिससे जमीन की नमी बनी रहे। अतः जहाँ आर्थिक कारणों से दो हल रखना सम्भव नहीं है वहाँ सर्वोत्तम हल वही है जो ज़मीन को गोड़ना है लेकिन उलटना नहीं।" अतएव हमको अगर औजारों की उन्नति भी करनी है तो इन्हीं समस्याओं को दृष्टि में रखकर करनी होगी लेकिन किसी भी हालत में अपनी योजना में बड़ी बड़ी मशीनों की नकल करने की सलाह मैं नहीं दे सकता। अगर केवल तर्क के लिए यह मान भी लिया जाय कि मशीनों की खेती से कुछ पैदावार बढ़ सकती है और उससे बेकारी भी नहीं बढ़ेगी तब भी हमारी आज की स्थिति में सारे देश को उन्हें ग्रहण करने के लिए जितनी पूँजी की आवश्यकता होगी उसे प्राप्त करने में आज की सैनिक गुलामी से अपना गला छुड़ा कर भी आर्थिक गुलामी के नीचे हम दब जायँगे। क्योंकि इतनी पूँजी तो उन्हीं देशों से मिल सकती है जो संसार भर चूस कर मोटे बन बैठे हैं। अतः सारी स्थिति पर विचार करते हुए हमें अपनी योजना में खेती के वर्त्तमान तरीकों को कायम रखते हुए उनकी उन्नति का कार्यक्रम रखना ही श्रेय होगा।

यह सम्भव है कि लोग मुझको प्रतिक्रियावादी कहें। लेकिन प्रगति में ही उन्नति है, यह बात हमेशा सब जगह लागू नहीं हो सकती है। सामने गड्ढा होते हुए भी आगे बढ़ने के लिए ही आगे बढ़ते जाना बुद्धिमानी नहीं है। फिर मैं आगे बढ़ने से रोकता नहीं हूँ। मैं केवल इतना ही कहता हूँ कि आँख मूँदकर युरोप के लगाम के साथ आगे न बढ़कर लोग आँखें खोलकर रास्ता किधर से है उसे देखते

हुए आगे बढ़ें । गड्ढा, खाई बचाकर अगर घूमकर चलना पड़े तो वैसे चलें । मेरा कहना है कि लोग अन्ध प्रगतिवादी न बन कर वास्तविकतावादी बनें । "मक्षिका स्थाने मक्षिका" के दुराग्रह को छोड़कर बुद्धि से विचार कर काम करें ।

बस आज इतने पर ही समाप्त करता हूँ । अगले पत्र में खेती की पैदावार की कमी के जो दूसरे कारण बताये जाते हैं, उन पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा ।

आशा है, मेदनीपुर के शिक्षा-केन्द्र का काम सफलता के साथ चल रहा होगा । वहाँ कौन संचालन कर रहे हैं ? मैं स्वस्थ हूँ । अपने लोगों के कुशल-समाचार देना । नमस्कार ।

---

[११]

समस्याओं का समाधान—२

१२—६—४४

पिछले सप्ताह एक पत्र लिखा था, मिला होगा । आज फिर लिखने बैठा हूँ । इधर जेल भर में फिर से छूटने का वायुमंडल बन रहा है । नयें आर्डिनेंस के मुताबिक छःमाह की नोटिस मिलती है । पहली नोटिस की मियाद १४ जुलाई को खत्म हो जाती है । लोग सोच रहे हैं कि बहुत से लोग उस दिन छूट जायँगे । उधर बापू भी जोर लगा रहे हैं कुछ लोग तो जल्दी से स्वराज्य पाने का स्वप्न देखा रहे हैं । जिस बैरक में देखो उसी में वही एक बात की चर्चा । शायद बाहर भी वही हालत होगी । अपने राम को क्या करना है । "ढेंकी स्वर्ग में भी जावेगी तो धान ही कूटेगी ।" बाहर चर्खा-धुनकी थी, जेल में भी वही चर्खा-धुनकी कर रहा हूँ । मालूम नहीं बाहर जाकर अगर कुछ मिलेगा भी तो वह स्वराज्य होगा या स्वदेशी राज । फिर तो अपने

को वही चर्खा धुनकी का राग अलापना होगा। अतः मुझ पर इन बातों का विशेष असर नहीं है। हाँ, एक फिक्र जरूर लग गई है। ऐसा न हो, कहीं मुझको भी छोड़ दें तो मैंने जो वादा तुमसे किया था कि अपना विचार सब लिख भेजूँगा वह पूरा नहीं हो पायेगा। बाहर पढ़ने-लिखने की फ़ुरसत ही कहाँ। लेकिन परमात्मा चाहेगा तो मैं इस बार नहीं छूटूँगा। फ़ैज़ाबाद वाले अधिकारी मुझको कब छोड़ने को कहेंगे? अतः विशेष चिन्ता की बात नहीं।

पिछले पत्रों में जमीन की पैदावार किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है, इसका विचार कर रहा था। खेती के तरीकों को बदलने की बाबत में प्रकाश डाल चुका हूँ। अब दूसरे उपाय अलग-अलग टुकड़ियों को मिला कर जमीन की चकबन्दी से खेती के उन्नति करने के प्रश्न पर विचार करूँगा। वस्तुतः जमीन को छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँटी रहने की समस्या केवल भारत के सामने ही नहीं बल्कि सारे संसार के किसानों के सामने है और सब देश के लोग इस समस्या का हल निकालने में वर्षों से लगे हुए हैं। यह सच है कि ज़मीन छोटी-छोटी टुकड़ियों में भिन्न-भिन्न मालिकों के पास बँटी रहने से फ़स्ल का उचित बँटवारा नहीं हो पाता है। नतीजा यह होता है कि विभिन्न प्रकार का अनाज गलत भूमि पर पड़कर पूरे तरह से पुष्ट नहीं हो पाता। भारत के किसी भी प्रान्त के देहातों में चले जाओ, तुमको प्रायः एक ही बात सुनने में आवेगी—"पहले खेती की पैदावार इतनी काफी होती थी कि पेट भर खाना तो मिल जाता था। आज तो धरती माता हमारे प्रति विमुख हैं।" इत्यादि। वे सब दुःख का एक ही कारण "हाय घोरकाल !!" बताकर लम्बी साँस लेकर चुप हो जाते हैं। बेचारे क्या जानें कि उनके दुःख के कारण एक नहीं हज़ार हैं। यह ठीक है कि जमीन पुरानी होने से उसकी ताकत घटती है। लेकिन वही एक कारण नहीं है। पहले जो खेती से अनाज अधिक मिलता था उसका एक प्रधान कारण यह है कि उन दिनों ज़मीन की व्यवस्था उचित

प्रकार से हो पाती थी। भारत के प्राचीन काल से जमीन का स्वामित्व किसी व्यक्ति का नहीं था बल्कि ग्राम-पंचायत का था। यह सही है कि जमीन की व्यवस्था व जोताई बोआई आज प्राचीन काल में के समाजवादी तरीके से नहीं होती थी। जमीन भूमि की व्यवस्था परिवारों को खेती करने के लिए दी जाती थी और वे परिवार काफी बड़े-बड़े होते थे। उस समय हमारा समाज बड़े-बड़े एकान्तवर्ती परिवारों की ही समष्टि था। भारत के ग्राम-उद्योग भी बहुत उन्नत हालत में थे। इस कारण भी आबादी की एक बड़ी संख्या उद्योग में लगी हुई थी। इससे खेती पर बोझ भी कम था। इसलिए गाँव का सारा खेत थोड़े से संयुक्त परिवारों के हाथ में होता था। एक एक परिवार के पास बड़े-बड़े भूखंड होते थे। एक परिवार के सब लोग जमीन पर अपनी-अपनी अलग मिल्कियत नहीं सोचा करते थे बल्कि परिवार के सभी लोग सम्मिलित रूप से काम करते थे और सम्मिलित रूप से उसका फल भोग करते थे। एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत काफी जमीन होने से किसान शान्ति से विचार कर सकते थे कि किस भूमि में कौन फस्ल बोने से पैदावार अच्छी हो सकती है और वे फस्ल का बँटवारा उसी ढंग से करते थे। विस्तृत भूखंड अपने पास होने से सिंचाई के लिए कुआँ, तालाब आदि का भी उचित प्रबन्ध करना आसान था। एक साथ बड़े क्षेत्र में परती छोड़ने के कारण पशुपालन आसानी से हो पाता था और इस कारण हमेशा गोबर की खाद का प्राचुर्य बना रहता था। दुर्भाग्यवश आज किसानों की ऐसा हालत नहीं रह गई है। अंग्रेज़ी राज्य के साथ-साथ युरोप के व्यक्तिगत स्वार्थ भाव का भी आगमन इस देश में हुआ। क्रमशः लोगों में स्वार्थ की वृद्धि होने लगी। इस कारण परिवारों का बँटवारा होने लगा। अंग्रेज ऐसा करने के लिए परिवार के सदस्यों को उत्साहित भी करने लगे। अंग्रेजी कचहरी और अंग्रेजी विचारकों के फैसले भी इसी दिशा में प्रगति करने की दृष्टि से होने लगे।

इस तरह बड़े बड़े परिवार और उसके साथ बड़ी-बड़ी जमीन के चक टूटकर कांच के टुकड़े जैसे तितर-बितर हो गये।

इसके उपरान्त अंग्रेजी सत्ता की साम्राज्यवादी नीति ने किस विभीषिका के साथ हमारे देश के ग्रामीण उद्योगों को दबा कर पीस डाला इसकी करुण कहानियाँ आज साधारण जनता की आम सम्पत्ति हो गई हैं। शायद ही कोई होगा जो इन बातों को न जानता हो। उद्योगों के ह्रास के साथ सारी आबादी को क्रमशः खेती की ओर झुकना पड़ा। यह देख कर रोना आता है कि १८६१ से १६३१ तक की अर्ध-शताब्दी के अन्दर किस प्रकार खेती पर बोझ क्रमशः बढ़ता गया है। तब सारे भारत में खेती पर गुज़र करने वालों की संख्या कुल आबादी की ५८ सै० थी। यह संख्या बढ़कर १८६१ में ६१.०६ सै०, १६०१ में ६६.५ सै०, १६११ में ७१ सै०, १६२१ में ७२.८ सै० और १६३१ में ७५ सै० हो गई। इस कारण भी क्रमशः खेती के हिस्सेदार बढ़ते ही गये।

ज़मीन के टुकड़े—हमारे प्रभुओं को इतने में सन्तोष नहीं हुआ। उनको इस बात की तो कोई फ़िक्र थी नहीं कि जनता मरती है या जीती। उन्हें तो चाहिए था सारी आबादी की ऐसी विभाजित स्थिति जिससे वे चैन से राज करते हुए अनन्त काल तक लूटते रहें। अतः उन्होंने जमींदारी और काश्तकारी कानून ऐसे ढंग से बनाये कि जमीन भी नमक मिर्च वाले पंसारी के दूकान का सौदा जैसी हो गई। ज़मींदारों के सम्मिलित परिवार के टूटने पर वे बँटवारे के कारण छोटे छोटे भूमिखंडो के मालिक रह गये थे। वे उन्हें भी टुकड़ों में बाँटकर काश्तकारों को किराये पर उठाने लगे। काश्तकार उन टुकड़ों को भी तोड़कर शिकमी काश्तकार बनाने लगे। फिर हर विभाजन के समय ऐसा नहीं होता कि एक तरफ से हिस्सा बना दें। थोड़ी ज़मीन होने से हर एक व्यक्ति यह चाहता है कि उसको हर प्रकार की जमीन थोड़ी-थोड़ी मिले, जिससे वह दैवी खतरों से बचा कर दो कौर अन्न

हर माह पा सके। अतः जब कभी ज़मीन का बँटवारा होता है तो हर टुकड़े का हिस्सा हुआ करता है। इस तरह ज़मीन इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गई कि किसी किसी पर हल भी नहीं चल पाता। अगर ज़मींदारों के बाद काश्तकारों के हाथ में ही ज़मीन रह पाती तो स्थिति अत्यन्त दुर्दशा की होने पर भी इतनी भयावह न होती जितनी आज है। काश्तकार सहज में शिकमी काश्तकार को ज़मीन नहीं देते हैं। वे ज्यादा जमीन खुद जोतना चाहते हैं। लेकिन ऐसा नहीं हो पाया। जमीन पर बोझ बढ़ने के कारण ज़मींदारों के लिए ज़मीन की आमदनी से काम चलना मुश्किल हो गया। ऐसी हालत में महाजन की तादाद बढ़ने लगी और क्रमशः ज़मीन भी उनके हाथ में जाने लगी। महाजनों को काश्तकारी से न दिलचस्पी थी और न वे अपनी जमीन के पास रहते ही थे। अतः जमीन की व्यवस्था के लिए ठेकेदारी या दलाली प्रथा की सृष्टि हुई। और धीरे धीरे ठेकेदारी दर ठेकेदारी का क्रम बढ़ता ही गया। इस प्रकार अंग्रेजी सरकार की भूमि-नीति ने खेती की हालत ऐसी बना दी कि किसी प्रकार की उन्नति असम्भव हो गई। पहले सम्मिलित परिवारों की ज़मीन में कुएँ और तालाब थे; उनका बाँटा जाना सम्भव नहीं था। अतः वे किसी एक की दिलचस्पी या औकात के बाहर की चीज़ होने के कारण क्रमशः नष्ट हो गये। परती छोड़ने की असमर्थता के कारण पशुपालन कठिन हो गया और इस प्रकार उचित मात्रा में खाद का पाना भी दुर्लभ हो गया।

अतः इधर कुछ साल से ज़मीन की चकबन्दी के लिए जो अन्दोलन मचा हुआ है वह अच्छा ही है। आज शायद ही कोई चिन्ताशील व्यक्ति इसका विरोध करेगा। अब प्रश्न यह है कि चकबन्दी हो कैसे? सन् १६३८—३६ में कांग्रेसी सरकार ने जो चकबन्दी कानून बनाया था उसके अनुसार मैंने भी इसके लिए कोशिश की थी। लेकिन किस तरह मैं असफल हुआ था, उसकी कहानी तो तुमको दो साल पहले आगरा जेल से लिख ही चुका हूँ।

ऐसा करना रोग के कारण की ओर न जाकर ऊपरी दर्द को शान्त करने की चेष्टा मात्र है। हमें अगर चकबन्दी की समस्या हल करनी है तो इसके सफल न होने का बुनियादी कारण ढूँढ़ निकालना होगा। इस प्रश्न को जड़ से हल करने की चेष्टा न होने के कारण जितने प्रयत्न इस दिशा में होते हैं, प्रायः सभी असफल हो जाते हैं। इस प्रश्न पर गहराई से विचार करने से पहले यह देखना है कि आज साधारणतः लोगों की धारणा क्या है? और वे कहाँ तक ठीक हैं? फिर हमें यह देखना होगा कि चकबन्दी के लिए जो उपाय बताया जाता है वह सफल क्यों नहीं होता?

ज़मीन टुकड़ों में रहने देने के विरुद्ध प्रधानतः निम्न-लिखित बातें कही जाती हैं :—

१- छोटे-छोटे टुकड़े अलग करने के कारण जो मेड़ की अधिकता होती है उससे बहुत ज़मीन बेकार चली जाती है।

२- किसानों को अपना हल-बैल लेकर दूर दूर की टुकड़ियों में जाने में समय तथा शक्ति का अपव्यय होता है।

३- लगातार खेत न होने से ठीक से सिंचाई नहीं होने पाती।

इन कठिनाइयों को देखते हुए यह प्रस्ताव किया जाता है कि ऐसा कानून बनाया जाय जिससे किसानों और ज़मीदारों को आपस में खेतों का बदलावन करके चकबन्दी करा दी जा सके। अब देखना चाहिए कि ये बातें कहाँ तक सही या व्यावहारिक हैं। मेड़ के कारण काफी ज़मीन फँसती रहती है, ऐसा सोचना सिर्फ कल्पना है। आखिर मेड़ों में कितनी जमीन दबती है? फिर चकबन्दी हो जाने से क्या बिना मेड़ के काम चल जायगा? तुमने देहातों में देखा होगा कि एक ही आदमी विस्तृत चक रखते हुए भी मेड़ बाँध कर छोटी-छोटी क्यारियाँ बनाता है। वस्तुतः अलग अलग किसानों की ज़मीन की हद के लिए, सिंचाई की सुविधा के वास्ते, समतल क्यारियाँ बनाने के लिए और बरसात का पानी रोकने तथा खेतों की

खाद बहने न देने के लिए मेंड़ों का होना आवश्यक है। हमारे प्रान्त के खेती-विशारद घाघ के ज़माने में ज़मीन के टुकड़े की समस्या इतनी जटिल नहीं थी फिर भी उनके दोहों की पंतियों में "ऊँचा बाँधो मेंड़" की वाणी भरी पड़ी है। हाँ, यह हो सकता है कि चकबन्दी हो जाने पर कहीं कहीं एक-आध मेंड़ कम कर दी जा सके। लेकि उससे कितनी ज़मीन निकलेगी? अगर कुछ निकलेगी भी तो नगण्य होगी।

किसानों के समय के अपव्यय का प्रश्न भी विशेष महत्व का नहीं मालूम होता है। आज किसानों के समय का मूल्य ही क्या है? लोग तो वैसे ही खाली रहते हैं। घर पर बैठे तम्बाकू न पीकर हल लेकर खेत खेत घूमना तो अच्छा ही है। न कुछ हो तो फँसे रहने के कारण झगड़ा फसाद में कुछ कमी हो ही सकती है। आलस्य भी कुछ कम होगा। अतः यह कठिनाई भी कठिनाई में शुमार करना व्यर्थ है।

हाँ, सिंचाई की कठिनाई का प्रश्न कुछ विचारणीय अवश्य है। सिंचाई का पानी ले जाने के लिए रास्ते के सवाल पर फ़ौजदारी हो जाना देहात के लिए कोई नई बात नहीं है। लेकिन चकबन्दीसे सिंचाई का फायदा किस अनुपात से होगा। हमारे प्रान्त की कुल खेती के केवल एक तिहाई भाग पर ही सिंचाई हो पाती है। उनमें काफी बड़ा हिस्सा उन ज़मींदारों का है जिनके पास बड़ी बड़ी सीर (खुदकाश्त) की ज़मीन है। अगर उनको निकाल दिया जाय तो बाकी खेतों में से लगभग २५ सैकड़ा ज़मीन पर ही सिंचाई की व्यवस्था होगी। आपस में बदलावन करके चकबन्दी तो वही किसान कर कर सकते हैं जिनकी कुल ज़मीन एक चक लायक हो। ऐसे किसानों की संख्या भी तो बहुत थोड़ी है। सिंचाई की सुविधा भी केवल उन्हीं को होगी न? इस तरह सुविधा का अनुपात प्रान्त की कुल जमीन का कितने प्रतिशत होगा। मेरे ख्याल से १या २ प्रतिशत से अधिक न होगा। इससे प्रान्त की पैदावार में जो वृद्धि होगी उससे हमारी समस्याओं का

कुछ भी हल नहीं हो सकता ।

वस्तुतः अगर ज़मीन की चकवन्दी करनी है तो ज़मींदारी प्रथा के कारण जो काश्तकार को कभी एक किस्म की ज़मीन नहीं मिल पाती उसका अंत करना होगा। ज़मींदार लाभ के लिए अच्छी जमीन के साथ ऊसर, बाँगर तथा गोंयँड़ के साथ जंगल के पास की जमीन मिलाकर ही अपना खेत हमेशा उठाने की चेष्टा करेंगे। इस कारण काश्तकारों को एक चक जमीन मिलना असम्भव-सा ही है। रही जमींदारों की वात। अगर किसी तरह एक वार आपस में बदलवा कर कुछ जमीन एक चक में वना भी दी जाय तो भी २-१ पुश्त में जब बँटवारा होता रहेगा तो फिर उसका टुकड़ा हो ही जायगा। इतने परिश्रम, इतने प्रचार और इतनी कानूनी तब्दीलियों से भी कितनी जमीन की चकवन्दी कर लोगी। जिस देश में प्रति व्यक्ति एक एकड़ भी भूमि नहीं है, वहाँ अधिकांश काश्तकारों के पास १ या १॥ एकड़ से अधिक खेत नहीं हो सकता। उनकी सारी जमीन ही तो एक एक टुकड़े के वरावर है। कुछ औरों के पास २-४ एकड़ का हिस्सा होगा, ऐसा समझ लो। इन लोगों को चाहे जितने फायदे की बात कहो वे चकवन्दी करना नहीं चाहेंगे। विभिन्न ज़मींदारों के कोप का पात्र बनने से अपने को वचाने की सहज चेष्टा के अलावा इस असमान तथा अनिच्छित वर्षा के मुल्क में इतने छोटे काश्तकार एक चक जमीन का खतरा उठाने को हरगिज़ तैयार न होंगे। वे चाहेंगे कि उनको विभिन्न दिशा में विभिन्न प्रकार की ज़मीनें मिलें, क्योंकि इत्तफाक़ से एक स्थान की फस्ल किसी कारण खराव हो गई तो दूसरे स्थान की फस्ल तो बची रहेगी। इन सब कठिनाइयों को पार करके अगर कुछ बड़े जमींदार या काश्तकारों की जमीन मिला दी जाय तो औसत फायदा कम होगा। ऐसे बड़े काश्तकार कितने हैं जो चकवन्दी से लाभ उठाने में समर्थ हैं।

अतएव चकबन्दी के मसले को हल करने के लिए हमको मौलिक

तथा क्रान्तिकारी कदम उठाना पड़ेगा। आखिर

क्रान्तिकारी उपायों चकबन्दी हम करना क्यों चाहते हैं? इसलिए कि

की आवश्यकता खेती के बेढंगी तरीके के बदले व्यवस्थित तरीका

काम में लाया जा सके। फस्ल का बँटवारा उचित ढंग से हो; सिंचाई की व्यवस्था हो। परती क्रम से छोड़ी जा सके। इत्यादि। अगर हरएक अपने अपने "सवा डेढ़ बीघा" खेत लेकर सावाँ-कोदव-धान-उर्द-अरहर" की खिचड़ी वाली खेती करता रहे तो खेती-सुधार किस तरह होगा? खेती की उन्नति के लिए हमें सारी जमीन की निश्चित योजना बनानी होगी। गाँव में कितनी और कौन-कौन ज़मीन में गेहूँ अच्छा हो सकता है, धान अच्छा हो सकता है, आलू अच्छा हो सकता है, इत्यादि बातों की खोज करनी पड़ेगी। यह देखना होगा कि किस साल कितनी और कौन कौन जमीन को सहूलियत से परती छोड़ा जा सकता है। गाँव का स्वाभाविक ढाल किधर है, इसकी जाँच करके हमको यह तय करना होगा कि कुआँ तालाब आदि कहाँ कहाँ रक्खा जाय। लेकिन इस तरह एक चक जमीन आवे कहाँ से? क्या फिर पुराने तरीके के बड़े-बड़े कुटुम्ब पैदा हो सकेंगे? वैसा परिवार तो टूट चुका है। भूत को घसीट कर कहाँ तक लाओगी। अगर उसे लाने की चेष्टा करोगी तो वे भूत तुम्हारे कन्धे पर चढ़कर रीढ तोड़ देंगे। अतः बापू जी जैसा कहते हैं वैसा ही करना पड़ेगा। उनका कहना है -"आज की अपनी स्थिति केवल कौटुम्बिक जीवन की है। ग्राम-सुधार का आधार कौटुम्बिक भावना को गाँव तक पहुँचाने पर निर्भर है।" अर्थात् साधारण भाषा में हमें सहयोग के आधार पर सम्मिलित खेती की ही व्यवस्था करनी होगी।

सम्मिलित खेती—सम्मिलित खेती दो प्रकार से हो सकती है। (१) खेत सम्मिलित करके या (२) खेती सम्मिलित करके। खेत सम्मिलित करने का मतलब यह है कि सरकार सबसे खेत लेकर

पंचायत को दे दे, पंचायत उसकी जोताई वोआई आदि की व्यवस्था करे। गांव के लोग उसकी मजदूरी करें। मजदूरी देने के उपरान्त व्यवस्था-खर्च काटकर जो अनाज वचे उसे मजदूरी के अनुपात से सबको बांट दिया जाय। खेती सम्मिलित करने से मेरा मतलब यह है कि खेत तो सबका अपना हो केवल खेती करने के लिए वे सब मिल कर सहयोग समितियां कायम करें। इस प्रकार के सहयोग के दो रूप हो सकते हैं—(१) सारे गाँव की एक इकाई और (२) छोटी-छोटी कई इकाइयां। मेरी राय में इन्हीं दो में से कोई एक प्रकार की व्यवस्था हमें चुननी है। सम्मिलित खेती के प्रकार से प्रत्येक आदमी अपने को निःस्व समझने के कारण जमीन से अपनी दिलचस्पी नहीं रख सकेगा। फिर इससे विभिन्न प्रकृति वालों को अपनी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार व्यवस्था का रूप बनाने के लिए कतई गुंजाइश नहीं रहेगी। यह ठीक है कि व्यवस्थित संघटन में अगर व्यक्तिगत रुचि ही चलने लगे तो कोई काम आगे नहीं बढ़ सकेगा। लेकिन हर एक चीज़ की एक हद होती है। हर व्यवस्था तथा संघटन में अनुशासन के साथ एक आध जगह अगर मनुष्य—प्रकृति की विभिन्न ऋतुओं का स्वतन्त्र संचालन करने के लिए खाली नहीं छोड़ा जायगा तो लोगों की भावनाओं का आन्तरिक जमघट उस व्यवस्था और उस संघटन को फोड़कर ही बाहर निकलेगा। हमारी व्यवस्था और संघटन तो चेतन मनुष्य-समष्टि है। जड़यन्त्र या लोहे की मशीन में भी अगर सेफ्टी वाल्व न हो तो उसका व्वायलर एक दिन फटकर अनर्थ पैदा कर सकता है। फिर हम यह चाहते भी नहीं कि लोगों के सारे जीवन पर केन्द्र-व्यवस्था का ही अधिकार हो। अतः भविष्य के संघटन तथा उन्नति के लिए सम्मिलित खेती की ही योजना बनाना श्रेय होने पर भी इस बात का प्रयास करना होगा कि इस प्रकार के सम्मेलन की इकाई कितनी बड़ी हो। जिससे मनुष्य तथा पशुओं को कम से कम श्रम पड़े और पैदावार अधिक से अधिक हो। इस सिद्धान्त का ध्यान रखना बहुत आवश्यक

है। कुछ लोग समझते हैं कि कम से कम ३ परिवार का सम्मेलन ठीक होगा। कोई ४ या ५ बताते हैं। मेरे ख्याल से विभिन्न क्षेत्रों में ज़मीन के प्रकार और अन्य परिस्थितियों के हिसाब से इस इकाई का रूप विभिन्न होगा।

प्रश्न यह है कि आज की परिस्थिति में सम्मिलित खेती हो सकती है क्या? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमको यह तय करना होगा कि हमारी सम्मिलित खेती का रूप कैसा हो। पहले लिख चुका हूँ कि हमारे संघटन की इकाई ग्राम-समिति होगी। ग्राम-समिति के अलावा विभिन्न उद्योगों के लिए अलग-अलग समितियां बन सकती हैं। खेती का काम सबसे अधिक व्यापक होने पर भी वह एक उद्योग ही है। अतः किसानों की एक खेतिहर समिति की कल्पना हम कर सकते हैं। उस समिति में हरेक सदस्य की जमीन उसका हिस्सा होगा। इन्हीं हिस्सों की समष्टि समिति की पूँजी होगी। जो जितना श्रम करेगा उसका दाम चुकाने के बाद बचत की रकम अपने अपने हिस्से के अनुपात से बाँट लेंगे। इस प्रकार के संघटन की ब्यौरेवार नियमावली आज मैं नहीं बनाऊँगा। उसे भविष्य के कानून बनाने वालों पर ही छोड़ना उचित होगा। मैं तो सिर्फ किस सिद्धान्त से योजना बनानी होगी, उसकी रूप-रेखा बताना चाहता हूँ। और इस समय उससे अधिक कहना सम्भव भी नहीं है। इस प्रकार सहयोग-समितियों के संघटन के लिए आवश्यकता इस बात की है कि समिति के सदस्य पूँजी का जो हिस्सा समिति को दें उसका वह मालिक हो। आज जिस प्रकार की ज़मींदारी और काश्तकारी मौजूद है, उसके रहते हुए इसका होना सम्भव नहीं है। हमारे प्रान्त में लगान-सम्बन्धी जो कानून बना हुआ है उसका बयान करने में एक पोथा लिखना पड़ेगा। उसे इस पत्र में लिखना बेकार ही होगा। अगर उसको समझना हो तो इस विषय पर कोई एक किताब लेकर देख लेना। लेकिन इतना कहना आवश्यक है कि हमारे प्रान्त का जमीन-कानून ज़मींदारी प्रथा के आधार पर बना हुआ

है। जमींदारी प्रथा अच्छी है या बुरी, यह प्रथा भारत के प्राचीन काल में थी या नहीं, किसने और कब इस प्रथा को चलाया आदि बातों की बहस पिछले दस-पन्द्रह साल से लोग काफी कर चुके हैं। इस बहस के दौरान में लोग बाल की खाल भी निकालते रहे हैं। मैं इस बहस में पड़ना नहीं चाहता। यह प्रथा अच्छी है या बुरी, प्राचीन है या नवीन, इससे मुझको क़तई दिलचस्पी नहीं है। मैं सिर्फ यह देखता हूँ कि आज की परिस्थिति में समाज-व्यवस्था तथा संघटन में जमींदारों की उपयोगिता है या नहीं। जिस चीज की या संस्था की उपयोगिता नहीं होती या रहती, समाज उसका अन्त कर देता है, चाहे उसने पिछले दिनों कितनी भी सेवा की हो। यह सनातन नियम है। इस नियम के अनुसार आज के जमींदारों का स्थान वर्त्तमान व्यवस्था में रहना सम्भव नहीं है। समाज युग-युग से अपनी समस्याओं का हल निकालता रहा है। इस प्रयोग में उसे जिन चीज़ों की, जिन आदर्शों का और जिन समस्याओं की आवश्यकता होती है उन्हें वह ग्रहण करता है और जिनकी उसे ज़रूरत नहीं या जिनसे उसकी प्रगति में बाधा पहुँचती है उन्हें वह त्याग देता है। अतएव सहयोग के आधार पर अगर खेती का प्रबन्ध करना है और इसलिए जब काश्तकारों को अपनी जमीन का मालिक बनना है तो इस बात की आवश्यकता होगी कि आज की जमींदारी प्रथा का अन्त हो या दूसरे शब्दों में जमींदारी प्रथा को सार्वजनिक बना देना होगा यानी सब जमीन के जोतने वालों को जमींदार हो जाना पड़ेगा।

मैंने कहा है काश्तकारों को अपनी जमीन का मालिक बना देना पड़ेगा। इसका मतलब यह नहीं है कि मैं आजकल की काश्तकारी प्रथा का समर्थक हूँ। वस्तुतः जिन प्रान्तों में ज़मींदारी प्रथा नहीं है वहाँ की हालत कुछ बेहतर नहीं है। मेरे सामने काश्तकार और जमींदार के प्रकार में कोई भेद नहीं है। अन्तर केवल यह है कि एक बड़ा है और एक छोटा। जमींदार बेचारे तो बदनाम

ही हुए हैं लेकिन मानसिक वृत्ति काश्तकारों की कम जमींदाराना नहीं है। उनके पास भी जब थोड़ा ज्यादा खेत हो जाता है तो वे शिकमी किसानों को जमीन उठाकर उसी तरह व्यवहार करते हैं जैसा ज़मींदार अपने असामियों के साथ करते हैं। वे मज़दूरों से अपनी खेती कराकर उन पर उसी तरह अत्याचार करते हैं जिस तरह एक ज़मींदार करता है। दूसरी तरफ छोटे-छोटे गरीब ज़मींदारों की दशा काश्तकारों से भी खराब है। उनके स्त्री-पुरुष-बच्चे मेहनत करके भी दाने-दाने को मुहताज रहते हैं। गरीब ज़मींदार के बच्चे पड़ोसी काश्तकार के खेत पर मज़दूरी करते हैं, ऐसा उदाहरण विरल नहीं है। ज़मींदार के घर की स्त्रियों को पड़ोसी काश्तकार के घर मजदूरी करते भी देखा जाता है। अतएव मैं जिस चीज़ का अन्त करने को कहता हूँ वह है न ज़मींदारी प्रथा और न काश्तकारी प्रथा। मैं अन्त करना चाहता हूँ दूसरों की मेहनत से बैठे खाने की प्रथा का। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के कारण जो दलाली या ठेकेदारी प्रथा का प्रसार हो गया है, उसका स्थान स्वावलम्बी समाज-व्यवस्था में कहीं नहीं है।

उत्पादक ही ज़मीन का मालिक होगा

स्वावलम्बी समाज में उत्पत्ति के साधन तथा उत्पादित सामान का मालिक उत्पादक स्वयं ही हो सकता है, दूसरा कोई नहीं। अतएव भावी योजना में अगर मेरे बताये हिसाब से सारी आबादी के लिए अन्न की स्थायी व्यवस्था करनी है और आज जो खेत हैं उन्हीं की पैदावार काफी बढ़ानी है,—अगर इस कारण फुटकर ज़मीन के स्थान पर चकबन्द जमीन पर ही खेती करनी आवश्यक है और अगर इसके लिए सहयोग के आधार पर सम्मिलित खेती की व्यवस्था करनी जरूरी है तो आज के जमीन कानून का आमूल परिवर्त्तन करना होगा। आज जितने किस्म के काश्तकार हैं सब का अन्त करके एक ही प्रकार के किसान को रखना पड़ेगा। वे होंगे जमीन पर खुद परिश्रम करने वाले "किसान।" यह ठीक है कि ऐसा करने में हमें असीम कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

सदियों के संस्कार के विरोध में चलना कोई आसान बात नहीं है। लेकिन हम जिस दुर्दशा के अन्तिम स्तर पर गिरे हुए हैं, अगर इस स्थिति से ऊपर उठना है तो जिन बोझों से हम दबे हुए हैं इन्हें तो अपने कन्धे पर से उतारना ही होगा, चाहे वह राजनीतिक गुलामी हो, आर्थिक शोषण हो, सामाजिक रूढ़ि हो या संस्कारभूत परम्परा हो। अगर झटके से उन्हें उतार फेंकने में अपनी रीढ़ टूट जाने की सम्भावना हो तो आसानी से हटाने का क्रम बनाना होगा। इन पत्रों में मैं क्रमशः उन क्रमों पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा।

ऊपर की बातों से साफ हो गया होगा कि मेरी प्रस्तावित योजना में जमीन उसी को मिल सकेगी जो उस पर खुद मेहनत करे। अब प्रश्न यह उठता है कि हमारी कल्पित व्यवस्था में खेती के लिए मजदूरों का कोई स्थान है या नहीं? किसानों को अपने हाथ से जोतने पर भी कुछ ऐसा काम तो आ ही जाता है जिसके लिए मजदूरों की आवश्यकता होगी। यह ठीक है कि जब सब लोग परिश्रम करेंगे तो प्रायः बाहरी मज़दूर की आवश्यकता नहीं होगी। लेकिन खेती का काम ऐसा है कि किसी-किसी मौसम में अत्यधिक आदमी की आवश्यकता होती है। जिस क्षेत्र में चावल की ही अधिक उत्पत्ति है वहाँ सोहनी, कटिया आदि काम के लिए स्थानीय कुल आबादी भी काफी नहीं होती है और बाहर से हजारों की तादाद में मज़दूर उन स्थानों में पहुँचते हैं। अतएव खेती के काम के लिए किसानों के अलावा भी स्वतन्त्र मज़दूर का स्थान रहेगा ही। तुम कह सकती हो कि इस तरह से खेती-सहयोग-समिति के सदस्य कम से कम मेहनत करके क्रमशः अधिक से अधिक मज़दूरों से काम कराकर अनुचित लाभ उठा सकेंगे। लेकिन हमारी योजना के अनुसार व्यवस्था करने से इसकी गुंजाइश न रहेगी। मज़दूरों से अनुचित लाभ तभी उठाया जा सकता है जब आबादी का कुछ हिस्सा बेकार रहे। अगर तुम खेती में जितना परिवार खपा सको उतनों को ही ज़मीन देकर बाकी

के लिए ऐसे धन्धों की व्यवस्था कर सको जिससे वे अपना गुजर तुम्हारे धारणानुसार ही कर सकें तो कोई दूसरों के लाभ का शिकार क्यों बनने जायगा। हमारी योजना में "खेती के मज़दूर" नाम की कोई अलग श्रेणी नहीं रहेगी। मैं जो प्रस्ताव करना चाहता हूँ उसमें गाँव की कुल आबादी के लिए निर्दिष्ट उद्योग होगा। तुम जानते ही हो कि हर उद्योग में खाली तथा भीड़ का दो मौसम हुआ करता है। ऐसे खाली और भीड़ का मौसम सभी कामों में एक ही समय नहीं होगा। एक के लिए जो समय खाली होगा वही दूसरों के लिए भीड़ का समय होगा। ऐसी हालत में खेती में जो बाहरी मज़दूर काम करेंगे वे सम्भवतः दूसरे उद्योग के उत्पादक होंगे। फिर किसानों की खुद कम मेहनत करके मज़दूरों से काम कराने की वृत्ति इसलिए भी नहीं हो सकेगी कि हमारी योजनानुसार हर काम करने वालों को मज़दूरी "जीवन-वेतन" के सिद्धान्त के अनुसार ही देनी पड़ेगी। बापू जी जो चर्खा कातने वालों को आठ आना मज़दूरी देने को कहते हैं, वह उत्पत्ति की तमाम मज़दूरी के विनिमय मूल्य में समता लाने की चेष्टा मात्र ही है। ऐसी हालत में अगर किसान खुद परिश्रम न करके दूसरों के श्रम से खेती कराना चाहेगा तो वह जमीन की पैदावार से अपनी गुज़र नहीं कर सकेगा। उसकी सारी उपज मज़दूरी देने में ही ख़तम हो जायगी। अतः इस दिशा में डरने की आवश्यकता नहीं है।

खेती की उन्नति के लिए मैं चकबन्दी के प्रश्न पर बात कर रहा था। प्रसंगवश दूसरा प्रश्न भी आ पड़ा। लेकिन जो हुआ अच्छा ही हुआ; आखिर ग्राम-सुधार की सर्वाङ्गीण योजना के बनाने के लिए इन प्रश्नों पर विचार तो करना ही पड़ता। अगर आज ही इन पर विचार कर लिया तो क्या हर्ज ?

खाद की व्यवस्था—खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए तीसरा आवश्यक उपाय खाद और पानी की व्यवस्था है। मैंने पहले बताया

है कि आज हमारे प्रान्त में जितने पशु हैं उनका गोबर अगर न भी जलाया जाय तो कुल २,६४,१८,०२,००० मन खाद सालाना मिल सकती है। यह सत्य है कि जहाँ लोग कुछ गोबर जला डालते हैं वहाँ वे जानवरों की पेशाब राख फूस आदि से भी कुछ खाद बनाते रहते हैं। इस तरह आज हमको खेती के लिए सब मिला कर उतनी खाद मिल ही जाती है, जितनी कुल गोबर से हो सकती थी। मामूली तौर से अच्छी खेती के लिए प्रति एकड़ कम से कम ३००ऽ प्रति वर्ष खाद की आवश्यकता होती है। उस हिसाब से हमें १०,३६,५७,६०,००० मन खाद की आवश्यकता प्रतिवर्ष होगी। अर्थात् हमारे प्रान्त की खेती के लिए हर साल ७७१.४ करोड़ मन खाद की कमी पड़ती है। यानी आज जहाँ प्रति ग्राम हमको केवल २८,७३१ऽ मन खाद मिलती है वहाँ पूरी खेती के लिए अर्थात् ३४७.८ एकड़ के लिए १०४,३४०ऽ मन खाद की आवश्यकता होगी। अगर हम २५ सैं० के करीब जमीन प्रति वर्ष परती छोड़ दें तो भी ७८,२५५ऽ मन खाद की आवश्यकता तो होगी ही अतः हमको इतनी खाद जुटाने की व्यवस्था करनी होगी। इसके लिए पहले यह देखा जाय कि हम किन-किन उपायों से खाद की उत्पत्ति कर सकते हैं। खाद के लिए प्रधानतः निम्नलिखित चीजें काम में लाई जा सकती हैं:—

१—गोबर की खाद। २—मवेशियों का पेशाव। ३—बकरे तथा भेड़ों की टट्टी-पेशाव। ४—वनस्पति की सड़न। ५—शोरा जातीय नमक। ६—जानवरों की हड्डी तथा मांस। ७—सनई आदि हरी खाद। ८—तेलहन की खली। ९—मनुष्यों की टट्टी। १०—रासायनिक खाद (अमोनियम सल्फेट आदि)

१—गोबर की खाद—भारत में प्राचीन काल से ही गोधन उत्तम धन माना गया है। इस कारण लोग अधिक संख्या में गोपालन किया करते थे। अतः हमारे यहाँ गोबर की खाद ही प्रधानतः इस्तेमाल हुआ करती है। क्रमशः संसार के विभिन्न देशों में नाना

प्रकार की खादों का आविष्कार होता गया। लेकिन संसार के सभी विशेषज्ञों का कहना है कि जमीन की नमी कायम रखने में तथा उसकी उर्वर शक्ति को अधिक दिन टिकाऊ रखने के लिए गोबर की खाद ही सर्वोत्तम है। लेकिन आज की परिस्थिति में हम पशुओं की आबादी को जरूरत से ज्यादा बढ़ा नहीं सकते हैं। हमारी पुष्टि के लिए दूध की तथा जोताई के लिए हल की आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए कितने गाय बैल भैंस भैंसा आदि की जरूरत होगी, उसका हिसाब मैंने पहले के पत्र में लिखा है। उसे देखने से मालूम होगा कि आज प्रति ग्राम के मवेशियों की संख्या २६२ है और हमारे काम के लिए चाहिए केवल २५३ जानवर। अतः आज जितना गोबर मिलता है भविष्य में उससे अधिक गोबर पाने की सम्भावना नहीं है। अर्थात् गोबर से प्रति ग्राम केवल १२६००ऽ मन खाद मिल सकेगी।

२—मवेशियों के पेशाब—मवेशियों के पेशाब का अधिकांश भाग व्यर्थ चला जाता है। उनका संचय करने का उचित प्रबन्ध करके हम खाद की वृद्धि कर सकते हैं। गोशालाओं का फर्श पक्का करके उस पर धान का पोआल, गन्ना के पत्ते, बाग के बटोरे हुए पत्ते, चावल की भूसी, मूंगफली का छिलका, मेथी का डंठल आदि ऐसी चीजें डाल देनी चाहिए जिसमें पेशाब जज्ब होकर उसे जल्दी सड़ा दे। फिर उसे अलग घूर में डाल कर खाद बना लेना चाहिए। ऐसी खाद भी हम काफी मात्रा में तैयार कर सकेंगे। मेरा अन्दाज यह है कि इस प्रकार साल भर में प्रति ग्राम जितनी खाद बनेगी वह कम से कम ८,०००ऽ मन गोबर की खाद के बराबर होगी।

३—बकरे तथा भेंड़ की टट्टी-पेशाब—मैंने प्रति ग्राम ५० बकरियाँ और १०० भेंड़ की जरूरत बताई है। बकरियों की टट्टी पेशाब की मात्रा खाद की दृष्टि से नगण्य है अर्थात् उसका हिसाब नहीं जोड़ना ही ठीक होगा। लेकिन भेंड़ की टट्टी व पेशाब जमीन के लिए बहुत मुफीद बताते हैं। हमारे प्रान्त में लोग भेंड़ों के झुंड को

रात भर खेत पर बैठा देते हैं। इससे जमीन की जो उर्वरा शक्ति बढ़ती है उससे गोबर की खाद से सवाई पैदावार बढ़ती है, ऐसा आम किसानों का अनुभव है। किसानों का हिसाब यह है कि १०० भेड़ की तीन दिन की बैठाई एक एकड़ के लिए उतना ही फायदा करती है जितना १०० मन गोबर से लाभ हो सकता है। यानी १०० भेड़ से प्रतिदिन कम से कम ३० मन गोबर के बराबर जमीन के लिए खाद मिल सकती है। यह सही है कि हर मौसम में खेतों में भेड़ें नहीं बैठाई जा सकतीं। लेकिन उचित प्रबन्ध से इनकी पेशाब व टट्टी एकत्र की जा सकती है। ऐसी संचित खाद से उतना लाभ न होगा जितना उन्हें खेतों पर बैठाने से होता है। फिर भी खेत पर बैठाने और संचित खाद की औसत २० मन प्रतिदिन के बराबर हो ही जायगी। इस हिसाब से भेड़ों के द्वारा हमको लगभग ७३०० मन खाद मिल सकेगी।

४—वनस्पति की सड़न—पहले एक पत्र में कम्पोस्ट खाद की बात लिखी थी। गाँव भर का जंगल साफ करके उसे नाबदान का पानी, गोबर का पानी और सादा पानी छिड़क कर तथा उन्हें समय समय पर उलट कर यह खाद बनती है। इसके लिए गाँव के जंगल, बाग तथा जंगल के पत्तों का इस्तेमाल किया जा सकता है। इस जरिये से भी काफी खाद मिल सकती है। मेरा अन्दाज यह है कि जब लकड़ी और फलों के लिए हम पेड़ लगा लेंगे तो इस प्रकार वनस्पति की खाद करीब १२००० मन गोबर के खाद के बराबर पैदा हो सकती है।

५—शोरा जातीय नमक—हमारे प्रान्त में शोरा की मिट्टी प्रचुर परिमाण में मौजूद है। आज भी हजारों मन शोरा इस प्रान्त में बनता है। लेकिन सरकारी नीति के कारण किसान इसे बना नहीं सकता। अगर शोरे की आम व्यवस्था की जाय तो इस जरिये से हमको काफी खाद मिल सकती है। युक्तप्रान्त की सरकारी खेती-

सुधार कमेटी का कहना है कि "शोरा में १५ सैं० नाइट्रोजन है और बाकी हिस्सा पोटाश भी जमीन के खूराक का अच्छा साधन है।" यह सभी जानते हैं कि नाईट्रोजन बनस्पति का एक प्रधान भोज्य पदार्थ है। सरकार को पहले इसकी सम्भावनाओं की जाँच करनी होगी और किसानों को इसके द्वारा खाद बनाने के लिए उत्साहित करना होगा।

६—जानवरों की हड्डी तथा मांस—तुमने रेल के सफर में स्टेशनों पर जानवरों की हड्डियों का ढेर जगह जगह देखा होगा। लेकिन देहात में हड्डी की खाद काम में लाते कहीं नहीं देखा है। कारण यह है कि हमारे यहाँ से कुल हड्डी विदेश चली जाती है। सारे भारतवर्ष में लगभग १॥ करोड़ मन हड्डी होती है, और यह प्रायः व्यर्थ चली जाती है। केवल हमारे प्रान्त में ही जितनी हड्डी वेकार जाती है उतनी की अगर खाद बनाई जाय तो प्रान्त भर में हमको हर साल ६। लाख मन खाद मिल सकती है। इसके अलावा मांस की भी कीमती खाद बन सकती है। हमारे प्रत्येक गाँव के लिए जानवरों की जो आवश्यकता बताई गई है उनमें से हर साल जितने पशु मरेंगे उनसे किस मात्रा में खाद बन सकती है इसका हिसाब नीचे लिख रहा हूँ :—

नाम पशु	संख्या मरने की	वजन हड्डी की खाद	मांस का वजन	जोड़
गाय बैल	१२॥	५॥ऽ	३॥ऽ	६ऽ
भैंस-भैंसा	४	३॥ऽ	२ऽ	५॥ऽ
बच्चे	५	।ऽ५	।ऽ२	॥ऽ७
दूसरे विविधि पशु	५	ऽ८	ऽ५	।ऽ३
जोड़		८॥ऽ३	३ऽ७	१४॥ऽ

इस प्रकार हर साल प्रति ग्राम १५) मन के करीब हड्डी और मांस की खाद बन सकती है। देहात के किसानों का अनुभव यह है कि अगर १) हड्डी की खाद खेतों में छोड़ी जाय तो २५) घूर की खाद कम डालने पर भी मामूली से ज़्यादा पैदावार होती है। इस हिसाब से हाड़ और मांस से ३५.०) गोबर की खाद के बराबर खाद प्राप्त हो सकती है।

७—सनई और दूसरी हरी खाद—बरसात के शुरू में खेतों में सनई बोकर उसे फिर जोताई करने पर जमीन की ताकत बहुत बढ़ जाती है। किसानों को इस तरह सनई बोते देखा भी होगा। सनई के अलावा ढ़िंचा, अरुया या बाकस के पत्ते आदि भी लाभदायक होते हैं। पश्चिमी ज़िलों में गन्ना और कपास की खेती के लिए लोग मेथी भी बोते हैं। अगर इस दिशा में खोज की जाय तो और बहुत सी वनस्पतियाँ मिलेंगी जिन्हें खाद के लिए बोया जा सकता है। प्रान्तीय सरकार की ओर से कृषि-विभाग में इसका एक विशेष विभाग रखना पड़ेगा।

८—तेलहन की खली—भारत में प्रचुर तेलहन की उत्पत्ति होती है। खेती से सरसों, तिल, अलसी, रेंड़, बरें आदि के अलावा जंगलों में महुआ, साल, नीम आदि का बीज करोड़ों मन पैदा होता है। इनमें से कुछ की खली मनुष्य तथा जानवरों की भोजन-सामग्री में शामिल हो सकती है। बाकी से ऊँचे दर्जे की खाद तैयार होती है। इस देश के किसान नीम की खली को फसल के लिए घी के बराबर मानते हैं। इससे केवल जमीन की ताकत ही नहीं बढ़ती परन्तु इसके इस्तेमाल से दीमक आदि बहुत से हानिकारक कीट-कीटाणु मर जाते हैं। दुर्भाग्यवश इस प्रान्त में आज जितना बीज नीम का पैदा होता है उसके २ सै० ही का तेल निकाला जाता है; बाकी पड़े पड़े पेड़ के नीचे सड़ जाते हैं। ग्राम-स्वावलम्बन योजना में हमको खाने के अलावा जलाने के लिए, साबुन तथा अन्य उद्योगों के लिए प्रचुर

परिमाण में तेल की आवश्यकता होगी। अतः इनकी खली से भी हमको काफी खाद मिल सकेगी। नाईट्रोजन वनस्पति का प्रधान खाद्य है, यह तुमको मालूम है। अतः किस खली में कितने नाईट्रोजन का अनुपात है मालूम होने पर समझ सकोगी कि खाद के लिए खेती की कीमत क्या है? नीचे तेलहन की खली में नाईट्रोजन की मात्रा कितनी है उसकी तालिका भेज रहा हूँ। इसे गौर से देखना।

नाम खली	नाईट्रोजन मात्रा प्रतिशत	नाम खली	नाईट्रोजन मात्रा प्रतिशत
मूंगफली	७·६६	अलसी	५·३०
तिल	६·६०	नीम	५·०४
वरें	६·३४	रेंड़ी	४·५०
कपास का वीज	५·५६	गरी	३·६७
राई व सरसों	५·५४	विनोला (छिलका उतार कर)	३·३८
महुआ	२·७२		

९—मनुष्य की टट्टी—अब मैं उस कीमती खाद की बात वताना चाहता हूँ जिसके लिए वापू जी पिछले पचास साल से प्रचार करते आते हैं। वह है आदमियों की टट्टी। स्वयं उन्हीं के शब्दों में "यह पाख़ाना खेतिहर के लिए मानो सोना है।" इस विषय के विशेषज्ञ सर अलवर्ट हावर्ड का कहना है कि मनुष्य की साल भर की औसत टट्टी से २०० पौंड खाद होती है जिसमें १५ पौंड नाईट्रोजन ४ पौंड पोटास और ५ पौंड फोरिक एसिड रहता है। शायद तुमको इन वैज्ञानिक पदार्थों के अनुपात से पाखाने के खाद-गुण का ठीक-ठीक अन्दाज न हो। पाखाने का मूल्य कितना हैं उसका थोड़ा हिसाव कर लो तो अच्छा होगा। संयुक्तप्रान्तीय खेती-सुधार कमेटी की १९४१ की रिपोर्ट में इसका एक हिसाव बनाया गया है। उनका कहना है कि अगर आठ आदमी का पाख़ाना जमा किया जाय तो एक एकड़ गन्ने

की खेती में हद दर्जे की फस्ल उत्पन्न होगी। तुम्हें शायद मालूम होगा कि गन्ने की खेती वैसे ही कुछ ज्यादा खाद माँगती है। अगर हद दर्जे की उत्पत्ति करनी है तो कम से कम ४००) मन खाद एक एकड़ के लिए चाहिए। इस हिसाव से एक आदमी का पाखाना ५०) मन खाद के वरावर ताकत देने वाली चीज है। प्रान्त के प्रति ग्राम की आवादी ४७० की है। अगर २० वच्चों को छोड़ दिया जाय तो भी ४५० आदमी का पाखाना २२५००) खाद के वरावर होगा। हम अगर यह मानलें कि कितना भी प्रवन्ध किया जाय कुल पाखाना का सम्पूर्ण इस्तेमाल सम्भव नहीं होगा, मनुष्य की आदत, संस्कार आदि वातें भी इन मामलों में असर करती ही हैं। फिर भी मेरा विश्वास है कि इस दिशा में उचित संघटन करने पर लगभग १२०००) खाद के समान लाभ तो हम पाख़ाना से उठा ही सकते हैं।

पाखाने के इस्तेमाल के विषय में भारत में सवसे अधिक अनुभव वापू का ही है। अतः उनको हम सर्वश्रेष्ठ विशेषज्ञ मान सकते हैं। पाखाने से ज्यादा से ज्यादा लाभ उठाने के लिए उन्हीं के वताये तरीके सर्वोत्तम हैं। जमीन में गड्ढा करके ढक देने का संघटन गाँव गाँव करना होगा। इसका तरीका वापूजी के ही शब्दों में कह देना ठीक होगा। उन्होंने पाखाने के इस्तेमाल के सिलसिले में वताया है—"इस पाखाना को वहुत नीचे गड्ढे में नहीं गाड़ना चाहिए। धरती के ६॥ इंच तक की परत में बेशुमार परोपकारी जीव वसते हैं। उनका काम उतनी गहराई में जो कुछ हो उसकी खाद वना डालने और सारे मैले को शुद्ध करने का होता है। सूर्य्य की किरण भी राम द्युति की भाँति भारी सेवा करती है।" इस नियम से गाँव में हर साल जो खेत परती छोड़ा जाता है उसपर पाखाना वनाने का प्रवन्ध ग्राम-समिति को या पंचायत को करना होगा।

१०—रसायनिक खाद—तुमको इस वात से थोड़ा आश्चर्य

होता होगा कि मैंने रासायनिक खाद का स्थान अन्त में क्यों रक्खा है। आज कल शिक्षित जनता में रासायनिक खाद की तारीफ की जो धूम मची हुई है उसे देखते हुए शायद इसका सबसे पहला स्थान रखना ही ठीक जँचता। आज की इस भीषण लड़ाई की भीड़ में भी भारत में रासायनिक खाद का कितना क्षेत्र है, उसकी जाँच करने के लिए खास विलायती कमेटी नियुक्त हुई है। वे खास तौर पर जाँच करके हमारे प्रभुओं को इस बात की रिपोर्ट करेंगे कि भारत में रासायनिक खाद कितनी खप सकती है। सम्भवतः इसका बाजार बनाने के लिए ही पिछले कुछ सालों से इसके महत्व का प्रचार किया जा रहा है।

खेतिहरों को रासायनिक खाद का व्यवहार करते मैंने भी देखा है। उसके असर की भी कुछ जांच करने की चेष्टा की है। मैंने रासायनिक खाद से एकाएक पौधों को बढ़ते भी देखा है। इसके असर से कुछ पैदावार भी बढ़ती है। लेकिन लगातार कुछ दिन अध्ययन करने से मुझको ऐसा लगा कि पौधों के लिए गोबर आदि की खाद और रासायनिक खाद में उतना ही फर्क है जितना मनुष्य के लिए पुष्टिकर भोजन और शक्तिवर्धक सालसा में। नियमित रूप से परिमित भोजन करने से शरीर पुष्ट और टिकाऊ होता है और अगर रासायनिक बलवर्द्धक औषधि से शरीर में पुष्टि ली जाय तो प्रथमतः शक्ति देने का काम तो वह करेगी लेकिन आगे चलकर स्वास्थ्य की दृष्टि से वह हानिकारक होती है। उसी तरह रासायनिक खाद का लगातार व्यवहार जमीन के लिए हानिकारक होगा। यद्यपि पश्चिमी ढंग से खेती के वैज्ञानिक विशेषज्ञ रासायनिक खाद की बड़ी तारीफ किया करते हैं, लेकिन जिनको भारत की खेती की विशेष जानकारी है वे इसकी तारीफ के लिए इतना उत्साहित नहीं होते। वे इसका इस्तेमाल करने की सिफारिश तो करते हैं लेकिन कुछ दबी ज़बान से। सन् १९३९ में युक्तप्रान्तीय खेती-सुधार के लिए जो कमेटी

सरकार ने बनाई थी उसमें कुछ वैज्ञानिक विशेषज्ञ और कुछ अनुभवी खेतिहर भी थे। तीन साल तक सारी परिस्थितियों की जांच करके उन्होंने सरकार को सन् १९४२ में रिपोर्ट दी। उनकी राय उन्हीं के शब्दों में उद्धृत कर देना शायद ठीक होगा। वे कहते हैं—"........दूसरी तरफ 'रासायनिक खाद' से वनस्पति को तैयार खूराक मिल जाती है लेकिन इसका व्यवहार थोड़ी मात्रा में हो सकता है; कारण यह है कि अगर अधिक मात्रा में लगातार इसका इस्तेमाल किया जाय तो उससे जमीन को नुकसान ही पहुँचेगा।" एक दूसरे स्थान में कहते हैं—"एमोनियम सलफेट के विस्तृत और काफी अर्से तक व्यवहार से, जिन ज़मीनों में चूने की आवश्यकता नहीं है, उनमें अम्ल पदार्थ पैदा हो जाता है। रासायनिक खाद से जमीन में नमी नहीं के बराबर पैदा होती।" अतएव हमको अगर रासायनिक खाद का इस्तेमाल करना होगा तो उतनी ही मात्रा में हम उसे काम में लावेंगे जितना मनुष्य की बल-वृद्धि के लिए टानिक यानी रासायनिक शक्तिवर्द्धक औषधि का इस्तेमाल किया जाता है। जिस प्रकार टानिक का भी एक स्थान है उसी तरह इस खाद का भी शायद हमको कोई स्थान अपनी योजना में देना पड़ेगा लेकिन अगर दूसरे जरिये से स्वाभाविक खाद से ही काम चल जाय तो वह श्रेय ही होगा। इस हिसाब से हरी खाद, खली की खाद, शोरा और रासायनिक खाद के अलावा हमारी खाद की उत्पत्ति ५४० करोड़ मन के करीब होगी।

इस प्रकार उपर्युक्त जरियों से अपने काम के लिए काफी खाद की उत्पत्ति हम कर लेंगे। फिर जब हम कर्मक्षेत्र में उतरेंगे और प्रयास करते रहेंगे तो नये-नये जरियों की भी जानकारी होती ही रहेगी।

सिंचाई की व्यवस्था—अब रही पानी की बात। वस्तुतः पानी ही वनस्पति की जान है। जहाँ भी नमी होगी वहाँ तुम्हारे पसंन्द

न करने के बावजूद भी आप से कुछ न कुछ सब्जी पैदा हो ही जायगी। वस्तुतः अगर खाद न हो और पानी परिमित मिले तो पौधे उग तो आवेंगे ही, चाहे खाद के बिना वे पुष्ट न हो सकें लेकिन पानी बिना चाहे जितनी खाद डालो पौधे उगेंगे ही नहीं। अतः खेती के लिए पानी ही सबसे महत्व का उपादान है। 'इतनी आवश्यक सामग्री होने पर भी हमारे खेतों के तिहाई हिस्सों में ही पानी पहुँचता है। अतः इस दिशा में हमको विशेष प्रबन्ध करना पड़ेगा। प्रश्न यह है कि पानी की प्राप्ति के लिए हमारा ढंग क्या होगा। संसार में सिंचाई का काम ४-५ जरियों से किया जाता है। ये जरिये इस प्रकार हैं:—(१) नहर, (२) ट्यूब वेल, (३) कुआँ, (४) तालाब और (५) नदी, नाला, झील आदि।

नहर के मामले में मेरी राय तुमको मालूम ही है। नहर से फायदा अवश्य है। लेकिन उससे नुकसान भी इतना है कि किसी योजना में नहर का प्रस्ताव करते समय हर पहलू पर गम्भीर विचार कर लेना चाहिए। नहर की व्यवस्था अनिवार्यतः केन्द्रीय सरकार के अधीन रखनी होगी जिसका अर्थ किसी दूसरे पर निर्भर रहना होगा। अगर हम व्यर्थ का तर्क न बढ़ाकर मौलिक स्वावलम्बन के सिद्धान्त को फिलहाल छोड़ भी दें तो भी कई व्यावहारिक हानियाँ भी नहर से होती हैं। तुमने देखा होगा, नहर से जो पानी आता है उसकी गहराई काफी नहीं होती और प्रवाह को कायम रखने के लिए जगह-जगह झरने का रूप दिया जाता है जिससे सारा पानी नीचे की सतह तक आलोड़ित हो जाता है। फलतः जितनी बालू नदी से बहकर नहर में जाती है वह नीचे बैठने नहीं पाती है और क्रमशः खेतों में जाकर उन्हें बालूमय कर देती है। इस तरह बालू की अधिकता से खेतों को नुकसान होता है। तुम कहोगी, बलुआ खेत में भी तो अनाज पैदा होता है। अनाज तो पत्थर पर भी पैदा होता है, इसका मतलब थोड़े ही है कि मटीली जमीन को भी पथरीली बना दिया जाय? फिर भिन्न-

भिन्न फसल के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की जमीन उपयोगी है। जहाँ की जमीन बालूमय है वहाँ उन्हीं को बोया जाता है जिनकी पैदावार वहाँ हो सकती है। इस तरह की जमीन के प्रकार-भेद भी किसी प्राकृतिक नियमानुसार ही होते हैं। ब्रह्मा के मनमाने खिलवाड़ की धुन के आधार पर इस तरह के सृष्टि वैचित्र्य का संघटन नहीं हुआ है। जमीन का प्रकार स्थानीय आब-हवा पर ही प्रधानतः निर्भर करता है; अपवाद जरूर मिलेगा लेकिन साधारण नियम तो इसका कोई एक है ही। इसी प्रकार प्रकृतिक नियम से जिस जमीन पर जो अनाज पैदा होना है उस स्थान की आब-हवा भी उसके लिए अनुकूल होती है। यह सच है कि एक ही आब-हवा में दो प्रकार की जमीन मिलती है लेकिन उसकी भी एक प्राकृतिक सीमा है। अगर थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि तुम उपर्युक्त नियम मेरे दिमाग का आविष्कार ही समझोगी होगी तब भी क्या सभी जमीन बालूमय होने से विभिन्न प्रकार की आवश्यक फसलों का क्रम कायम रक्खा जा सकेगा? नहर के पास के किसानों से पूछो, ऐसा शायद ही कोई मिलेगा जो नहर की वजह से खेतों में जो बालू भर जाती है उसकी शिकायत न करे।

बालू भरने से फिर भी कुछ पैदावार हो जाती है लेकिन जब यह पानी उन इलाकों से होकर आता है जहाँ रेह और अन्य हानिकारक खार की अधिकता है तो वे खार बहकर खेतों में जमा होते रहते हैं और क्रमशः उन्हें बंजर बनाकर ही छोड़ते हैं। श्री चौधरी मुख्तार सिंह को इस विषय का विशेषज्ञ माना जाता है। यही कारण है कि युक्तप्रान्तीय सरकार ने उन्हीं को खेती-सुधार कमेटी का अध्यक्ष चुना था। उन्होंने भी अपनी पुस्तक 'रूरल इंडिया' के १५३ पन्ने में यह रिपोर्ट दी है कि "बम्बई और दूसरे प्रान्तों के कई स्थानों में प्रचुर परिमाण की भूमि पर की खेती नहरों के कारण ही बन्द हो गई है।"

नहर-द्वारा एक दूसरी बड़ी समस्या पानी रुकने की पैदा होती है। मैं पहले पत्रों में लिख चुका हूँ कि हमारे देश की वर्षा थोड़े दिन की

होती है। वह इतनी मात्रा में होती है कि सारा पानी जमीन में जज्ब नहीं हो पाता और अधिकांश पानी वहकर समुद्र में वापस चला जाता है। इस कारण विशेष आवश्यकता इस वात की है कि इस देश में पानी वह जाने का रास्ता काफी हो ताकि अतिरिक्त पानी का उचित निकास हो। जब से रेल लाइनों की सृष्टि हुई है तब से जहाँ तहाँ पानी रुकने के कारण स्वास्थ्य की समस्या तो खड़ी हो ही गई थी उसके उपरान्त इधर नहरों के कारण यह समस्या और भी जटिल होती गई। रेलवे की समस्या जगह जगह पुलिया बनाकर हल भी की जा रही है और ये पुलियाएँ काफी चौड़ी होने के कारण उनके नीचे से पानी की अबाध गति कायम रखना आसान भी है। लेकिन नहर के नीचे से पानी के लिए जो सुरंग बनाई जाती है वह तो आँसू पोंछने भर के लिए ही काफी होती है। इस प्रकार पानी रुककर बड़े बड़े क्षेत्र में सड़ता रहता है और सारे वायुमंडल का स्वास्थ्य खराब करता है। केवल आदमी और पशुओं का स्वास्थ्य खराव करता है, यह बात नहीं। पौधे भी इनके कारण ठीक से बढ़ नहीं पाते। जहाँ कहीं हमेशा पानी जमा रहेगा उसके आस पास की जमीनों में हमेशा नमी बनी रहेगी। ऐसी सील वाली जमीन पर कितनी पैदावार होती है, इसका बयान करके तुम लोगों की बुद्धि और अनुभव का अपमान न करना ही अच्छा होगा। यह तो सभी को मालूम है कि हमारे प्रान्त में मेरठ कमिश्नरी स्वास्थ्य के लिए मशहूर रही है। लोग स्वास्थ्य-सुधार के लिए वहां जाया करते थे। दुर्भाग्य-वश नहरें भी उसी तरफ ज्यादा बनी हैं। नतीजा यह हुआ कि अब उन जिलों में भी स्वास्थ्य बिगड़ने लगा है। मेरठ आश्रम में भी इधर कई साल से लोग मलेरिया से परीशान रहते हैं। यह अनुभव केवल आश्रम का ही है, ऐसी बात नहीं। मैं जब बाहर था तो एक बार युक्तप्रान्तीय सरकार के स्वास्थ्य-विभाग की एक वार्षिक रिपोर्ट पढ़ रहा था। उसमें भी यही रोना रोया गया था कि नहर के कारण मेरठ के जिले में मलेरिया आदि

बीमारियाँ बढ़ गई हैं। अतएव अगर हम मान भी लें कि नहर के कारण पैदावार बढ़ती है तो भी इस बात का कौन हिसाब लगावेगा कि जमीन से अधिक अनाज मिलने के कारण हम अपने स्वास्थ्य की जितनी उन्नति करते हैं, बीमारी के कारण अवनति उससे अधिक होती है या नहीं। आजकल के अर्थशास्त्रीय युग में हर चीज का पड़ता जोड़ने का फैशन हो गया है। उन शास्त्रीय महानुभावों को इसका पड़ता भी जोड़ने को कहो तो अच्छा हो।

पानी के रुकने से एक दूसरी हानि और होती है। तुमने देखा होगा, जहाँ कहीं भी थोड़ी देर पानी रुक जाता है तो उस पर बारीक मिट्टी के कण जमा होकर पपड़ी पड़ जाती है। इससे जमीन की सतह के छिद्र बन्द हो जाते हैं। नतीजा यह होता है कि पानी छनकर नीचे बैठने नहीं पाता है। इस तरह पानी के न छन सकने से जमीन की सतह पर खार पैदा हो जाता है और वही खार क्रमशः फैलकर आस-पास के खेतों को खराब करता है। इस प्रकार पानी रुकने से जो जमीन नम होती रहती है वह क्रमशः बंजर होती जाती है।

नहर से मेरी इतनी दुश्मनी तुमको बहुत परीशान करती होगी। सोचती होगी इस वैज्ञानिक युग में रामायणी कथा कहने से क्या लाभ? यह सच है, नहरों का प्रस्ताव मुझको औरों से कुछ ज्यादा अखरता है। कारण यह है कि मैंने अधिकतर ऐसे क्षेत्र में काम किया है जहाँ आबादी बहुत घनी है, जमीन के नीचे पानी १५-२० फुट के अन्दर मिल जाता है और वर्षा साधारणतः अच्छी होती है। वस्तुतः ऐसे क्षेत्र में नहर की हानियाँ अधिक विकराल रूप लेकर प्रकट होती हैं। वर्षा अधिक होने से पानी के निकास की समस्या जटिलतर हो जाती है। जहाँ आबादी घनी है वहाँ वैसे ही मनुष्य की बेकारी रहती है फिर सिंचाई के लिए नहर का ख़र्च देकर और बेकार बैठे खाना कहाँ तक लोगों की समर्थता के अन्तर्गत हो सकता है? जहाँ १५-२० फुट तक नीचे पानी मिल जाता है, वहाँ कुएँ से नहर में खर्च

भी अधिक है। अभी श्री टाटा, विड़ला आदि ने जो १५ वर्ष की योजना बनाई है उसमें उन्होंने बताया है कि नहर का खर्च प्रति एकड़ सत्तर रुपया होता है और प्रान्तीय सरकार की खेती-सुधार कमेटी ने इस प्रान्त में २० एकड़ जमीन सींचने लायक कुआँ रहट के औसत खर्च का जो हिसाब बताया है वह इस प्रकार है।

कुआँ बनाने का खर्च ४००)
उन्नत रहट २००)
६००)

यानी कुएँ की सिंचाई के लिए प्रति एकड़ ३०) की लागत लगानी पड़ती है। इस तरह नहर के लिए दो सही एक बटे तीन गुनी पूँजी की जरूरत होती है। केन्द्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत ही नहर बन सकती है। इस कारण सारी पूँजी केन्द्रित करने के लिए जो अलग से खर्च होता है उसे भी जोड़ा जाय तो नहर के लिए ढाई गुनी पूँजी की आवश्यकता हो जायगी।

इन सारी बातों को देखते हुए मेरा प्रस्ताव यह है कि हमें नहर का प्रबन्ध उन्हीं स्थानों पर करना चाहिए जहाँ कुआँ बनाना प्रायः असम्भव हो। यानी जहाँ कुआं बन ही नहीं पाता हो, या बने तो उसके लिए हद से ज्यादा खर्च हो जाय या पानी इतने नीचे हो कि निकलना प्रायः असम्भव हो। इन स्थानों में भी नहर बनाने के लिए इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि पानी का निकास ठीक से कायम रहता है या नहीं। अतः जिन इलाकों में नहर बननी हो वहाँ का पूरा 'सर्वे' करके स्वाभाविक निकासों का नक्शा पहले ही बना लेना चाहिए।

हमारे प्रान्त की परिस्थिति के अनुसार जितनी जमीन पर सिंचाई का प्रबन्ध करना है उसके २५ सै० से अधिक के लिए नहर की आवश्यकता न होगी। प्रान्त की जो खेती-सुधार योजना बनाई जाय उस में निम्नलिखित हिसाब से सिंचाई करना ठीक होगा—

कुल जमीन जिस पर खेती होती है ३,५६,१६,२०० एकड़।
परिमाण ज़मीन जिसकी सिंचाई होती है १,१६,१७,५८७ ,,
जमीन जिसकी सिंचाई की व्यवस्था करनी है २,३७,०१,६१३ एकड़ अर्थात् प्रति ग्राम २३१.५ एकड़ जमीन की सिंचाई की व्यवस्था करनी होगी। इनमें २५ सैं० नहर से, ६३ सैं० कुएँ से और ६ सैं० तालाब आदि से व्यवस्था करना व्यावहारिक होगा। ३ सैं० जमीन कछार आदि की ऐसी है जिस पर सिंचाई की आवश्यकता नहीं है।

ऊपर बताये अनुपात के हिसाब से प्रति ग्राम कुल २३१.५ एकड़ की सिंचाई इस प्रकार करनी होगी—

नहर से	५७.६ एकड़	
कुएँ से	१४५.८ ,,	२२३.५ एकड़
तालाबादि से	२०.८ ,,	

बाकी ७ एकड़ की सिंचाई की आवश्यकता नहीं है।

नहरें हमको सारी नई बनवानी होंगी लेकिन कुएँ कुछ पुराने मरम्मत तथा उन्नत करने से काम चल जायगा; कुछ नये बनवाने पड़ेंगे। आज प्रान्त भर में ५५,५४,०५१ एकड़ ज़मीन पर १४,००,००० कुएँ से खेती होती है। यानी प्रति ग्राम ५४.२ एकड़ ज़मीन पर १३.६ कुएँ से सिंचाई होती है। अर्थात् आज एक कुएँ से ४ एकड़ ज़मीन की सिंचाई होती है।

कुएँ की उन्नति करते समय कई बातों का ख्याल रखना होगा। केवल गणित से समस्या का हल नहीं होगा। प्रथम यह कि बहुत से कुओं की हालत ऐसी है कि उनकी मरम्मत करने से अच्छा होगा कि नये कुएँ खोदे जायँ। यानी वे मरम्मत के काबिल ही नहीं हैं। द्वितीय यह कि कुछ कुएँ ऐसे हैं जिनकी उन्नति करके अधिक जमीन की सिंचाई की जा सकती है कि लेकिन वे इतने पास हैं कि उस क्षेत्र में अधिक जमीन सिंचाई के लिए खाली ही नहीं है। उन्हीं क्षेत्रों के कुओं का सुधार करना है जहाँ पानी की कमी के कारण

आस-पास की जमीन सिंचाई से रह जाती है। बाकी क्षेत्र में नये कुएँ बनवाने होंगे। इस दृष्टि से हमें लगभग ३३% यानी प्रति ग्राम ४·५ कुओं को वैसे ही छोड़ देना होगा। उनसे आज के हिसाब से १८ एकड़ के करीब सिंचाई होती रहेगी। बाकी ९·१ कुएँ में ३ कुएँ ऐसे होंगे जिनकी उन्नति से कोई लाभ नहीं होगा। इन ३ कुओं से १२ एकड़ की सिंचाई पूर्ववत् ही होती रहेगी। बाकी ६·१ कुओं की उन्नति कराकर ६·१ = ९६.६ (२०—४ एकड़ प्रति कुआँ) एकड़ जमीन की सिंचाई बढ़ाई जा सकती है। बाकी ४८·२ एकड़ जमीन की सिंचाई के लिए २·४१ कुएँ नये बनाने पड़ेंगे। इस प्रकार प्रान्त भर के लिए हमको ६,२४, ५६७ कुओं की मरम्मत तथा रहट की व्यवस्था करनी होगी, और २,४६,७५५ कुयें नये बनवाने होंगे।

तालाब के मामले में अधिक संख्या में नये तालाब बनाने की गुंजाइश इस प्रान्त में नहीं है। बरसात का पानी रोककर सिंचाई के लिए निम्नलिखित उपायों को ही काम में लाना होगा:—

१—जितने तालाब करीब भठकर बेकार पड़े हैं उनकी मरम्मत तथा खुदाई करानी होगी।

२—ईंट के भट्ठों के सिलसिले से जो कुछ तालाब बन जावे।

३—प्रान्त में बहुत ही ऐसी नीची जमीन है जो न तालाब है और न खेत। बरसात का पानी कुछ जमता जरूर है लेकिन फिर सूखकर दलदल बना रहता है। ऐसी नीची जमीनों के बीच के हिस्सों को खोदकर बड़े बड़े सागर बन सकते हैं और उन्हीं में से निकाली मिट्टी के चारों ओर की कम नीची जमीन को पटाकर खेत भी निकाला जा सकता है। अपनी योजना में ऐसी जमीनों का उपयोग करने के इस तरीके का प्रोग्राम रखना होगा। नहरों से हमको ५६,२८,२६५ एकड़ नई जमीन की सिंचाई की व्यवस्था करनी है। नहर बनवाते समय भविष्य की राष्ट्रीय सरकार को पानी के स्वाभाविक निकास का 'सर्वे' करके ठीक-ठीक नक्शा बना लेना होगा और पानी निकास के लम्बे

इस प्रकार से बनाने होंगे जिन्हे हमेशा साफ रक्खा जा सके। नहर बनाते समय एक और बात की ओर ध्यान रखना भी जरूरी है। हमारे प्रान्त में नदियों के बहाव इस ढंग से हैं कि यातायात के लिए जलमार्ग की अच्छी योजना बन सकती है। नहरों की बनावट ऐसी हो कि नहरों को इस काम में भी लाया जा सके। मेरे ख्याल से इतने से ही आवश्यक सिंचाई हो सकेगी।

इस पत्र में खेती की आवश्यकता की प्रायः सब बातें कह डालीं। मालूम नहीं, कोई ऐसी बात रह गई हो जिसकी बाबत मैं अपनी राय जाहिर न कर सका हूँ। अगर किसी बात पर तुम्हें या वहां के भाई-बहिनों को शका हो तो मुझको लिखना ताकि दूसरे पत्र में साफ कर सकूँ।

इधर कई पत्रों में काफी ब्योरेवार हिसाब भेज रहा हूँ। तुम उससे ऊब तो नहीं जाती हो? अबकी बार मेरे इन विचारों की बाबत अपना ख्याल लिखना।

---

[१२]

जमीन का बँटवारा

१६—६—४४

पिछले पत्र में जमीन की पैदावार बढ़ाने के लिए क्या-क्या उपाय करना चाहिए, इस पर प्रकाश डाला था। आज इस बात पर अपना विचार प्रगट करने की चेष्टा करूँगा कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम किस तरह अपना संगठन बनावें और तमाम उत्पत्ति की व्यवस्था करें।

पहले के पत्र में मैंने बताया था कि आज की जमींदारी तथा काश्तकारी प्रथा के रहते खेती में सुधार नहीं हो सकता है। अब

प्रश्न यह है कि हम इस प्रथा को हटायें कैसे और नई प्रथा का संचालन कैसे करें। फिर इस प्रकार की तब्दीली के लिए फौज के बल से जबरदस्ती जमींदारों से जमीन छीन ली जाय या उन्हें उचित मुआवजा देकर जमीन की मिल्कियत का तबादला करें। मेरी राय में हमको मुआवज़ा देने का रास्ता ही लेना पड़ेगा। यह सच है कि अब तक जमींदार जितनी रक़म कानूनी तथा गैरकानूनी तरीकों से किसानों से ले चुके हैं वह लगान के अलावा जमीन की कीमत की कई गुनी होगी अतः उनको मुआवज़ा मांगने का कोई हक़ नहीं है। लेकिन इस प्रकार के परिवर्तन के समय हक़ के सवाल पर झगड़ा खड़ा करना व्यावहारिक नहीं होगा। हां, इतना अवश्य किया जा सकता है मुआवजे की रक़म निश्चित करके किस्त से चुकता करे। लेकिन इसका तर्क आज करना बेकार है। मुआवजे की रक़म किस तरीके से अदा होगी, यह समय आने पर परिस्थिति के अनुसार तय कर लिया जायगा। मेरा मतलब केवल इतना ही है कि जमींदारों को और काश्तकारों को, जो अपने हाथ से खेती नहीं करते हैं, उनसे खेत लेते समय उसका मुआवज़ा देना होगा। इस मुआवजे की रक़म उन जोतने वालों से किस्त पर लेनी चाहिए जिनको खेत का स्वामित्व देना है। यह किस्त काफी साल तक के लिए होनी चाहिए।

जब लगान के लिए सरकार को सीधे उन्हीं से सम्बन्ध करना पड़ेगा जो खेत जोतेंगे तो निःसन्देह तहसील की आज जो व्यवस्था है उतने से काम नहीं चलेगा। अतः व्यवस्था का संघटन बढ़ाना पड़ेगा। बढ़ते संघटन के लिए हमको मालगुज़ारी भी बढ़ानी पड़ेगी। इस बात को सुनते ही तुम घबड़ा जाओगी। सोचोगी, मैं यह क्या कह रहा हूँ! जिस लगान को कम कराने के लिए इतना तूफान, इतना आन्दोलन हो रहा है उसी लगान को हम कैसे बढ़ा सकेंगे। पर इतनी जल्दी घबड़ाने से काम नहीं चलेगा। हमको हर पहलू पर शान्ति से विचार करना पड़ेगा। आज हमारी प्रान्तीय सरकार की मालगुज़ारी की

आमदनी करीब ६ करोड़ रुपया वार्षिक है और जमींदार उन किसानों से करीब १८ करोड़ रुपया लगान के रूप में लेते हैं जो उनकी ज़मीनें जोतते हैं। अगर इसी अनुपात से उन ज़मीनों का भी लगान जोड़ा जाय जिन्हें जमींदार खुदकाश्त करते हैं तो यह रकम और भी बढ़ जायगी। इसके अलावा लाखों बीघा ज़मीन गुप्त रूप से लगान पर जोताई जाती है जो किसी हिसाब में शुमार नहीं। इस प्रकार जो रक़म समाज में जायज़ मानी जाती है उसी का हिसाब पूरे तौर से जाँच करके जोड़ा जाय तो भी किसान औसत जिस दर से लगान देता है उसके अनुसार कुल लगान की रकम २५ करोड़ रुपये से कम नहीं होनी चाहिए। अब रहा नाजायज़ रकम का हिसाब। जमींदारों के नज़राना लेने की तरीके की बाबत किसको मालूम नहीं है। नज़राना तो ज्यादा लगान लेने का एक बहाना मात्र है। नज़राने के बहाने जो रक़म जमींदार लेता है केवल उतना ही जोड़ने से किसान का बोझ नहीं मालूम होगा; नज़राना देने के लिए किसान जो रकम उधार लेता है उस पर का सूद दर सूद भी जोड़ना चाहिए। इस प्रकार नज़राना के बहाने किसान को भारी रुपया देना पड़ता है। नज़राना के उपरान्त कोल्हार आदि पचासों दस्तूरों, विवाहादि अनुष्ठानों का खर्च, घी दही तेल तथा अन्य सामान सस्ता देने के मद की रकम आदि सकड़ों जरियों से किसान जमींदार को कितना देता है उसका हिसाब करना असम्भव ही है। हिसाब करना तो दूर रहा, अन्दाज करना भी कठिन है। इसके मुकाबले अगर हमारी भावी व्यवस्था में किसान को तमाम ज़मीन के लिए १० करोड़ रुपये के करीब भी देना पड़े तो लगान में कितनी कमी हुई इसका जरा हिसाब तो करो। अगर नाजायज़ रकम को छोड़ भी दिया जाय तब भी तो लगान में आधे से ज्यादा कमी हो जायगी। इस लगान की रकम से केवल व्यवस्था की वृद्धि का खर्च पूरा होगा, यह बात नहीं बल्कि उसका कुछ अंश सुधार योजना में भी खर्च किया जा सकेगा। लेकिन इस हिसाब की बहस में पड़ने का शायद

अभी समय नहीं आया है। संभव है, इससे कम में भी काम चल जाय। इस प्रकार जब खेत जोतने वालों के पास अपनी जमीन हो जायगी तो वे अपनी खेती के लिए सहयोग समितियाँ बनायेंगे। ऐसी समितियों को ग्राम पंचायत के अधीन रखना अच्छा होगा। सहयोग समितियों के हिसाब आदि की जांच के लिए सरकारी महकमा कायम करना होगा। यह सारे प्रान्त में एक दम करना ठीक नहीं होगा बल्कि कुछ जिलों में कानून लागू करके प्रयोग शुरू करना होगा। किसानों को स्वामित्व देने मे पहले एक यह नियम भी रक्खा जा सकता है कि किसी गाँव की अमुक संस्था में काश्तकार अगर सम्मिलित खेती की शर्त पर जमीन लेना चाहें तो उनको जमीन दिलाई जायगी। इस तरह इस काम में क्रमशः आगे बढ़कर जब वातावरण अनकूल हो जायगा तो व्यापक रूप से कानून सब जगह लागू किया जा सकता है। अब सवाल यह आता है कि क्या ज़मीन गाँव में रहने वाले सभी परिवारों को बाँट दी जायगी या इसके लिए कोई हद बाँधनी होगी। मैंने पहले ही कहा है, आज जितनी आबादी जमीन पर गुज़र कर रही है उतनी का गुज़र खेती से हो नहीं सकता। केवल गुज़र ही नहीं बल्कि उतनी आबादी को जमीन पर काम भी नहीं मिल सकता अतः हमको गाँव की सारी जमीन उतनी आबादी में बाँटनी होगी जितनी की आवश्यकता खेती के काम के लिए होगी। बाकी लोगों को उद्योगादि के काम में लगाना होगा। मेरे हिसाब से ५ मनुष्य के प्रति परिवार को ८ एकड़ के करीब जमीन मिले तो वह उससे गुज़र भी कर लेगा और परिवार के लोगों को बेकार रहना भी नहीं पड़ेगा। आज हमारे प्रान्त के प्रति ग्राम के परिवारों की संख्या ६४ है। ऊपर के हिसाब से हम ५५ परिवार को ही ज़मीन दे सकते हैं। बाकी परिवारों के लिए दूसरा काम निकालना होगा।

फसल का बँटवारा—अब प्रश्न यह है कि जमीन की फसल को किस तरह बाँटें जिससे हमारे आवश्यक कुल अनाज मौजूदा खेत से

मिल सकें। इस तरह अनाज के लिए जमीन का बँटवारा करते समय एक बात का ध्यान रखना ज़रूरी है। हम जब तमाम जमीन की अधिक से अधिक जोताई करेंगे तो जमीन की ताकत पर काफी जोर पड़ना अवश्यम्भावी है। इससे जमीन का थक जाना स्वाभाविक है। ऐसी हालत में हमें हर साल बारी-बारी से कुछ जमीन परती छोड़नी पड़ेगी।

हमारे प्रान्त में प्रति ग्राम २४७.८ एकड़ जमीन है। मैंने यह भी कहा है कि हमें इसी जमीन में परती भी छोड़ना है और आज जितने अनाज की कमी है उसे भी इसी में पैदा करना है। यह किस प्रकार सम्भव होगा उसके हिसाब की एक तालिका बनाकर भेज रहा हूँ।

इस तालिका में मैंने कुल ४२.७५ एकड़ जमीन परती छोड़ने का प्रस्ताव किया है यानी ५॥। साल में एक बार हर जमीन की बारी आयेगी। इसके अलावा जिस जमीन पर सिर्फ एक फसल मूँग और उर्द की ही लेने का प्रस्ताव है वह भी परती का काम करेगी। क्योंकि उर्द और मूँग जमीन की ताकत बढ़ाते ही हैं, घटाते नहीं। इस हिसाब से (४२.७५+१२) यानी ५४.७५ एकड़ भूमि हर साल परती रूप में रहेगी। इसी तरह तिल के ३ एकड़ और चरी के ५.५ एकड़ को भी एक फसल के बाद परती छोड़ा है। इस तालिका से मालूम होगा कि २३२ एकड़ जमीन पर दो फसल की उत्पत्ति होगी। तालिका पर विचार करते समय एक और बात पर ध्यान रखनी है। मैंने जो फसल का बँटवारा किया है वह प्रान्त के पूर्व के आधे जिलों की खेती के अनुभव से ही किया है। वास्तविक योजना बनाते समय यह हिसाब प्रत्येक जिला, तहसील और परगना के लिए अलग अलग बनाना पड़ेगा। मेरा हिसाब केवल इस बात का संकेत करता है कि हम किस प्रकार से और किस दृष्टि से अपनी खेती की व्यवस्था करें। इस तालिका को समझने में शायद तुमको कुछ मुश्किल पड़े। लेकिन तालीमी संघ के काम का सचालन करते करते रिपोर्ट और चार्टों को देखने की तो

आदत पड़ गई होगी। यही सोचकर इतनी ब्योरेवार तालिका भेजने का साहस किया है :—

फसल की जमीन पर बँटवारा तथा उत्पत्ति (प्रति ग्राम)

मुख्य फसल			दूसरी फसल		
अनाज	एकड़	पैदावार	अनाज	एकड़	पैदावार
चावल (भदई)	५.३	५२०ऽ	चना	४६	४८३ऽ
			मटर	.७	७३।।ऽ
			सरसों	५.३	१०६ऽ
चावल (अघनी)	२३.२	२३२ऽ	जवकेराई	२३.२	३२४।।।ऽ
मकई	२८.५	३८६।ऽ	{ पटुआ	२८.५	१७ऽ
			{ बरें	२८.५	२८।।ऽ
			{ सरसों	१७.५	३५ऽ
			{ जव	१७.५	२३६।ऽ
			जव केराई	११.०	१५४ऽ
अरहर	१७.२	२०७ऽ	उर्द	१७.२	८।।ऽ
			{ चावल	,,	१२८ऽ
			{ सावां	,,	५५ऽ
			{ कोदो	,,	६८ऽ
			{ रेड़ी	,,	१७ऽ
अनाज	एकड़	पैदावार	अनाज	एकड़	पैदावार
जुआर	८.४	५६ऽ	उर्द	८.४	५६ऽ
बाजरा	२३	११५ऽ	{ मटर	२३	२४१।।ऽ
			{ सरसों	२३	४६ऽ
तोरी (सरसों)	३२	२४०ऽ	जव केराई	२५	३५०ऽ
			आलू	७	७००ऽ

मूंग	६	५४)	...	...	...
उर्द	६	५४)	...	...	...
कपास	६	८।)	जव केराई	६	८४)
चरी	५.५	...	.	...	८४)
गेहूं	३५	८४५)	उर्द की चरी	३०	...
			अलसी (गेहूं के साथ)	६५	३५)
मसाला	५	४०)	...	...	...
ईख	[illegible]	५५००)	सन	११	११)
			तोरी	११	७७)
तम्बाकू	१.२५	२६)	...	...	...
तिल	३	२१)	...	...	...
परती	४२.७५				
जोड़	३४७.८ एकड़			२३२.३ एकड़	

कुल पैदावार

अनाज	पैदावार
चावल	८६०)
मकई (जुन्हरी)	३८६।)
अरहर	२०७)
ज्वार	५६)
बाजरा	११५)
तोरी (सरसों)	३१७)
सरसो	१८७)

कुल पैदावार

अनाज	पैदावार
तिल	२१)
चना	४८३)
मटर	३१५)
जव केराई	६१२।।।)
पटुआ सन	२८)
जव	२३६।)
बर्रे	२८।।)

मूंग	५४)	सावां	५५)
उर्द	१२१॥)	कोदो	८८)
कपास	८)	रेंड़ी	१७)
गेहूँ	८५४)	आलू	७००)
मसाला	४०)	अलसी	३५)
ईख	५५.००)	लकड़ी, रेंड़ी, अरहर	
तम्बाकू	२६)	आदि के सामान	१०००)

उपर्युक्त पैदावार से प्रान्त की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति होकर भी कुछ बढ़ती रह जायगी। उसे हम उन प्रान्तों को भेज सकेंगे जहाँ अनाज की कमी रहेगी। इस हिसाब से हमें प्रति गांव निम्नलिखित मात्रा में अनाज प्राप्त होगा।

अनाज	उत्पत्ति	अनाज	उत्पत्ति
चावल	८६०)	गेहूँ	८५४)
जोन्हरी	३८३।)	चना	४८३)
अरहर	२०७)	मटर	३१५)
ज्वार	५६)	जव बेराई	६२१॥)
बाजरा	११५)	जव	२३३।)
मूंग	५४)	सांवा	५५)
उर्द	१२१॥)	कोदो	८८)
	१८३२॥)		२६३५)

कुल जोड़ ४७६७॥)

अर्थात् नई योजनानुसार प्रान्त भर के अनाज की उपज ४८,८१,७०,३८८) मन की होगी। और हमारे प्रस्ताव के अनुसार हमें ४५,७५,८१,६७२) मन अनाज की आवश्यकता है। इस प्रकार ३,०५,८८,४१६) मन अनाज हम प्रति वर्ष उन प्रान्तों को भेज सकेंगे

जहाँ अनाज की कमी हो।

मैंने पहले ही कहा था कि खेती में पैदावार बढ़ाने के लिए सहयोग के सिद्धान्त पर सम्मिलित खेती करनी आवश्यक है। अतः इन ५५ परिवारों की सहयोग समिति बनाने की चेष्टा करनी होगी। इन समितियों का क्या रूप होगा, क्या विधान तथा नियम होगा, सरकार के निरीक्षण तथा शासन का क्या रूप होगा, इत्यादि बातें वैधानिक पंडितों के लिए छोड़ देना ठीक होगा। फिर इस समय इन बातों का ब्योरा बनाना भी कठिन है। समय आने पर उस समय की जनता के दृष्टिकोण तथा मानसिक स्थिति को देख कर ही संघटन की रूपरेखा बनाई जा सकती है। फिलहाल हमारे काम के लिए इतना कह देना काफी होगा कि उक्त ५५ परिवार अपनी जमीन समिति की जमीन में अपने हिस्से के रूप में जमा रक्खेंगे। हल आदि सामान भी समिति का हो लेकिन बैल सदस्य खुद पालें और काम के समय हाजिर करें। बैल की मजदूरी भी निर्धारित की जा सकती है। लेकिन यह भी संकेत मात्र है। मैं इस समय किसी बात का नियम निश्चित करना नहीं चाहता और न ऐसा करना अभी सम्भव ही है।

५५ परिवार के आदमी मिल कर किस तरह खेती का काम करेंगे और उनके और बैलों के लिए कितने दिन का काम खेती में लग जायगा, इसका हिसाब काफी दिलचस्प होगा। प्रत्येक फसल का अलग अलग हिसाब तुम्हारी जानकारी के लिए भेज रहा हूँ। इसमें जो थोड़े दिन लड़कों का काम दिखाई देता है वह उनकी पाठशालाओं के पाठ्यक्रम का हिस्सा है। वे अपने शिक्षक के साथ काम करेंगे, जिससे शिक्षक खेती के काम के साथ उन्हें विविध पाठ की शिक्षा दे सकें। यह बात तुमको पसन्द आवेगी क्योंकि यह तुम्हारी बेसिक शिक्षा-पद्धति के अनुरूप होगी।

परिवारों के लोगों को किस तरह काम बांटा जाय, इसको तय करने के पहले इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि किसान

परिवारों में कितने आदमी काम करने लायक होंगे। मैं सक्षम आबादी १६ से ६० साल तक के लोगों की ही कहूँगा। यह सच है, कुछ लोग ६० से बहुत ज्यादा उम्र तक कार्यक्षम रहते हैं लेकिन उनको गृहस्थी के दूसरे फुटकर कार्य के संचालन आदि काम के लिए छोड़ कर ही अपना हिसाब करना ठीक होगा। इस प्रकार ५५ परिवारों के कुल २७४ आदमियों में :—

६० साल से अधिक बूढ़े-बूढ़ियाँ	१७
१६ साल से ६० साल तक प्रौढ़ पुरुष	७६
,, ,, ,, प्रौढ़ स्त्रियाँ	७३
६ से १५ तक के लड़के	३६
६ से १५ तक की लड़कियाँ	३४
बच्चे	२०
बच्चियाँ	१८

होंगे। हल के लिए बैल और भैंसों की संख्या ७४ होनी चाहिए, यह मैं पहले ही बता चुका हूँ। ७६ पुरुषों में से मवेशियों के लिए ८ और विभिन्न फुटकर काम के लिए ३ पुरुष अलग रहेंगे। इस तरह खेती के लिए ६५ पुरुष प्राप्त होंगे।

६५ पुरुष, ७३ स्त्रियाँ और ७४ बैलों को निम्नलिखित हिसाब से काम करना होगा। किसानों के लड़कों के अलावा पाठशाला के कुल लड़के खेत में काम करेंगे। इस तरह १२२ लड़के काम के होंगे।

माह जेठ

	आदमी	बैल
निरवाई (खेत की दूबादि घास साफ करना) २७१·४ एकड़	२१७	×
खाद ढोआई—१७५·६ एकड़ (१५ गाड़ी प्रति एकड़ के हिसाब से २६३४ गाड़ी, १ गाड़ी ६ बार प्रति दिन = ४३९ गाड़ी)	८७८	८७८

जोताई—मकई, कपास, उर्द की चरी ६४·५ ए० (४ बाँह) प्रति हल से जोताई $\frac{4}{5}$ एकड़ प्रतिदिन	३२३	६४६
सिचाई—६४·५ एकड़ (प्रति रहट ३ आदमी ४ बैल से १॥ एकड़)	१२९	१७२
सुरहानी (जमीन को हल से फाड़ना) मकई २८·५ एकड़	१४	२८
जोड़	१५६१	१७२४

असाढ़

	आदमी	बैल
बेहन अगहनी धान १ एकड़ जोताई बोआई ४ बाँह	५	१०
जोताई खेत अगहनी धान २३·२ ए० १ बाँह	२९	५८
भदही जोताई बोआई ३ बाँह ५३ एकड़	२००	४००
भदही हेंगाई बेदहनी	८०	१६०
जोताई ३ बाँह—उर्द, मूंग, ज्वार, चरी, बाजरा, उर्द की चरी (परती में) और तिल—६३·६५ एकड़	३५१	७०२
हल्दी अदरक—२ एकड़ ६ बाँह जोताई + बोआई + सोहनी	५०	—
	३६	२४
अरहर जोताई बोआई १७·२ एकड़	५५	११०
सनई गेहूँ + गन्ना के खेत में ४६ एकड़	११५	२३०
अरहर बेदहनी १७·२ एकड़	९	१८
कपास मकई गोड़ाई २ बार ३४·५ एकड़ (१ एकड़ ८ आदमी १ बार)	५५२	—
जोड़	१४८२	१७१२

सावन

	आदमी	बैल
अघनी धान जोताई २३·२ एकड़	२६	५८
अघनी धान बोआई २३·२ एकड़	२८०	—
सोहनी-भदोही धान, अरहर, ज्वार, बाजरा, उर्द, मूंग, अदरक, हल्दी, तिल (२ वार)	३७९५	—
तम्बाकू जोताई ४ बार १·२५ ए०	६	१२
सनई उलटना ४६ एकड़	५८	११६
जोड़	४१६८	१८६

(१२२ लड़के=८२ आदमी समझ कर) आदमियों में १६३८ पु० १३०० स्त्रियाँ १८३० लड़के।

भादों

	आदमी	बैल
गेहूँ का खेत जोताई ४ बाँह ६५ एकड़	३२५	६५०
भदही धान सोहनी ५३ एकड़	२६५	—
मकई रखवाली (बूढ़ों से यह काम हो सकेगा)	—	—
तोरी (सरसों) जोताई बोआई ४३ एकड़	२१५	४३०
तम्बाकू जोताई २ बार १·२५ एकड़	३	६
शामा (अरहर की) कटाई १७·२ एकड़	१०३	—
जोड़	९११	१०८६

कुआर

	आदमी	बैल
जोताई खेत गेहूँ ४ बाँह ६५ एकड़	३२५	६५०
कटाई भदई ५३ एकड़	५३०	—

दँवाई भदई ५३ एकड़	१३५	१६२
मकई कटाई २८.५ एकड़	१४३	—
धान, कोदो, तथा उर्द (अरहर की) कटाई १७.२	१३८	—
धान, कोदो तथा दँवाई	४५	५४
जोताई तम्बाकू १.२५ एकड़ २ बाँह	३	६
भदोही के खेत की जोताई ५३ एकड़ २ बाँह	११२	२२४
खाद ढोआई ७२.२५ एकड़	३६८	३६८
जोड़	१७६६	१४६४

कपास चुनाई ६ एकड़ ३ बार ७२ स्त्रियाँ, ७२ लड़के
१७६६ आदमी = १४६६ पुरुष ३७२ स्त्रियाँ

जोड़ १४६६ पुरुष ३७२ स्त्रियाँ ७२ लड़के

कातिक

	आदमी	बैल
तोरी कटाई ४३ एकड़ + दँवाई	५५	६६
	४३०	—
जोताई—गेहूँ, चना, मटर, जव, तम्बाकू		
१३६.७५ एकड़ + जव केराई ११ ए० ४ बाँह	७३८	१४७६
तम्बाकू बोआई	३१	—
आलू जोताई ६ बाँह ७ एकड़ + बोआई	२२८	१०६
आलू मिट्टी चढ़ाई व सिंचाई (२ बार)	१४२	४०
हल्दी अदरक २ एकड़ खोदाई	२५	
मसाला ३ ए० जोताई बोआई तथा सोहनी		
कपास चुनाई ६ एकड़ ५ बार १८० स्त्रियाँ, १५० लड़के	५४	
जोड़ १८० स्त्रियाँ १५० लड़के,	१७०३	१६६२

अगहन

	आदमी	बैल
सिंचाई—गेहूँ, चना, मटर, जव, आलू, तम्बाकू जव केराई १५४·७५ एकड़	३६०	४१२
कटाई—अघनी धान, ज्वार और बाजरा ५४·६ एकड़	५४६	—
दँवाई अघनी धान २३·२ एकड़	६०	७२
दँवाई ज्वार बाजरा ३१·४ एकड़	४०	४८
जोताई ६ बाँह—उर्द, मटर और जव केराई ५६·८ एकड़	४२२	८४४
खाद ढोआई ३४·२ एकड़ (८५ गाड़ी)	१७०	१७०
तिल कटाई ३ एकड़	२४	—
तिल दँवाई ३ एकड़	५	६
जोताई २ बाँह तिल का खेत और ईख १४ ए०	३५	७०
जोड़	१६११	१६२२

पूस

	आदमी	बैल
जोताई बोआई जव केराई ४ बार २६·२ ए०	१४६	२६२
सिंचाई—गेहूँ, मटर, जव, जव केराई चना, आलू, तम्बाकू=२२०.६५	४४१	५८८
ईख ११ एकड़ कटाई छिलाई	२००	—
ईख पेराई २५ दिन १०० श्री	२००	२००
जुन्हरी पिटाई २८·५ एकड़ की	१७१	—
चरी खेत ५ एकड़ जोताई २ बाँह	१२	२४
जोड़ १०० श्री	११७०	११०४

माघ

		आदमी	बैल
आलू तम्बाकू सिंचाई ८·२ एकड़		१८	२४
ईख कटाई छिलाई		२००	—
ईख पेराई २५ दिन	१०० स्त्रियाँ	२००	२००
जोताई २ बांह ११ एकड़		२८	५६
जोड़	१०० स्त्रिया	४४६	२८०

फागुन

		आदमी	बैल
आलू तम्बाकू सिंचाई ८·२५ एकड़		१८	२४
गन्ना कटाई छिलाई		२००	—
गन्ना पेराई २५ दिन १०० स्त्रियां		२००	२००
गन्ना जोताई ११ एकड़		४२	८४
गन्ना वोआई ११ एकड़		४४	६६
पिछले गन्ने (पेड़ी) की जोताई ११ एकड़ ३ वार		१४	२८
मटर कटाई ७ एकड़		५६	—
मसाला कटाई खोदाई २·५ एकड़		६३	—
जोड़	१०० स्त्रियाँ	६३७	४०२

चैत

	आदमी	बैल
कटाई—गेहूँ, मटर, जव केराई, चना, जव	१७३४	—
आलू गोड़ाई तम्बाकू कटाई ८·२५ एकड़	६६	—
अरहर कटाई १७·२ एकड़	१०३	—

गन्ना सिंचाई ११ एकड़	२४	३२
तम्बाकू सिंचाई १·२५ एकड़	३	४
उर्द कटाई ८·४ एकड़	६७	—
जोड़	२०३०	३६

वैशाख

	आदमी	बैल
दँवाई जव केराई ११ एकड़	२८	३३
दँवाई—मटर, चना, जव केराई १३०·२ एकड़	३२५	३९०
दँवाई गेहूँ ६५ एकड़	९७५	११७०
दँवाई जव १७·५ एकड़	१७५	२१०
दँवाई अरहर १७·२ एकड़	१३७	—
दँवाई उर्द ८·४ एकड़	२०	२४
तम्बाकू कटाई १·२५ एकड़	१५	—
गन्ना सिंचाई ११ एकड़ २ वार	४५	६०
जोड़	१७२०	१८८७

कुल काम के दिन (कुल पुरुष ६५, कुल स्त्रियां ७३, कुल बैल ७४, कुल लड़के १२२)

कुल हाजिरी

माह	पुरुष	स्त्री	लड़के	बैल
जेठ	१५६१	—	—	१७२४
अषाढ़	१४८२	—	—	१७१२
सावन	१६३८	१३००	१८३०	१८६

भादों	६११	—	—	१०८६
कुआर	१४६६	३७२	(बड़े लड़के) ७२	१४६४
कातिक	१७०३	१८०	(बड़े लड़के) १५०	१६६२
अगहन	१६११	—	—	१६२२
पूस	११७०	१००	—	११०४
माघ	४४६	१००	—	२८०
फागुन	६३६	१००	...	४०२
चैत	१५२२	१६	७३२	३६
वैशाख	१७२०	...	...	१८८७

सक्षम लोगों के काम के दिन

	पुरुष	स्त्री	लड़के	बैल
जेठ	२४	...	...	२३ ३
अषाढ़	२३	...	...	२३·०
सावन	२५	१८	१५	२५
भादों	१४	...	...	१४·७
कुआर	२३	५	(बड़े) १	१६.४
कातिक	२६	२.५	(बड़े) २	२३·०
अगहन	२५	...	...	२२·०
पूस	१८	१·४	...	१५·०
माघ	७	१·४	...	४·०
फागुन	१०	१·४	...	५·५
चैत	२३·५	·२	६	·५
वैशाख	१६·५	...	...	२५·५
जोड़	२४५	२६·६	कुल २१ बड़े ३	१७८·४

इस हिसाव से ५५ परिवार के पुरुष स्त्री, और बैलों के साल भर में काम के तथा खाली दिन इस प्रकार रहेंगे।

	काम के दिन	खाली दिन
पुरुष	२४५	१२०
स्त्री	३०	३३५
वैल	१७६	१८६

विद्यालय के कुछ लड़के और लड़कियाँ सावन मे १५ दिन और चैत में ८ दिन पढ़ाई बंद करके खेती में काम करेंगे। बड़े लड़के और लड़कियां इसके अलावा ३ दिन और काम करेंगी। इसके अलावा वे विद्यार्थी, जो अपने विद्यालय के पाठ्यक्रम में बुनियादी दस्तकारी खेती की मार्फत विद्याभ्यास करेंगे, खेती में और अधिक समय काम करेंगे क्योंकि सीखने के लिए उन्हें खेती की सभी क्रियाओं में शामिल रहना पड़ेगा। मैंने उनके काम की हाज़िरी शामिल नहीं की है। कारण यह है कि अभी उनकी संख्या की कल्पना करना व्यर्थ है। वे जितने दिन काम करेंगे उतने दिन किसान परिवार के दूसरे लोगों को थोड़ी सहूलियत हो जायगी।

प्रश्न यह उठता है कि क्या ये खाली दिन लोगों का बेकार काटने होंगे या इस समय वे दूसरे काम भी कर सकते हैं। कुछ समय तो घर-गृहस्थी के फुटकर काम में लग जायगा। थोड़ा समय बीमारी, अतिथि-सेवा, अनुष्ठानादि में खर्च होगा। बाकी समय में वे विभिन्न प्रकार के गृह-उद्योगों में लग जायँगे। गृह-उद्योग से मेरा मतलब क्या है, यह मैंने पहले पत्र में विस्तार से लिखा था। अगर इस समय याद नहीं आता है तो देख लेना। इस प्रकार गृह-उद्योगों में काम का दिन नीचे लिखे हिसाब से रहेगा—

गृह-उद्योग के काम के दिन

उद्योग	हाजिरी		
	पुरुष	स्त्री	बैल
१—अनाज पिसाई बैल चक्की से ८२५ऽ आटा	१६५	...	३३०
२—धान कुटाई ८२५ऽ धान १००ऽ सावाँ (५ऽ प्रतिदिन २ पुरुष २ स्त्रियों से)	३७०	३७०	...
३—धान छँटाई	१३५	१३५	...
४—ईंट का भट्ठा ३ लाख ईंट के लिए (५०० ईंट पथाई और १५०० ईंट के भट्ठे पर लगाई प्रति व्यक्ति प्रतिदिन)	८००	...	...
जोड़	१४७०	५०५	३३०

अर्थात् गृह-उद्योगों में पुरुष २३ दिन, स्त्रियां ७ दिन और बैल ५ दिन लगे रहेंगे। इसके उपरान्त दूसरे कार्य-क्रमों में भी पुरुष और स्त्रियां लगी रहेंगी; उनका व्योरा नीचे लिखे अनुसार हो सकता है।

कार्यक्रम का व्योरा	काम के दिन	
	पुरुष	स्त्री
खेती में आकस्मिक कार्य	५	...
मकान-निर्माण मरम्मत आदि निर्माण-सम्बंधी कार्य	१६	५
मेंड़ बँधाई	१२	...
लकड़ी काटना, चीरना तथा ढोना	१०	...
अनाज ढुलाई बाजारों को बैलगाड़ी से	५	...
अनाज तथा अन्य सफाई	...	१५
अतिथि-सत्कार	२०	५
त्यौहारादि	१५	२०
बीमारी तथा सुश्रूषा	१०	३०

प्रसूति-गृह	...	१०
अन्य फुटकर	४	५
जोड़	६७	६०

इस प्रकार पुरुषों का पूरा समय व्यवस्थित हो जाता है लेकिन स्त्रियाँ फिर भी २३८ दिन खाली रहेंगी। ये २३८ दिन वे चर्खे से सूत कातेंगी। लड़कों में १२२ लड़के २१ दिन खेती में काम करेंगे, २७० दिन विद्यालय के दिन और बाकी ७४ दिन सफाई तथा आराम के दिन होंगे।

मैंने तमाम काम की गति आज की गति के हिसाब से ही लगाई है। हमें इन तमाम संघटनों को पूरा करने के लिए १५ साल तो लग ही जायँगे। उतने दिन संघटित कार्य करते रहने से जनता की कर्म-शक्ति, योग्यता तथा गति की वृद्धि होगी। तब इससे कम दिनों में ही ये सब काम हो जायँगे लेकिन मैं इससे अधिक काम का प्रस्ताव इन ५५ परिवार के लोगों के लिए नहीं करूँगा। जब हमारी योजना ग्रामवासी की सर्वतोमुखी उन्नति की ओर होगी तो शिक्षा, कला तथा संस्कृति की उन्नति होगी। ऐसी हालत में लोग खेती से बचे समय को सहूलियत के साथ इन चीजों में लगायँगे। खेती की विभिन्न प्रक्रियाओं की गति में वृद्धि होने पर बैलों के खाली दिन भी बढ़ेंगे ही। अब भी खेती के काम के अलावा १८६ दिन उनको बचते हैं। बैलगाड़ी, चक्की आदि और कुछ अन्य फुटकर कामों में ३० दिन तथा महीने में ५ दिन के हिसाब से आवश्यक आराम के ६० दिन घट कर भी ९६ दिन खाली रहते हैं। क्रमशः ग्राम-उद्योग की उन्नति के साथ बैलों के खाली दिन भी उद्योग में लगते जायँगे। इस प्रकार उन ५५ परिवारों तथा उनके पशुओं के कुल समय का उचित उपयोग मौजूदा जमीन पर खेती तथा कुछ गृह-उद्योग के काम में हो जायगा।

पशुओं का प्रश्न—खेती से पशुओं का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि इन पर विचार अभी कर लेना ठीक होगा। प्राचीन काल से भारत में गोधन का बहुत महत्व रहा है। लोगों के पास जंगल काफी थे। चारागाह की भी कमी नहीं थी। अतः लोग जी भर कर गोपालन करते थे। एक एक हल के लिए कई बैल रखते थे जिससे वे आराम से बैठे रहें। गोजाति के कारण मनुष्य को अन्न मिलता था, दूध-घी मिलता था इसलिए उस भावना-प्रधान युग में मनुष्य कृतज्ञता से जितना आराम गाय बैल को दे सकते थे, देते थे। यह भावना आज भी विस्तृत क्षेत्रों में फैली है। केवल जनता में ही ऐसी भावना का प्रसार है, ऐसी बात नहीं। अर्थ-शास्त्र के पंडितों की राय में भी आज जितने बैल हैं उन पर अधिक बोझ पड़ता है और बैलों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए। श्री राधाकमल मुकर्जी ने भी अपने "लैंड प्रबलम्स आफ इंडिया" में बैलों की संख्या में घटती देख कर अफसोस जाहिर करते हुए कहा है "पहले ज़माने में एक हल के लिए चार बैल की जरूरत समझी जाती थी लेकिन वह संख्या अब तीन और बहुत से स्थानों में २ पर आ गिरी है। नतीजा यह हुआ है कि बैलों को अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ता है।" किन्तु मेरा अनुभव इसके विपरीत ही है। मैंने देखा है, देहातों में बैल अधिकांशतः खाली ही रहते हैं। पिछले पत्र में एक हिसाब से बताया भी है कि हमारे बैल अधिकतर खाली रहते हैं। युक्तप्रान्तीय खेती सुधार कमेटी १९४२ की रिपोर्ट में भी कहा गया है कि "किसान मुश्किल से साल में तीन माह बैलों को इस्तेमाल करता है और उन्हें ९ माह बैठा कर खिलाता है।" मेरी राय में यह भी कुछ अतिरंजित है। लेकिन चाहे जिस तरह से जांच करो इस प्रान्त में ४-५ माह से ज्यादा बैलों के लिए काम नहीं है। हां, यह जरूर है कि किसी के पास जरूरत से ज्यादा बैल हैं और कोई बैल बिना जोत नहीं पाते हैं। अतः अतिरिक्त परिश्रम केवल उन्हीं के बैलों को होता है जिनके पास खेत के अनुपात से बैल कम

हैं। लेकिन किसी राष्ट्रीय समस्या को हल करते समय तुमको अपवादों को नहीं देखना है। हमें तो औसत स्थिति को देख कर ही विचार करना है। अगर प्रान्त भर के कुल बैलों का हिसाब लगाओ तो देखोगी कि समस्या यह नहीं है कि हम बैलों की संख्या किस प्रकार बढ़ावें, बल्कि यह है कि जितने बैल हैं उनको काम क्या दिया जाय। यही कारण है कि मैंने अपनी योजना में प्रति ग्राम ६० बैलों के स्थान पर ७४ बैल रखने का प्रस्ताव किया है। और उतने में ही किस तरह हमारा काम पूरा हो जाता है, उसका भी हिसाब बताया है। बैलों की कर्म शक्ति किस प्रकार बढ़ाई जाय और नस्ल-सुधार के लिए हमें क्या-क्या करना चाहिए, यह मैं पहले भी लिख चुका हूँ। विस्तार से इस सवाल पर भी प्रकाश डाल चुका हूँ कि दूध के लिए भैंस और जोतने के लिए बैल रखने से हमारा काम चलेगा या नहीं। इस प्रश्न पर मैंने अपनी निश्चित राय जाहिर कर दी है। तदनुसार अपनी योजना में प्रति ग्राम की भैंस की संख्या घटाई है। आज जहां एक गांव में औसत ३५ भैंसें हैं वहां मैंने २४ ही रक्खी हैं। यह भी व्यावहारिकता के नाते मौजूदा परिस्थिति से समझौता ही किया है। कोशिश इस बात की करनी होगी कि यह संख्या भी कम हो जाय। प्रान्त में चरने के लिए कितनी कम भूमि है, मालूम ही है। खेती में का कितना हिस्सा जानवरों के लिए छोड़ा जा सकता है, यह भी तुमने देख लिया। अब बताओ भैंसों के उपरान्त कुल गौओं को रख कर क्या खिला कर जिलाओगी। गौओं को ठीक से न जिला सकने से अच्छे बैल मिलना असम्भव है।

प्रश्न यह रह जाता है कि बैलों की संख्या घटाई कैसे जाय? दूध देने वाली गौओं की संख्या बढ़ने पर गोजाति की आबादी तो बढ़ेगी; घटेगी कैसे? हां, यह सवाल कुछ जटिल जरूर है और इस विषय में प्रयोग की काफी गुंजाइश है। आजकल विशेषज्ञों की राय अलग-अलग है। कुछ लोगों की राय में ग्राम के औसत दूध की वृद्धि दो

तरह से हो सकती है, उचित आहार से और दूध देने की अवधि की वृद्धि करके। अगर दूध देने की अवधि बढ़ती है तो गौएँ आज जिस हिसाब से बच्चे देती हैं उसमें कमी हो जायगी। कुछ लोग कहते हैं कि दूध देने की अवधि बढ़ाई नहीं जा सकती। मेरे जैसे सामान्य ग्राम-सेवक के लिए इन विशेषज्ञों की राय का विचार करना मुश्किल है। इस प्रश्न पर मेरा निजी अनुभव भी विशेष कुछ है नहीं। लेकिन अगर हमें देहातों के आर्थिक प्रश्नों को हल करना है तो पशुओं की आबादी सीमित करनी ही पड़ेगी। इसके लिए भावी राष्ट्रीय सरकार को विशेष रूप से प्रयोग करना होगा। दूध देने की अवधि बढ़ा सकने पर तो स्वभावतः पशुओं की संख्या कम होती जायगी। मालूम नहीं इस लड़ाई ने क्या परिस्थिति पैदा कर रक्खी है। अखबारों में फौजों के खाने के लिए बैलों की हत्या के विरुद्ध आन्दोलन देखने को मिल रहा है। सम्भवतः लड़ाई के बाद हमको दूसरी स्थिति का सामना करना पड़े। उस समय बैलों की अधिकता के स्थान पर सम्भवतः कमी ही हो। अतः इस विषय पर कोई निश्चित योजना की कल्पना करना इस समय सम्भव नहीं है।

बाग़-जंगल—ऊपर बताये हिसाब से हमने अनाज, तेल, मीठा और दूध की आवश्यकता पूरी करने की चेष्टा की। फल और लकड़ी की समस्या बाकी रहती है। हमें प्रति गांव ५६८५ मन फल की आवश्यकता है। वैसे तो बहुत किस्म के फल इस प्रान्त में हो सकते हैं लेकिन आमतौर से निम्नलिखित फल से हमारा काम चल सकेगा :—

आम, कटहल, पपीता, गूलर, खिन्नी, फ़ालसा, खजूर, जामुन, लीची, बेल, आंवला, बैर, नासपाती, अमरूद, केला, महुआ, नीबू, अनार, आडू इत्यादि।

इनमें पपीता, केला, बेल आदि लोग अपने घर के साथ लगा सकते हैं। बाकी के लिए बाग की आवश्यकता है। मैं समझता हूँ आज जितने बाग हैं उन्हें ठीक करके और घरों के साथ थोड़े पेड़

लगाकर फल की समस्या हल हो सकेगी। इसके लिए अलग वढ़ती जमीन की आवश्यकता नहीं है। फिर भी दो एकड़ प्रति ग्राम फल के लिए और अलग करना ठीक होगा।

पिछले पत्र में भोजन-सामग्री की तालिका देखने से मालूम होगा कि खाना वनाने के लिए करीव ६०००) मन की लकड़ी की आवश्यकता प्रति ग्राम हर साल होगी। इसके अलावा मकान वनाने के लिए तथा घरेलू असवाव और उद्योग के औजार के लिए लकड़ी भी चाहिए। आज प्रान्त के कुल क्षेत्रफल के ५.८% जमीन पर जंगल मौजूद हैं। इस हिसाव से कुल जंगल का क्षेत्रफल ६१६२ वर्ग मील = ३६,४३६८० एकड़ होगा। काम की लकड़ी के अलावा ईंधन के लिए एक एकड़ से प्रतिवर्ष १५ मन लकड़ी तो अवश्य मिल जायगी। इस प्रकार जंगलों से लगभग ६ करोड़ मन ईंधन मिल सकेगा। जंगल से दूर के देहातों के लिए तो स्थानीय व्यवस्था लकड़ी के लिये करनी होगी। अव देखना है देहातों में प्रति ग्राम ऐसी कितनी जमीन है जिस पर जंगल लगाया जा सकेगा। पिछले पत्र में मैंने जो जमीन का हिसाव भेजा था। उसमें देखा गी कि खेती के अलावा प्रति ग्राम निम्नलिखित जमीन काम में आ सकती है।

१—आसानी से खेती हो सके ऐसी जमीन	३२.३	एकड़
२—खेती लायक परती	६४.०	"
३—खेती लायक ऊसर	४६.८	"

गाँव में जो ६०००) मन लकड़ी की आवश्यकता होगी उसमें १०००) मन वाग और खेती के जरिए मिल जायगी। वाकी के लिए ववूल, पलाश आदि के जंगल लगाने होंगे। मैं ववूल लगाने का विशेष पक्षपाती हूँ। हमारे देहातों में चमड़ा पकाने के उद्योग का खेती के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः गाँव-गाँव इस उद्योग के प्रसार की विशेष सम्भावना है। ववूल की छाल चमड़ा पकाने का एक मुख्य साधन है। फिर ववूल वहुत से ऊसरों में भी हो जाता है। जहाँ ववूल न हो

सके वहां पलाश का पेड़ ईंधन का अच्छा काम देता है। मैंने देखा है बबूल के पेड़ जो लोग लगाते हैं वे एक एकड़ में करीब २०० पेड़ लगाते हैं। दस साल में काटकर दूसरे पेड़ लगाने पड़ते हैं। किसान तीन साल में एक बार उनकी डालियाँ काट देते हैं। इस प्रकार डालियों से प्रति पेड़ ३) मन लकड़ी १० साल में मिल जाती है। फिर दस साल बाद पेड़ काटने पर छाल के अलावा ७।८ मन लकड़ी प्रति पेड़ से मिल जाती है। इस तरह दस साल में १०० मन लकड़ी प्रति पेड़ से मिल जाती है। पलाश का भी पड़ता करीब उतना ही पड़ता है केवल उसमें छाल की कीमत नहीं मिलती है। इस हिसाब से २००० मन लकड़ी के लिए हमें एक एकड़ का जंगल लगाना होगा। इस हिसाब से २५ एकड़ भूमि पर जंगल लगाने की आवश्यकता होगी। ईंट के भट्ठे आदि और काम मिलकर प्रति ग्राम कुल ३० एकड़ भूमि पर जंगल लगाना पड़ेगा। यह जंगल जहां तक सम्भव हो उन ऊसरों पर लगाना चाहिए जहां बबूल पलाशादि लग सकें। बाकी दूसरी जमीन पर लगाना होगा।

वस्त्र का प्रश्न—अब तक मैंने गाँव वालों की भोजन-सम्बन्धी सामान की आवश्यकता और उसे पाने का मार्ग बताने की चेष्टा की है। लेकिन केवल भोजन से ही हमारी जरूरतें पूरी नहीं होतीं। मनुष्य मात्र की दूसरी आवश्यकताएँ भी तो होती हैं। हमने खाने के लिए जो हिसाब बताया है दूसरी चीजें भी उसी अनुपात से जरूरी हैं। अन्न के बाद वस्त्र और आश्रय पर विचार करना आवश्यक है। आज भारत में प्रति मनुष्य को १३ गज औसत कपड़े मिलते हैं। शहर को घटाकर १० गज से अधिक गाँव के प्रति मनुष्य को नहीं मिलता। इसके स्थान पर मैं चाहता हूँ कि लोगों को निम्नलिखित हिसाब से कपड़ा मिले।

प्रति बालिग़	३२	गज	वार्षिक
" लड़का	२०	"	"

प्रति लड़की	२२	गज़	वार्षिक
" बच्चा	४	"	"

बच्चों के लिए मैंने ४ गज़ की आवश्यकता बताई है। कारण यह है कि खादी की धोती साड़ियाँ फट जाने पर भी उनके हिस्से बच्चों के कपड़ों में काम आते हैं। मैंने ऐसे परिवार देखे हैं जो बच्चों के करीब सब कपड़े बड़ों के फटे कपड़े से ही बना लेते हैं। केवल ख़ास शौक़ीनी कपड़े नये खरीदते हैं। मेरा अन्दाज यह है कि पुराने कपड़ों के साथ ४ गज़ नये कपड़े से बच्चों का काम अच्छी तरह चल जायगा। इस विषय पर तुम अपनी राय लिखना। शायद तुम्हारी राय सही हो। इस हिसाब से गाँव भर के लिए निम्नलिखित परिमाण में कपड़े की आवश्यकता होगी :—

२८२	बालिग़ों के लिए	६०२४	गज़
६२	लड़कों के लिए	१२४०	"
६०	लड़कियों के लिए	१३५०	"
६६	बच्चों के लिए	२६४	"
		११८४८	गज़

गाँव और घर का रूप—गांव में मकान कैसे होते हैं, यह तुम से छिपा नहीं है। वस्तुतः गृहस्थी के काम को देखते हुए मेरे ख्याल से प्रति मनुष्य को २०० वर्गफुट जगह तो चाहिए ही। हमारे देहातों में औसत प्रति परिवार ५ प्राणी का होता है। उनके लिए १००० वर्ग फुट ज़मीन चाहिए यानी देहाती भाषा में एक परिवार को २० हाथ चौड़े २५ हाथ लम्बे मकान की आवश्यकता होगी। ऐसे मकान लगभग ३२५) में बनते हैं। सवाल यह है कि क्या हमें कुल मकान तोड़कर नये बनाने हैं या जो मकान नये बनें उन्हें अपने ढंग से बनवाना होगा। वस्तुतः कुल मकान तोड़कर बनाने की कोशिश करना बिल्कुल असम्भव ही है। न हमारे पास इतने साधन हैं और न हम इस मसले में इतने

ज्यादा फँसकर दूसरे जरूरी कामों में ढिलाई आने देना चाहते हैं। फिर भी कुछ मकान ऐसे हैं जिन्हें नये सिरे से बनवाना ही पड़ेगा। मेरे ख्याल से हमें प्रति ग्राम कम से कम ३० घर नये बनवाने होंगे। नये घर बनवाने के साथ-साथ पुराने घरों तथा गाँव के रूप का भी सुधार होना चाहिए। पहले एक पत्र में मकान बनाने के तरीकों की आलोचना करते हुए मैंने बताया था कि आज के ग्रामों की सतह पानी निकलने के लायक नहीं है। कहीं ऊँची, कहीं नीची। क्रमशः ईंटों के व्यवहार से यह सतह हमें ठीक करनी होगी। फिर मिट्टी लेने के लिए ग्राम-पंचायत की ओर से गाँव के पास निश्चित स्थान निर्दिष्ट कर देना होगा। लोग मिट्टी उसी स्थान से लें जिससे वह स्थान तालाब का रूप ले सके। एक अलग योजना बनाकर धीरे धीरे गाँव के अन्दर के गड्ढों को पाटते जाना चाहिए। पाटने के लिए यह नियम बना देना चाहिए कि जब कोई भी मकान मरम्मत करें या गिराकर दूसरा बनावें तो उनके मलबे को गड्ढों में ही डालें न कि आज कल की रीति के अनुसार जहाँ पर टूटे वहाँ ही फैला दें। अगर संघटित रूप से किया जाय तो मेरी निश्चित धारणा है कि यह काम १०-१२ साल में पूरा हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि हमारे मकानों का नक़्शा इस ढंग से बनाना होगा जिससे वे हमारी योजनानुसार व्यवस्था के अनुरूप हों। यानी वे स्वास्थ्यकर, हवादार हों; नहाने, और बर्त्तन माँजने आदि पानी के काम के लिए उचित प्रबन्ध हो; खिड़की के पास थोड़ी जमीन हो जहाँ स्त्रियाँ स्वच्छंद बैठ सकें; थोड़ी तरकारी, केला, पपीता आदि के पेड़ लगा सकें; दरवाजे के सामने थोड़ी जमीन उठने-बैठने के लिए हो; एक नीम का पेड़ लगा सकें और थोड़ा चबूतरा बन सके। गाँव के किसी केन्द्रीय स्थान पर पाठशाला, क्लब तथा पंचायत घर का प्रबन्ध हो। इसके साथ ही कुछ जमीन होनी चाहिए। पशुओं को घर से अलग रखने की बाबत मैंने पहले लिखा था। अच्छा हो, सहयोग के आधार

पर एक तरफ सम्मिलित मवेशीखाना हो, नहीं तो घर से अलग पशुओं के रहने का स्थान हो जिससे घर की वायु दूषित न होने पावे। ग्राम-उद्योग के प्रसार के साथ-साथ सभी गाँवों में काफी उद्योग का काम चलेगा। उद्योगशाला के लिए भी निश्चित स्थान होना चाहिए। जब सब बड़े बच्चों को पाठशाला में भेजेंगे और स्त्रियों के लिए पूरे समय का काम निर्धारित कर देंगे तो बच्चों के लिए शिशु-विहार बनाना आवश्यक होगा। शिशु-विहार के लिए गाँव में कोई केन्द्रीय स्थान होना चाहिए जो सभी घरों से करीब समान दूरी पर हो। इसी प्रकार अनाज के खलिहान तथा खाद के घूरों का स्थान भी निश्चित होना चाहिए। इन तमाम कामों के लिए प्रति ग्राम लगभग २४ एकड़ जमीन की आवश्यकता होगी।

अन्य आवश्यकताएँ—अन्न, वस्त्र और आश्रय के अलावा समाज-जीवन में और बहुत सी आवश्यकताएँ हुआ करती हैं। हमें यह भी सोचना है कि एक परिवार को शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक संतोष के लिए साधारणतः क्या क्या साधन की जरूरत पड़ती है। मैंने एक तालिका बनाई है। उसे तुम्हें भेज रहा हूँ। उसमें वस्त्र का दाम खादी के हिसाब से शामिल किया है।

भोजन के अलावा एक गांव की कुल अन्य आवश्यकताएँ

कपड़ा ११८४८ गज़ दर ||=)||| प्रति गज़	७९६०।=)
ऊनी कपड़ा ५) प्रति परिवार के हिसाब से	४७०)
सिलाई एक रुपया साढ़े नौ आने प्रति परिवार	१५०)
मकान मरम्मत १५) प्रति परिवार	१४१०)
बर्तन ३॥) " "	३२९)
अनुष्ठानादि १०) " "	९४०)
स्वास्थ्य, सफाई, शृंगार १५) " "	१४१०)
शिक्षा ४०) " "	३७६०)

विवाहादि १५) प्रति परिवार	१४१०)
विनोद × × ×	५०)
असबाब ५) " "	४७०)
रोशनी तेल ८५ दर १२) प्रति मन	१०२०)
विविध ५) प्रति परिवार	४७०)
जूता ३४० जोड़ा १॥ साल के लिए २२७ जोड़ा दर १) प्रति वर्ष	२२७)
चन्दा ग्राम समिति	१२०)
पुस्तकालय	२५)
आकस्मिक १०) प्रति परिवार	६४०)
कुल जोड़	२११,६११≈)

इसके साथ भोजन-सामग्री का दाम जोड़ने से गाँव भर के प्रस्तावित खर्च का अनुमान किया जा सकेगा। उसका हिसाब इस प्रकार है।

सामान	तौल	दर	दाम
आटा गेहूँ	४१३	३।)	१३४२।)
" जव	२२६	२॥≈)	६०१≈)
" ज्वार	५०	२॥≈)	१३१।)
" बजरी	१००	२॥।=)	२८७॥)
" जुन्हरी	६३	२।)	१४१॥।)
जुन्हरी	७६	२)	१५२)
चावल	६५४	३॥)	२२८६)
साँवा	१००	१॥)	१५०)
कोदो	१०१	१॥)	१५१॥)
चना	२८६	३)	८६७)
मटर	१५०	२॥)	३७५)
दाल अरहर	१३५	४)	५४०)

दाल उर्द	६०/	४)	३६०)
दाल मूंग	३५/	४)	१४०)
तरकारी	१४५८/	१॥)	२१८७)
मसाला	३४/	८)	२७२)
नमक	७२/	२॥)	१८०)
गुड़	२००/	४)	८००)
चीनी	६८/	९)	६२१)
फल	५६६/	४)	२६७६)
तम्बाकू	१९॥/	५)	९७॥)
तेल	१२७॥/	१५)	१९१२॥)
घी	७२/	४०)	२८८०)
पूर्ण दूध	६२७/	४)	२५०८)
अपूर्ण दूध	१५२७॥/	१॥)	२२९१)
खटाई	१९॥/	१०)	१९५)
गोश्त आदि	८०/	२॥)	२००)
लकड़ी	५९८२/	।)	१४९५॥)
		जोड़	२५८३५≈)

इस प्रकार गांव भर के लोगों का कुल खर्च २११६१।≈)+२५८३५≈)=४६९९६॥) यानी नई योजना के अनुसार प्रति परिवार का खर्च ५००) वार्षिक होगा। किसानों के खेती-सम्बन्धी, दूसरे उद्योग में काम करने वालों का व्यापार खर्च तथा लगान कर आदि इसके अलावा होगा। इसके साथ ५५ किसान परिवारों के खेती के व्यय का हिसाब की तुलना करने से स्थिति स्पष्ट हो जायगी।

किसान की आमदनी-खर्च—इस पत्र के साथ खेती से कुल पैदावार की तालिका भेजी है। उनमें से साढ़े सात सैकड़ा सामान बीज में चला जायगा। बाकी सामान, दूध-घी तथा घरों में जो फल की

उत्पत्ति होगी उससे कुल मिलाकर ३१३६६) किसान को साल भर में मिलेगा। इसके अलावा इन परिवारों की कुछ दूसरी आमदनी भी इस प्रकार होगी। चर्खा—२३८ स्त्रियां २७॥।८ १६ नं० के सूत की

मजदूरी दर ३॥) सेर	२७७५)
चर्खा—स्कूल में ७१ लड़कों का २५० दिन का १३॥।८५	१३८७॥)
ईंट—३,००,००० की मजदूरी दर १।-)	४००)
अनाज ढुलाई १२८ गाड़ी	१२८)
कीमत मरे हुए जानवर	६३४॥)
लड़कों की मजदूरी खेती में	१००)
	५४२५)
खेती आदि में आमदनी	३१३६६)
	३६७६४)

इस प्रकार से किसानों के प्रति परिवार की आमदनी ६६९) होगी। इसमें से उनकी खेती सम्बन्धी निम्नलिखित खर्च घटेगा—

हल, रहट तथा खेती के औजार	७)
बैल भैंसा	५॥।)
गाय	३॥)
भैंस	२)
लगान व कर	२०)
झगड़ा मुकदमा आदि	४)
खाद	५)
सफर	२)
बैलगाड़ी	१।)
रिजर्व	१२॥)
घरेलू नौकर नौकरानी	२५)
नाई धोबी	१२)
जोड़	१००।)

बैल, भैंसा, गाय तथा भैंस के लिए खर्च का हिसाब जोड़ते समय इनकी आयु दस साल मानी गई है।

इस तरह सब खर्च काट कर एक किसान परिवार की आमदनी ५६६) और घर खर्च कुल ५००) वार्षिक होगा। इसमें से सूखा बाढ़ आदि दुर्घटनाओं के लिए ६) और सुरक्षित करने पर भी ६०) बचता है। यह रकम पूंजी-खर्च के काम आयगी। पूंजी खर्च किस प्रकार से होगा इसके ब्योरे पर उस समय प्रकाश डालूँगा जब पूंजी के प्रश्न पर विचार करना होगा। फिलहाल इस रकम को यहाँ ही छोड़ना ठीक होगा।

आबादी का बँटवारा—हर गाँव में ६४ परिवार की बस्ती होती है। हमने अब तक ५५ परिवारों के लिए अपनी कल्पना के अनुसार समाज में सुख-शान्ति से गुजर करने की व्यवस्था किस प्रकार से हो सकती है, उसकी रूप-रेखा बनाने की चेष्टा की। तुम पूछोगी, बाकी ३६ परिवारों का क्या होगा? हाँ, बाकी लोगों को भी ऐसा काम मिलना चाहिए जिससे वे भी किसानों के समान स्थिति में रह सकें। खेती के अलावा निम्नलिखित विभागों के काम और हैं:—

१—उद्योग,
२—यातायात,
३—जंगल,
४—बागबानी,
५—सड़क मरम्मत,
६—व्यापार,
७—घरेलू सेवा,
८—वैद्य, डाक्टर, हकीम,
६—अध्यापक,
१०—सरकारी नौकर, फौज तथा अन्य पेशा,
११—विविध फुटकर काम

अब प्रश्न यह उठता है कि ३६ परिवारों को इन कामों में किस तरह बाँटने पर सब को सन्तोषजनक काम मिल सकेगा। इस प्रश्न पर फिर किसी दिन विचार करूँगा। इस पत्र को इतनी तालिकाओं से भर दिया है कि इतने पर विचार करने में तुमको काफी समय लग जायगा, अब और ज्यादा बोझ डालना ठीक नहीं होगा। अतः आज विदा होता हूँ। सबको नमस्कार।

[१३]

ग्राम-उद्योग तथा अन्य पेशे

२६ - ६—४४

पिछले पत्र में किसान परिवारों के अलावा बाकी लोक-संख्या को किस तरह काम में लगाया जाय, इस प्रश्न पर प्रकाश डालने का वादा किया था। विभिन्न कार्यक्रमों के नाम भी भेजे थे। इस पत्र में उन कार्यक्रमों पर थोड़ा-थोड़ा करके अपना विचार प्रकट करने की चेष्टा करूँगा। वस्तुतः संसार में जितने प्रकार के उद्यम हैं उन्हें प्रधानतः दो श्रेणी में बाँटा जा सकता है। (१) उत्पत्ति और (२) सेवा। खेती, बागवानी, जंगल, उद्योग आदि काम प्रथम श्रेणी के, और यातायात, व्यापार, घरेलू सेवा, वैद्य, डाक्टर, हकीम, अध्यापक, सरकारी नौकर, फौज तथा अन्य पेशे सभी जनसेवा श्रेणी के अन्तर्गत कहे जा सकते हैं। खेती और उद्योग दोनों एक ही श्रेणी की चीजें हैं। अतः खेती के बाद उद्योग पर ही विचार करना ठीक होगा। पहले किसी पत्र में मैंने उन उद्योगों की एक तालिका लिख भेजी थी जो प्रधानतः गाँवों में चल सकते हैं। आशा है, वह तालिका तुम्हारे पास मौजूद होगी। उनके अलावा कुछ स्थानीय उद्योग भी होना सम्भव है। लेकिन वे बहुत थोड़े होंगे। सब से पहले हमें उन उद्योगों पर विचार करना चाहिए जो खेती से विशेष सम्बन्धित हैं या जो भोजन-सामग्री के काम की हों। तेल घानी, चीनी बनाना तथा अंडा, मछली-गोश्त का काम ऐसा काम है।

१—तेल घानी—खेती की पैदावार की ओर देखने से मालूम होगा कि हमारे प्रान्त के प्रति ग्राम के तेलहन की उत्पत्ति (बीज काट कर) वार्षिक-५६१ऽ मन है। रोशनी के लिए नीम आदि के ८५ऽ तेल की आवश्यकता होगी यानी करीब २५०ऽ नीम के बीज की पेराई करनी है। इसके अलावा साबुन के लिए भी तेल चाहिए। ठीक तरह

से सफाई रखने के लिए प्रति परिवार को मासिक २ सेर साबुन तो लग ही जायगा। इस तरह गाँव के खर्च के लिए हमें वार्षिक ५६८) साबुन चाहिए। शहर के लिए २० सैकड़ा अधिक उत्पत्ति करनी है यानी प्रति ग्राम ६७८) साबुन बनाने की आवश्यकता है। इतने साबुन के लिए १००८) क. करीब महुआ, गरी आदि तेलहन से तेल निकालना पड़ेगा। इस प्रकार हमें हर गाँव के लिए ६४१८) तेलहन पेरने की व्यवस्था करनी है। तुमने मगनवाड़ी की घानी का काम तो देखा ही है। वहाँ एक घानी से प्रतिदिन १८) तेलहन पेरा जाता है। इस तरह ढाई परिवार तेल पेरने के काम में लग सकते हैं।

२—चीनी बनाने का काम—हमारे प्रबन्ध से ४६२॥८) मन राब प्रति ग्राम तैयार होगी। इतनी राब से चीनी बनाने के लिए १ परिवार का ४ माह का समय लग जायगा। तुमको मालूम है कि चीनी का काम पूरे साल भर नहीं होता। अतः एक ही परिवार को घानी और चीनी का काम बताया जा सकता है। इस हिसाब से प्रति ग्राम .५ (आधा) परिवार से चीनी का काम हो सकता है।

३—गोश्त, अंडा, मछली आदि का काम—गाँव वालों की खाद्य-सामग्री की तालिका में इस प्रकार की भोजन-सामग्री का खर्च पूरे गाँव के लिए २००) बताया गया है। एक परिवार के गुजर के लिए ५००) चाहिए। अगर दो गाँव में एक परिवार इस काम में रहे तो उनकी आमदनी निम्नलिखित रूप से होगी।

मछली आदि	१८० × २	=	३६०)
चर्खा ॥८४		=	६०)
लड़कों का चर्खा ८८		=	२०)
सिंघाड़ा आदि फल		=	७०)
	जोड़	=	५१०)

इसी प्रकार गाँव के कपड़े ११८४८ गज़ और शहर के हिस्से के ३३१७ गज़ मिलाकर १५,१६५ गज़ कपड़े बुनने होंगे। अगर एक परिवार सप्ताह में ६० गज़ बुन सके तो इतने के लिए ६ परिवारों की आवश्यकता होगी। इस तरह हर उद्योग की आवश्यकता की जाँच करके हिसाब करना होगा कि किस उद्योग में प्रति ग्राम कितने परिवार लग सकते हैं। इसके लिए सही हिसाब तो भविष्य में राष्ट्रीय सरकार स्थिति की जाँच करके ही बना सकेगी। संकेत रूप से मैंने जो हिसाब बनाया है उसका ब्यौरा इस प्रकार है :—

उद्योग	सं० परिवार	उद्योग	सं० परिवार
तेल घानी	२.५	दरी कालीन	.२५
चीनी का काम	.५	सिलाई	.५
बुनाई	६.०	अंडा मछली गोश्त	.५
साबुन	.६६	रंगाई छपाई	.०५
कागज	.५६	सींग का काम	.०५
चमड़ा सिझाना	.२	बाध रस्सी आदि का काम	.५
सरेस ताँत, जूता आदि	.५	दियासलाई बनाना	.०४
लोहारी	१.५	रोशनाई बनाना	.०२
बढ़ईगीरी	१.५	शीशा चूड़ी आदि	०.५
भेंड़ पालना कम्बल बनाना	१.०	ठठेरी	.२०
कुम्हारी	.५	सोनारी	.०६
पेंसिल बनाना	.००५	तमोली	.०५
बाँस बनाना	.००५	बारी	.०२
संगतराशी	.०२	राजमिस्त्री	.५०
माली दवा जड़ी-बूटी	०.५	अन्य उद्योग	१.००
		खाद बनाना	.५०
			१६.७६५

इसके उपरान्त बागवानी तथा जंगल में २.५+३.५=६ परिवार लगेंगे। इस हिसाब से उत्पत्ति के काम में कुल ८०.७६५ परिवार लग जायँगे।

हमारी योजनानुसार जब लोगों की आर्थिक दशा सुधरेगी तो जन-सेवा श्रेणी का काम भी बढ़ेगा। अपनी आवश्यकताओं को देखते हुए मैंने इन बातों को निम्नलिखित रूप से बाँटने का सोचा है।

काम	प्रान्त की आबादी का मौजूदा अनुपात प्रतिशत (१९३१)	मेरे प्रस्तावित परिवार (केवल गाँव के)
यातायात	.८	.२०५ परिवार
घरेलू सेवा (नौकर, चाकर ५, धोबी १, नाऊ १)	२	७.० ,,
व्यापार	४.७	१.० ,,
वैद्य, हकीम, डाक्टर	६.५	.२ ,,
अध्यापक, सरकारी		२.५ ,,
नौकरी फौज तथा अन्य पेशा		२.० ,,
विविध	२.५	.३ ,,
	जोड़	१३.२०५ ,,

ऊपर बताये हिसाब के अनुसार गाँव की कुल आबादी का काम निश्चित हो जाता है। तुम कहोगी कि गांव की कुल आबादी इस प्रकार के कामों में फँस जाती है तो बड़े उद्योग, जो केन्द्रीय व्यवस्था से ही चलना सम्भव हैं, किस तरह चलेंगे। उनके लिए आदमी कहाँ से आवेंगे। तुम्हारी ऐसी शंका स्वाभाविक है। लेकिन बुनियादी

आवश्यकता की सभी सामग्री की ग्राम-उद्योग द्वारा उत्पत्ति होने पर आज की शहरी आबादी सब खाली हो जायगी। उनकी तादाद इतनी काफी होगी कि बड़े उद्योगों की जरूरतें पूरी हो जायँगी अतः हमको इनकी विशेष चिन्ता नहीं है।

मशीन बनाम; हाथ का उद्योग—अभी यहाँ कुछ जेल के साथी बैठे थे। वे मेरी कल्पना को देखकर हँसते थे। उनका कहना था कि "आज के वैज्ञानिक और मशीन युग में आप यह क्या प्रस्ताव करने जा रहे हैं। क्या आप मनुष्य समाज को फिर २००० वर्ष पीछे ले जाना चाहते हैं?" तुम ऐसी बात तो नहीं कहोगी लेकिन चारों तरफ एक ही आवाज़ सुनकर कहीं तुम्हारे मन में भी सन्देह पैदा न हो जाय। भाई, मैं मानव समाज को २००० वर्ष पीछे नहीं ले जा रहा हूँ। मैं केवल उसे उस दलदल से निकालना चाहता हूँ जिसमें वह फँस गया है। मशीनों के उद्योगों के कारण समाज जिस बेकारी और गुलामी में फँस गया है उससे निकलने का एक मात्र उपाय ग्राम-उद्योग ही है, यह मैंने पहले एक पत्र में लिखा था। अगर स्वावलम्बन के बुनियादी उसूलों को छोड़ भी दें तो भी परिस्थिति का तकाजा यही है कि हम ग्राम-उद्योग से ही अपनी उत्पत्ति करें। आजकल वास्तविक स्थिति के वैज्ञानिक विचार की बात बहुत सुनी जाती है। देखना यह है कि भारत की आबादी की वास्तविक स्थिति क्या है और उस स्थिति पर वैज्ञानिक विचार हमको कहाँ ले जाता है। मैंने पहले कहा है कि भारत की आबादी, भूमि, तथा ऐतिहासिक परम्परा दूसरे देशों से भिन्न है। हम कोई भी योजना बनायेंगे तो उसे अपनी आबादी की स्थिति की दृष्टि से ही बनाना होगा। अगर हम उद्योगों को मशीनों से ही चलाना चाहें तो अपनी उत्पत्ति के लिए कितने आदमी चाहिएँ उसका हिसाब कोई बता सकता है? अभी जो बम्बई योजना का बहुत प्रचार है उसमें उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि खेतों से ३०% आबादी निकाल ली जायगी। उन्होंने भी इस बात का

ख्याल नहीं किया कि उनकी बताई आवश्यकता के लिए जितनी उत्पत्ति की आवश्यकता होगी उतनी उत्पत्ति वर्त्तमान सुधरी हुई मशीनों द्वारा करने में खेती से निकली कुल सक्षम जन-संख्या पूरी तौर से लग जायगी या नहीं। फिर जब मशीनों के ही सिद्धान्त पर अपनी आर्थिक व्यवस्था का आधार बनाया जायगा तो स्वभावतः खेती भी मशीनों से ही करनी होगी; और आधुनिक अर्थशास्त्री की राय भी यही है। उस हालत में बाकी आबादी, जो खेती के लिए छोड़ी जा रही है उनको पूरा काम मिलेगा या नहीं, इसका जवाब कोई निश्चित रूप से हिसाब लगाकर नहीं देता है। यह कहा जा सकता है कि फिलहाल खेती का साधारण सुधार करके हम केवल उत्पत्ति ही बढ़ायेंगे और उद्योग के काम मशीन से करेंगे; फिर समय आने पर खेती भी मशीनों से करने की समस्या पर विचार करेंगे। लेकिन उत्पत्ति बढ़ाने के लिए कुछ साधारण सुधार खेती के तरीके में करना ही होगा। आज के प्रकार में बहुत सामान्य सुधार करके ही आज की खेती में कितने आदमी चाहिएँ, उसकी मासिक हाजिरी की तालिका मैंने पिछले पत्र के साथ तुमको भेजी थी। खेती की उसी गति के अनुसार ही, दूसरे उद्योगों के न होने पर, प्रति कार्यकर्ता ४ एकड़ जमीन की खेती कर सकता है। भारत में लगभग २८ करोड़ एकड़ में खेती होती है। मौजूदा आबादी को नया खेत प्राप्य नहीं; यह मैंने पहले ही बताया है। जो कुछ जगह है भी उस पर जंगल, बाग और नई बढ़ती आबादी के लिए भोजन का काम मुश्किल से ही पूरा होगा। अतः वर्त्तमान स्थिति में ७ करोड़ सक्षम आदमी खेती के लिए आवश्यक है। सन् १९४१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार भारत की कुल आबादी ३९ करोड़ के करीब है, जिसमें ब्रिटिश भारत में ३० करोड़ है। हमारे यहां १५ से ५५ साल तक के लोग सक्षम कहे जा सकते हैं। वैसे तो बहुत से पंडितों की राय से ४० वर्ष तक ही भारत के लोग सक्षम रहते हैं। लेकिन ऐसा होना समाज की रोगी

अवस्था ही मानी जा सकती है। फिर कितनी उम्र तक सक्षम है इसके झगड़े में पड़ने से क्या लाभ। अगर ४० वर्ष तक ही सक्षमता की उम्र मानी जाय तो उसके ऊपर वाले भी वेकार तो रहेंगे ही। हमको यह देखना है कि हम कितने आदमियों को काम दे सकते हैं और कितने वेकार वाकार आदमियों की कमाई पर वोझ वनकर पड़े रहते हैं। यह वोझ सवल आदमियों का है या पंगुओं का, इस वहस में पड़ने से स्थिति कुछ वदल थोड़े ही जायगी? मैं तो १५ से ५५ साल तक के लोगों को सक्षम मानता हूँ। खेती के काम में तो मैंने ६० वर्ष तक के लोगों को सक्षम माना है। भारत की उम्र के अनुपात से हिसाव लगाने पर मालूम होता है कि यहाँ कुल २१ करोड़ सक्षम स्त्री-पुरुष हैं। ७ करोड़ खेती में काम करने वालों को काटकर १४ करोड़ को उद्योग में काम देना होगा। अगर मशीन से उत्पत्ति के काम में इतने लोगों को लगाना चाहोगी तो जो माल पैदा होगा उसकी खपत कहां होगी? संसार में पाँच ही मुल्क अपनी औद्योगिक उत्पत्ति से सारे संसार के वाजारों को घेरे हुए हैं। केवल संसार के वाजार घेरे हुए हैं, ऐसी ही वात नहीं। वीच-वीच में उत्पन्न सामग्री को नष्ट करके अतिरिक्त उत्पत्ति की समस्याओं को भी हल करना पड़ता है। ये पाँच वड़े देश हैं—ग्रेट वृटेन, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस और जापान। इन देशों के तमाम उद्योग-व्यापार व यातायात मिलाकर कितने आदमी काम करते हैं जानती हो? नीचे के हिसाव से उसका पूरा व्यौरा मालूम हो जायगा :—

औद्योगिक देशों के श्रमिकों की संख्या

नाम देश	उद्योग में लगे श्रमिक	व्यापार तथा यातायात में लगे श्रमिक
ग्रेट वृटेन	६१,४१,८००	४०,००,०००
युक्तराष्ट्र अमेरिका	१,५४,७५,६००	१,२०,००,०००
जर्मनी	१,३२,४६,२००	५२,००,०००

फ्रांस	७१,१४,८००	३६,००,०००
जापान	५७,१७,५००	५,००,०००
जोड़	५,०६,६८,६००	२,५३,००,०००
कुल जोड़	७,५६,६८,६००	

यह हिसाब दस साल पहले का है। बाद को लड़ाई की तैयारी के लिए कुछ आदमी और बढ़े होंगे। अब उद्योग, यातायात और व्यापार मिलाकर कुल ७,५६,६८,६०० आदमी की उत्पत्ति की समस्या हल करने के लिए आज हिंसा का इतना बड़ा तांडव हो रहा है तो भारत के १४ करोड़ आदमियों की उत्पत्ति संसार को कहां ले जायगी, उसकी कल्पना तो करो।

फिर इतने आदमी लगाने के लिए पूंजी कितनी चाहिए, इसका हिसाब भी करना कठिन है। बम्बई योजना वाले जितनी उत्पत्ति करना चाहते हैं उसके लिए भी तो विदेश पर भरोसा करना होगा। अगर सब कारणों को छोड़ भी दिया जाय तो भी पूंजी की स्थिति देखते हुए हमको ग्राम-उद्योग के आधार पर ही आवश्यक सामान बनाकर केवल उतने उद्योगों को केन्द्रीय मशीन के लिए छोड़ देना चाहिए जो ग्राम-उद्योगों के जरिये हो नहीं सकते। ग्राम-उद्योग और केन्द्रीय उद्योग की पूँजी की आवश्यकता में कितना अन्तर है मालूम है? एक कपड़े के उद्योग का ही हिसाब लगाने पर यह बात साफ हो जायगी। देखो—

कपड़े की मिल का हिसाब—भारत में लगभग ४०० मिलें हैं जिनमें १ करोड़ तकुये और २ लाख करघे हैं। इनमें कुल पांच लाख आदमी काम करते हैं और स्थायी पूंजी १०० करोड़ रुपया की है।

बम्बई योजनानुसार भारत में वार्षिक ३० गज प्रति व्यक्ति के हिसाब से लगभग १२०० करोड़ वर्ग गज कपड़े की आवश्यकता है।

अतः कुल उत्पत्ति के लिए हमें १० लाख और आदमी तथा २० करोड़ और स्थायी पूँजी लगानी पड़ेगी।

खादी का हिसाब—१२०० करोड़ वर्ग गज कपड़े के लिए १२०० × ३४०० करोड़ गज सूत की जरूरत होगी। १ आदमी एक दिन में ३४०० गज कातने पर कुल उत्पत्ति के लिए ४ करोड़ आदमियों की आवश्यकता होगी। स्थायी पूंजी निम्नलिखित हिसाब से लगेगी।

कताई	४ करोड़ चर्खा सामान	८ करोड़ रुपया
बुनाई	६० लाख कर्घा	१२ करोड़ रुपया
		कुल २० करोड़ रुपया

वस्तुतः मशीन और ग्राम-उद्योग की आवश्यक पूँजी में इतना अन्तर है कि अगर ग्राम-उद्योग की मार्फत उत्पत्ति न करें तो चीन का जो डर मैंने पहले बताया है वही डर हमको भी है। हमको भी पूँजीवादी देशों के आर्थिक साम्राज्य के अन्तर्गत हो जाना पड़ेगा। बम्बई योजना के निर्माताओं ने सम्भवतः आबादी और पूँजी की समस्या देखकर ही कहा है कि उनको ग्राम-उद्योग से भी कुछ उत्पत्ति करनी है। ग्राम-उद्योग की आवश्यकता बताते हुए वे कहते हैं—"हमारी योजना के औद्योगिक संघटन का एक जरूरी हिस्सा यह है कि बड़े उद्योगों के साथ-साथ छोटे-छोटे कुटीर-उद्योग भी शामिल रहेंगे। इसका महत्व केवल आबादी को काम में लगाने का नहीं बल्कि पूंजी की आवश्यकता कम करने के लिए भी है।" लेकिन वे यह नहीं बता सकते हैं कि कौन-कौन उद्योग गृह-उद्योग के आधार पर चलें और कौन-कौन मशीन उद्योग से। पता नहीं वे इस बात पर भी स्पष्ट विचार रखते हैं या नहीं कि जिस उद्योग को ग्राम-उद्योग के आधार पर संघटित करना होगा उसके लिए मशीन की उत्पत्ति बन्द की जाय या दोनों को साथ-साथ चलाया जाय। अगर साथ चलाये गये तो

दोनों में खींचातानी होकर दोनों को हानि पहुँचेगी। अतः उनके अनुसार भी ग्राम-उद्योग का क्षेत्र अलग ही करना होगा। केवल बेकारी तथा पूँजी की बात थोड़े ही है। हमको तो उत्पत्ति की क्रियाओं को ऐसा बना रखना है जिससे जनता में मनुष्यता का विकास हो, उसका खातमा नहीं। तुमने फैक्टरी के मुहल्लों के लोगों को देखा होगा। उनसे बात करने से मालूम होता है, वे भी कुछ मशीन के पुर्जे से हो गये हैं। हम तो भावना-प्रधान देश के वासी हैं; लेकिन वैज्ञानिक युरोप के लोग भी महसूस करते रहे हैं कि मशीनों के साथ आदमी भी मशीन हो जाता है। कार्ल मार्क्स ने मशीन की उत्पत्ति और दस्तकारी की तुलना करते हुए अपने ग्रंथ 'क्यापिटल' (पूंजी) के प्रथम भाग में कहा है—In manufacture and in handicrafts the worker uses a tool, in the factory he serves a machine. In the former case the movements for the instruments of labour proceed from the worker but in the latter the movements of the worker are subordinate to those of the machine, In manufacture the worker is part of a living mechanism. In factory there exists a lifeless mechanism independent of them, and they are incorporated into that mechanism as its living appendages, A dull routine of a ceaseless drudgery and toil, in which the same mechanical process is incessasantly repeated resembles that of Sisyphus—the Toil like the rock, recoils perpetually upon the wearied operatries. While labour at the machine has a most depressing efect upon the nervous system, it at the same time hinders the much form activity of the muscles and prohibits free bodily and mental activity. Even the lightening of the labour becomes a means of Torture for the machine does not free the worker from his work but merely deprives the work of interest :"—

अर्थात् "निर्माण और दस्तकारी में श्रमिक औज़ार का उपयोग

करता है; कारखाने में वह मशीन की सेवा में लगता है। पहले में श्रम के साधनों की गति का स्रोत श्रमिक है; पर दूसरे में श्रमिक की गति मशीन के अधीन होती है। गृह-उद्योग में श्रमिक एक चेतन यन्त्र-रचना का अंग होता है; कारखाने में उनसे स्वतंत्र एक निर्जीव यान्त्रिकता होती है और वे जीवित पुछल्लों की तरह उस यान्त्रिकता से बँधे होते हैं। लगातार श्रम और मशक्कत का रूखा कार्यक्रम, जिसमें एक ही यान्त्रिक परिपाटी बार-बार बराबर दोहरानी पड़ती है सिसिपुस की भांति जो नीचे से धकेल कर चट्टान को बार-बार ऊपर पहाड़ की ओर ले जाता था और वह उसी को धकेलता हुआ नीचे आ जाता था,—उसकी मशक्कत उस चट्टान की भांति उसके ही थके अंगों पर गिरती है। मशीन पर श्रम के करने का श्रमिक के नाड़ी-मंडल पर तो बहुत बुरा प्रभाव पड़ता ही है, साथ ही पुट्ठों वा स्नायुओं की क्रिया में भी बाधा डालता है और स्वतंत्र शारीरिक तथा मानसिक कर्तृत्व को रुद्ध कर देता है। मशक्कत को हल्का करना भी उत्पीड़न का साधन बन जाता है क्योंकि मशीन श्रमिक को उसके काम से छुट्टी नहीं देती बल्कि काम में से दिलचस्पी दूर कर देती है।"

स्पष्ट है कि जनता के मनुष्यत्व को कायम रखने और उसका विकास करने के लिए भी उत्पत्ति के काम में ग्राम-उद्योग का प्राधान्य होना आवश्यक है।

ऊपर की बातों से स्पष्ट हो जायगा कि भारत की आर्थिक व्यवस्था के लिए आज कोई भी योजना बने उसमें प्रधानता खेती व ग्राम-उद्योग की ही होगी।

केन्द्रित बनाम विकेन्द्रित उद्योग—ग्राम उद्योगों के संघटन के सिलसिले में एक और प्रश्न उठता है। हमारे उद्योगों के लिए कग़ज़ाबाद, जुलाहाबाद, साबुनपुर आदि अलग अलग और बड़ी-बड़ी, बस्तियाँ बसाई जाँय या उद्योगों को गाँव-गाँव फैलाकर संघटित किया जाय। अलग अलग बस्ती बसा कर काम चल सकता है।

शायद एक दूसरे के अनुभव से कारीगर अधिक कुशलता भी हासिल कर सकते हैं। लेकिन ऐसा करने से फिर हम को मध्यस्थता की संथाओं को मजबूत करना होगा और केन्द्रीय व्यवस्था के अधीन होना पड़ेगा। यह ठीक है कि अभी मैंने आबादी और पूँजी का हिसाब करके यह बताने की चेष्टा की कि अगर हम आज मशीनों द्वारा उत्पत्ति की योजना बनावें तो एक तरफ बेकारी की समस्या जटिल होगी और दूसरी तरफ पूँजी के लिए अन्य मुल्कों के चंगुल में फँस जाना पड़ेगा। मैं ऊपर के हिसाब से यह बताना चाहता था कि अगर थोड़ी देर के लिए स्वावलम्बन तथा जन-साधारण की स्वतन्त्रता के प्रश्न को छोड़ दें तो भी मशीनों द्वारा उत्पत्ति की योजना इस देश में व्यावहारिक नहीं होगी। लेकिन ग्राम-उद्योग द्वारा उत्पत्ति का मेरा दृष्टिकोण तो दूसरा ही है। मैं तो स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर ही अपनी योजना बना रहा हूँ। अतः हमारा संघटन इस ढंग का होना चाहिए जिससे जहाँ तक सम्भव हो उत्पादक और ग्राहक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहे। तभी बुनियादी स्वावलम्बन की स्थापना हो सकती है। फिर तुम लोग तो तालीमी संघ के संचालक हो। तुम्हीं लोगों का कहना है कि बौद्धिक विकास उत्पत्ति की प्रकिया के अनुभव के साथ-साथ होता है। अतः अगर जनता में कला, कौशल, शिक्षा और संस्कृति को सार्वजनिक बनाना है तो उत्पत्ति की प्रक्रियाओं के अनुभवों को सार्वजनिक रूप से फैला रखना होगा। ताकि बचपन से ही मनुष्य उद्योग-प्रधान विचित्रता के वायुमंडल में रहकर बौद्धिक विकास कर सकें। मैं तो सामान्य ग्राम-सेवक हूँ। आज संसार के सभी शिक्षा-शास्त्रियों का कहना है कि वास्तविक शिक्षा तो उद्योग के वायुमंडल में दस्तकारी के अनुभव से ही हो सकती है। श्री कार्ल मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध किताब 'क्यापिटल' के प्रथम भाग में उद्योग की मार्फत शिक्षा की खूबी बताते हुए कहा है:— "This will be an education which in the case of every child over a certain age will

combine productive labour with instruction and physical culture not only as a means of increasing social production but as *the only way of producting fully developed human being."* अर्थात् यह एक ऐसी शिक्षा होगी जो एक विशेष उम्र के ऊपर बच्चों के लिए उत्पत्ति के साथ-साथ बौद्धिक शिक्षा तथा शरीर-सुधार का काम करेगी। यह न केवल समाज में उत्पत्ति की वृद्धि का जरिया होगी बल्कि पूर्ण मनुष्यत्व के विकास की एक मात्र राह होगी।" मैं इस विषय पर तुमसे अधिक बहस नहीं करूँगा क्योंकि तुम्हारी कमेटी वाले ही न कहते हैं—"आज कल के करीब-करीब सभी शिक्षा-शास्त्री इस बात की सिफारिश करते हैं कि बच्चों की शिक्षा किसी उपयोगी दस्तकारी के जरिए होनी चाहिए।"

लोग कह सकते हैं कि केन्द्रित बस्ती बनाकर आवश्यकता के लिए उत्पत्ति करने पर भी तो विद्यालयों में दस्तकारी की प्रक्रियाओं को सिखाया जा सकता है और उनकी मार्फत बौद्धिक विकास हो सकता है। वस्तुतः इस तरह तनहाई में बैठकर बौद्धिक विकास नहीं हो सकता; बौद्धिक विकास तो वायुमंडल पर निर्भर करता है। अगर वायुमंडल में उद्योग की विचित्रता न हो और केवल खेती का एक रूखा जीवन हो और कुछ घंटे स्कूलों में चर्खा आदि दस्तकारी से परिचय हो तो वैसी शिक्षा वास्तविक जीवन की शिक्षा न होगी। संयुक्त प्रान्तीय सरकार की ओर से आचार्य नरेन्द्रदेव जी की प्रधानता में जो प्राथमिक शिक्षा कमेटी बनी थी उसका कहना है—"जिस शिक्षा में बच्चा ही दिलचस्पी का केन्द्र होगा उसको बच्चे का प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण और बच्चे पर उसकी प्रतिक्रिया की बात का ख्याल करना ही पड़ेगा।"

अगर हम उत्पत्ति को केन्द्रित रूप देकर केवल स्कूलों में थोड़ी दस्तकारी की शिक्षा देते जायँ तो वह दस्तकारी बच्चों के लिए जड़वत् श्रम हो जायगी, न कि समाज-जीवन की वास्तविक समस्या के हल

की चेष्टा। हाथ की कला का विकास भले ही हो जाय, बुद्धि तथा चिन्ता-शक्ति का विकास नहीं हो पावेगा। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक मि० डेवी ने शिक्षा के सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए कहा है—" "The School itself shall be made a genuine form of active community life, instead of a place set apart in which to learn lessons."

(विद्यालय ही क्रियाशील सामाजिक जीवन का एक वास्तविक रूप होगा, न कि सबक याद करने के लिए एक अलग सा स्थान।")

तुम लोगों की बेसिक शिक्षा-पद्धति में एक बात और कही जाती है कि ७ साल के बच्चे स्कूल में भर्ती होने से पहले भी समाज के स्वाभाविक वायुमंडल से शिक्षा पायेंगे। रूसो का कहना है—"दि चाइल्ड इज़ फर्स्ट रेस्टलेस, एँड देन क्यूरियस।" ("बच्चा पहले चंचल और फिर जिज्ञासु होता है।") इस जिज्ञासा के काल में अगर उसे केवल एक रूखा खेती का काम ही देखने को मिले तो उसके जानने की इच्छा को पूरी खूराक कहाँ से मिलेगी? २० साल पहले मैं जब गाँव के बच्चों से खेला करता था तो वे सवाल करके मुझको तंग कर देते थे। उस समय मैं यही सोचता था कि गाँव के इस उदासी भरे जीवन में इनके सवालों का जवाब कौन देगा। उन दिनों बच्चों को मैंने कैसा देखा था, यह आगरा जेल से लिखे पत्रों में बयान कर चुका हूँ।

फिर सिर्फ बच्चों के बौद्धिक विकास की समस्या से प्रश्न थोड़े ही खत्म हो जाता है। स्कूल छोड़ने के बाद भी तो उनके लिए एक मात्र जरिया ग्रामीण समाज ही रह जाता है। उस अवस्था में भी अगर उन्हें अनुभव की विचित्रता के लिए उचित वायुमंडल न मिल सके तो उन की बौद्धिक प्रगति तो दूर रही विद्यालयों से प्राप्त बुद्धि पर भी काई जमती जायगी। इन तमाम बातों को देखते हुए मेरी निश्चित धारणा है कि हमारी उत्पत्ति का प्रकार केवल "दस्तकारी" न होकर

"ग्राम-उद्योग" होना चाहिए और उसका संघटन आवश्यकता के अनुपात से गाँव-गाँव में फैलाकर होना चाहिए।

अब तक मैंने जो हिसाब बताया है वह सारी आबादी के आवश्यक सामान, उसकी प्राप्ति के उपाय और जनसंख्या के लिए कार्यक्रम का हिसाब था। हमको इस बात पर भी विचार करना होगा कि इन तमाम उद्योगों के संचालन के लिए संघटन कैसा हो। शुरू करते ही सारा समाज एकाएक कुछ सम्पूर्ण स्वावलम्बी तो नहीं हो जाता। हमको उद्योगो के लिए कारीगर तैयार करना है। उनके लिए कच्चे माल का स्टाक करना है; कुछ सामानों को स्थानान्तरित करना है। ग्रामीण आवश्यकता पूरी होने पर बढ़ती मालों को बाहर ले जाकर बेचना है। इन तमाम बातों को करने के लिए कोई संघटन, व्यवस्था और कुछ संचालन की आवश्यकता होगी ही। इस बारे में मैंने अपना विचार संक्षेप में पहले भी प्रकट किया था। उद्योगों को गृह-उद्योग, कुटुम्ब-उद्योग तथा ग्राम-उद्योग के रूप में संचालित करने के विभिन्न तरीकों का जिक्र किया था। खेती में जिस प्रकार सहयोग के आधार पर सम्मिलित खेती का प्रबन्ध करने का प्रस्ताव है उसी तरह उद्योगों के लिए भी भिन्न-भिन्न सहयोग-समितियाँ बनानी पड़ेंगी। प्रथमतः इन समितियों की देख-भाल, उनके लिए कच्चे माल आदि की व्यवस्था, बाजार की व्यवस्था आदि बहुत से काम सरकारी महकमों को करने होंगे। फिर क्रमशः ये समितियाँ स्वावलम्बी होती जायँगी।

अब देखना यह है उत्पत्ति की प्रक्रिया को उत्पादक व्यक्तिगत व स्वतन्त्र रूप से चलावे या समिति द्वारा उसका संचालन हो? विकेन्द्रीकरण का पूर्ण आदर्श तो अन्तिम व्यक्ति-स्वतन्त्रता है। अतः ग्राम-उद्योग का काम प्रधानतः व्यक्तिगत रूप से ही चलना चाहिए। केवल उन्हीं उद्योगों को समिति के संचालन में चलाना है जिसे कोई कुटुम्ब अकेला न चला सके। बिक्री के लिए जहाँ तक उत्पादक और

ग्राहक का प्रत्यक्ष लेन-देन हो सके वहां तक वे व्यक्तिगत रूप से अपना सम्बन्ध कायम रक्खें। लेकिन जहाँ बाहर भेजने की बात हो वहाँ व्यापारियों के बजाय उत्पादकों की समितियों की मार्फत ही लेन-देन करना होगा।

उद्योगों का सिलसिला—ग्राम-उद्योग के संघटन का सिद्धान्त निश्चित करने के बाद राष्ट्रीय सरकार को प्रान्त भर के मौजूदा ग्राम-उद्योगों के बारे में पूर्ण रूप से जांच करनी होगी। उनको देखना होगा कि (१) कौन-कौन उद्योग ऐसे हैं जो कुछ ठीक हालत पर अभी भी चल रहे हैं (२) कौन-कौन उद्योग मृतप्राय हालत में हैं और (३) कौन-कौन उद्योग बिल्कुल मृत हैं और (४) कौन-कौन उद्योगों को नये सिरे से चलाना है जो पहले कभी भारत में थे ही नहीं। इन बातों को देखकर उद्योगों के संघटन का सिलसिला जारी करना है क्योंकि इससे काम में सहूलियत होगी। कार्यक्रमों का सिलसिला निश्चित करते समय केवल उपर्युक्त बातों पर ही ध्यान होगा, ऐसी बात नहीं। आवश्यकताओं के महत्व पर भी कार्यक्रमों का सिलसिला निर्भर करता है। जिस चीज की आवश्यकता ज्यादा है, उसका संघटन पहले करना है। ठठेर का काम आज अपने प्रान्त में ठीक हालत में चल रहा है और चर्खा करीब मर चुका है लेकिन वस्त्र की आवश्यकता का महत्व देखते हुए हम चर्खे का संघटन पहले शुरू करेंगे। अतः योजना का ब्यौरा बनाते समय उद्योग की हालत तथा महत्व दोनों पर ध्यान रखना होगा।

उद्योगों की हालत की जाँच के साथ-साथ कच्चे माल की प्राप्ति के जरियों की जांच करनी होगी। अब तक हमको यह मालूम नहीं कि प्रान्त के जंगलों से क्या-क्या कच्चा माल किस परिमाण में मिल सकता है। इनकीपूरी तालिका बननी चाहिए। जितने उद्योगों को घसंटन करना है उनके लिए कौन-कौन कच्चा माल कितने परिमाण में चाहिए उसकी तालिका अलग से बननी चाहिए। फिर उनका

प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से अलग योजना बनानी होगी। इस प्रकार के उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त करने की व्यवस्था शुरू-शुरू में सरकार को ही करनी होगी।

जंगल की व्यवस्था—उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त करने का एक प्रधान जरिया जंगल है। अतः भविष्य में जंगलों की व्यवस्था के लिए काफी योग्य विभाग होना चाहिए। आज प्रान्त में जो जंगल विभाग है वह किसी काम का नहीं है। उनका काम देखने से मालूम होता है कि कोई ठेकेदार काम कर रहा है। उनका मुख्य काम है लकड़ी काट-काट कर बेचना और जितनी जगह खाली होती जाय उतनी में और पेड़ लगा देना। पिछले पत्र में कितना जंगल इस प्रान्त में है उसका हिसाब लिख भेजा था। उससे ज्यादा जंगल अब हो भी नहीं सकता। हमने अपनी ग्राम-सुधार योजना में मकानादि की जो आवश्यकता का अन्दाज़ किया है उस हिसाब से जितनी लकड़ी चाहिए उतनी लकड़ी जंगलों से लेने से आज के जंगलों की आयु कितनी रह जायगी, यह बताना कठिन है। उन पर मांग का बोझ पहले से बढ़ेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः जंगल विभाग को लकड़ी की व्यवस्था इस प्रकार करनी होगी जिससे बढ़ी मांग के होते हुए भी जंगल पर का बोझ इतना न हो जिससे काल-क्रम में जंगल ही खत्म हो जावें। इसलिए आज की तरह महकमा का काम केवल पेड़ काट कर बेचना नहीं है बल्कि उसे सुखा कर तथा रासायनिक और अन्य प्रक्रियाओं से उनकी आयु बढ़ा कर ग्राहक को देना है जिससे अधिक टिकाऊ होने से लकड़ी के इस्तेमाल में वृद्धि होने पर भी जंगलों पर मांग के बोझ में विशेष बढ़ती न हो सके।

तुम जंगली प्रान्त में रहती हो इसलिए जंगलों का अनुभव काफी होगा। तुमको मालूम है, पशुओं के चरने के लिए जंगल का एक खास इलाका होता है। दूर गांव की गाय-भैंस जब दूध देना बन्द कर देती हैं तो उन्हें दूसरी बिआन तक जंगल के पास के गांव में भेज देने की

प्रथा की बात सुनी ही होगी। लेकिन जंगली इलाकों की जो हालत आज है उस पर गाय भैंस टहल ही सकती हैं, चर नहीं सकती हैं। आज उस पर घास की खेती नहीं की जाती है। हमारी योजना में जितनी चरने की जमीन है उस पर संयोजित रूप से घास पैदा करने की व्यवस्था करनी होगी। इस प्रकार जंगल विभाग के जिम्मे तीन मुख्य कार्य होंगे—(१) उद्योगों के लिए कच्चा माल पैदा करना, (२) लकड़ियों की वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्था करना और (३) चरागाह का प्रवन्ध करना।

संक्षेप में मैंने उत्पत्ति-सम्बन्धी जितने कार्य-क्रम चलाने होंगे, उनका व्यौरा और किस तरह उनकी व्यवस्था की जायगी उसका कुछ संकेत इस पत्र में लिख भेजा। इतने से भविष्य में हमको जो योजना वनानी होगी उसका एक काम-चलाऊ आधार वन जाता है। इसके लिए मैंने उद्योगों की आवश्यकता और उनके लिए परिवारों की संख्या का जो हिसाव किया है वह विल्कुल आनुमानिक है। वास्तविक योजना वनाते समय इनमें कुछ हेर-फेर अवश्य होगा। लेकिन मेरा विश्वास है कि मूलतः विशेष परिवर्त्तन इस हिसाब में शायद ही हो। अतः इस हिसाव को काफी निश्चित संकेत तथा आधार तो तुम निधड़क मान सकती हो।

अव जन सेवा-सम्बन्धी कार्यक्रम बाकी रह गया। उनकी बाबत २।४ दिन में लिखूँगा। तुम मेरे पत्रों को साथियों को भी दिखाना। आज कल वापू जी रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर दे रहे हैं। वे तो हमेशा ही जोर देते रहे हैं लेकिन आज कल जो कांग्रेस जन बाहर हैं वे कुछ पहले से ज्यादा इस बात की ओर ध्यान दे रहे हैं। मेरे इन पत्रों से उन साथियों की कुछ सेवा हो जाय तो अच्छा हो। इसलिए ही मैं कह रहा था कि इन्हें अधिक से अधिक मित्रों को दिखा सको तो उपकार होगा। आज गर्मी बहुत रही है। अतः खतम करता हूँ।

सब भाई-बहिनों को मेरा सादर नमस्कार।

[१४]

जन-सेवा का कार्यक्रम

७—७—४४

हाँ, उस दिन जन-सेवा-सम्बन्धी कार्यक्रमों की बावत अपना विचार प्रकट करने को कहा था। ग्राम-सुधार के लिए यह कार्यक्रम निम्नलिखित विभागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) सफाई व स्वास्थ्य (२) शिक्षा और संस्कृति, (३) यातायात (४) आर्थिक लेन-देन, बैंक आदि (५) संघटन तथा शासन।

अब अच्छा यह होगा कि हम एक-एक विषय पर अलग-अलग विचार करें।

१. सफाई व स्वास्थ्य—आज कल विदेशी समालोचकों से सुर मिलाकर अपने यहां के शिक्षित लोगों का यह नारा हो गया है कि हमारे यहां के लोगों को प्रतिवेशी धर्म ('सोशल सेंस') नहीं है, वे केवल चौका साफ रखना जानते हैं इसलिए गांव भर में गन्दगी फैली रहती है। लेकिन क्या यह बात सही है? क्या भारत की सभ्यता में प्रतिवेशी धर्म का स्थान नहीं है? क्या यह गुण मानव-समाज को युरोप ने ही दिया है? मेरे ख्याल से ऐसी बात नहीं है। भारत सफाई तथा स्वच्छता का जितना पुजारी रहा है उतना सम्भवतः आज तक संसार में कोई जाति नहीं हुई है। आन्तरिक तथा बाहरी स्वच्छता ही भारत का प्रधान समाज-धर्म रहा है। केवल गाँव के अन्दर ही नहीं बल्कि जिससे गांव के चारों ओर की वायु शुद्ध रहे, उसकी फिक्र पंचायत को रखनी पड़ती थी। मुर्दा न गाड़कर जलाकर भस्म करने की स्वास्थ्यकर प्रथा केवल इस भारत में ही है। मृत पशुओं को दूर फेंकना पंचायती नियमों में ही शामिल था। केवल इतना ही नहीं भारत की सामाजिक प्रथा ने टट्टी, पेशाब, थूकना, खांसना, छींकना, मुँह खोल कर जम्हाई लेना आदि प्रत्येक अस्वास्थ्यकर क्रिया के लिए स्थान,

काल तथा रीति निर्धारित कर रक्खी थी। और हरेक भारतवासी ने इन बातों को संस्कारभूत बना लिया था। सफाई, स्वास्थ्य आदि के नियम उल्लंघन करने के लिए पंचायत की ओर से दंड भी स्थिर कर रक्खा था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में नावदान के नियमों को बयान करते हुए कहा गया है कि "प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिवेशी की जमीन से कम से कम ३ पदों की दूरी पर से ऐसा नावदान (नाली) बनाना होगा जिस से पानी सीधे नाली की ढाल से जोरों से बहता हुआ जाय या हमेशा नीचे गिरता रहे। इसका व्यतिक्रम होने पर ५४ पण का जुर्माना देना होगा।" इसी किस्म के बहुत से नियम बने थे। होली का होलिका जलाना, दीपावली की सफाई तथा सजावट सब है क्या चीज? सामाजिक सफाई ही न? धूप और हवाओं की रक्षा के लिए गांव के दक्षिण और पश्चिम दिशा में बाग लगाने आदि किसी ऐसे काम की मनाही है जिससे धूप रुक जाय। मनाही का नियम आज भी लोग बिना दंड-भय के पालन करते रहते हैं। हां, युरोप के लोग प्रतिवेशी धर्म-पालन करते हैं सजा के डर से और हमारे यहां संस्कृति और धर्म में ये बातें शुमार करके इन्हें सहज बनाया गया था। लेकिन प्रत्येक देश के उत्थान-पतन का समय होता है। मैंने पहले एक पत्र में लिखा था कि सदियों से लूट और शोषण के भार से हमारे गांवों के लोग गरीबी की दशा पार करके बेहोशी की दशा में पहुँच गये हैं। निराशा और बेहोशी में आदमी प्रतिवेशी धर्म ही क्या किसी भी धर्म की रक्षा नहीं कर सकता है। अतः यह कहना कि भारत की संस्कृति में प्रतिवेशी धर्म का कोई स्थान ही नहीं है, मिस मेयो के जातीय प्रचार के साथ बह जाना ही है। आचार, विचार, रीति व नीति है क्या चीज? समाजधर्म का उन्नत रूप ही न?

कारण कुछ हो, हमारे ग्रामों की आज की दशा तो दयनीय है ही। घरों में नमी, धुआं आदि का हाल तो गांव गाँव में देखने को मिलता है। मवेशियों को घर के अन्दर रखने की कुप्रथा की बाबत

मैंने लिखा ही है। गांव में गड्ढों की अधिकता, उसी में तमाम गन्दगी का एकत्र होना और वही पानी काम में लाने की कहानी भी तुम्हें मालूम है। मच्छड़ मक्खियों ने मानों अपना ही राज्य सा बना लिया है। हमारे गाँव की गंदगी की बावत बापू जी के शब्द ही स्थिति को स्पष्ट कर देंगे। उनका कहना है--"हमारे अधिकांश गाँव घूर की सी हालत में दिखाई देते हैं। उन में लोग जहाँ तहाँ पाखाना फिरते हैं, घर का अगवाड़ा तक नीचे छोड़ते। जहां पाखाना फिरते हैं वहाँ उसे ढांपने की कोई फिक्र नहीं करते। गाँव में कहीं रास्ते ठीक नहीं रखे जाते; कहीं ऊँची मिट्टी का ढेर पड़ा है, कहीं गड्ढा हो रहा है; आदमी और पशु दोनों को चलने में तकलीफ होती है। पोखरे और पोखरियों में बर्त्तन मांजे धोये जाते हैं; पशु पानी पीते हैं; नहाते हैं, पड़े रहते हैं। उनमें छोटे और बड़े भी आबदस्त लेते हैं; और पड़ोस ही में पाखाना फिरना तो आम बात है। यही पानी पीने पकाने के काम में लाया जाता है।

"घर बनाने में किसी भी तरह के नियम की परवाह नहीं की जाती। न पड़ोसी को सहूलियत का ख्याल किया जाता है, न अपनी धूप, रोशनी और हवा का।"

अतएव हमें गाँव की सफाई तथा स्वास्थ्य के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना होगा। पिछले पत्रों में राष्ट्रीय संस्थाओं की मार्फत ग्राम-सुधारक-योजना के मार्ग निर्देश करते समय सफाई और स्वास्थ्य के मौलिक सिद्धान्तो पर अपना विचार लिखा था। सरकार-द्वारा सुधार-योजना में भी उसी सिद्धान्तानुसार कार्यक्रम बनाना चाहिए। गड्ढों और जमीन की सतहों का सुधार मकान-निर्माण के साथ-साथ होता जायगा। सुधरे गांव का जो केन्द्रीय गड्ढा तालाब का रूप लेगा उसका पानी साफ रहे, यह पंचायत की जिम्मेदारी होनी चाहिए। ऐसा कानून बनाना चाहिए जिससे उसमें बर्त्तन मांजना, आबदस्त लेना, कपड़ा धोना आदि न कर सके। तालाब में विभिन्न प्रकार की मछलियाँ

पालकर उसका पानी स्वच्छ रखने का प्रबन्ध करना चाहिए। नाबदान बनाने के लिए कुछ निश्चित रीति व नीति निर्धारित होनी चाहिए। घर के नावदान की बनावट ऐसी हो जिससे उसमें का पानी खाद बनने के काम में आ सके। उस पानी को एकत्र करके प्रति दिन साफ़ करने की प्रथा जारी करनी चाहिए। खेती की जो परती जमीन खाली होती है उसमें ग्राम-समिति की ओर से घेरा डालकर और नालियाँ खोदकर टट्टी बनाने का संघटन होना चाहिए। इन घेरों को इस ढंग से बनवाना चाहिए जिससे उन्हें स्थानान्तरित किया जा सके। तुम कहोगी, जीवन-व्यापी आदत एक दिन में कैसे दूर होगी? मैं इसे मानता हूँ और एक दिन में यह सब हो जायगा, ऐसी कभी कल्पना नहीं करता हूँ। लेकिन जब सर्वांगीण ग्राम-उत्थान के कार्य-क्रम बनाओगी तो शिक्षा, संस्कृति आदि सभी बातों की उन्नति की बात रहेगी न? कुछ शिक्षा से, कुछ संघटन से और कुछ कानून से सामाजिक कुप्रथाएँ बदला करती हैं। फिर धीरे-धीरे वही बात आदत के अन्तर्गत हो जाती है। टट्टी की समस्या हल करने के लिए एक दम गाँव भर को न छेड़कर पहले स्त्रियों के लिए अलग घेरा बनाकर कार्य आरम्भ करना चाहिए। पर्दे की आवश्यकता के कारण इस प्रकार की व्यवस्था का स्त्रियाँ स्वागत ही करेंगी। क्रमशः जब टट्टी के इस्तेमाल का फायदा दीखने लगेगा तो दूसरे भी इस व्यवस्था के चाहने वाले हो जायँगे। जब गाँव के लोगों की चाह काफी हो जायगी पर ढिलाई के कारण सार्वजनिक न बन पायेगी तब इस विषय में थोड़े कानून भी बनाने होंगे। साथ ही पुरुषों को टट्टी जाते समय खुरपी का इस्तेमाल करने की आदत डलवानी होगी जिससे गड्ढा खोदकर टट्टी फिर सकें। गांव में सभी कुओं की कोठी जमीन से ऊँची रहनी चाहिए और ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे कुएँ के आस-पास पानी भरने न पावे और वहकर दूर चला जाय। इस प्रकार कुएँ का पानी नाली से दूर तक लेजाकर केला, तरकारी आदि पैदा करने के काम में

इस्तेमाल करना चाहिए।

गांव के नक्शे के विषय में लिखते समय मैंने पाठशाला के साथ खेल-कूद, आमोद-प्रमोद आदि के लिए एक अखाड़ा यानी क्लब घर बनाने का जिक्र किया था। वस्तुतः खेल-कूद तथा आमोद-प्रमोद स्वास्थ्य बनाने का और रक्षा का बहुत जरूरी उपाय है। इन क्लबों का संघटन करने में कुछ भी कठिनाई न होगी। इन्हीं अखाड़ों की मार्फत विभिन्न त्यौहारों का भी संघटन करना आसान होगा।

पाँच साल पहले फैजाबाद जिले के ग्राम-सुधार महकमा की मार्फत मैंने जब ग्राम-सेविका शिक्षा-शिविर खोला था तो तुमसे भी उसके संचालन की बाबत सलाह की थी। तुमने धात्री-विज्ञान तथा शिशुपालन की शिक्षा की व्यवस्था रखने का प्रस्ताव किया था। सचमुच देहातों में शिशुपालन की पद्धतियों के अज्ञान के कारण लाखों शिशुओं की मृत्यु होती है। अतः स्त्री-शिक्षा के साथ इस दिशा में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करनी पड़ेगी। इसके लिए प्रत्येक जिले में सेविका-शिक्षा-शिविरों का संघटन करना होगा। ऐसे शिविर एक स्थान में स्थायी न होकर जिले के विभिन्न क्षेत्रों में घूमते रहें तो आम जनता की दृष्टि इस प्रकार की शिक्षा की ओर आकर्षित होगी और क्रमशः ग्राम-समितियों को इस प्रकार के केन्द्रों के संघटन की ओर दिलचस्पी होगी। शिशुपालन के प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न भी उठता है। मैंने उत्पत्ति के लिए कृषि और ग्राम-उद्योगों की जो योजना बनाई है उसमें सब स्त्रियों के लिए कोई न कोई कार्यक्रम निर्धारित किया गया है। १५ साल के लड़के-लड़कियों के लिए पढ़ने की व्यवस्था भी की गई है। ऐसी हालत में छोटे बच्चों को सम्हालने के लिए कोई ग्राम-संस्था कायम करनी ही होगी। इसके लिए प्रत्येक गांव में एक शिशु-विहार का संघटन करना होगा। इन बच्चों के लिए अलग आँगन और घर बनाना होगा। गाँव की वृद्धाओं के जिम्मे यह काम आसानी से दिया जा सकता है। बच्चों के लिए

खेल-कूद का सामान जुटाना पड़ेगा। इन्हीं खेलों के द्वारा उनकी बुद्धि तथा संस्कृति के विकास का सूत्रपात शिशुविहार में करना होगा। इस संस्था में शिशुपालन तथा शिशु-शिक्षा दोनों काम साथ-साथ होना चाहिए। आज माताएँ काम के समय अपने छोटे बच्चों को जिस तरह एक बड़े बच्चे के साथ घर से बाहर भेज दिया करती हैं उसी तरह वे अपने छोटे बच्चों को अपने काम के समय इन विहारों के जिम्मे कर देंगी। शिशु विहार की देख-रेख में बच्चों की आदत तथा स्वास्थ्य शुद्धता के साथ बन सकेगा। आज कल लाजमी शिक्षा की बात दुनिया में सब लोग करते है। लाजमी शिक्षा का अर्थ है सब पढ़ने लायक बच्चे विद्यालय जायँ। वैसी हालत में बड़े बच्चे छोटे बच्चों को सम्हालने को नहीं रह जायँगे। फिर शिशुविहार ही उपाय है।

सफाई तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी व्यवस्था के कारण लोग बीमार कम पड़ेंगे। लेकिन फिर भी कुछ सामान्य बीमारी और कुछ महामारी की समस्या तो बनी ही रहेगी। इसके लिए औषधालय, डाक्टर, वैद्य, हकीम आदि का प्रबन्ध ग्राम-सुधार विभाग को करना होगा। यह काम समितियों के अधीन संघटित करना ठीक होगा। केवल वैद्यों की शिक्षा का प्रबन्ध सरकार-द्वारा होगा। इसके लिए सरकार को यह तय करना होगा कि सारे प्रान्त के लिए कितने वैद्यों की आवश्यकता है और कितने मौजूद हैं। बाकी के लिए शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा। मेरी राय में साधारण प्राथमिक शिक्षा प्रत्येक जिले के औषधालय के साथ ही होनी चाहिए, फिर उच्च शिक्षा के लिए विशेष विद्यालयों की व्यवस्था कहीं-कहीं (प्रान्त भर में ५.६ स्थानों में) करना काफी होगा। डाक्टर, वैद्यों के उपरान्त हमारे प्रत्येक विद्यालय के पाठ्यक्रम में गृहस्थ विज्ञान के साथ ग्रामीण जड़ी बूटियों से चिकित्सा तथा आरोग्य-विज्ञान का भी समावेश होना चाहिए ताकि चिकित्सा के इस प्राथमिक उपाय का ज्ञान सार्वजनिक हो सके।

इस प्रकार संक्षेप में मैंने गाँव के अन्दर की सफाई तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रश्नों पर कुछ अपना विचार प्रकट करने की चेष्टा की। लेकिन गाँव के अन्दर की व्यवस्था ठीक कर लेने से ही स्वास्थ्य की समस्या हल नहीं हो जाती। पिछले पत्र में खेती-सम्बन्धी विविध प्रश्नों पर विचार करते समय मैंने रेल व नहरों के कारण पानी जमा होकर नमी तथा सड़न के कारण किस प्रकार मलेरिया आदि से सैकड़ों गाँव परेशान रहते हैं, यह भी बताया था। केवल नहर और रेल के कारण ही नहीं, वैसे भी हमारे देहाती इलाकों में बहुत से छिछले ताल-तलाइयाँ स्वाभाविक रूप से मौजूद हैं, और उनके किनारों के पत्ते आदि भी उसी में गिरकर सड़ते हैं। इन तालों के कारण भी देहाती क्षेत्र की वायु दूषित होती है। इनका भी कुछ उपाय सरकार को करना होगा। प्रथमतः पानी के निकास का रास्ता रेल लाइन और नहरों के बीच काफी बढ़ाना होगा। इसके लिए उचित जाँच करके सम्पूर्ण नकशा बनाकर ही काम करना होगा। जहाँ पानी के लगातार निकास के लिए ढाल मिलना सम्भव नहीं है वहाँ जमीन में कुएँ बनाकर पानी को भूगर्भ की ओर बहा देने का प्रबन्ध करना होगा। पानी बहाने का यह एक खास विज्ञान है जिसके ब्यौरे पर अभी विचार करना कठिन है। यह काम विशेषज्ञों का है। लेकिन इस प्रकार का प्रबन्ध अन्तिम स्थिति पर ही करना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो पानी रोककर जलाशयों की ही योजना बनानी चाहिए। ताल-तलाइयों के मध्य में गहरी खोदाई कर जलाशय बनाना और उसके चारों तरफ की जमीन खेती के लिए निकाल लेने का प्रस्ताव मैंने सिंचाई के प्रबन्ध के सिलसिले में किया है। इस प्रकार जलाशयों के पानी को सेवार मछली आदि के द्वारा साफ रखने का प्रबन्ध किया जा सकता है।

२—शिक्षा और संस्कृति—हमारे प्रान्त की शिक्षा की दशा कितनी शोचनीय है, इसका हिसाब मैं भेज चुका हूँ। वस्तुतः इस

प्रान्त के देहातों में जितनी शिक्षा आज है उसे नहीं के बराबर समझना चाहिए। अतः अगर हमें शिक्षा का कुछ प्रबन्ध करना है तो उसे शुरू से ही आरम्भ करना होगा। हमें देखना है कि सारे प्रान्त में कितने लड़कों को पढ़ाना है। गांव की आबादी का ब्यौरा लिखते समय बताया था कि पढ़ने लायक लड़के तथा लड़कियां हर गांव में १२२ हैं। हम चाहे जितना पढ़ाई को कानून से अनिवार्य कर दें फिर भी कुछ लड़के किन्हीं कारणों से नहीं पढ़ेंगे। हाँ, ११० लड़के तो अवश्य ही पढ़ेंगे। इसमें लगभग ६७ लड़के ६ से १२ साल के और ४३ लड़के १२ से १५ साल के होंगे यानी प्रति ग्राम ५६ लड़के दर्जा ४ और ५४ लड़के मिडिल तक के होंगे। इन सब को पढ़ाने के लिए प्रत्येक गाँव में दर्जा ४ तक के स्कूल और हर तीन गाँव के बीच एक मिडिल स्कूल रखना होगा। अगर ३०% लड़के भी माध्यमिक शिक्षा लेना चाहें तो हर बीस गाँव में एक माध्यमिक विद्यालय रखना पड़ेगा। इस हिसाब से प्रान्त भर में १,०२,३८८ दर्जा ४ तक के स्कूलों, ३४,१२६ मिडिल स्कूलों और ५११९ माध्यमिक विद्यालय की आवश्यकता होगी। इतने विद्यालयों का प्रबन्ध करने के लिए सब से पहले हमें शिक्षकों की आवश्यकता होगी। अतः यह देखना है कि इन विद्यालयों में पढ़ाने के लिए कितने शिक्षक चाहिएँ। हमारी योजना में पढ़ाई के साथ उद्योग का काम अवश्य रहेगा। अतः हमको क्रमशः दर्जा ४ तक के लिए ५ शिक्षक, दर्जा ७ तक के लिए ४ शिक्षक और माध्यमिक के लिए ४ शिक्षक प्रति विद्यालय चाहिएँ। इस हिसाब से प्रान्त भर में हमको निम्नलिखित संख्या में शिक्षकों की आवश्यकता होगी।

दर्जा ४ तक के लिए	१०२३८८ × ५	= ५११९४०
” ७ ” ” ”	३४१२६ × ४	= १३६५१६
माध्यमिक दर्जों के लिए	५११९ × ४	= २०४७६
जोड़ =		६६८९३२

मैंने दर्जा ४ में ५ शिक्षक की आवश्यकता बताई है। कारण यह है कि दर्जा १ से पहले भी एक शिशु-विभाग रखना शायद आवश्यक हो जाय। इतने शिक्षक तैयार करना कितना कठिन काम है, इसका अन्दाज तब लगेगा जब आज की स्थिति से अपने ध्येय की तुलना करोगी। नीचे की तालिका से स्थिति भलीभाँति मालूम हो जायगी :—

प्रकार स्कूल	आज की स्थिति				हमारा ध्येय	
	सं० स्कूल		सं० शिक्षक			
	कन्या	बालक	कन्या	बालक	सं० स्कूल	सं० शिक्षक
दर्जा ४ तक	११०२	१६६३६	१२५४	३१,०८४	१०२३८८	५११६४०
दर्जा ७ तक	३६	४९३	१२८	२४२६	३४१२९	१३६५१६
माध्यमिक	×	१५	×	२३२	५११६	२०४७६
	१,१३८	१७१४१	१३८२	३३७४२	१४१६३६	३६८९३२
	१८,२७९		३५१२४		१४१६३६	६६८९३२

ऊपर की तालिका से स्पष्ट हो जायगा कि हमारे प्रान्त के गाँवों में जितने विद्यालय हैं उनके ७.७ गुने विद्यालयों और करीब ११ गुने शिक्षकों की आवश्यकता होगी। विद्यालय की संख्या का ७.७ गुना कहने से ठीक अन्दाज नहीं लगेगा। वस्तुतः हमको उससे अधिक का प्रबन्ध करना है क्योंकि दर्जा ४ तक के स्कूलों की जो संख्या तालिका में दी हुई है उसमें वे स्कूल भी शामिल हैं जो सिर्फ दर्जा २ तक ही हैं। अतः उन्हें दर्जा ४ तक का बनाना भी एक काम है। तात्पर्य यह है कि शिक्षा-सम्बन्धी जितना प्रबन्ध करना है आज उसके दशमांश के करीब की ही व्यवस्था है, सो भी पुरानी प्रणाली की है जिसे नई पद्धति के अनुकूल उपयोगी बनाना पड़ेगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि इतने शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षित जन हमारे प्रान्त में हैं या नहीं। विद्यालयों के अध्यापन के

लिए हमारे शिक्षकों की कितनी योग्यता होनी चाहिए, यह तुम्हीं ठीक-ठीक बता सकोगी। मेरे ख्याल से प्रारम्भ में निम्नलिखित योग्यता के लोगों को शिक्षा देकर शिक्षण के उपयोगी बनाया जा सकेगा।

दर्जा ४ तक के लिए मिडिल पास
दर्जा ७ तक के लिए माध्यमिक पास
माध्यमिक के लिए डिग्री पास

अब देखना यह है कि इतनी योग्यतावाले कुल शिक्षक हमें मिल सकेंगे या नहीं। आज कल प्रान्त भर में दर्जा ७ और ८ में ६१६६५ छात्र हैं। इनमें लगभग ४०,००० छात्र तो पास करते ही हैं। अगर हम यह मान लें कि चार साल तक के पास किये छात्रों की संख्या को उचित काम नहीं मिलता है तो भी कुल १६०,००० मिडिल पास नवजवान मिलेंगे। इनमें अध्यापन के योग्य मुश्किल से २० प्रतिशत होंगे। इस तरह दर्जा चार के शिक्षण के लिए ३०,००० से अधिक नहीं मिलेंगे। मौजूदा शिक्षकों में से मुश्किल से १०,००० शिक्षक अपने काम के होंगे। इस तरह हमें ४०,००० शिक्षक इस काम के लिए प्राप्त होंगे, और हमको चाहिएँ ५ लाख शिक्षक। मैंने कहा था कि हमारी योजना पूरी होते १५ साल लग ही जायँगे। १५ साल में ४,६०,००० दर्जा ४ तक के लिए नये शिक्षक चाहिएँ यानी हर साल ३१००० नये शिक्षक मिडिल पास योग्यता वालों में से तैयार करना है। इसी प्रकार दर्जा १०, ११, और १२ में आज कुल २१२६० छात्र हैं। इनमें १०,००० के करीब छात्र हर साल पास करेंगे। अगर यह मान लिया जाय कि ३ साल की पासशुदा आबादी बैठी होगी तो ३०,००० शिक्षित जन मिलेंगे जिनमें ६००० से अधिक शिक्षक योग्य न होंगे। इस दर्जे के स्कूलों में आज २४२६ शिक्षक मौजूद हैं जिनमें ज्यादा से ज्यादा ५०० अपने काम लायक होंगे। इस तरह ७ तक के स्कूलों के लिए आज हमको ६५०० शिक्षक प्राप्य हैं,

और हमारी योजना में आवश्यकता है १३७००० शिक्षकों की, यानी हर साल हमें ८७०० शिक्षकों की आवश्यकता है। इसी प्रकार से माध्यमिक विद्यालयों के लिए शिक्षक-प्राप्ति की समस्या रहेगी। इन हिसाबों से तुम को स्पष्ट हो जायगा कि प्रथम १५ साल शिक्षा-विभाग के सामने शिक्षक ट्रेनिंग की समस्या ही सबसे जटिल और महत्व की होगी।

अगर इतने में ही हमारी समस्या हल हो जाय तो भी गनीमत है। प्राथमिक शिक्षा के पहले दर्जा के लिए शिक्षक चुनने के बारे में मेरी राय तुम को मालूम है। मेरी निश्चित धारणा यह है कि छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए स्त्रियाँ ही उपयोगी हो सकती हैं। इस काम के लिए पुरुष शिक्षक नितान्त अयोग्य होते हैं। अतः प्रारम्भ में पुरुष शिक्षक से कार्यारम्भ करने पर भी क्रमशः स्त्री अध्यापिकाओं का प्रबन्ध करना होगा। अच्छा हो अगर शिक्षक सपत्नीक काम करने के योग्य हों। हम शिक्षक-ट्रेनिंग की जो भी योजना बनावें उसे ऊपर की बातों पर ध्यान देकर ही बनावें। इस तरह शिक्षक-प्राप्ति की समस्या पर मैंने अपना विचार प्रकट किया। लेकिन अगर ऊपर लिखे सिद्धान्तानुसार १५ साल में भी योग्य शिक्षक तैयार नहीं हो सके तो क्या मामूली पासशुदा लोगों से काम चलाकर अपनी योजना पूरी कर दें? मेरी राय यह है कि इस काम में जल्दी नहीं करनी चाहिए। शिक्षक का दृष्टि-कोण और योग्यता हमारी धारणा के अनुसार ही होनी चाहिए, चाहे इसके लिए हमारी योजना की पूर्ति में देर हो जाय।

शिक्षकों को किस दृष्टिकोण से शिक्षा दी जाय, यह विचारणीय है। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि हम पहले निश्चय कर लें कि हमारी शिक्षा की पद्धति क्या हो। इस विषय पर मुझको अधिक सोचने की आवश्यकता ही क्या? तुम लोगों के तालीमी संघ के निर्देशानुसार बेसिक शिक्षा पद्धति को ही हमें ग्रहण करना है। विचार केवल इस बात का करना है कि हम एक दम तमाम विद्यालयों

को बेसिक पद्धति के अनुसार चलावें या कुछ स्कूलों में नई तालीम का पाठ्य-क्रम जारी करके बाकी को पूर्ववत् चलने दें और क्रमशः नई तालीम के विद्यालयों की संख्या में वृद्धि करते चलें अथवा, जैसा कि मैं रणीवाँ में प्रयोग कर रहा था, पहले तमाम विद्यालयों में उद्योग का काम पढ़ाई के साथ शुरू किया जाय, और क्रमशः उद्योग का व्यावहारिक संगठन पूरा होने पर और औद्योगिक वायुमंडल सहज हो जाने पर नई तालीम पूर्ण रूप से शुरू कराई जाय। मैं इस तीसरे प्रकार का मार्ग अच्छा समझता हूँ। प्रथमतः शिक्षकों को उद्योग का काम और उसकी कला, कौशल तथा उपयोगिता के लिए योग्य बनाना ही बहुत बड़ा काम है। उस पर अगर साथ ही साथ नई तालीम भी उन्हें संघटित करनी पड़ेगी तो दोनों में सामंजस्य न रख सकने के कारण औद्योगिक उत्पत्ति को ऐसा बना देंगे कि उससे समाज का कोई लाभ नहीं हो सकेगा। फलस्वरूप शिक्षा इतनी खर्चीली हो जायगी कि व्यापक शिक्षा का प्रबन्ध असम्भव होगा। साथ ही नई तालीम के उद्योग से अनुबन्धित न कर सकने के कारण जनता में नई तालीम का ठीक बोध न हो सकेगा। पिछले दिनों युक्तप्रान्त की कांग्रेस सरकार ने नई तालीम को चलाने में इसी तरह जल्दबाजी की। नतीजा यह हुआ कि लड़के न उद्योग सीख पाये और न उनकी पढ़ाई हो पाई। अतः मेरा प्रस्ताव है कि पहले उद्योग के संघटन को ठोस बनाकर फिर नई तालीम की पद्धति जारी करनी चाहिए। साथ ही चुने हुए इलाकों में पूर्ण रूप से नई तालीम का काम जारी कर देना चाहिए जिससे कम से कम शिक्षकों की ट्रेनिंग का काम चलता रहे।

प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों में कृषि तथा उद्योग-सम्बन्धी प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध आप से आप साधारण पाठ्य क्रम के साथ हो जायगा। लेकिन उन्नत तथा वैज्ञानिक ढंग से कृषि व ग्राम-उद्योग के कार्य-संचालन तथा प्रयोग के लिए हमारे

देहातों में विशेषज्ञों की आवश्यकता होगी। कृषि तथा विभिन्न उद्योगों के प्रयोग और शिक्षा के लिए विशेष संस्थाओं की जरूरत पड़ेगी। विशेष प्रयोग, प्रान्तीय निरीक्षण तथा कला-विशारदों की शिक्षा के लिए एक केन्द्रीय ग्राम-सुधार शिक्षा-निकेतन तथा प्रयोगशाला की स्थापना करनी होगी। उसके अलावा ग्राम-सुधार कार्यकर्त्ताओं और कृषि तथा उद्योग के विशेषज्ञों की शिक्षा के लिए प्रान्त भर में १० विशेष विद्यालय होने चाहिएँ और ज़िलों में कुशल कारीगरों के शिक्षाकेन्द्रों का संघटन करना होगा।

विद्यालयों में शिक्षा के अलावा साधारणतः समाज जीवन का हमें इस प्रकार संघटन करना होगा कि ग्रामीण जनता को शिक्षा तथा संस्कृति के वायुमंडल से लाभ होता रहे। त्यौहारों के संघटन की बावत् मैं लिख चुका हूं। इनके अलावा अखाड़ा और क्लबघरों के साथ स्थायी रूप से नाटक-समाज, भजन मंडली, ग्राम-गोष्ठी आदि संस्थाओं का संघटन करना चाहिए, जिसमें नाटक, भजन, विभिन्न, विषयों पर विचार विनिमय का कार्यक्रम समय-समय पर होता रहे। इनके उपरान्त प्रत्येक गांव के विद्यालय के साथ एक-एक पुस्तकालय का प्रबन्ध करना अच्छा होगा।

३--यातायात—आज सेवाग्राम तक पक्की सड़क बन गई है। लेकिन बापू के वहां जाने से पहले क्या हालत थी, तुमको याद होगा। जितने मित्र रणीवां जाते हैं वे सब से पहले एक बार कह ही डालते हैं—"यह कहां आकर अपना आश्रम खोला है। यहां न सड़क, न सवारी। ऐसी जगहों पर आदमी किस तरह आयेगा ?" मेरी समझ में नहीं आता कि वे मित्र चाहते क्या हैं ? क्या ग्राम-सुधार का काम शहरों में किया जाय ? वस्तुतः अगर भारत के देहातों की ओर देखो तो मालूम होगा कि देहातों में यातायात की कितनी असुविधा है। राजनैतिक तथा व्यापारिक आवश्यकता के लिए विभिन्न शहरों को मिलाने के लिए जो सड़कें बनी हैं उनके आस-पास में जो थोड़े ग्राम

सौभाग्य से पड़ते हैं उनकी संख्या ही कितनी है ? सड़कों के बिना हमारे अधिकांश गांव दुनियां से बिल्कुल अलग रह जाते हैं। गांव में औद्योगिक और सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ यातायात की सुगमता होना जरूरी है। अतएव भविष्य में सरकार की ओर से ग्राम-सुधार के लिए जो भी योजना बने उसमें यातायात की सुविधा का खास प्रोग्राम रखना होगा। इस बात का ब्यौरा बनाना अभी मेरे लिए सम्भव नहीं है। उसे तो सारे प्रान्त के कुल गाँवों का नक्शा सामने रख कर ही बनाना होगा। लेकिन एक अन्दाज तो हम अब भी लगा सकते हैं। युक्तप्रान्त में कुल १,०२,३८८ ग्राम हैं और क्षेत्रफल १०६२४७; यानी लगभग एक वर्ग मील प्रति ग्राम पड़ता है। अगर एक मील प्रति ग्राम की औसत के हिसाब से सड़क बन सके तो फिलहाल हमारा काम चल जायगा। शायद प्रारम्भिक योजना में इससे अधिक करना सम्भव भी नहीं है। अब इस बात पर विचार करना है कि सड़क कच्ची बने या पक्की। पक्की सड़क के लाभ की बाबत सब को मालूम है और सब उसे पसन्द करते हैं। लेकिन देहाती सड़क बनाते समय इस बात का ध्यान होना चाहिए कि सड़कों पर अधिकतर बैलगाड़ी ही चलेगी और उन गाड़ियों में खेती के बैल ही जोते जायँगे। पक्की सड़क में चलने पर उनके खुर घिस जाने की शंका बनी रहती है। अगर सारी सड़क पक्की बन जाय तो खेती वाले बैल, जो साल में बहुत काफी समय बेकार रहते हैं, गाड़ियों में काम नहीं आवेंगे। इसके उपरान्त एक लाख मील पक्की सड़क बनाने के लिए कितनी पूंजी चाहिए उसका हिसाब तो करो ! बम्बई योजना वालों ने हिसाब लगाया है कि एक मील के लिए १०,०००) रुपया की आवश्यकता होगी। इस हिसाब से एक अरब के ऊपर पूंजी चाहिए। यह प्रान्त की हैसियत के बाहर होगा। अगर हम कच्ची सड़क बनाते हैं तो भी समस्या जटिल हो जाती है। मैंने कहा है उद्योग, शिक्षा और संस्कृति के विकास के साथ यातायात की अधिकता

स्वभावतः बढ़ेगी। कच्ची सड़क इस भीड़ के समय चलने वाली गाड़ियों के चक्कों से हमेशा कटती जायगी। नतीजा यह होगा कि सूखे समय में धूल और बरसात में कीचड़ से सड़कों का उद्देश्य ही विफल हो जायगा। आजकल ग्रामीण जीवन में यातायात की भीड़ नहीं है, फिर भी कच्ची सड़को की क्या हालत है तुमसे छिपी नहीं। तब करना क्या है? पक्की सड़कों के लिए न हमारे पास पूंजी होगी और न इतने साधन हैं जिनसे बैलगाड़ियों के लिए अतिरिक्त बैल ही रख सकें। कच्ची सड़क बनाने से हमको विशेष लाभ नहीं होगा। इस समस्या को हल करने के लिए मेरे ख्याल से हमारी सड़क ऐसी होनी चाहिए जिसमें केवल उतना ही हिस्सा पक्का हो जितने पर गाड़ी के पहिए चलते हैं बाकी कच्ची रहे। गोरखपुर जिले में चीनी कारखानों को जो सड़कें गई हैं उन्हें इसी प्रकार बनाया गया है। और वे सड़कें अच्छा काम देतीं हैं। इस प्रकार की सड़क बनाने में खर्च भी कम होगा और बैलों को आराम रहेगा।

४——आर्थिक लेनदेन—जहाँ इतने व्यापक रूप से उद्योगों का संघटन करना होगा वहाँ समय समय पर लोगों को रुपयों की आवश्यकता होगी। समाज चाहे जितना व्यवस्थित हो उद्योग के अलावा भी अबेर-सवेर लोगो को कुछ न कुछ लेन-देन करना ही होगा। हमें इसके लिए भी कोई व्यवस्थित संघटन कायम करना है। आज देहातों के लोग वैसे भी कर्ज के भार से लदे हुए हैं। शायद ही कोई आदमी मिलेगा जिस पर कर्ज का बोझ न हो। अतः लेन-देन की संस्था कायम करने से पहले हमको आज के कर्ज की समस्या हल करनी होगी। पिछले दिनों, जब कांग्रेसी सरकार कायम थी, इस प्रश्न पर विचार हो रहा था। कुछ हिस्सों में कानून भी बन गया था। लेकिन वह काम पूरा नहीं हो सका। फिर कोई भी कानून एक बार बनाने पर सही नहीं हो सकता। वैधानिक सभा तो समाज-व्यवस्था की प्रयोगशाला-मात्र है। एक कानून बनता है; उसका असर समाज पर क्या पड़ा

देखा जाता है। बाद को उस असर के आधार पर कानून की विभिन्न धाराओं में परिवर्तन किया जाता है। अतः यह कहना ग़लत न होगा कि कांग्रेस सरकार ने कर्ज की समस्या पर प्रयोग की अवस्था में ही पदत्याग किया। जो हो, जितना हुआ उससे कम से कम आगे के लिए अनुभव प्राप्त तो हो ही जायगा।

मैं जहां तक समझता हूँ कर्ज के सम्बन्ध में हमको कोई मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होगी और न समाज का ढांचा बदलना पड़ेगा। हमें केवल आज के लेनदेन के तरीकों का सुधार करना होगा। वस्तुतः आज जो लोग कर्जदार हैं उनमें बहुत से ऐसे हैं जिन्होंने अत्यधिक सूद के बहाने ली हुई कर्ज की कई गुनी रकम चुका दी है। हमको व्यवहार के इन अन्यायों को ठीक करना चाहिए। मेरी राय में इसके कुछ नियम इस प्रकार बन जायँ तो अच्छा होगा। जिन लोगों ने कर्ज पर सरकार-द्वारा निर्धारित दर से सूद और मूल धन वापस कर दिया है उन्हें ऋणमुक्त माना जावे। जिनका कुछ बाकी रह गया उनके लिए नया दस्तावेज़ निर्धारित सूद के हिसाब से बनाया जाय। जो दिवालिया हैं उनका कर्ज रद्द हो। लोग कहेंगे कि यह दिवालियापन क्या बला है? यह कोई बला नहीं है। यह वही चीज है जो बड़े आदमी के लिए जायज़ थी लेकिन गरीबों के लिए नहीं। अगर झुनझुनवाला बालटीवाला देवालिया होने पर भी दोनों वक्त खाना खा सकता है, कोठियों में रह सकता है, अच्छा कपड़ा पहन सकता है और शायद मोटर पर भी बैठ सकता है तो गरीब ग्रामवासी को इतनी कानूनी रक्षा मिलनी ही चाहिए कि वे भी कर्ज से बरी होकर दोनों वक्त खा सकें, कपड़े पहन सकें और अपने मकान में आश्रय ले सकें। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जो कर्ज चुकता करने को बाकी रह जाय उसके लिए ऐसे नियम बनें जिससे महाजन कर्जदार को जिन्दा रहने के आवश्यक साधनों से वंचित न कर सकें।

लेकिन एक बार कर्ज की समस्या हल हो जाने से ही स्थायी समाधान नहीं हो सकेगा। स्थायी समाधान तो ग्रामीण सहयोग समिति-द्वारा कर्ज की व्यवस्था से ही होगा। अतः भविष्य में गाँव के निजी कोआपरेटिव बैंक का संघटन होना चाहिए। बैंक की ओर से ऐसे नियम बनाना चाहिए जिससे लोग खामख़ाह कर्ज न लें। व्यक्तिगत महाजनी प्रथा को तो समाप्त ही कर देना श्रेय होगा। महाजनी कोई ऐसा काम नहीं है जिसके हटने से समाज को कुछ आपत्ति हो सके। ऐसे काम में कुछ लोगों के खास तौर से पड़े रहने से समाज में तामस की ही वृद्धि होगी।

५—संघटन तथा अनुशासन—उपर्युक्त तमाम कार्यक्रमों के संघटन तथा संचालन के लिए कोई व्यवस्था कायम तो अवश्य करनी है। हमारा ध्येय तो स्वावलम्बन है, लेकिन ध्येय तक पहुँचने का कोई न कोई रास्ता तो बनाना ही होगा। सारे कार्यक्रमों को चलाने के लिए दो प्रकार के संघटन की आवश्यकता होगी—(१) ग्रामीण व्यवस्था और (२) सरकारी महकमा। ग्रामीण व्यवस्था की रूपरेखा पर अपना विचार प्रसंगवश कई जगह मैं प्रकट कर चुका हूँ। इस संघटन की बुनियादी इकाई ग्राम-समिति होगी। यह समिति ग्राम-पंचायत का काम भी करेगी। वस्तुतः ग्राम की सर्वांगीण व्यवस्था इसी समिति के अधीन होगी। इसके उपरान्त भिन्न-भिन्न उद्योगों के लिए विभिन्न तथा स्वतन्त्र सहकारी संस्थाएँ अलग रहेंगी। जैसे कृषक समिति, कताई समिति, बुनकर समिति, कागजी समिति आदि। इन समितियों के सदस्य व्यक्तिगत रूप से ग्राम-समिति के अनुशासन में भी रहेंगे। इस प्रकार कुछ ग्राम-समितियाँ मिलकर यूनियन और कुछ यूनियन मिलकर केन्द्रीय यूनियन का संघटन करेंगे। इन समितियों का विधान ऐसा हो जिससे केन्द्रीय यूनियन में औद्योगिक समितियाँ भी शामिल हो सकें। औद्योगिक समितियों का सदस्य वही हो सकेगा जो स्वयं कारीगर हो और एक निश्चित संख्या से अधिक हिस्सा

खरीदने का किसी को हक न हो। मैं इन समितियों के विभिन्न पहलुओं पर विधान का ढाँचा अभी नहीं बनाऊँगा; वह कुछ राजनैतिक बुद्धि वाले ही बना सकते हैं। इस दिशा में आवश्यक योग्यता का भी मुझमें अभाव है। जब समय आने पर वास्तविक योजना बनानी होगी तो इस काम को करने के लिए विशेषज्ञों की कमी न होगी। किस आधार पर संघटन बन सकता है उसका संकेत मात्र मैंने किया है। हाँ, एक बात जरूर विचारणीय है। हम एकाएक इतनी समितियाँ बनायेंगे तो आज की स्वार्थमय सामाजिक-बुद्धिहीन जनता में घोर घपला तथा दूषित वातावरण हो सकता है। अतः बड़ी सावधानी से आगे बढ़ना है। मैंने पहले ही कहा है कि शुरू में ऐसा कार्यक्रम उठाना पड़ेगा जिससे गांव वालों पर पहले से जमे हुए स्थायी स्वार्थ पर विशेष आघात न पहुँचे। इस विषय पर जिस सिलसिले से कार्यक्रमों का संघटन करना चर्खा-संघ तथा ग्राम-उद्योग संघ के लिए बताया है वही सिलसिला सरकार के लिए भी जरूरी है। प्रथमतः चर्खा तथा अन्य उद्योगों की समितियाँ बनाकर सहयोग का वायुमंडल तथा व्यक्तिगत चरित्र पैदा होने पर कृषक समिति और अन्त में ग्राम-पंचायत का संघटन करना चाहिए। इस सम्बन्ध में मैं अपना विचार काफी प्रगट कर चुका हूँ, अतः यहां पर और बयान करना व्यर्थ होगा।

अब रही सरकारी संघटन की बात। मैंने कहा है, मेरे संकेतानुसार योजना का पूरे तौर पर संघटन करने में कम से कम १५ साल लग जायँगे। वस्तुतः अपने ढङ्ग से समाज को बनाने की तैयारी में २५ साल से कम नहीं लगना चाहिए। शिक्षा के लिए १५ साल में उतनी संख्या में योग्य शिक्षक प्राप्त कर लेना सन्देहजनक ही है। फिर भी योजना बनाने के लिए एक निर्दिष्ट काल की सीमा तो बनानी ही पड़ेगी। मैं समझता हूँ, प्रथम योजना १५ साल की बनानी ठीक होगी क्योंकि उससे कम समय में किसी भी कार्यक्रम को कोई निश्चित

रूप देना सम्भव नहीं होगा। इस पन्द्रह साल को भी पांच-पांच साल के तीन हिस्सों में बांटना होगा। प्रथम पांच साल में साधनों की जांच, कार्यकर्त्ताओं का चुनाव तथा शिक्षा और संघटन के लिए अनुकूल वातावरण पैदा करना तथा प्रारम्भिक व्यवस्था करने का काम होगा। इसका मतलब यह नहीं है कि योजना के काम की प्रगति कुछ भी नहीं होगी। इस बीच अवश्य ऐसे चुने हुए क्षेत्रों में प्रयोग करना होगा जहां वातावरण पहले से ही कुछ अनुकूल हो या जहां इस प्रकार के काम करने के लिए स्थानीय नेतृत्व मौजूद हो। दूसरे पांच साल में ग्रामों के संघटनों की स्थापना और उनमें गति देने का काम होगा। इस पांच साल की अवधि में मूल योजना का काम शुरू हो जायगा। तीसरे पांच सालों में योजना के विभिन्न कार्यक्रमों के पूरा करने की चेष्टा होगी। इस प्रकार १५ साल के तीन हिस्सों के कार्य की आवश्यकता के हिसाब से सरकारी संघटन का स्वरूप तैयार करना पड़ेगा।

पिछले दिनों में कांग्रेस सरकार ने पहले ही कार्यकर्त्ताओं को भर्ती करके संघटन कायम कर दिया; फिर योजना बनानी शुरू की। उसके बाद कार्यकर्त्ताओं की शिक्षा की व्यवस्था करनी शुरू की। वह शिक्षा भी गहराई की नहीं हुई। नतीजा यह हुआ कि किसी की समझ में कुछ नहीं आता था कि देहात की समस्या क्या है और कोई कुछ अन्दाज भी कर सका तो उसको सूझा नहीं कि कैसे काम शुरू करें। अगर भविष्य में कभी सरकार की ओर से हमको काम करना पड़े तो हमें इन बातों को पहले ही सोच लेना होगा। मेरी राय यह है कि पहले ही सरकारी संघटन कायम नहीं करना चाहिए। शुरू में दो प्रान्तीय कमेटियां बनानी चाहिएँ। एक ग्राम-सुधार, जांच तथा योजना कमेटी और दूसरी प्रयोग कमेटी। जांच कमेटी प्रान्त की परिस्थितियों की जांच करके ब्यौरेवार योजना बनायेगी। प्रयोग कमेटी प्रान्त भर के उन व्यक्तियों तथा संस्थाओं को इमदाद देकर कार्य की

प्रगति करावे जो पहले से कुछ प्रयोग कर रहे हैं या नई योजना के साथ प्रयोग करने के योग्य तथा अपना समय देने के इच्छुक हों। इस कमेटी का काम यह भी होगा कि इन कार्यक्रमों का निरीक्षण करना तथा विभिन्न प्रयोगों के नतीजों को एक दूसरे केन्द्रों में पहुँचाना और उनकी सम्मिलित रिपोर्ट योजना कमेटी के पास भेजते रहना। इनके साथ ही केन्द्रीय ग्राम सुधार-शिक्षा-निकेतन की स्थापना करनी होगी। इस संस्था में कृषि तथा ग्राम-उद्योग की विभिन्न प्रक्रियाओं का प्रयोग और उन उद्योगों की मार्फत जिला तथा कमिश्नरी के संचालकों की शिक्षा की व्यवस्था की जाय। इन्हीं संचालकों को कमिश्नरी तथा जिला शिक्षा-केन्द्र तथा स्थानीय ग्राम-सुधार योजना के संचालन का काम करना होगा। जिले के विभिन्न क्षेत्रों के कार्यकर्त्ताओं को कमिश्नरी के शिक्षा-केन्द्रों में और कृषि तथा ग्राम-उद्योग की शिक्षा जनता तक पहुँचाने का काम जिला के विद्यालय को करना होगा। जब तक स्थानीय कोआपरेटिव यूनियन संघटित नहीं हो जाता तब तक ज़िले के विद्यालय को उत्पत्ति तथा बिक्री की व्यवस्था ठीक उसी तरह करनी होगी जिस तरह चर्खा संघ खादी की उत्पत्ति-बिक्री का काम करता रहा है। जाँच कमेटी का काम शायद २ या २॥ साल में पूरा हो जायगा और शिक्षाकेन्द्रों का सम्पूर्ण संघटन ५ साल में हो जायगा। लेकिन जिला का कार्य-क्रम चौथे वर्ष से शुरू हो जायगा और दशम वर्ष में केन्द्रीय विद्यालय-सहित जिले की सम्पूर्ण योजना की व्यवस्था का भार स्थानीय कोआपरेटिव यूनियन को सौंप देना होगा। बाकी ५ साल में सरकारी महकमा की देख-रेख में उनके संघटन को मज़बूत बनाना होगा। बाद को सरकारी केन्द्रीय संस्था का काम कमिश्नरी के विद्यालय के लिए प्रयोग और विशेषज्ञों के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था करने भर का रह जायगा। सरकारी केन्द्रीय ग्राम-सुधार विभाग का काम केवल इन शिक्षा संस्थाओं तथा विभिन्न यूनियनों की कार्यावली का निरीक्षण और परीक्षण करना रह

जायगा। सरकारी महकमा के कार्य के परीक्षण तथा निरीक्षण के लिए भी एक निरीक्षण कमेटी की स्थापना होनी जरूरी है जिसकी सदस्यता युनियनों के और प्रान्तीय असेम्बली के प्रतिनिधियों की की होनी चाहिए। इस तरह हमारा काम ऐसा होना चाहिए जिससे ग्रामीण संघटन तथा सरकारी संघटन दोनों एक दूसरे के कामों की जाँच कर सकें। अब प्रश्न यह उठता है कि उन संस्थाओं का क्या होगा जिन्हें शुरू में सरकारी मदद से कायम किया गया था। इसके लिए मैं अगर कुछ भी न कहूँ तो भी तुम्हारे सामने बात साफ हो जायगी। जब हमारी सारी योजना का ध्येय यह है कि उत्पत्ति, बिक्री तथा आन्तरिक समाज-संघटन और व्यवस्था सब के लिए ग्रामीण समाज स्वावलम्बी हो तो प्रारम्भ में प्रयोग के लिए जिन संस्थाओं की स्थापना की जायगी वे सब ग्रामीण संस्था में समाविष्ट हो जायँगी।

इस पत्र के साथ विभिन्न परिस्थितियों में ग्राम सुधार का काम किस प्रकार का हो सकता है, उसकी बाबत् मैंने अपना विचार एक प्रकार से समाप्त कर दिया। मैंने जो कुछ लिखा सब अब तक के अनुभव पर आधारित हैं। सम्भव है भविष्य के अनुभव से कुछ राय बदल जाय। लेकिन भविष्य की बात भविष्य में देखी जायगी।

---

[१५]

योजना के लिए पूँजी

२१ सितम्बर, १९४४

७ जुलाई को आखिरी पत्र लिखा था। मुझे डर था कि १४ जुलाई को छूटकर बाहर के दलदल में न फँस जाऊँ। वैसा नहीं हुआ। मैं रह गया। अब कम से कम १४ जनवरी तक यहाँ ही पड़ा रहूँगा। कुछ पढ़ भी लूँगा। इधर काफी दिन आँख के कारण पढ़ना नहीं हो सका था। उसकी पूर्ति भी कर लूँगा।

७ जुलाई के वाद २॥ महीने हो गये; मैंने कोई पत्र नहीं लिखा। कुछ सुस्ती के कारण और कुछ इसलिए भी कि सोचता था ६ माह रहना ही है तो इस वीच २-१ पत्र और लिख लेना काफ़ी होगा। ग्राम-सुधार की वातें तो प्रायः पहले ही समाप्त कर दी थीं, अव लिखने को भी कुछ विशेष रह नहीं गया। पहले एक पत्र में मैंने जो समस्याओं की वात कही थी उसमें से एक प्रश्न के सम्वन्ध में लिखने को रह गया था। वह यह कि हमारी सारी योजना चलाने के लिए पूंजी और खर्च का क्या हिसाव हो। इस बीच तुम्हारा एक पत्र भी मिला। तुमने पूछा है कि १५ साल में जो आवादी वढ़ेगी उसके लिए आवश्यक सामान पाने की क्या योजना होगी ? हाँ, यह सवाल माकूल है और इस प्रश्न पर अपना विचार पहले ही प्रकट करना था। यह तो पिछले पत्र में लिखा ही था कि जो आवादी वढ़ेगी उसको खेती लायक परती से ही अपना पोषण लेना होगा। अव सवाल यह है कि क्या नई जमीन तोड़ने के लिए हमको १५ साल इन्तजार करना होगा या अभी से उसका प्रोग्राम रखना होगा। मैं समझता हूँ, इस प्रश्न पर ज्यादा कुछ कहने की कोई वात नहीं है। आवादी जो वढ़ेगी उसमें १५ साल के वाद एक दिन एकाएक वढ़ती तो नहीं हो जायगी। वढ़ना तो अव भी जारी है। अतः हमको योजना के शुरू से ही नई जमीन खेत में मिलाने का निश्चित कार्यक्रम वनाना चाहिए। इसके लिए जाँच करके एक नक्शा वनाकर निश्चित कर लेना चाहिए कि हमें कौन जमीन किस साल में खेती में मिलानी है। वे खेत ऐसे किसानों को देने होंगे जिनको आसानी से दूसरी जगह नहीं मिल सकती। यानी जिस इलाके में हमारी योजना के हिसाव से अतिरिक्त आवादी हो वहां के लोगों को ऐसे खाली क्षेत्रों में जमीन देकर वसाना होगा। फिर वे किसान स्थानीय किसानों की समिति में शामिल हो सकेंगे। मेरी राय में किसानों को वसाकर ही नई जमीन तोड़ना सम्भव होगा, सरकारी ढंग से नहीं। इस प्रकार जैसे-जैसे आवादी वढ़ती

जायगी वैसे-वैसे नई बस्ती भी बढ़ती जायगी। फिर अन्य आवश्यकताओं के लिए दूसरे उद्योगों का काम भी बढ़ता जायगा। दूसरी बात यह है कि हमने जमीन की पैदावार में जितनी वृद्धि रक्खी है उचित साधन से उससे अधिक भी हो सकती है। मैंने केवल सावधानी के लिए उतना ही रक्खा जितना आसानी से हो सकेगा। इस वृद्धि से भी बढ़ती आबादी का कुछ लाभ होगा ही। लेकिन इसे उत्पत्ति की योजना के हिसाब में नहीं लेना चाहिए। मैं समझता हूँ तुम्हारे सवाल के लिए इतना संकेत काफी है।

अब अपनी योजना के आर्थिक पहलुओं पर विचार किया जाय। प्रथम प्रश्न यह है कि जब ग्राम-सुधार के लिए इतना विस्तृत आयोजन करना होगा तो उसके खर्च के लिए पैसा कहाँ से आवेगा। हम जब कभी कोई बड़ी योजना बनाते हैं तो पैसे के प्रश्न पर आकर हमारी गाड़ी रुक जाती है। तुमको याद होगा, पिछले दिनों जब कांग्रेस सरकार थी तो कोई भी योजना उनके सामने ले जाने पर एक ही जवाब सब जगह मिलता था कि "हमारे पास पैसा कहाँ?" लेकिन राष्ट्रीय सरकार का आर्थिक दृष्टि-कोण पहले से भिन्न होगा। पहले तो शासन विभाग ही सम्पूर्ण सरकारी विभाग समझा जाता था; सुधार-विभाग में पैसा नहीं होता था। अब तो हमारा बजट ऐसा बनाना पड़ेगा जिससे शासन विभागों में खर्च कम करके सुधार विभागों में अधिक खर्च करना संभव हो। फिर अब तक जमीन से प्रान्तीय सरकार को ५-६ करोड़ रुपये मिलते थे। जमींदारी प्रथा समाप्त होने पर लगान दस करोड़ के करीब मिलेगा। इस बढ़ती रकम में से तहसील का बढ़ती खर्च पूरा करके भी करीब २-३ करोड़ रुपया सुधार-विभागों में खर्च किया जा सकता है। पिछले दिनों इन विभागों में एक करोड़ के करीब खर्च होता था। वह और शासन-सम्बन्धी विभागों में खर्च कम करके एक करोड़ रुपया अगर और इस दिशा के लिए बचाया जाय तो कुल ४ करोड़ रुपया सालाना खर्च सुधार-विभागों में किया जा

सकता है। अगर एक करोड़ रुपया संघटन व्यय में लग जाय तो बाकी ३ करोड़ हर साल पूँजी खर्च में लगाया जा सकता है।

ग्राम-समितियों का व्यापार-सम्बन्धी खर्च तो व्यापारिक लाभ से होगा। बाकी जन-सेवात्मक काम के खर्च के लिए प्रत्येक गाँव अपनी समिति को चन्दा दे। इन चन्दों में से कुछ भाग युनियनों को देने का नियम रखा जा सकता है। मैंने जो ग्राम-वासी के खर्च का हिसाब बनाकर तुमको भेजा था उसमें देखोगी कि प्रति ग्राम १२०) चन्दा ग्राम-समिति की मद में रक्खा गया है। शिक्षा के खर्च के लिए भी अलग रकम रक्खी गई है। देहाती समाज के आन्तरिक कार्य-क्रमों के खर्च के लिए समितियों के स्वावलम्बी हो जाने पर सरकारी संघटन के लिए काम भी बहुत कम हो जाता है। इसलिए भी प्रान्तीय सरकार को खर्च की समस्या उतनी जटिल न मालूम होगी जितना ख्याल किया जाता है।

अब देखना यह है कि इतने काम के लिए जो पूँजी लगेगी वह कहाँ से आवेगी। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम हिसाब लगाकर जान लें कि हमको पूंजी चाहिए कितनी। कितनी पूंजी चाहिए, इसका हिसाब एक दम प्रान्त भर का न करके अगर औसत प्रति ग्राम का निकाल कर फिर कुल कितनी पूंजी प्रान्त को चाहिए, यह बताया जाय तो समझना आसान होगा। अतः प्रति ग्राम की पूंजी का हिसाब नीचे लिख रहा हूँ।

१—खेती की सिंचाई—हमारे प्रान्त के प्रति ग्राम ३४७.८ एकड़ जमीन पर खेती होती है जिसमें ११६·३ एकड़ पर सिंचाई की व्यवस्था आज मौजूद है। अतः हमको २३१·५ एकड़ की सिंचाई की व्यवस्था करनी होगी। मेरी राय में इनमें २५% ऐसी जमीन है जिन पर नहर से सिंचाई हो सकेगी यानी ५७·६ एकड़ जमीन की सिंचाई नहर से करनी होगी। इसके अलावा ६३ सैं० = १५४·७ एकड़ कुआँ से और बाकी १२ सैं० यानी २८·६ एकड़ में २२·१ एकड़ की सिंचाई

तालाब में हो सकेगी और ६·८ एकड़ जमीन ऐसी होगी जिस पर सिंचाई की आवश्यकता नहीं है। इतनी सिंचाई की व्यवस्था के लिए निम्नलिखित हिसाब से पूंजी चाहिए।

नहर—अभी श्री टाटा आदि ने जो बम्बई योजना बनाई है उसके हिसाब में प्रति एकड़ सिंचाई के लिए नहर बनाने में ७०) पूंजी की आवश्यकता होती है। इस हिसाब से ५.७·६ एकड़ की सिंचाई के लिए ४०५.३) की पूंजी चाहिए।

कुओं—कुएँ का हिसाब लगाना नहर जैसा सरल नहीं है। इस विषय में सरकारी, गैर सरकारी, जितने हिसाब लगाये जाते हैं वे सब एकांगी होते हैं। साधारणतः जो हिसाब लगाया जाता है उस तरह अगर हिसाब जोड़ा जाय तो प्रान्त की स्थिति इस प्रकार होगी।

"आज प्रान्त में १,४०,००० कुएँ हैं। इतने कुएँ से ५,५५,४५१ एकड़ जमीन की सिंचाई होती है। यानी लगभग ४ एकड़ की सिंचाई एक कुएं से होती है। सरकारी विशेषज्ञों की राय है कि कुओं का सुधार करके २० एकड़ प्रति कुएं से सिंचाई की व्यवस्था हो सकती है। अर्थात् कुओं की उन्नति करके २७,७७,२५५ एकड़ की सिंचाई हो सकती है। अतः नये कुओं की आवश्यकता नहीं है।"

लेकिन वास्तविक समस्या इस तरह गणित से हल नहीं हुआ करती। व्यावहारिक काम करने के लिए पहले परिस्थिति की जांच करनी पड़ेगी। गांव में कुएं कुछ समान दूरी पर बँटे हुए नहीं हैं। ऐसा एक चक इलाका तुमको मिलेगा जहाँ ५० एकड़ जमीन के बीच १२ कुएं होंगे तो कहीं १० एकड़ के बीच ४ कुएं मिलेंगे और कहीं ४० एकड़ के बीच २ कुएँ होंगे, तो कहीं ५० एकड़ के बीच एक भी कुआँ नहीं मिलेगा। इसका मतलब यह है कि कहीं तो कुएं इतने हैं कि अगर उनका सुधार न किया जाय तो भी आस-पास की जमीन की पूरी सिंचाई हो सकती है और उन कुओं के सुधार में

खर्च करना बेकार है; कहीं की स्थिति ऐसी है कि अगर कुओं का सुधार कर दिया जाय तो उस क्षेत्र की सिंचाई पूरी हो सकती है, और कहीं कुएं कतई हैं ही नहीं और सिंचाई के लिये नये कुएं बनवाना आवश्यक है। इसके अलावा एक स्थिति और हो सकती है। कही ऐसा क्षेत्र भी देखोगी जहाँ कुएं हैं लेकिन पूरे इलाके के लिए काफी नहीं और अगर उन कुओं की उन्नति की जाय तो पूरे क्षेत्र में सिंचाई हो सकती है। लेकिन दिक्कत यह है कि वहाँ कुएं इतनी जीर्णावस्था में हैं कि उनका सुधार होना सम्भव नहीं और बढ़ती जमीन की सिंचाई के लिए नये कुएं बनाने पड़ेंगे। वैसे तो कुओं का हिसाब पूरी सर्वे (जांच) करके ही लग सकता है। लेकिन देहात के अनुभव से एक हिसाब का अनुमान तो हम कर ही सकते हैं। हमारे प्रान्त की औसत स्थिति को देखते हुए कुओं के लिए निम्नलिखित हिसाब हो सकता है:—

प्रान्त के प्रति गाँव में १३·६ कुएं हैं। यह मान कर कि ३३% कुओं की दशा ऐसी है कि उनका सुधार हो ही नहीं सकता, कुल ९·१ कुएँ ऐसे होंगे जिनकी उन्नति करके सिंचाई का क्षेत्र बढ़ाया जा सकता है। लेकिन उनमें ३ कुएँ ऐसे होंगे जो इतने पास-पास हैं कि उनके सुधार से कुछ लाभ नहीं होगा। बाकी ६·१ कुएँ से प्रति कुआँ १६ एकड़ के हिसाब से ९७·६ एकड़ बढ़ती जमीन की सिंचाई की व्यवस्था की जा सकती है। बाकी ५७·१ एकड़ के लिए २·८ नये कुओं की आवश्यकता होगी। अतः कुएँ के लिए पूंजी की आवश्यकता इस प्रकार होगी—

६·१ कुएं की उन्नति के लिए मरम्मत प्रति कुआं	१००)	×६·१	
रहट ,, ,,	२००)		
			१८३०)

२.९ नये कुएँ के लिए खुदाई व बँधाई	,, ,,	४००)	×२.९
रहट	,, ,,	२००)	
		१७४०)	
	जोड़	३५७०)	

तालाब—२२.१ एकड़ के लिए १२) प्रति एकड़ से २६५)

इस तरह सिंचाई के लिए औसत प्रति ग्राम ७७८८) की पूंजी चाहिए।

पशुओं का नस्ल-सुधार

१६३ गाय भैंस आदि के लिए ५) प्रति पशु के हिसाब से ८१५)

औजार-सुधार

३७ हल × ३)	१११)	...	१३६)
विविध	२५)	...	

खाद

हड्डी व मांस के लिए	१००)	...	१५०)
विविध	५०)	...	

नये खेत बनाना— ...

३५ एकड़ के लिए ६०) प्रति एकड़ ... २१००)

अर्थात् खेती-सुधार के लिए कुल पूंजी की आवश्यकता इस प्रकार होगी :—

औसत प्रति ग्राम—

१.	सिंचाई	७७८८)
२.	पशुओं की उन्नति	८१५)
३.	औजार-सुधार	१३६)
४.	खाद की व्यवस्था	१५०)
५.	नये खेत बनाना	२१००)
	जोड़	११०९९) (१)

उद्योग—विभिन्न उद्योगों के लिए औसत प्रति ग्राम निम्नलिखित हिसाब से पूंजी की आवश्यकता होगी :—

ब्यौरा उद्योग	परिवार प्रति ग्राम	आवश्यक पूँजी		मौजूद पूँजी प्रति ग्राम			बाकी आवश्यक पूंजी प्रति ग्राम
		प्रति परिवार	प्रति ग्राम	उपस्थित कारखानों की	नये कारखानों का कच्चा माल	जोड़	
ईंटे का भट्ठा	...	...	५००)	५)	५)	१०)	४९०)
आटे की चक्की	...	...	१५)	...	५)	५)	१०)
धान कूटने की ढेंकी	...	...	१५)	...	२)	२)	१३)
गन्ना पेरने का कोल्हू	...	...	२५०)	१२)	...	१२)	२३८)
गुड़ का कोल्हार	...	...	५०)	१०)	...	१०)	४०)
चर्खा १३०	...	...	३१०)	६)	१००)	१०६)	२०४)
धुनकी ९०	...	...	९०)	...	११।)	११।)	७८।।।)
तेल घानी	२.५	३६०)	९००)	१८०)	६१६)	७९६)	१०४)
चीनी मशीन	.५	१५८०)	७९०)	...	४५०)	४५०)	३४०)
बुनाई	६.०	११६)	६६६)	४००)	...	४००)	२६६)
साबुन	.६६	४५०)	३००)	...	८४)	८४)	२१६)
कागज	.५६	२५०)	१४०)	...	४०)	४०)	१००)
चमड़ा सिझाना	.२	५००)	१००)	१०)	२०)	३०)	७०)
सरेस, ताँत, जूता आदि	.५	३००)	१५०)	१२)	२०)	३२)	११८)

लोहारी	१.५	५००)	७५०)	२०)	...	२०)	७३०)
वढ़ईगीरी	१.५	११०)	१६५)	१२)	५०)	६७)	९८)
कम्बल व भेड़ पालना	१.०	३७०)	३७०)	१००)	१००)	२००)	१७०)
कुम्हारी	.५	५०)	२५)	२)	...	२)	२३)
दरी कालीन	.२५	१००)	२५)	१)	१८)	१६)	६)
सिलाई	.५	१६५)	८३)	३॥)	...	३॥)	७९॥)
अंडा मछली गोश्त	.५	१००)	५०)	५)	३५)	४०)	१०)
रंगाई छपाई	.०५	२००)	१०)	१)	...	१)	९)
सींग का काम	.०५	२००)	१०)	...	२॥)	२॥)	७॥)
बाध रस्सी आदि	.५०	२०)	१०)	३)	५)	८)	२)
दियासलाई	.०४	७००)	२८)	...	...	...	२८)
रोशनाई	.०२	१५०)	३)	...	१।)	१।)	१।॥)
शीशा चूड़ी	.०५	१०००)	५०)	२)	४॥)	६॥)	४३॥)
ठठेरी	.२०	५००)	१००)	...	...	...	१००)

सोनारी	.६०						
	पेंसिल	१००)	६)	१)	...	१)	५)
बनाना	.००५	१०००)	५)	...	...	...	५)
ब्रश बनाना	.००५	५००)	२॥)	...	१)	१)	१॥)
लाख वार्निश							
	आदि .००५	५००)	२॥)	॥)	९)	१॥)	१)
संगतराशी	..२	२००)	४)	१॥)	१।)	२॥।)	१।)
माली दवा							
जड़ी बूटी	.०५	५०)	२॥)	॥)	१॥)	२)	॥)
तमोली	..५	२५)	१॥)	॥)	॥)	१)	।)
बारी	.०२	...	...	...	...	...	...
राज मिस्त्री	.५०	१५)	॥)	...	...	...	॥)
अन्य उद्योग	.१००	२५०)	२५०)	५)	१००)	१०५)	१४५)
कुल जोड़—१६.२६५		६२५६।)	७६३॥)	१६७६॥।)	२४७३।)	३७८६)	

......(२)

३ — हकीम वैद्य डाक्टर आदि	.२		७५०)	१५०)	१०)	५०)	६०)	९०) [३]
४ — शिक्षा								
		प्रति स्कूल						
दर्जा ४ तक स्कूल	१	६००)	६००)					
” ७ ” ”	.३३	८००)	३००)		१५०)	१३०)	२८०)	६७०)
माध्यमिक	.०५	१०००)	५०)					
ग्राम सेवक विद्यालय — केन्द्रीय		१३,००,०००)	१३)					
कमिश्नरी		३,००,०००)	३०)					
जिला		१,५०,०००)	७०)		...	...	४०)	७३)
			१०६३)				३२०)	७४३) [४]
५ — घरेलू सेवा								
घरेलू नौकर आदि	५			१०)	५)	...	५)	५)
धोबी	१			२०)	८)	८)	१६)	४)
नाई	१			५)	२)	...	२)	३)
			७)	३५)	१५)	८)	२३)	१२) [५]

६—सड़क ,	२०००)	२०)	२००)	२२०)	१७८०)
७—बनिया १	५००)	२००)	२५०)	४५०)	५०)
८—बागबानी ३.५	२००)	...	...	...	२००)
९—अन्य फुटकर	२००)	...	...	...	२००)

इस प्रकार सारी योजना के लिए औसत प्रति ग्राम के लिए कुल पूँजी की आवश्यकता निम्नलिखित होगी :

१—खेती-सुधार		११,०९९)
२—ग्राम-उद्योग	... ...	३,७८६)
३—हकीम वैद्यादि	... ...	९०)
४—शिक्षा	... ...	७४३)
५—घरेलू सेवा	... ...	१२)
६—सड़क	... ...	१७८०)
७—बनिया	... ...	५०)
८—बागबानी	... ...	२००)
९—अन्य फुटकर	... ...	२००)
१०—मकानादि	३० × ३२५	९७५०)
११—शिशु-विहार	... ...	३००)
	जोड़	२८०१०)

अर्थात् प्रान्त भर के लिए २८६,७८,८७,८८०) यानी २८६.७९ करोड़ रुपये की पूँजी चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि इतना रुपया आवे कहाँ से। पूँजी के लिए गाँव में हमको प्रधानतः निम्नलिखित जरियों का हिसाब देखना होगा :—

१—गाँव में प्राप्त कच्चा माल

२—लोगों के पास की नक़द

३—धर्मगोला में रिजर्व रकम

४—ग्रामवासी की बचत में से

१. उद्योगों के लिए जो कच्चा माल लगता है और जो गांव में मिल सकता है उन्हें तो उद्योग की पूँजी के हिसाब में से ही घटा दिया गया है। अतः यह मद केवल मकान और शिशु-विहार के हिसाब से ही घटेगी। मेरे ख्याल से मकान के लिए लगभग ७०) प्रति घर के हिसाब से सामान गांव में होगा और शिशु-विहार का ५०) का सामान मौजूद होगा। इस तरह मकानादि में (३० × ७०)+५० = २१५०) पूँजी मौजूद है।

२—गांव की परिस्थिति को देखते हुए यह कहना गलत न होगा लोगों के पास लगभग ३०००) प्रतिग्राम मौजूद होगा। इसमें से पूँजी के काम में १०००) करीब मिल सकेगा।

३—पिछले पत्र में मैंने अनाज का हिसाब करते समय बताया था कि धर्मगोला में जमा सामान का दाम कुल पैदावार का ४ सैकड़ा होता है और कुल पैदावार का दाम ३००००) है। इस तरह इस मद में प्रति ग्राम वार्षिक जमा १२००) है। पूरी पैदावार प्रथम से ही नहीं होगी। अतः हमें आधी रकम ही प्राप्त होगी। इस तरह इस मद से ६००) × १५ साल = ९०००) मिल सकेगा।

४—किसानों की आमदनी खर्च का जो हिसाब किया है उससे ६०) प्रति परिवार की बचत दिखाई देती है। लेकिन खेती-जैसे अनिश्चित उद्योग में आकस्मिक खर्च काफी होता है। दूसरे उद्योग में २०) प्रति परिवार बचत होगी, ऐसा अन्दाज़ किया जा सकता है। स हिसाब से १८८०) प्रति ग्राम बचत होगी। इसमें से १०००) के करीब पूँजी के लिए प्राप्त हो सकती है। शुरू से पूरी बचत नहीं होगी, यह मानकर कुल ६००) × १५ साल = ९०००) इस मद से मिल सकता है।

अतः गांव में प्राप्त पूंजी औसत इस प्रकार होगी:—

१—मकानादि के लिए मौजूद सामान	२१५०)
२—नकद	१०००)
३—धर्मगोला में रिजर्व	६०००)
४—ग्रामवासी की बचत	६०००)
	२११५०)

यानी प्रान्त भर के देहातों से प्राप्त पूंजी २१६,५५,०६,२००) =लगभग २१६·५५ करोड़।

इसके उपरान्त जैसा कि मैंने इस पत्र के पहले ही कहा है सरकारी बजट से ३ करोड़ रुपया सालाना पूंजी खर्च में लगाना कठिन न होगा। इस तरह १५ साल में ४५ करोड़ रुपया सरकारी बजट से लगाया जा सकेगा। इस पूंजी को अगर जोड़ा जाय तो प्राप्त पूंजी २६१ ५५ करोड़ रुपया होगी। हमें कुल २७६.५५ करोड़ रुपया की ज़रूरत है। बाकी १५ करोड़ यानी सालाना १ करोड़ रुपया शहरों से उधार लेना पड़ेगा।

मैं समझता हूँ, ग्राम-सुधार के करीब सभी प्रश्नों पर अपना विचार कुल पत्रों में प्रकट कर दिया है। इधर कई महीनों से बाहर सारे संसार में योजनाओं की भरमार हो रही है। मालूम नहीं मेरे जैसे मामूली ग्रामसेवक का अनुभव आगामी राष्ट्रीय योजना-कार्य में कुछ काम देगा या नहीं। शायद इन बातों का विशेष मूल्य भी न होगा। लेकिन इससे हमें क्या मतलब। तुमने मेरे अनुभवों की कहानी सुननी चाही थी। मैंने उसे लिख भेजा। अगर दुनिया की कुछ सेवा इससे हो तो अच्छी बात, न हो तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन मेरा विश्वास है कि आज के प्रलयकालीन महा-संकट के दिन लोगों को बापू की शान्ति और समता की आवश्यकता है; और वैसी शान्ति तथा समता समाज को स्वावलम्बन के आधार पर संघटन करने से ही प्राप्त हो सकती है। मैंने इन पत्रों में जो कुछ लिखा है वह सब उसी स्वावलम्बी समाज-संघटन के तरीकों के प्रति संकेत करता है। इस दृष्टि से शायद कभी इन बातों की भी कदर हो।